है यह ऋषितत्त्व। और यही है अनन्त--अव्यक्त--अमूर्त--लोकातीत--अपुरुषविध--अपौरुषेय ब्रह्मनिःश्वसित-वेदमूर्त्ति--अनन्त--कालपुरुष, जिसका तत्त्वज्ञों नें--'**मायी महेश्वर**' रूप से यशोगान किया है।

१६५–प्राणब्रह्ममूर्त्ति कालपुरुष के आकाश-वायु, नामक दो महिमामय विवर्त्त—

अभी समझ में नहीं आसका उस कालपुरुष का तत्त्वात्मक–प्राणस्वरूप। तो इस समस्या के निराकरण के लिए प्राण की ही शरण में आना चाहिए। प्राणब्रह्ममूर्त्ति कालपुरुष का प्राणभाव ही इसके स्वरूप को अभिव्यक्त करेगा अपने स्थिति–गति--प्रकृतिक 'यज्जू' रूप प्राणस्वरूप के माध्यम से ही। गतिभाव का नाम हीं प्राण है, इसीका अभिव्यञ्जक है--'यत्' भाव। गति का **आधार यहाँ गति के अतिरिक्त और कौन होगा?** यही अपने रसानुबन्धी गतिभाव से गत्याधार बन रहा है, एवं यही अपने बलानुबन्धी गतिभाव से गति बन रहा है। आधाररूप गतिभाव से वही रसप्रधान बनता हुआ '**स्थिति**' रूप में परिणत है, तो आधेय-रूप गतिभाव से वही बलप्रधान बनता हुआ '**गति**' रूप में परिणत हो रहा है। यों गतिमूर्त्ति वह एक ही अव्यक्त--ऋषिप्राण रसबलानुबन्ध से स्थिति–गतिरूप से दो महिमाभावों में परिणत हो रहा है, जिन्हें समझने मात्र के लिए भूतप्रतीकमाध्यम से हम क्रमशः--'**आकाश–वायु**' कह सकते हैं।

१६६–आकाश-वायु-मूर्त्ति कालात्मक यजुर्ब्रह्म की ऋक्साम में अपीतता—

पञ्चमहाभूतों में-आकाशतत्त्व सर्वथा स्थितिमान् प्रतीत हो रहा है, एवं वायुतत्त्व सर्वथा गतिमान् ('**मातरिश्वा सदागतिः**')। प्राणमूर्त्ति--स्वयम्भूब्रह्म का रसानुबन्धी स्थितिभाव इस आकाशस्थिति से, तथा बलानुबन्धी गतिभाव वायुगति से प्रतीकधिया समतुलित है। एतावता ही उस के रसात्मक स्थितिभाव को आकाश, एवं बलात्मक गतिभाव को 'वायु' कह दिया जाता है। ब्रह्म के स्थिति–गति–प्रकृतिक–बला–नुबन्धी ये ही दोनों महिमाविवर्त्त पारिभाषिक-दृष्टि से क्रमशः 'जू–यत्' कहलाए हैं। गतिरूप इस 'यत्' की, तथा स्थितिरूप 'जू' की, (लोकभाषानुसार आकाश–वायु की) समन्वितावस्था का नाम हीं **है–'यज्जूः'**, जिसे परोक्षप्रिय वैज्ञानिक विद्वान् सङ्केतसिद्धा अपनी परोक्षभाषा में–'यजुः' कहा करते हैं। यही वह रस–बलात्मक प्राणरस है, जिस की गायत्रीमात्रिक-पौरुषेयवेद-विवर्त्त लक्षण गतिप्रकृतिक वस्तुपिण्डात्मक 'यजु'र्भाव में अभिव्यक्ति होती है। 'यज्जू', किंवा 'यजुः' का 'जू' भाग स्थितिरूप आकाश है, इसी का पारिभाषिक नाम **है-'वाक्'** ('**अथ यः स आकाशः, वागेव सा**')। एवं--यज्जू का 'यत्' भाग गतिरूप वायु है, इसी का पारिभाषिक नाम है--'प्राण'। वाक् **अनेजत्** (अविकम्पित–स्थिर–) तत्त्व है, प्राण **एजत्** (विकम्पित–चर) तत्त्व है। **वाक्–प्राण,–आकाश--वायु, अनेजत्--एजत, रस--बल, स्थिति--गति,**--इत्यादि विविध पारि–भाषिक नामों से उपवर्णित यत्--जूः-रूप-यजुर्ब्रह्म ही वह गतिधर्म्मा 'ऋषि' नामक रसात्मक मौलिक वेदप्राण है, जो ऋक्--साम से नित्य--अविनाभूत माना गया है।

१६७-स्थिति-गति--प्रकृतिक, ऋषिप्राणमूर्त्ति, असद्रूप, अनन्त, लोकातीत, लोक--साक्षी, द्विब्रह्मात्मक कालब्रह्म की यशोगाथा का पावन संस्मरण, तदनन्तता, एवं तद्रूप अनन्त वेद—

महिमामय महाछन्दोरूप आकाशवृत्त (परोरजा नामक--परमेव्योमन्--लक्षण वह परमाकाश, जो पाञ्चभौतिक--व्यक्त--मूर्त्त--भूताकाश से सर्वथा--पृथक् तत्त्व माना गया है) ही अपने अणिमास्वरूप से ऋक्

है यजुः का उपक्रमात्मक प्रस्ताव बनता हुआ, एवं महिमास्वरूप से साम है यजुः का उपसंहारात्मक-- विधन बनता हुआ। यों अपने हीं विभूतिप्राणरूप महिमाकाशात्मक परमाकाश--रूप से प्राणमूर्त्ति--यजुर्ब्रह्म के साथ ऋक्--साम--का समन्वय और प्रमाणित हो जाता है। यों यह अपौरुषेय--स्थितिगतिप्रकृतिक--ऋषिप्राणमूर्त्ति--असद्रूप--अव्यक्त--अनन्त--लोकातीत--लोकसाक्षी,-- यत्--जू--रूप दो ब्राह्मविवर्त्तों से--'द्विब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध यजुर्ब्रह्म ऋक्साम--समन्वय से 'त्रिवेदमूर्त्ति' बन रहा है। और यही ब्रह्मनिःश्वसित--अपौरुषेय--तत्त्ववेद की संक्षिप्ततमा यशोगाथा है, जिस का अपनी आयु के चारसौ वर्षपर्य्यन्त गान करते हुए भी महर्षि भरद्वाज कृतकृत्य नहीं बन सकेथे, और अन्ततोगत्वा इस अचिन्त्य आनन्त्य के सम्मुख अवतनशिरस्क होजाने वाले महर्षि के मुख से--**'अनन्ता वै वेदाः'** (ऐत० ब्रा०) यही उद्घोष विनिःसृत हो पड़ता था, **इति नमो नमः-- अनन्ताय वेदपुरुषाय--अपुरुषविधाय--अमूर्त्ताय--कालात्मने प्रणतभावेन।**

१६८--'वामपलित' नामक कालाग्नि का संस्मरण---

'ऋक्-सामे-यजुरपीतः' इत्यादि सिद्धान्तानुसार ऋक्-साम से समन्वित (महिमामय छन्द से समन्वित) वयोरूप (रसरूप) यजुर्ब्रह्मात्मक ऋषिप्राण ही) (वेदप्राण ही) सृष्ट्युन्मुख बनता हुआ सुप्रसिद्धा **'चयन--प्रक्रिया'** के माध्यम से सप्तप्राणात्मक-सप्तर्षिभाव के द्वारा **'सप्तपुरुषपुरुषात्मक-चित्यप्रजापति'**स्वरूप में परिणत हो जाता है **आत्मा, पक्ष, पुच्छ**-रूप से (देखिए-शत० ६।१।१।५।) । ऐसे इस चित्यप्रजापति का नाम ही है चित्याग्निरूप--**'वामपलित'** नामक वह **'कालाग्नि'**, जिस के वेदतत्त्वात्मक उपादान से ही अब आगे का सर्गक्रम प्रक्रान्त होने बला है, जिसे अत्यन्त अवधानपूर्वक ही लक्ष्यारूढ बनाना चाहिए।

१६९--कालाग्नि से आविर्भूत विश्व का स्वरूप-दिग्दर्शन--

कालाग्निरूप--अपौरुषेय--ऋषिप्राणात्मक--सप्तपुरुषात्मक पुरुषप्रजापतिलक्षण--स्वयम्भू--नामक इस ब्रह्मनिःश्वसित--त्रयीवेद से आविर्भूत विश्व का क्या स्वरूप है ?, प्रश्न के सम्बन्ध में **'आपः--वाक्--अन्नं--अन्नादः'** इन चार शब्दों को ही हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित करेंगे। स्वयम्भूब्रह्म स्वयं प्राणमूर्त्ति (ऋषिमूर्त्ति) बनता हुआ **'प्राणः'** है, एवं इस के चार सृष्टिमहिमाभाव ही क्रमशः आपः--वाक्--अन्नादं--अन्नम्--हैं। चारों महिमाभावों में से सर्वप्रथम--'आपः' रूप महिमाभाव का ही समन्वय कीजिए। बतलाया गया है कि--प्राणमूर्त्ति--स्वयम्भू ऋक्--यजुः--साम--मूर्त्ति हैं, जिन इन तीन वेदभावों में ऋक्--साम--तो आयतनात्मक छन्दःस्थानीय बनते हुए सृष्ट्यारम्भणधर्म्म से असंस्पृष्ट ही बने रहते हैं। सृष्टि का आरम्भण--द्रव्य बनता है ऋक्--साम से समन्वित द्विब्रह्मात्मक वह यजुर्ब्रह्म, जिसे हम **'कालाग्निपुरुष'** कहेंगे। इसका **'यत्'** भाग गतिशील **'प्राण'** तत्त्व है, तो **'जू'** भाग स्थितिशील **'वाक्'** तत्त्व है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। गत्यात्मक प्राण के सञ्चार से स्थित्यात्मक वाक् तत्त्व का बलात्मक मर्त्य वाग् भाग द्रुत हो पड़ता है संघर्षानुग्रह से । संघर्षजनित उत्पीड़न से मर्त्या वाक् की 'आपः' रूप में परिणति हो जाती है, और यही उस यजुर्म्मूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म की प्रथमा मूर्त्तसृष्टि है, जिसका--**'सोऽपोऽसृजत--वाच एक लोकात्। वागेव--साऽसृज्यत'** इत्यादि श्रुति से विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण हुआ है, जिस इस श्रौती स्वायम्भुवी प्रथमा आपः सृष्टिका ही श्रुत्यर्थानुसारिणी स्मृति ने इन शब्दों में समन्वय किया है--

सोऽभिध्याय शरीरात्-स्वात्-सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
'अप' एव ससर्जादौ-तासु बीजमवासृजत्॥ [मनुः १।८।]

१७०–कालाग्निरूप त्रयीब्रह्म से 'आपःशुक्र' का आविर्भाव, तस्मिन् ब्रह्म का प्रवेश, ततः आण्डस्वरूपनिष्पत्ति, एवं रेतोऽण्डरूप शुक्र के भृगु-अङ्गिरा-अत्रि-नामक तीन महिमा-विवर्त्त

ऋक्सामसमन्वित, द्विब्रह्मात्मक-यजुर्ब्रह्म के यत्-रूप प्राणव्यापार से परिस्रुत-द्रुत-जूरूप वाग्भाग ही आपः कहलाया, जिस इस आपः को महिमारूपा अदिति से उत्पन्न कर वेदमूर्ति त्रयीब्रह्म इस अब्गर्भ में हीं प्रविष्ट हो गए। क्या हुआ इस प्रवेश से ?, ततः-'आण्डं समवर्त्तत'। अब्गर्भित त्रयीब्रह्म से आपः आण्डरूप लोकभाव में परिणत होगए, और इस के साथ साथ ही गर्भीभूत त्रयीब्रह्म के स्थितिगतिप्रकृतिक जू-यत्-धर्म्मों का भी इस आपः में स्नेह-तेजो-रूप से आविर्भाव हो पड़ा। स्थितिभावानुगत स्नेहगुण, एवं गतिभावानुगत तेजोगुण से आपः-तत्त्व स्नेह-तेजोमय बन गया। आपः का स्थितिप्रकृतिक स्नेहतत्त्व ही कहलाया '**भृगु**', एवं गतिप्रकृतिक तेजोभाव ही कहलाया '**अङ्गिरा**'। सौम्य भृगु, आग्नेय अङ्गिरा, इन दोनों स्नेह-तेजो-भावों की समन्वितरूपता का ही नाम हुआ **भृग्वङ्गिरोरूप-आपः**, जैसाकि-'**आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्**' से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। आण्डभाव के उदय से अब आपोमण्डल से ही अवस्थापरिवर्त्तनधर्म्म भी उद्भूत हो पड़ा, जिस अवस्थापरिवर्त्तनधर्म्म का प्राणरूप स्वयम्भू में व्यक्तीभाव ही नहीं हो पाता। 'अवस्था' तत्त्व-ध्रुव, धर्त्र-धरुण-नामक पारिभाषिक सङ्केतों के अनुसार क्रमशः **घनावस्था-तरलावस्था-विरलावस्था** रूपेण तीन प्रमुख भावों में परिणत रहता है। इस अवस्थात्रयी के सम्बन्ध से स्नेहगुणक भृगु की जहाँ **आपः** (घन)-**वायुः**-(तरल)-**सोमः**-(विरल), ये तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं, वहाँ तेजोगुणक अङ्गिरा की भी **अग्निः** (घन)-**यमः** (तरल)-**आदित्यः** (विरल)-ये तीन हीं अवस्थाएँ हो जातीं हैं। भृगु-और अङ्गिरा, इन दोनों आप्यप्राणों के अतिरिक्त परमेष्ठी में हीं इन दोनों प्राणों के प्रवर्ग्यभाग से जो एक तीसरा धामच्छदगुणक-मलीमस-तमोमय-आप्यप्राण प्रादुर्भूत हो जाता है, उस में मूर्च्छाधर्म्म से क्योंकि तीन अवस्थाओं का आविर्भाव नहीं हो पाता। अतएव उस तीसरे मूर्च्छित, किन्तु धामच्छदधर्म्मा, भूतसर्ग के प्रमुख आरम्भक प्राण को-'**न-त्रिः**' निर्वचन से-'**अत्रिः**' कह दिया जाता है। यों आपोमण्डल में **भृगु-अङ्गिरा-अत्रि**-ये तीन प्रमुख आप्यप्राण समन्वित रहते हैं, जिनमें से अत्रि को (भूतसर्गनिबन्धनत्त्वेन) तटस्थ मानते हुए प्रकृत में हमें अवस्थात्रययुक्त भृगु-अङ्गिरा-नामक दो आपोभावों को ही लक्ष्य बनाना है।

१७१–द्विब्रह्म, सुब्रह्म का दाम्पत्यसम्बन्ध, एवं तद्द्वारा विराट्पुत्रोत्पत्ति—

आपः-वायुः सोमा-त्मक-स्नेहगुणक-स्थितिप्रकृतिक सौम्य भृगुप्राण, एवं अग्निः-वायुः-आदित्यः-रूप-तेजोगुणक-गतिप्रकृतिक-आग्नेय-अङ्गिराप्राण, इन दोनों प्राणों की तीन-तीन अवस्थाओं के कारण भृग्वङ्गिरो-रूप आपः तत्त्व 'षड्भावापन्न' बन जाता है। अतएव 'आपः' को 'षड्ब्रह्म' कह दिया जा सकता है, जिसके द्वारा ही वैकारिक पदार्थों में षड्भावविकार प्रादुर्भूत हुआ करते हैं। ऋक्सामसे समन्वित यत्-जू-रूप स्वयम्भूब्रह्म यदि '**द्विब्रह्मा**'-त्मक '**ब्रह्म**' है, तो तदुत्पन्न आपोब्रह्म '**षड्ब्रह्मा**'-त्मक '**सुब्रह्म**' है, और इसी का नाम है-'**अथर्वब्रह्म**' (**अथर्ववेद**)। स्वयम्भू प्राणवेद है, तो तदुत्पन्न आपोमय परमेष्ठी **आपोवेद** है। वह **ब्रह्म** है, तो यह **सुब्रह्म** है। वह द्विब्रह्म है, तो यह षड्ब्रह्म है। वह त्रयीवेद है, तो यह चतुर्थवेद है। वह **कालाग्निरूप** है, तो यह

कालसोमरूप है । वह +पुरुष है, तो यह प्रकृति है । वह महेश्वर है, तो यह महेश्वरी है । वह यदि **महाकाल** है, तो यह है--**महाकाली** । यही है वह पहिला दम्पतीभाव (पति-पत्नी-भाव), जिस से आगे के सम्पूर्ण भूतसर्ग उत्पन्न होने वाले हैं । पतिस्थानीय यजुर्ब्रह्म ही अपने जूरूप अर्द्ध-वाग्भाग से द्रुत होकर पत्नीस्थानीय षड्ब्रह्मरूप आपः रूप में परिणत हुआ है । एक ही का अर्द्धभाग पति (ब्रह्म) है, अर्द्धभाग पत्नी (सुब्रह्म) है। दोनों के दाम्पत्यका प्रथम परिणाम (सन्तति) है विराट् मूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखते हुए राजर्षि कहते हैं—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ [मनुः १।३२।]।

१७२-अनादिनिधना सत्या वेदवाक्, एवं इन्द्रपत्नीरूप से तत्संस्मरण—

त्रयीवेदमूर्त्ति स्वयम्भू प्रजापति की यजुर्म्मयी 'वाक्' ही आपोमय परमेष्टी की जननी बनती है । अतएव (वागुपादानत्वेनैव) स्वयम्भू को 'वाग्ब्रह्म' भी कहा जा सकता है, जोकि यह वाग्देवी **'अनादिनिधना सत्या वेदवाक्'** * नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिस के प्राणमय (यत्--भावमय) महिमाविवर्त्त का नाम हीं ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय वेद है ÷ । 'वैखरीवाक्' नाम से प्रसिद्धा शब्दात्मिका वाक् से सर्वथा विभिन्न है यह वाग्देवी, जोकि महिमामय आकाश की ही संग्राहिका बनी हुई है । रसलक्षणा अमृता वाक् से अभिन्ना बललक्षणा सृष्टिसाक्षिणी इसी आपोजननी वाक् को मर्त्यभूतानुबन्ध से राजर्षि ने 'शब्द' नाम से व्यवहृत अवश्य कर दिया है × । किन्तु इस शब्द का अर्थ है वाक्तत्त्व ही । क्योंकि विश्वसंस्थाओं का निर्म्माण शब्दतन्मात्रारूप, अतएव इस मात्राभावापेक्षया 'शब्द' नाम से भी व्यवह्रियमाणा स्वायम्भुवी सत्यावाक् उच्चार्य्यमाण शब्दप्रपञ्च से सर्वथा ही पृथक् है । शब्दतन्मात्रालक्षणा यह वही वेदवाक् है, जिसे श्रुतिने--**'इन्द्रपत्नी'** कहा है-**'सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी'** । यह वही वाक् है, जो अपने प्राणधर्म्म से वाक् के द्वारा आपोरूप में, एवं तद्द्वारा सौरीवाग्रूप में परिणत होती हुई अपने इन **वाक् आपः--अग्निः**--रूप अमृतशुक्रों से **अग्निः--आपः--वाक्**--रूप तीन मर्त्यशुक्रों के सर्ज्जन--द्वारा शुक्रात्मक सम्पूर्ण विश्व की अधिष्ठात्री बनी हुई है--**'अथो वागेवेदं सर्वम्'** । **'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'** ।

\+ **यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।**
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ —[मनुः १।११।] ।

* **अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।**

÷ **वाग्विवृताश्च वेदाः** (श्वेता० उप०) ।

× **सर्वेषां तु सनामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक् ।**
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥ [मनुः १।२१।]।
—वेदवाग्भ्यः--शब्दतन्मात्ररूपेभ्यः--इति यावत्

१७३–अनेजदेजल्लक्षण ब्रह्म में मातरिश्वा के द्वारा आपःशुक्र का आधान—

'सोऽपोऽसृजत-वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत'-'अप एव ससर्जादौ' इत्यादि श्रुति-स्मृति से उपवर्णित अव्यक्त स्वयम्भू का प्राणमय वाक्तत्त्व ही आपोमय परमेष्ठी के रूप में परिणत होगया, और यह आपः ही स्वयम्भूप्रजापति की प्रथमा लोकसृष्टि कहलाई, जिसे वेदविद्यानुबन्ध से 'अथर्वसृष्टि' भी कहा जासकता है। भृग्वङ्गिरोरूप आपोमय यह अथर्वतत्त्व ही वह 'शुक्र' है, जो आगे की भूतसृष्टियों का 'रेत' (उपादान) बनने वाला है। यही इस का शुक्रत्त्व है। पिण्ड–मण्डल–स्वरूप–सम्पादक, 'वराह' नामक तत्त्ववायुलक्षण 'मातरिश्वा' के द्वारा इस शुक्ररूप–'आपः' का सर्वप्रथम तत्सर्ज्जक अनेजदेजद्रूप–द्विब्रह्मात्मक स्वयम्भूब्रह्म में हीं आधान होता है, जिस इस आधान का सर्गानुगत वैज्ञानिक रहस्य 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में ही द्रष्टव्य है, जिस विज्ञान का स्मारक मन्त्र है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

—ईशोपनिषत्

१७४–शाश्वतीभ्यः समाभ्यः–(सदा सदा के लिए) प्रक्रान्त प्राजापत्य सर्गचङ्क्रमण—

शुक्रात्मक आपः का जब प्राणात्मक ब्रह्मप्रजापति में आधान हो जाता है, दूसरे शब्दों में 'आप':–रूप शुक्रात्मक सुब्रह्म के साथ प्राणः रूप ब्रह्म का जब दाम्पत्यभाव हो जाता है, तो दोनों के इस अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक दाम्पत्य से संसृष्टिमूला भूतसृष्टिका प्रवाह व्यवस्थितरूप से प्रक्रान्त हो जाता है। प्राणमूर्त्ति ब्रह्मपुरुष, एवं आपोमूर्त्ति सुब्रह्मप्रकृति, दोनों के दाम्पत्य से आविर्भूत, एवं सदा सदा के लिए परम्परया प्रक्रान्त रहने वाले इसी सर्गचङ्क्रमण को लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

—ईशोपनिषत्

१७५–प्रजापति की अमृतसृष्टित्रयी, एवं मर्त्यसृष्टित्रयी—

भृगुत्रयी, एवं अङ्गिरात्रयी से समन्वित षड्भावापन्न, अतएव 'षड्ब्रह्म' नाम से ही प्रसिद्ध आपोमूर्त्ति इस शुक्रतत्त्व के ६ ही महिमाविवर्त्त माने हैं वैज्ञानिक महर्षियों नें, जो अमृत-मर्त्य-भेद से द्विसंस्थ बन रहे हैं। वाक्-आपः-अग्निः, ये तीन अमृतशुक्र हैं, जिनका क्रमशः **स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य**, इन तीन भावों से क्रमिक सम्बन्ध है। **अग्निः**-आपः-वाक् ये तीन मर्त्यशुक्र हैं, जिनका क्रमशः **मर्त्यसूर्य्य, मर्त्यचन्द्रमा, मर्त्यभूपिण्ड**, इन तीन भूतपिण्डों से क्रमिक सम्बन्ध है। ईशोपनिषत् में, तथा इसी ग्रन्थ के प्रथमखण्ड में इन ६ ओं पारमेष्ठ्य शुक्रों का विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेकधा समन्वय किया जा चुका है।

१७६–भृग्वङ्गिरोरूप-आपोमय-शुक्र के वाक् आप-अग्निः-रूप तीन विवर्त्त—

'भृग्वङ्गिरोरूप-आपोमय परमेष्ठी ही शुक्र है' यही वक्तव्य-निष्कर्ष है, एवं इसीका नाम है सत्त्व–रज-स्तमोगुणान्वित, आकृति-प्रकृति-अहङ्कृत्यात्मक-षड्भावापन्न 'महद्ब्रह्म', जिसे भूत-भविष्यत्, एवं तदुप–

लक्षित वर्त्तमान का प्रस्तौता माना गया है। यह वही अव्यक्त-स्वायम्भुव-अक्षरविशिष्ट-पञ्चतन्मात्रा-प्रवर्त्तक आत्मक्षरब्रह्म (सूत्रब्रह्म) है, जिससे-'**क्षर: सर्वाणि भूतानि**' निबन्धना भूतसृष्टि की प्रसूति हो रही है। इसीका '**भूतं भविष्यत्-प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्-बहुब्रह्मैकमक्षरम्**' इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है। इस महद्-ब्रह्म का मूलप्रवर्त्तक, अव्यक्त-अचिन्त्य-प्राणमूर्त्ति-स्वयम्भूब्रह्म ही वह ब्रह्म है, जिसका प्रथमाण्डरूप यह आपोमय-परमेष्ठी ही '**रेतोऽण्ड**' कहलाया है अपने शुक्रधर्म्म से ; ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय-त्रयी-वेदमूर्त्ति अनन्त स्वयम्भू ही अनन्तकाल है, जिसके तटस्थभाव-दिग्दर्शन के लिए ही यहाँ-आपोमय-पारमेष्ठ्य-शुक्र का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन हो पड़ा है। अब इसी शुक्ररूप आप: परमेष्ठी को आधार बना कर हमें संक्षेप से ब्रह्म के (अव्यक्त-काल के) शेष **वाक्-अन्न-अन्नाद** नामक तीन आण्डविवर्त्तों का भी क्रमशः समन्वय कर लेना चाहिए।

१७७--भृग्वङ्गिरोमय बीजात्मक-गायत्रीमात्रिक नामक सौरवेद---

यह निवेदन किया जा चुका है कि, भृग्वङ्गिरोरूप-पारमेष्ठ्य-आप:-तत्त्व, और यत्-जू-रूप-स्वायम्भुव तत्त्व, इन दोनों के दाम्पत्य से ही बीजात्मक विराट्-लक्षण मूर्त्तभाव सूर्य्यरूप में आविर्भूत हुआ है, जिसका-'**तासु बीजमवासृजत्**' से सङ्केत हुआ है। स्वयं परमेष्ठी हैं भृग्वङ्गिरोरूप, एवं तद्गर्भीभूत बीज है--**भृग्वङ्गिरोमय** सोमगर्भित अग्नि ही भृग्वङ्गिरोमय वह बीज है, जो चयनधर्म्म से चित्यपिण्डरूप में परिणित होता हुआ कालान्तर में कालक्रम से कालाधार पर व्यक्तकालात्मक सूर्य्यपिण्डरूप से प्रस्फुटित हो पड़ा है। यही '**वाक्**' रूप-दूसरा यशोऽण्डविवर्त्त है, जिसे '**द्युलोक**' कहा गया है। अङ्गिरा का विरलावस्थापन्न आदित्यप्राण ही भूतावेष्टित होकर सूर्य्यरूप से अभिव्यक्त हुआ है। अतएव आदित्य सूर्य्य का पर्य्याय बन गया है, जब कि आदित्यतत्त्व प्राणात्मक कारण है, एवं सूर्य्यपिण्ड भूतात्मक कार्य्य है। यही भूतज्योतिर्म्मय वह पौरुषेय तत्त्ववेद(सौरवेद) है, जिसे सौर-गायत्र तेज (प्रतिफलित सौर तेज) के सम्बन्ध से '**गायत्रीमात्रिकवेद**' कहा गया है।

१७८--पौरुषेय-तात्त्विक-सौरवेद का स्वरूपदिग्दर्शन—

इसी दृष्टिबिन्दु पर यह भी समन्वय कर लेना चाहिए कि, भृगुगर्भित जिस पारमेष्ठ्य अङ्गिरा से सूर्य्य-मूला भूतसृष्टि का आविर्भाव हुआ है, वह अङ्गिरातत्त्व ही गायत्रीमात्रिक पौरुषेयवेद की प्रतिष्ठा बनता है। आपःपरमेष्ठीरूप-(भृग्वङ्गिरोरूप)-प्रकृतिरूप से समन्वित ऋक्-साम से समन्वित यत्-जू-मूर्त्ति-प्राणमय-अव्यक्त स्वयम्भू पुरुष से ही क्योंकि भृग्वङ्गिरोमय सौर संस्थान का आविर्भाव हुआ है। दूसरे शब्दों में--ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय वेदात्मक सप्तपुरुषात्मक पुरुषप्रजापति से ही सौर आङ्गिरस वेद का अविर्भाव हुआ है, अतएव इस प्रजापति-पुरुष से आविर्भूत होने के कारण हीं सौरवेद को-'**पौरुषेयवेद**' कहा गया है।

१७९--'भृग्वङ्गिरोरूपम्', एवं 'भृग्वङ्गिरोमयम्' का तात्त्विक समन्वय—

अत्यन्त ही सुसूक्ष्म, अतएव दुरधिगम्य है अपौरुषेय ब्रह्मनिःश्वसित अव्यक्त अनन्त वेद का, तथा पौरुषेय गायत्रीमात्रिक व्यक्त सादिसान्त वेद का समन्वय, जिसे यथावत्-क्रमसिद्ध रूप से प्रज्ञा में लक्षित किए बिना

---

* शुक्रात्मक इस पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्म की षड्भावापन्नता अनेक रूपों में समन्वित हुई है वेदशास्त्र में, जिन अनेकों में से प्रकृत में तीन प्रकार ही अत्र समाविष्ट हुए हैं। भृगुत्रयी, तथा अङ्गिरात्रयी-रूपा षड्रूपता एक प्रकार है। वाक्-आप:-अग्नि:-रूपा अमृतशुक्रत्रयी, अग्नि:-आपः-वाक्-रूपा मर्त्यशुक्रत्रयी-रूपा दूसरी षड्रूपता है। एवं सत्त्व-रज-स्तमो-गुणत्रयी, तथा अहङ्कृति-प्रकृति-आकृतित्रयीरूपा तीसरी षड्रूपता है।

अव्यक्त-व्यक्त-भावापन्न कालविवर्त्तों का स्वरूप अज्ञात ही बना रह जाता है। भृगु-अङ्गिरा-शब्द भ्रामक हैं। इसलिए भ्रामक हैं कि, इनका परमेष्ठी से भी सम्बन्ध बतलाया जा रहा है, एवं सौर संस्थान से भी। यह भ्रामकता उस दशा में सर्वथा निःशेष हो जाती है, जब कि हम-**'आपो भृग्वङ्गिरोरूपं-आपो भृग्वङ्गिरोमयम्'** मूलक 'रूपम्' और **'मयम्'** के स्वरूप से परिचित हो जाते हैं। 'रूपम्' भाव परमेष्ठी का संग्राहक है, एवं 'मयम्' भाव सौरसंस्थान का संग्राहक है। परमेष्ठी भृग्वङ्गिरोरूप है, एवं सौरसंस्थान भृग्वङ्गिरोमय है। रूपता, और मयता में अन्तर वही है, जो ऋत, और सत्य में अन्तर है।

१८०--ऋत-सत्य-भावापन्न अग्नि-सोम की सर्वव्याप्ति, एवं-'अग्नीषोमात्मकं जगत्' का समन्वय—

केन्द्रात्मक पिण्डभाव जहाँ 'सत्य' की स्वरूप-परिभाषा है, वहाँ अकेन्द्रात्मक अपिण्डभाव 'ऋत' की स्वरूप-व्याख्या है *। परमेष्ठी के भृगु-अङ्गिरा इसी परिभाषा के अनुसार जहाँ ऋत हैं, अतएव परमेष्ठी जहाँ 'ऋत' कहलाए हैं÷, वहाँ सूर्य्यनारायण के केन्द्र-पिण्डात्मक भृगु-अङ्गिराभाव की समष्टि 'सत्य' नाम से प्रसिद्ध हुई है। अतएव सूर्य्य **'सत्य'** नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि-**'तद्यत्-तत्सत्यं-असौ स आदित्यः--य--एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः'** (शत १४।८।६।३) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। **ऋत परमेष्ठी** के भृग्वङ्गिरोभाव **'आपः' हैं, एवं सत्यसूर्य्य के भृग्वङ्गिरोभाव 'वाक्' हैं। आपोमय ऋत परमेष्ठी भृग्वङ्गिरोरूप है, एवं वाङ्मय सूर्य्य भृग्वङ्गिरोमय है। ऋतता ही रूपता है, सत्यता ही मयता है।** और यही पारमेष्ठ्य आपोलोक, एवं सौर वाग्लोक के भृग्वङ्गिरोभावों में महान् अन्तर है। भृग्वङ्गिरोरूप पारमेष्ठ्य ऋत आपः ही तो आगे की मूर्त्त-पिण्ड-सत्य-सृष्टियों के उपादान बन रहे हैं कहीं भृगुप्राधान्य से, तो कहीं अङ्गिरा-प्राधान्य से। सूर्य्यसृष्टि अङ्गिरा-प्रधाना है, तो चन्द्रसृष्टि भृगुप्रधाना है, एवं पार्थिव सृष्टि पुनः अङ्गिराप्रधाना है। यों भृग्वङ्गिरा के तपोरूप व्यापार से ही आपः (परमेष्ठी) वाक् (सूर्य्य)-अन्न (चन्द्रमा)-अन्नाद-(पृथिवी)-रूपा लोकचतुष्टयी का, किंवा रेतोऽण्ड, यशोऽण्ड-पोपाण्ड-अरुत्वण्डों का स्वरूप-विकास हुआ है, जैसाकि-**'भृगूणां-अङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'** इत्यादि वचन से प्रतिध्वनित है। भृगु सोमतत्त्व है, अङ्गिरा अग्नितत्त्व है। मूर्त्त-भौतिक-आण्डविश्व भृग्वङ्गिरोमय बनता हुआ अग्नि-सोमात्मक ही तो है, जैसा कि-**'अग्नीषोमात्मकं जगत्'** इत्यादि वचन से प्रमाणित है।

---

* सहृदयं-सशरीरं-वस्तु-सत्यम्, अहृदयं-अशरीरं-वस्तु- ऋतम्, एवं अहृदयं-किन्तु सशरीरं-वस्तु-ऋतसत्यम्, इति हि वैज्ञानिका आमनन्ति—

÷ ऋतमेव परमेष्ठी, ऋतं नात्येति किञ्चन।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता॥

—गोपथब्राह्मण

ऋतमेव-परमेष्ठी । ता आपः । ऋतं नात्येति किञ्चन

१–अङ्गिरागर्भिताः–भृगुरूपाः—आपः–एव–आपः—परमेष्ठी (रेतोऽण्डम्)—सोमो भृगुः

२–भृगुगर्भिताः——अङ्गिरोमय्यः-आपः-एव–वाक्——सूर्य्यः (यशोऽण्डम) —अग्निरङ्गिरा

३–अङ्गिरागर्भिताः–भृगुमय्यः—-आपः-एव–अन्नम्–-चन्द्रमाः (पोषाण्डम्)—सोमो भृगुः

४–भृगुगर्भिताः——अङ्गिरोमय्यः-आपः-एव-अन्नादः–भूपिण्डः (अस्त्वण्डम्)–-अग्निरङ्गिरा

गायत्रीकमात्रिकवेदमहिमा

इति नु—'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' ।
'अग्नीषोमात्मकं जगत्'–इत्याहुराचार्य्याः

१८१–तत्त्वात्मक-कालात्मक-वेद, और प्रामाण्यजिज्ञासा—

तत्त्वात्मक वेद के दोनों विवर्त्त उक्त परिलेख के माध्यम से, तथा पूर्वप्रतिपादित विषयसन्दर्भ से अवधानपूर्वक समन्वित करके ही हमें कालस्वरूपाराधना में प्रवृत्त होना चाहिए। रही बात इस दिशा में प्रामाण्य की, सो तत्सम्बन्ध में तूष्णीं बने रहना हीं श्रेयःपन्था है, इसलिए कि–प्रमाणोपस्थिति भी पारिभाषिक-तत्त्वसमन्वय के बिना सर्वथा असमर्थ ही बनी रह जाती है तत्त्वबोधोदय में। उदाहरण के लिए-हम यहाँ अपौरुषेय-पौरुषेय-दोनों त्रयीवेदों के कतिपय श्रौत प्रमाण उपस्थित कर देते हैं, जिनके सम्बन्ध में यह निवेदन किए बिना नहीं रहा जा सकता कि, पूर्वोक्त–पारिभाषिक–तत्त्वसमन्वय के बिना केवल व्याकरणबोध के बलकर कदापि इन वचनों के तत्त्वार्थ की कथा तो दूर रही, अक्षरार्थमात्र का भी समन्वय सम्भव नहीं है।

१८२–तात्त्विकवेद के सम्बन्ध में कतिपय श्रौत-सन्दर्भ—

ब्रह्मनिःश्वसित–अपौरुषेय–स्वायम्भुव–अव्यक्त–अमूर्त्त–अनन्त–वेद को हम एक विशेष दृष्टिकोण से **'त्रयीवेद'** कहेंगे, एवं गायत्रीमात्रिक-पौरुषेय-सौर–व्यक्त–मूर्त्त–सादिसान्त वेद को **'चतुर्वेद'** कहेंगे। 'त्रयीवेद' का अर्थ होगा **'ऋक्-यजुः-साम-वेदसमष्टि'**, एवं 'चतुर्वेद' का अर्थ होगा-**'अथर्व-साम-यजुः-ऋक्-समष्टि'**। इन दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर ही लोकसामान्य–व्यवहार में–**'वेद तीन हैं'**–**'वेद चार हैं'**–ये दोनों व्यवहार प्रचलित हैं। **'त्रयीवेद'** व्यवहार जहाँ ऋक्सामयजुर्मूर्त्ति स्वायम्भुव अपौरुषेय वेद की ओर सङ्केत कर रहा है, वहाँ **'चतुर्वेद'** व्यवहार अथर्व-साम–यजुः–ऋक्–मूर्त्ति पौरुषेय वेद का संग्राहक बन रहा है। इस भेदव्यवहार का व्यवस्थापक विशेष दृष्टिकोण भृग्वङ्गिरोरूप आपोमय परमेष्ठी ही बना हुआ है। अपौरुषेय–त्रयीवेद के यजुरनुगत 'जू' रूप वाग् भाग से आविर्भूत भृग्वङ्गिरोरूप 'आपः' ही का नाम 'अथर्व' नामक चतुर्थ वेद है, जो लोकसृष्टि का उपक्रम बन रहा है। यद्यपि यह ठीक है कि, प्रथम दाम्पत्य की दृष्टि से यह अथर्व अपौरुषेय त्रयीवेद से भी अनुगत है। तथापि इसकी यह अनुगति अभिव्यक्त होती है मूर्त्तभाव के आधार पर ही। अतएव इसे अपौरुषेय त्रयीवेद से असंस्पृष्ट ही मान लिया गया है। और यों लोकातीत स्वायम्भुव त्रयीवेद लोकप्रवर्त्तक-लोकात्मक आपोवेदात्मक सुब्रह्म नामक चतुर्थवेद से अतीत ही बना रह जाता है। त्रयीवेद की दृष्टि से अर्वाक्–बने रहने के कारण हीं तो–**'अथ-अर्वाग्भवति'** निर्वचन से यह लोकातीत आपोवेद–'अथर्व' कहलाने लग पड़ा है। इस ओर सौर त्रयीवेद (गायत्रीमात्रिक पौरुषेयवेद), उस ओर स्वायम्भुव त्रयीवेद (ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय वेद), एवं मध्य में भृग्वङ्गिरोरूप–आपोमूर्त्ति सुब्रह्म

नामक अथर्ववेद, यह स्थिति है, जिसमें अपने आपोमूलक संसृष्टिधर्म्म से मध्यस्थ अथर्ववेद सृष्टिरूप पौरुषेय-गायत्रीमात्रिक वेद का ही प्रधान सहयोगी बना हुआ है। लोकातीत अपौरुषेय वेद तो इस संसृष्टिधर्म्मा अथर्व से असंसृष्ट ही प्रमाणित हो रहा है। और यही **'त्रयो वेदाः'-'चत्वारो वेदाः'**-इस भेद के व्यवस्थापक विशेष दृष्टिकोण का स्वरूप-विश्लेषण है, जिसे लक्ष्यारूढ बनाते हुए ही इन दोनों (अपौरुषेय-पौरुषेय) वेदतत्त्वों के समर्थक वचनों के द्वारा हमें अपनी प्रमाणनिष्ठा का संरक्षण-समन्वय कर लेना चाहिए।

अपौरुषेय-पौरुषेय-वेदतत्त्वसंग्राहकानि प्रमाणवचनानि—

स्वयम्भूः	पिता — त्रयीविद्या स्वायम्भुवी	(१)-"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत-भूयान्त्स्यां, प्रजायेय-इति, सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत्। तस्मादाहुः-'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा-' इति।"	प्रतिष्ठावेदः ब्रह्मनिःश्वसितः अपौरुषेयः	त्रयीवेदः-अपौरुषेयः
परमेष्ठी	माता — चतुर्थवेदः पारमेष्ठ्यः	(२)-"तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत-वाच एव लोकात्। वागेवास्य साऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्-यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्-तस्मादापः। यदवृणोत्-तस्मात्-वाः।"	आपोवेदः ब्रह्मवेदः (२) पौरुषेयः	चत्वारो वेदाः-पौरुषेयाः
सूर्यः	पुत्रः — त्रयीविद्या-सौरी	(३)-"सोऽकामयत-आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेय-इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया (प्रतिष्ठावेदेन) सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत। ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या। तस्मादाहुः-'ब्रह्मास्य-सर्वस्य प्रथमजम्' इति। अपि हि तस्मात् पुरुषात् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत।" —शतपथब्राह्मण ६।१।१।८-१०।	प्रथमजवेदः गायत्रीमात्रिकः पौरुषेयः (३)	

—**"अदितिर्म्माता, स पिता, स पुत्रः"**—इति हि वैज्ञानिका आहुः

१८३–तात्त्विक-वेद के सम्बन्ध में राजर्षि मनु—

अपौरुषेय–स्वायम्भुव–त्रयीवेद की साक्षी में (अनन्त–अव्यक्त–अमूर्त्त–महाकाल की साक्षी में) पौरुषेय–पारमेष्ठ्य–अथर्ववेद के भृगुगर्भित अङ्गिरा के द्वारा (महाकाल की पत्नी महाकाली के द्वारा) पौरुषेय–सौर–गायत्रीमात्रिक जिस व्यक्तवेद का (व्यक्त–मूल–काल का) आविर्भाव हुआ, वह आङ्गिरस सौरवेद ही अपने घन–तरल–विरल–रूप **अग्नि–वायु–आदित्य**-नामक तीन अवस्था-विवर्त्तों से क्रमशः **ऋक्-यजुः-साम**-रूपों में परिणत होगया, जिस इस अङ्गिरात्रयीमूलक–सौरयज्ञप्रवर्त्तक–गायत्रीमात्रिक–त्रयीवेद को लक्ष्य बना कर ही राजर्षि ने कहा है—

अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं-ऋक्-यजुः-साम-लक्षणम् ।।
—मनुः१।२३।

१८४–गायत्रीमात्रिक–यज्ञमात्रिक–भूतमात्रिक–नामक सौर–चान्द्र–पार्थिव–तत्त्ववेदों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

अग्निमय **ऋग्वेद**, वायुमय **यजुर्वेद**, एवं आदित्यमय **सामवेद** से, किंवा ऋग्वेदात्मक **अग्नि**, यजुर्वेदात्मक **वायु**, एवं सामवेदात्मक **आदित्य** से ही क्रमशः भूः–भुवः–स्वः–नाम की व्याहृतियों से प्रसिद्ध **पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः**–नामक तीन **रोदसी लोक** आविर्भूत हो जाते हैं। सौर अङ्गिरा के अग्नि–वायु–आदित्य–विवर्त्तों से आविर्भूत ऋक्–यजुः–साम हीं सुप्रसिद्ध वे छन्दः–रसः–वितानम्–नामक (मूर्त्ति-गति-तेजोभाव प्रवर्त्तक) वेद हैं, जिनका पूर्व में **छन्दोवेद–रसवेद–वितानवेद**–नाम से दिग्दर्शन करा दिया गया है। तीनों ही सौर वेद (प्रत्येक) त्र्यात्मक हैं। यों एक ही त्रयीवेद के तीन त्रयीवेद विवर्त्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से **सौरद्युलोक** को हम वितानसामात्मक त्रयीवेद कह सकते हैं, जिसका क्रान्तिवृत्तात्मक सौरसम्वत्सर-मण्डल से सम्बन्ध माना गया है। **चान्द्र–अन्तरिक्षलोक** को रसयजुरात्मक त्रयीवेद कहा जा सकता है, जिसका दक्षवृत्तात्मक चान्द्रसम्वत्सर से सम्बन्ध माना गया है। एवं **भौम-पार्थिवलोक** को छन्दोऋगात्मक त्रयीवेद माना जासकता है, जिसका अक्षवृत्तात्मक पार्थिव सम्वत्सर से सम्बन्ध माना गया है। यों **'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः'** रूप से त्रिवृद्भावापन्न इन तीन रोदसीलोकों के लोकवितानधर्म्मों से एक ही आङ्गिरस–गायत्रीमात्रिकवेद तीन त्रयीभावों में परिणत हो रहा है। एक ही सत्य यों त्रिसत्य बनता हुआ यज्ञरूप में परिणत हो रहा है। **'त्रिःसत्या वै देवाः'** इति हि नैगमिकाः प्राहुः।

त्रिवृद्भावापन्ना-गायत्रीमात्रिकवेदत्रयी-यज्ञप्रवर्त्तिका

सौरवेदत्रयी ३ वितानवेदत्रयी वा

१--आदित्यः--साम--द्यौः
२--वायुः----यजुः--अन्तरिक्षम्
३--अग्निः--ऋक्--पृथिवी

आदित्यमयः-सामवेदः-वितानवेदः सौरः---द्युलोकः--वाङ्मयः---(यशोऽण्डम्)-सैषा वितान-वेदत्रयी-

चान्द्रवेदत्रयी ६ रसवेदत्रयी वा

१--आदित्यः--साम--द्यौः
२--वायुः----यजुः--अन्तरिक्षम्
३--अग्निः---ऋक्--पृथिवी

वायुमयः--यजुर्वेदः-रसवेदश्चान्द्रः--अन्तरिक्षलोकः--अन्नमयः (पोषाण्डम्)--सैषा रसवेद-त्रयी-

पार्थिववेदत्रयी ३ छन्दोवेदत्रयी वा

१--आदित्यः-साम--द्यौः
२--वायुः-----यजुः--अन्तरिक्षम्
३--अग्निः---ऋक्--पृथिवी

अग्निमयः--ऋग्वेदः-- छन्दोवेदः--पार्थिवः--पृथिविलोकः-- अन्नाद-मयः-(अस्त्वण्डम्)-सैषा छन्दो-वेदत्रयी-

भूतमात्रिक--यज्ञमात्रिक--वेदावच्छिन्नो गायत्रीमात्रिकवेदः (पार्थिव) आन्तरिक्ष्य)-वेदावच्छिन्नो दिव्यवेदः

समष्ट्यात्मकः-परिलेखः-(सर्वसमन्वयाधारभूमिः)—

१—प्राणमूर्त्तिः—स्वयम्भूः-ऋषिप्राणमयः (ऋषयः)-प्राणाग्निवेदः (अग्निः)-विश्वमात्रिकवेदः-स्वायम्भुवः (ब्रह्मवेदः)-ब्रह्मनिःश्वसितवेदोऽपौरुषेयः (वृत्तौजाः)	अव्यक्तकालः	त्रयीवेदाः (३) अपौरुषेयाः
२—आपोमूर्त्तिः-परमेष्ठी—पितृप्राणमयः (पितरः)—भृगुवेदः (सोमः)-आण्डमात्रिकवेदः-पारमेष्ठ्यः (सुब्रह्मवेदः)-ब्रह्मस्वेदवेदोऽथर्वः (रेतोऽण्डम्) ३—वाङ्मूर्त्तिः—सूर्य्यः—वेदप्राणमयः (देवाः)—अङ्गिरावेदः (अग्निः)-गायत्रीमात्रिकवेदः-सौरः (वितानवेदत्रयी-आदित्या)-सामानि (यशोऽण्डम्) ४—अन्नमूर्त्तिः—चन्द्रमाः—पशुप्राणमयः (पशवः)—भृगुवेदः (सोमः)-यज्ञमात्रिकवेदश्चान्द्रः (रसवेदत्रयी—वायव्या)——यजूँषि (पोषाण्डम्) ५—अन्नादमूर्त्तिः-भूपिण्डः—भूतप्राणमयः (भूतानि)-अङ्गिरावेदः (अग्निः)-भूतमात्रिकवेदः पार्थिवः (छन्दोवेदत्रयी-आग्नेयी)—ऋचः (अस्त्वण्डम्)	गायत्रीमात्रिकवेदविवर्त्तम् व्यक्तकालात्मकम्	चत्वारो वेदाः पौरुषेयाः (४)

समष्टि—परिलेखस्य शेषांश एव—

दिक्कलाद्यनवच्छिन्नं तु परात्परब्रह्म—अनन्तं ब्रह्म—तस्यैवान्तप्रतीकोऽयं—वेदात्मकः—कालोऽनन्तः

१—वृत्तौजानुगतः स्वयम्भूः—सोऽयं लोकातीतो लोकप्रवर्त्तकः परोरजा (महिमा)—ब्रह्मा—स्वच्छन्दः—अमूर्त्तकालः		ब्रह्मनिःश्वसितवेदोऽपौरुषेयः अव्यक्तकालात्मकः—
२—रेतोऽण्डानुगतः—परमेष्ठी—सोऽयं दिक्—लोकः-आपोमयः—	(दिशः)—अथर्वः-अतिछन्दोमयः—व्यक्तकालः	गायत्रीमात्रिकवेदः पौरुषेयः— —व्यक्तकालात्मकः— —दिग्—देशावच्छिन्नः—
३—यशोऽण्डानुगतः—सूर्य्यः—सोऽयं द्युलोकः—वाङ्मयः—	(द्यौः) —साम—वितानमयम्—दिग्भावः—प्रदेशभावो वा	
४—पोषाण्डानुगतः—चन्द्रमाः-सोऽयं अन्तरिक्षलोकः—अन्नमयः-	(अन्तरिक्षम्)-यजुः—रसमयम्——देशभावः-देशो वा	
५—अस्त्वण्डानुगतः—भूपिण्डः-सोऽयं पृथिविलोकः-अन्नादमयः-	(पृथिवी)—ऋक्-छन्दोमयी——प्रदेशभावः-दिग्भावो वा	

१८५–'कालः कालं परिपीडयन् कालान्तरे कालोपादानमाध्ययेन कालमेव जनयति' लक्षण पारिभाषिक सूत्र का तात्त्विक-समन्वय,–एवं आचार्य्य चरणानुगता पावन-श्रद्धा का संस्मरण––

* "कालः[1]–कालं[2]–परिपीड़यन्[3]–कालान्तरे[4] कालोपादानमाध्यमेन[5]–कालमेव[6] जनयति, इत्येवं–सर्वमपि काल एव" इस महान् पारिभाषिक सूत्र के आधार पर ही अब हमें (लोकभावुकता-संरक्षणपूर्वक) काल के उस गरिमा-महिमामय इतिवृत्त का ही दिग्दर्शन करा देना है, जिसका प्रस्तुत चतुर्थखण्ड के आरम्भ में हीं माङ्गलिक–संस्मरण-रूप से आराधन प्रक्रान्त हो चुका है। "**शब्दप्रमाणका वयम्। यदस्माकं–शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्**" (महाभाष्य) यह है हमारी वह शब्दशास्त्रप्रमाणनिष्ठा, जिसका–'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**' (गीता) इत्यादि वचन से सर्वात्मना समर्थन हुआ है। काल के व्यक्तकाल, सौरकाल, चान्द्रकाल, पार्थिवकाल, मन्वन्तरमूलक गणनकाल, आदि आदि जिन अवान्तर विवर्त्तों का आरम्भ से अबतक पारिभाषिक समन्वय करने की जो चेष्टा, किंवा धृष्टता हो पड़ी है, उसके प्रामाण्य–स्वरूपसंरक्षण के लिए ही अथर्ववेदीय उस कालसूक्त के अक्षरार्थमात्र का ही संस्मरण कर लिया जाता है। 'अक्षरार्थमात्र' वाक्य केवल विनय-प्रदर्शन नहीं है, किन्तु वस्तुस्थितिमूलक है। यही नहीं, पारिभाषिकी–परम्परा के अभिभूत हो जाने से यदि इस सम्बन्ध में यह भी निवेदन कर दिया जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी कि–वेदशास्त्र के अक्षरार्थमात्र का उद्घोष करना भी हमारे जैसे प्राकृत–मानव के लिए तो धृष्टता ही प्रमाणित होगी। फिर तत्त्वार्थसमन्वयात्मक पारिभाषिक–समन्वय की तो कथा ही क्या है। अपनी इस अक्षमता–असमर्थता–को सर्वात्मना जानते हुए भी–'**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति**' इस चिरन्तन आर्षसूत्र के माध्यम से स्वज्योतिर्घन भी सूर्य्यभगवान् के प्रति भक्तिपूर्वक प्रदत्त दीपदानवत् वेदभगवान् का अपनी बालभाषा में संस्मरण तो किया ही जासकता है। आचार्य्यचरणों के प्रति अनन्यनिष्ठा से प्रवाहित रहने वाला श्रद्धानसूत्र ही इस बालभाषा का मूलाधार है, जिसके आश्रय से ही '**अथर्ववेदीय-कालसूक्त** का **अक्षरार्थमात्र-संस्मरण** उपक्रान्त हो रहा है केवल स्वान्तःसुखायैव। **क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।**

---

*–"**कालः** (स्वायम्भुवः–अव्यक्तकालः–ब्रह्मनिःश्वसितवेदात्मकः)–**कालं** (पारमेष्ठ्य–व्यक्तकालात्मकं–ब्रह्मस्वेद–वेदरूपं) **परिपीड़यन्** (बलग्रन्थिलक्षणसंसृष्टिभावे परिणमय्य)–**कालान्तरे** (मन्वन्तर–कल्पादि–धाराप्रक्रमे) **कालोपादानमाध्यमेन** (व्यक्तपारमेष्ठ्यकालात्मक–अग्निसोमयम–भृग्वङ्गिरोरूपोपादानद्रव्येण) **कालमेव** (सौर-चान्द्र-पार्थिव-लोकात्मकं-व्यक्तकालस्यैव परमेष्ठिनो भगवतः-अभिव्यक्तित्वलक्षणं-दिग्-देश-प्रदेश-भावात्मकं–भूतभौतिकं–स्थावरजङ्गमभावापन्नं–व्यक्तं विश्वमेव) **जनयति**, इति काल एव अधिष्ठानकारणं-आलम्बनकारणं वा, कालएव निमित्तकारणं, काल एव उपादानकारणं, काल एव च उत्पन्नं वस्तुजातमिति सर्वमपि काल एवेति नमो नमः साञ्जलिबन्धं मुहुर्मुहुः कालाय तस्मै प्रभविष्णवे सर्वरूपाय, अरूपाय, अनन्ताया-व्यक्ताय च", इति सूत्रनिष्कर्षः।

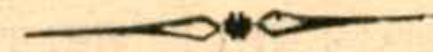
दिग्देशकालस्वरूपानुगत–'पारिभाषिकप्रकरण' नामक
प्रथमप्रकरण–उपरत

१

श्रीः

इति–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके चतुर्थखण्डे
'पारिभाषिकप्रकरण' नामकं
प्रथमप्रकरणमुपरतम्

१



श्रीः

अथ–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके चतुर्थखण्डे
'अथर्ववेदीय–कालसूक्ताक्षरार्थमात्रसमन्वय' नामकं
द्वितीयप्रकरणम्

२

श्री:

अथर्ववेदीय–कालसूक्ताक्षरार्थमात्रसमन्वयात्मकं
द्वितीयं–प्रकरणम्
२

—*—

कालस्वरूपात्मक–कालसूक्त (अष्टम)–दशमन्त्रात्मक

—*—

(१)–प्रथममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (प्रथममन्त्रार्थ)

१–'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः' इत्यादि प्रथम मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय—

(१)–कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥

यह है अथर्ववेदीय कालसूक्त का प्रथम (१) मन्त्र, जिसका अक्षरार्थसमवन्य यों सम्भव माना जा सकता है कि,—(१)—"सात रश्मियों वाला, सहस्र अक्ष वाला, वृद्धावस्था से पृथक् रहने वाला, प्रभूत वीर्य्यवान् 'कालाश्व' (विश्व का) वहन कर रहा है। (वाहन बने हुए इस) कालाश्व को लक्ष्य बना कर प्रज्ञाशील विद्वान् (इस पर) चढ़ जाते हैं। उस (कालाश्व) के सम्पूर्ण लोक चक्र हैं (परिभ्रमणस्थान) हैं"।

"एक ऐसा अश्व (घोड़ा) है, जिसने सम्पूर्ण विश्व का भार अपने ऊपर उठा रक्खा है। सब का वाहन (भार ढोहने वाला) बना हुआ यह अश्व सात रश्मियों से युक्त रहने के कारण 'सप्तरश्मिः' नाम से, सहस्र (हजार) नेत्रों से समन्वित होता हुआ 'सहस्राक्षः' नाम से, जरावस्था (वृद्धावस्था) से असंस्पृष्ट रहने के कारण 'अजरः' नाम से, एवं (महामहिमशाली ब्रह्माण्ड के समष्टि–व्यष्ट्यात्मक पदार्थों के उपादानद्रव्यरूप) पर्य्याप्त (भूरि) रेतः (शुक्र) के कारण 'भूरिरेताः' (महान् वीर्य्यशाली) नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे इस कालाश्व पर वे आरूढ रहते हैं, जो कवि (श्रद्धाशील) हैं, एवं विपश्चित् (बुद्धियोगनिष्ठ) हैं। विश्व–पदार्थों के वहन करने वाले, श्रद्धालु नैष्ठिकोंके बाहन बने रहने वाले ऐसे इस कालाश्व के परिभ्रमण स्थान (चक्र) सम्पूर्ण (सातों) भुवन बन रहे हैं," यह है पूर्वोक्त अक्षरार्थ का स्पष्टीकरण।

२–व्यक्तकाल के उपक्रम–उपसंहार–स्थान, एवं चतुर्लोकात्मक ब्रह्माण्ड का भाग्यविधाता व्यक्तकाल—

मन्त्र उस व्यक्तकाल का स्वरूप व्यक्त कर रहा है, जिसका उपक्रमस्थान तो माना गया है भृग्वङ्गिरोरूप आपोमय परमेष्ठी, एवं उपसंहारस्थान बना हुआ है भूपिण्ड। पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–दिशः–रूप

भूपिण्ड–चन्द्रमा–सूर्य्य–परमेष्ठी–नामक चार लोकों, किंवा अण्डवृत्तों की समष्टि का नाम हीं 'ब्रह्माण्ड' है, जिसे व्यक्त–मूर्त्त–काल का ही उपबृंहितरूप माना गया है। व्यक्तकाल ही चतुर्लोकात्मक इस ब्रह्माण्ड का भाग्यविधाता बना हुआ है। अर्थर्वेदीय दोनों कालसूक्तोंनें इस व्यक्तकाल को माध्यम बना कर ही स्वयं इसके (व्यक्तकाल के), तथा तदाधारभूत अमूर्त्त–अव्यक्त–काल के अथ से इतिपर्य्यन्त का इतिवृत्त अपनी पारिभाषिकी विज्ञानभाषा में सर्वात्मना स्पष्ट कर दिया है, जिस स्पष्टीकरण का कदापि वैखरी–वाणी के माध्यम से स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। कालसूक्त के पारिभाषिक, अतएव रहस्यपूर्ण, अतएव च दुरधिगम्य इस स्पष्टीकरण का समन्वय तो आस्थाश्रद्धा–पूर्वक हमें अपने 'प्रज्ञाजगत्' में ही ढूँढते रहने का यावज्जीवन प्रयत्नमात्र करते ही रहना चाहिए जरामर्य्यसत्रवत्। क्योंकि–**'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'** ही आर्ष–मानव की विश्रामभूमि मानी गई है।

३–अथर्व, साम, यजुः, ऋक्, भेदेन चतुष्पर्वा सौर गायत्रीमात्रिकवेद, तद्रूप व्यक्तकाल, एवं तत्प्रतीक--माध्यम से 'कालाश्व' रूप अव्यक्त–अमूर्त्त काल के दर्शन---

स्मरण कीजिये उन पूर्व परिच्छेदों का, जिनमें तात्त्विकवेद के पौरुषेय–अपौरुषेय–नामक महिमा–विवर्त्तों का स्पष्टीकरण हुआ है (देखिए-पृष्ठ सं० १०३)। पारमेष्ठ्य अथर्ववेद का (स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसित-अपौरुषेयवेद के वाक् भाग-यजूः के जू भाग--से आविर्भूत तत्त्व का) नाम हीं था भृग्वङ्गिरोरूप–स्नेह–तेजोगुणक–शुक्रात्मक--पारमेष्ठ्य–'आपः' तत्त्व, इसी का नाम था--'अथर्ववेद'। इस आथर्वणिक भृग्वङ्गिरोभाव के भृगुगर्भित अङ्गिरा की चिति से आविर्भूता छन्दः--रस--वितान--भावात्मिका त्रयीविद्या ही वह **'गायत्री–मात्रिक–पौरुषेयवेद'** कहलाया, जिसे तत्रैव प्रमाणवचन में **'प्रथमजवेद'** कहा था, जिस इस प्रथमज त्रयी--वेद के साथ तदुत्पादक पारमेष्ठ्य-भृग्वङ्गिरोरूप–अथर्व को भी समन्वित माना गया है अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से। अतः **'अथर्व–साम–यजुः–ऋक्'**–इन चारों तत्त्ववेदों की समन्वितावस्था को ही पूर्व में हमनें 'गायत्री–मात्रिकवेद' कहा था (देखिए-पृ० सं० १०५ की तालिकाएँ)। 'अथर्व' का अर्थ है--आपोमय-पारमेष्ठ्य शुक्र, एवं ऋक्–साम–यजुः–का अर्थ **है**–मूर्त्ति–मण्डल पिण्डरूप–सूर्य्यनारायण, जिस इस त्रयीवेदविद्यात्मक–सावित्रतेजोमय–गायत्राग्निरूप–सौर संस्थान को लक्ष्य बना कर ही–**'सैषा त्रयीविद्या तपति'** (शतपथब्रा०) सिद्धान्त स्थापित हुआ है। **पारमेष्ठ्य–अथर्वगर्भित–भृग्वङ्गिरोमय--(आपोमय)–ऋक्–यजुः--साम–मूर्त्ति--सौर–गायत्रीमात्रिकवेद ही व्यक्तकाल की स्वरूप--परिभाषा है**, जिसे माध्यम बना कर ही अब हमें इस अव्यक्तकाल की **'अश्वरूपता'** का दर्शन करना है श्रुतिप्रमाण्यबुद्ध्यैव।

४--भृग्वङ्गिरोरूप परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित भृग्वङ्गिरोमय 'अश्रु' लक्षण अश्वमूर्त्ति 'प्रथमजब्रह्म' नामक 'हिरण्यगर्भात्मक' व्यक्त–विश्वबीजात्मक–'अग्नि'–भावापन्न दिव्याग्नि––

'ब्रह्मैव प्रथमसृज्यत त्रय्येव विद्या। तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य **प्रथमजम्**' इत्यादि पूर्वपरिच्छेदोपात्त श्रौतप्रमाण के अनन्तर (देखिए पृ० सं० १०३ की श्रौतप्रमाणत्रयी) उसी सन्दर्भ का यह वचन हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि—**"अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्–सोऽग्निरसृज्यत। स यदस्य सर्वस्याग्र--**

मसृज्यत–तस्मादग्निः । अग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम् । परोक्षकामा हि देवाः । अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्–सोऽश्रुरभवत् । अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्" (शत० ६।१।१।१०,११...)। आपोमय शुक्रमूर्त्ति–पारमेष्ठय भृग्वङ्गिरोमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित ऋक (छन्द)–यजुः (रस), साम (वितान) समष्टिरूप त्रयीवेद ही गायत्रीमात्रिक पौरुषेय वेदरूप 'प्रथमजब्रह्म' है, जिसके लिए-'अन्तरैते त्रयो वेदा भृगून-ङ्गिरसः श्रिताः' यह कहा है गोपथ ने । यही वह अन्तर्गर्भित वेदाग्नि है, जिसके लिए–'अथ यो गर्भो-ऽन्तरासीत्' इत्यादि प्रकृत सन्दर्भ उपस्थित हुआ है । ऋक्–सामावच्छिन्न प्राणाग्नि ही अन्तर्गर्भित वह वेदाग्नि है, जिसे 'हिरण्यगर्भाग्नि' कहा गया है, एवं जिसका–'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' इत्यादि मन्त्र से विस्तारपूर्वक स्वरूपोपबृंहण हुआ है । भूतसर्गों में सर्वप्रथम आविर्भूत होने के कारण हीं यह अन्तर्गर्भित हिरण्य–गायत्रतेज–[किंवा सावित्रतेज] 'अग्नि' कहलाया है । यह 'अग्नि' ही परोक्षभाषा में–'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है ।

५–ब्रह्मवीर्य्यात्मक–अग्रजन्मा–ब्रह्ममुखरूप–हैमवती–उमाशक्तिसमन्वित–हैमाण्डलक्षण–गायत्रीमात्रिकवेदाण्डरूप यशोऽण्ड का स्वरूप–दिग्दर्शन

यही हिरण्यगर्भाग्नितत्त्व (किंवा अग्नितत्त्व) ज्ञानशक्तिमय 'ब्रह्मवीर्य्य' का प्रवर्त्तक बनता है । अतएव चातुर्वर्ण्यात्मक सर्गों में ब्राह्मणवर्ण–'अग्रजन्मा' कहलाया है । जो अर्थ 'अग्निजन्मा' का है, वही अर्थ 'अग्रजन्मा' का है । 'मुखं ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म' इत्यादि वहीं की शातपथी श्रुति इसी प्राथम्य के कारण इस गायत्राग्निरूप ब्रह्माग्नि को त्रयीमूर्त्ति प्रजापति का 'मुख' कह रही है, इसी आधार पर–'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादि वचन समन्वित हुआ है । अग्रता-प्रमुखता-प्राथम्य–अग्नित्व–वेदत्व–ब्रह्मत्व–ब्राह्मणत्व-आदि आदि भाव इसी अन्तर्गर्भित गायत्रीमात्रिक वेदतत्त्व के महिमामय विवर्त्त हैं, जिनका- 'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्' इत्यादि पूर्वोक्त वाक्यसन्दर्भ से स्पष्टीकरण हुआ है । पारमेष्ठ्य आपोमय समुद्र के गर्भ में, किंवा अन्तर्गर्भ * में प्रतिष्ठित यह हिरण्याग्नि ही गायत्रीमात्रिक पौरुषेय वेद का स्वरूप–परिचय है, जिससे हिरण्मयाण्डरूप यशोऽण्ड का सम्बन्ध बतलाया गया है । जोकि यह वेदाण्ड (पारमेष्ठ्य रेतोऽण्ड के अन्तर्गर्भ में प्रतिष्ठित गायत्राग्निरूप हिरण्यमयाण्डात्मक यशोऽण्ड) ही राजर्षि की भाषा में 'हैमाण्ड' कहलाया है, जिस के साथ कि केनोपनिषत् की सुप्रसिद्धा हैमवती उमा का सम्बन्ध माना गया है । हिरण्यगर्भरूप गायत्र–पुरुष की शक्ति ही वह 'हैमवतीउमा है,' जिस के आधार पर रोदसी–त्रैलोक्य के अग्नि–वायु-इन्द्र–रूप प्राकृत-देवों का स्वरूप प्रतिष्ठित है, जिस इस प्राकृत–रहस्य का केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य में विस्तार से स्पष्टी–करण हुआ है । हिरण्मयाण्डरूप इसी हैमाण्ड, अग्न्यण्ड, किंवा गायत्रीमात्रिक वेदाण्डरूप यशोऽण्ड को लक्ष्य बना कर भगवान् मनुने कहा है—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमं प्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥
—मनुः १।६।

---

* प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः–इति–यो गर्भोऽन्तरासीत् ।

भूपिण्ड–=।यम्भुव–पारमेष्ठ्य–सौर–मण्डलानुगता वेदसंस्थानत्रयी, एवं वेदात्मक तीनों कालों

जिसे **के अव्यक्तकाल, व्यक्ताव्यक्तकाल, व्यक्तकाल–रूपों का समन्वय—**

[१]ब्रह्मनिःश्वसित **अपौरुषेयवेद**, [२]ब्रह्मस्वेदवेद, [३]**गायत्रीमात्रिक पौरुषेयवेद**, इन तीन वेदतत्त्वों से ही क्रमशः–[१]**स्वायम्भुव–[२]पारमेष्ठ्य–[३]सौर**–जगत् का क्रमिक सम्बन्ध माना गया है। ये तीनों विवर्त्त क्रमशः **अव्यक्त–व्यक्ताव्यक्त–व्यक्त**–भावापन्न बनते हुए **अमूर्त्त–मूर्त्तामूर्त्त**, एवं **मूर्त्त** रूप हैं, और ये ही हैं तीनों एक ही कालतत्त्व के तीन विवर्त्त। ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय त्रयीब्रह्म–(त्रयीवेदात्मक प्रतिष्ठाब्रह्म)–रूपात्मक अव्यक्त स्वयम्भू ही **अव्यक्त–अमूर्त्त–काल है**। ब्रह्मस्वेदवेदात्मक–अथर्वब्रह्म–(सुब्रह्म)–रूपात्मक व्यक्ता–व्यक्तात्मक परमेष्ठी ही **व्यक्ताव्यक्त–मूर्त्तामूर्त्तकाल है**। एवं गायत्रीमात्रिक पौरुषेय–त्रयीब्रह्म–(त्रयीवेदात्मक प्रथमजवेद)–रूपात्मक व्यक्त सूर्य्य ही **व्यक्त–मूर्त्त–काल है**। स्वायम्भुव अव्यक्तकाल ही वह **अनुपाख्य–महाकाल है**, जिसे सर्वथा '**अचिन्त्यकाल**' माना है ऋषिप्रज्ञाने, जिसकाकि राजर्षिने–'***आसीदिदं तमोभूतम्**' इत्यादिरूप से यशोगान किया है।

७–अचिन्त्य अनुपाख्यकाल, चिन्त्याचिन्त्य अनिरुक्तकाल, चिन्त्य निरुक्तकाल, एवं–'तम आसीत्तमसा गूह्ळमग्रे' का तात्त्विक समन्वय—

पारमेष्ठ्य व्यक्ताव्यक्तकाल ही **अनिरुक्ततमोरूप** वह **करालकाल** है, जिसे '**चिन्त्याचिन्त्य**' माना है ऋषिप्रज्ञाने। अपनी भृग्वङ्गिरोरूपता से जहाँ यह अचिन्त्य है सलिलरूप विशुद्ध ऋतभावापेक्षया, वहाँ अपनी भृग्वङ्गिरोमयता से चिन्त्य है यही सौरसंस्थानुगामी बनता हुआ अपने सत्यभाव की अपेक्षा से। अनुपाख्यतमोरूप महाकालात्मक ब्रह्मनिःश्वसितवेद जब–'**सोऽनया त्रय्या–विद्यया सहापः प्राविशत्**' के अनुसार एकांश से अनिरुक्ततमोरूप करालकालात्मक–ब्रह्मस्वेद के (आपोमय परमेष्ठी के) गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है, तो उस प्राथमिकी गर्भावस्था में मानो गर्भीभूत वह अनुपाख्यतम (स्वायम्भुववेद) इस अनिरुक्त तम (पारमेष्ठ्य-वेद) में ही सुगुप्त–गूह्ळ बन जाता है। दोनों मिलकर पारमेष्ठ्यसलिल–भावापन्न–पारमेष्ठ्य–ऋतरूप से एकाकार (आपोमय) ही बन जाते हैं। और यही है वह स्थिति, जिस का सौरब्रह्माण्ड से पूर्व की अवस्था से सम्बन्ध माना गया है, एवं जिस का–'**तम आसीत्–तमसा गूह्ळमग्रे–अप्रकेतं–सलिलं सर्वमा इदम्**' (ऋक्सं०) इत्यादि मन्त्र से संस्मरण हुआ है ÷।

---

* **आसीदिदं तमोभूतप्रज्ञातमलक्षणम्।**
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ (मनुः १।५।)।

÷ **तमः–(अनुपाख्यतमोरूपः स्वयम्भूः- महाकालोऽव्यक्तः)। तमसा (अनिरुक्त-तमोरूपेण–करालकालात्मकेनाव्यक्तव्यक्तमूर्त्तिना परमेष्ठिना) अग्रे (सौर-ब्रह्माण्डण्डोदयात्पूर्वं) गूढं प्रच्छन्नम्––सर्वमापोमयमेव जगत्तदा––इति सलिलं सर्वमा इदम्।**

८–अनुपाख्यतमोरूप 'महाकाल', अनिरुक्ततमोरूप 'करालकाल', निरुक्तज्योतिर्म्मय 'कुटिलकाल', एवं कुटिलकालात्मक व्यक्त-सौर-'कालाश्व' की 'रोहितकालता' का संस्मरण—

अनुपाख्यतमोरूप महाकाल (स्वयम्भू), एवं अनिरुक्ततमोरूप करालकाल (परमेष्ठी), इन दोनों की महिमा से (दाम्पत्य से) ही आगे चल कर तीसरा व्यक्त–मूर्त्त–कुटिलकालात्मक सौरकाल–अभिव्यक्त होता है, जिस का–'अथ–यो गर्भोऽन्तरासीत्'० इत्यादि पूर्वोपात्त श्रुतिसन्दर्भ से सङ्केत हुआ है। यही तीसरा गायत्रीयात्रिक पौरुषेय व्यक्तवेदात्मक वह व्यक्तकालात्मक काल है, जिसे सङ्केतभाषा में–'रोहितकाल' कहा गया है। गायत्राग्निरूपा रोहितता (लोहितता) ही इस व्यक्त सौरकाल का रोहितकालत्त्व है, जिस के तात्त्विक स्वरूप–समन्वय के लिए तो अथर्ववेद के **'रोहितकालप्रकरण'** का ही स्वतन्त्ररूपेण स्वाध्याय करना चाहिए, जिस के कतिपय मन्त्रमात्र यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं—

> १–रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ।
> रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्वराभरत् ॥
> २–रोहितो लोको अभवद् रोहितोत्पतद् दिवम् ।
> रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सञ्चरन् ॥
> ३–सर्वा दिशः सञ्चरद् रोहितोऽधिपतिर्दिवः ।
> दिवं समुद्राद्भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति ॥
>
> —अथर्वसंहिता १३ काण्ड ।२ अनुवाक ।३६–४०–४१–मन्त्र ।

त्रिमूर्त्तिः–कालः
- १–ब्रह्मनिःश्वसितापौरुषेयवेदमूर्त्तिरव्यक्तः स्वयम्भूः-अनुपाख्यतमोरूपः-ऋजुकालात्मकः-**'महाकालः'**
- २–ब्रह्मस्वेदाथर्वमूर्त्तिर्व्यक्ताव्यक्तः—परमेष्ठी——अनिरुक्ततमोरूपः–ऋतकालात्मकः–**'करालकालः'**
- ३–गायत्रीमात्रिकपौरुषेयवेदमूर्त्तिरव्यक्तः-सूर्यः—हिरण्यरूपः——कुटिलकालात्मकः-**'रोहितकालः'**

९–श्वेतवराह के द्वारा 'कालाश्व' की आपोमयी हिरण्मयता में परिणति, एवं 'ऋते भूमि रियं श्रिता' का समन्वय—

उक्त तीनों कालविवर्त्तों में से तीसरे रोहितकालात्मक–व्यक्तभावापन्न–गायत्राग्निलक्षण–सौरकाल को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने–'योऽगर्भोऽन्तरासीत–सोऽग्निमसृज्यत'० इत्यादि रूप से सौर हिरण्मयाण्ड का स्वरूप-विश्लेषण किया है। स्मरण रखिए ! यह उस अवस्था का चित्रण है, जिस में अभी सूर्य्य का वैसा भौतिक-मूर्त्त–रूप अभिव्यक्त नहीं हो पाया है, जैसाकि हम आज देख रहे हैं। अपितु यह तो उस आरम्भावस्था का चित्रण है, जिस में सूर्य्य के मूर्त्तपिण्डनिर्म्माण की प्रक्रिया का आरम्भ हो रहा है आङ्गिरस अग्निपुञ्जों के

माध्यम से । केन्द्रशक्तिरूप—गायत्राग्निलक्षण प्राणाग्नि 'श्वेतवराह' नामक सौर मातरिश्वाप्राण से केन्द्र में
क्रम—क्रमशः घनीभूत होता जा रहा है क्षरात्मिका भूतमात्राओं के (बलमात्राओं के) चितिसम्बन्ध से ।
केन्द्राग्नि के आधार पर मातरिश्वाप्राणवायु के द्वारा सब से पहिले एक परिधिमण्डल का आविर्भाव होता है,
जोकि सौरपरिधिमण्डल 'हिरण्मयाण्ड' नाम से प्रसिद्ध है । यह अण्डता 'आपोभाव' पर ही अवलम्बित है,
यह भी विशेषरूप से संस्मरणीय, एवं सभी भौतिक सर्गों में नितान्त अवधेय दृष्टिकोण है । 'ऋते भूमिरियं
श्रिता' का 'ऋत' 'आपः' तत्त्व है, 'भूमि' पिण्डभाव है । प्रत्येक सत्यपिण्ड ऋत—आपः को परिश्रित बना
कर ही स्वस्वरूप से अवस्थित रहा करता है, जिस परिश्रित का माध्यम बनता है 'मातरिश्वा' नामक, '*वराह'
रूपेण प्रसिद्ध प्राणवायु ही । पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोरूप, एवं भृग्वङ्गिरोमय-अप्तत्त्व के बिना किसी भी अण्ड का,
अथवा तो पिण्ड का स्वरूपाविर्भाव सम्भव ही नहीं है ।

१०—अम्भः-मरीचिः-श्रद्धा-मरः-लक्षण चतुर्विध अप्तत्त्व, तदनुगत चतुर्विध 'अण्डवृत्त', एवं तदतीत 'वृत्तौजा' स्वयम्भू—

पूर्वपरिच्छेदों में परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्डानुबन्धों से जब अण्ड चार हैं, तो अवश्य ही चारों
अण्डों का स्वरूपाविर्भावक अप्तत्त्व ही होगा—'आपो वै परिश्रितः' इस परिभाषा के अनुसार । अतएव
पारमेष्ठ्य रेतोऽण्ड, सौर यशोऽण्ड, चान्द्र पोषाण्ड, एवं पार्थिव अस्त्वण्ड, इन चारों अण्डभावों के
स्वरूप—संस्थान के लिए अवश्य ही चारों हीं संस्थानों में 'अप्' तत्त्व का सम्बन्ध स्वतः सिद्ध हो जायगा । वे ही
चारों अप् तत्त्व क्रमशः **'अम्भः-मरीचिः-श्रद्धा-मरः'** नामों से प्रसिद्ध हुए हैं—(देखिए—ऐतरेयोप—
निषत्) । अङ्गिरागर्भित-भृगुरूप पारमेष्ठय अप्तत्त्व ही-**'अम्भः'** है, इसी से पारमेठ्य रेतोऽण्ड का स्वरूपावि—
र्भाव हुआ है । भृगुगर्भित—अङ्गिरामय सौर अप्तत्त्व ही—**'मरीचि'** है, यही सौर यशोऽण्ड, किंवा
हिरण्मयाण्ड का आविर्भावक है । अङ्गिरागर्भित भृगुमय चान्द्र अप्तत्त्व ही **'श्रद्धा'** है, इसीसे पोषाण्ड अनु—
प्राणित है । एवं भृगुगर्भित अङ्गिरोमय पार्थिव अप्तत्त्व ही-**'मरः'** (मूर्च्छित अप्तत्त्व) है, इसीसे अस्त्वण्ड
अनुप्राणित है । यों चारों हीं अण्ड विभिन्नप्रकृतिक चार अप्तत्त्वों से चतुर्विध आण्डभावों के स्वरूपाविर्भावक
बने हुए हैं । प्राण मूर्त्ति स्वयम्भू में क्योंकि 'अप्'तत्त्व का अभाव है । क्योंकि अप्तत्त्व तो इसके यजुर्म्मय
वाग्भाग से आगे चलकर दूसरी मैथुनी—सृष्टिधारा में हीं आविर्भूत होता है । अतएव स्वयम्भू अप्तत्त्व से
पृथक्-अतीत रहता हुआ आण्डवृत्त से बहिर्भूत ही है । अतएव इसे **'वृत्तोजाः'** ही कहा गया है ।

११—हिरण्यगर्भप्रजापति के 'अश्रुभाव' की 'अश्व' स्वरूप में परिणति—

'अग्नेरापः' इस सामान्य अनुगम के अनुसार सर्वत्र अप्तत्त्व का उद्गम—उपक्रम स्थान अग्नि ही
बना हुआ है । स्वायम्भुवाग्नि ही पारमेष्ठ्य **'अम्भः'** नामक 'अप्' तत्त्व का उद्गमस्थान है, जिसे ब्रह्म का
स्वेद (पसीना) कहा गया है । अब दूसरा स्थान आता है अप्तत्त्व का सौरमण्डल में । सौरमण्डल में, किंवा

---

* **जलौघमग्ना सचराचरा धरा विषाणकोट्याखिलविश्वमूर्त्तिना ।**
समुद्धृता येन वराहरूपिणा स मे स्वयम्भूर्भगवान् प्रसीदताम् ॥

हिरण्मय मण्डल में अन्तर्गर्भस्थ गायत्राग्निरूप प्राणाग्नि (अङ्गिरोऽग्नि) के संघर्ष से ही अपतत्त्व उत्पन्न होता है, और यही इस गर्भस्थ-अग्निप्रजापति के 'अश्रु' कहलाए हैं। गायत्राग्नि के 'अश्रु'रूप, अतएव अग्निप्रकृतिक इसी अपतत्त्व का नाम है-'मरीचि', एवं इस मरीचि नामक आग्नेय-तेजोमय-अपतत्त्व से ही स्वरूप-निर्म्माण होता है उस सौर आण्डवृत्त का, जिसे पूर्व में हमने 'हिरण्मयाण्ड'-'हैमाण्ड' आदि नामों से व्यवहृत किया है। मरीचि आपः से कृतरूप हिरण्मयाण्डरूप यशोऽण्ड के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने के कारण हीं भृगुगर्भित-अङ्गिराप्राणमूर्ति गायत्राग्निप्राणलक्षण हृद्य प्रजापति (सौरपुरुष-पुरुषप्रजापति) 'हिरण्यगर्भप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। सौर हिरण्यगर्भप्रजापति के इसी मरीचि नामक अपतत्त्व को लक्ष्य बना कर पूर्वश्रुति ने कहा है कि-'यदश्रु संक्षरितमासीत्-सोऽश्रुरभवत्'। यह अश्रुतत्त्व (मरीचि नामक-सौर वह अपतत्त्व, जिससे सूर्य्यपिण्डाविर्भाव से पूर्व ही 'हिरण्मयाण्ड' का निर्म्माण होजाता है) ही वैज्ञानिकों की परोक्षभाषा में-'अश्व' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जैसाकि उसी पूर्व श्रुति के-'अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्' इस अन्तिम वाक्यसन्दर्भ से स्पष्ट है।

१२-'कालो अश्वो वहति'-मन्त्रभाग का समन्वय-संस्पर्श—

'कालो अश्वो वहति' इत्यादि प्रथम मन्त्र के अर्थ-समन्वय की अक्षम्या धृष्टता प्रक्रान्त है। इस प्रथम मन्त्रचरण के 'काल' शब्द से, एवं 'अश्व' शब्द से क्या अभिप्रेत है ?, प्रश्न के समन्वय के लिए ही काल के तीन विवर्त्तों का, तथा तृतीय-सौरकाल के मरीचिरूप अश्व का दिग्दर्शन अबतक व्यक्त किया जा सका है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, **स्वयम्भूरूप अव्यक्त महाकाल से समन्वित, परमेष्ठीरूप व्यक्ताव्यक्त करालकाल से अनुप्राणित सौर व्यक्त मूर्त्तकाल ही यहाँ 'काल' शब्द से परिगृहीत है, एवं इसका मरीचि-आपोमय हिरण्मयाण्डरूप यशोऽण्ड ही 'अश्व' शब्द से संगृहीत है।** सौरकेन्द्रात्मक वेदमूर्त्ति प्रजापति काल है, एवं इसका महिमामण्डलात्मक तेजोमय-मरीच्यापोमय-बहिर्म्मण्डल ही 'अश्व' स्वरूप है। केन्द्र ही महिमारूप में परिणत है, काल ही अश्वरूप में परिणत है। केन्द्र, और महिमा, दोनों तत्त्वदृष्ट्या अभिन्न हैं। अतएव महाकाल-करालकाल-समन्वित इस सौरकाल को ही अब हम-रोहितकालवत्-'कालाश्व' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। **इसी कालाश्व ने, अर्थात् सौरब्रह्माण्ड ने विश्वभार का वहन कर रक्खा है।** और 'कालो अश्वो वहति' का यही समन्वय-संस्पर्श है।

१३-अश्वस्वरूप-दिग्दर्शनपूर्वक-'कालाश्व'का संस्मरण—

समन्वय-संस्पर्श इसलिए कि, काल के महिमामण्डल से अनुप्राणित 'अश्व' का स्वरूप तबतक गतार्थं बन हीं नहीं सकता, जबतक कि इस 'कालाश्व' से सम्बद्धा सुप्रसिद्धा उस **'अश्वमेधविद्या'** का स्वरूप-समन्वय नहीं कर लिया जाता, जिसका-**'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः'** इत्यादिरूप से रहस्यात्मिका पारिभाषिकी भाषा से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। यही कालाश्व आगे चल कर उस 'क्रान्ति' भाव की मूलप्रतिष्ठा बनता है, जिस के माध्यम से ही सौरत्रिलोकी का आविर्भाव हुआ है। सौरत्रिलोकी ही आगे चल कर सौरसम्वत्सर का माप-दण्ड बनती है, जिस की इयत्ता का संग्राहक वृत्त ही-'क्रान्तिवृत्त' कहलाया है। हिरण्मयाण्डरूप-लोकत्रयात्मक यह क्रान्तिवृत्त ही, तदवच्छिन्न सौर अग्नि ही वह 'अश्व' है, जिस का प्रतिष्ठाप्राण 'मधु' कहलाया है, एवं जिस 'मधु' के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही छान्दोग्योपनिषत् की सुप्रसिद्धा अत्यन्त ही दुरधिगम्या 'मधुविद्या'

का वितान हुआ है। मधुप्राणमय–हिरण्मयाण्डमूर्त्ति–क्रान्तिवृत्तात्मक अश्व की क्रान्तिमूला अमुक परिभाषाओं के समन्वय के लिए तो इसी निबन्ध के 'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश' नामक तृतीय खण्ड में उपवर्णिता अश्वमूला क्रान्तिविद्या के संस्मरणों को ही लक्ष्य बनाना चाहिए, जिन उन संस्मरण-सन्दर्भों का इस वाक्य-सन्दर्भ से ही संग्रह कर लिया जाता है कि–"अग्नि–वायु–आदित्य–प्राण–समन्वित, सम्वत्सर–अयन–ऋतु–मास–पक्ष–अहोरात्रादि–प्रवर्त्तक, सहस्रधा–सहस्र–रश्मि–समाप्लुत, बृहत्–वैराज–रैवत–सामात्मक, ज्योतिः-गौः-आयुः-मनोतात्रयी के द्वारा ज्योतिष्टोम-गोष्टोम-आयुष्टोम-प्रवर्त्तक, सप्ताहोरात्र-वृत्तात्मक सप्तछन्दोरूप सप्ताश्व से सञ्चालित, पारमेष्ठ्य सोमशुक्र से सवीर्य्य, अपने असङ्ग प्राण-के प्राधान्य से सदा ही जीवनीय भाव से युक्त-इत्थंभूत, क्रान्तिवृत्त से परिच्छिन्न-गायत्रीमात्रिकपौरुषेय वेदात्मक–सौरप्रजापति का नाम हीं–'अश्व' है"। इसी अश्वने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का वहन कर रक्खा है–'कालो अश्वो वहति'।

१४–'कालाश्व' का स्वरूप-समन्वय—

जब कि सौर 'कालाश्व' क्रान्तिवृत्त से परिच्छिन्न है, तो यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कैसे वहन कर सकेगा !' प्रश्न का उस दशा में कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जब कि हम इस सीमित भी सौरकाल के साथ उन असीमित पारमेष्ठ्य 'करालकाल,' तथा स्वायम्भुव 'महाकाल'-विवर्त्तों के साथ रहने वाली अभिन्नता को लक्ष्य बना लेते हैं। यही व्यक्त कालाश्व जहाँ अपने सौर–व्यक्तरूप से व्यक्त सौर–चान्द्र–पार्थिव–ब्रह्माण्डों का वहन कर रहा है, वहाँ यही अपने–व्यक्ताव्यक्त पारमेष्ठ्य–करालकालरूप से पारमेष्ठ्य ब्रह्माण्ड का विधर्त्ता प्रमाणित हो रहा है। एवं यही अपने अव्यक्त –स्वायम्भुव– महाकालरूप से स्वायम्भुव विवर्त्त का भी संग्राहक बना हुआ है। यों विश्वकेन्द्रस्थ सौर कालाश्व अपने महिमारूप-अश्वकाल-करालकाल–महाकाल, इन तीन विवर्त्तों से पञ्चपुण्डीरात्मक सम्पूर्ण विश्व का वाहन प्रमाणित हो रहा है। इसी सम्पूर्ण तथ्य को लक्ष्य में रखते हुए ऋषिने कहा है–'कालो अश्वो वहति'।

१५–कालाश्व के–'सप्तरश्मि' विशेषण का संस्मरण, एवं कालानुबन्धी असंख्य–सप्त सप्तक—

कैसा है यह कालाश्व ?, 'सप्तरश्मिः'। यह शब्द अनुगमात्मक है। अतएव विश्व में यत्र-तत्र व्याप्त यच्चयावत् सप्तकों का यह 'सप्तरश्मि' शब्द संग्राहक बन रहा है। भूत–भौतिकी मूर्त्तसृष्टि का मूलबीज माना गया है वह 'ऋषिप्राण', जिसके अवान्तर योगज पितर–असुर–गन्धर्व–देव–पशु–आदि भेदों का पूर्वपरिच्छेदों में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। ऋषिप्राण की एकर्षि–द्व्यर्षि–त्र्यर्षि–सप्तर्षि–नवर्षि–दशर्षि–आदि आदि अनेक वर्ग-जातियाँ हैं, जिनमें अग्नि-सोममूलक विश्वोपादानापेक्षया सर्ववर्गसमतुलन में 'सप्तर्षिप्राण' को ही प्रमुख मूल–बीज माना गया है। इसी सप्तर्षिप्राणानुबन्ध से सम्पूर्ण अग्निविवर्त्त 'सप्तचितिक' बने हुए हैं. जैसा कि-'सप्तचितिकोऽग्निः' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। स्वयम्भू ब्रह्माग्नि है, परमेष्ठी ऋताग्नि है, सूर्य्य देवाग्नि है, चन्द्रमा सौम्याग्नि है, भूपिण्ड भूताग्नि है। और ये पाँचों हीं विश्वाग्नियाँ समष्टिरूप से भी सप्तचितिक हैं, एवं व्यष्टिरूप से (प्रत्येक) भी सप्तपर्वा है। सप्त लोक, सप्त पाताल, सप्त समुद्र, सप्त नदियाँ सप्त पर्वत, सप्त व्याहृति, सप्त छन्द, सप्त मन्वन्तर, सप्त आदित्य, सप्त स्वर, सप्त वर्ण (रँग),

सप्त मरुद्गण, सप्त मेघ, सप्त होता, सप्त अहोरात्र, सप्त नाडीवृत्त, सप्त ग्रह, सप्त ऋत्विक्, सप्तसंस्थ ज्योतिष्टोम, सप्त देश, सप्त साकञ्जप्राण, सप्त आध्यात्मिकप्राण, आदि आदि रूप से जितनें भी सप्तक श्रुतोपश्रुत–वर्णितोपवर्णित हैं, उन सब का मूल 'सप्तर्षिप्राण' रूप स्वायम्भुव मौलिक ऋषिप्राण ही बना हुआ है, जिसकी–'चत्त्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा' रूप से 'सप्तपुरुष' रूप से चित्यभाव में परिणति हो रही है। अतएव स्वायम्भुव ऋषिप्राणात्मक अपुरुषविध मूलपुरुष–'सप्तपुरुष-पुरुषप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

"प्राणा वा ऋषयः। त इद्धाः सप्त नानापुरुषानसृज्यन्त। तान् सप्तपुरुषान् (प्राणान्) एकं पुरुषमकुर्वन्-यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, यदवाङ् नाभेस्तौ द्वौ-(इति चत्त्वार आत्मा-मुख्यप्राणा इति यावत्) पक्षः पुरुषः, पक्षः पुरुषः। प्रतिष्ठैक आसीत्। स यः स पुरुषः-प्रजापतिरभवत् (सप्तर्षिप्राणमूर्त्तिः)--अयमेव सः--योऽयमग्निश्चीयते"

—शत० ६।१।१।१ से ६ पर्य्यन्त

१६–सप्तपुरुषपुरुषात्मक-सप्तावयव-प्रजापति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं स्वयम्भू प्रजापति की सप्तरश्मिता का समन्वय—

किसी भी भौतिक पदार्थ को लक्ष्य बना लीजिए, उस में आपको **मध्य–पार्श्व–मूल**–ये तीन पर्व उपलब्ध होंगे। एक वृक्ष में भी तीनों हैं, तो वृक्ष के एक पत्ते में भी तीनों है। जिस प्राण से पत्ता तना हुआ रहता है, वही 'पुच्छप्रतिष्ठाप्राण' है। दोनों पार्श्व दो पक्षप्राण हैं। मध्यस्थ मेरुदण्डप्राण चत्त्वारः–आत्मरूप मध्य प्राण है। इन सात चितियों से ही भूतपदार्थों का स्वरूप सम्पन्न होता है। क्योंकि इन सात भूताग्नि-चितियों का मूल सात चान्द्रचितियाँ हैं, इन का मूल सात सौर चितियाँ हैं, इनका मूल सात पारमेष्ठ्य-चितियाँ हैं, और इन का, किंवा सब का सर्वमूल स्वायम्भुव ऋषिप्राण अपने मूलबीज से सप्त चितिरूप पुरुषप्रजापति बना हुआ है। अतएव सप्तप्राण ही कालपुरुष का वह छन्द (ढाँचा–साँचा) है, जिस से छन्दित यच्चयावत् पदार्थ सप्तावयव बने हुए हैं।

१७–परमेष्ठी-प्रजापति की सप्तरश्मिता का तात्त्विक-समन्वय—

इन असंख्य सप्तक विवर्त्तों में से प्रकृत में हमें कालानुबन्धी तीन सप्तकों का ही सौर कालाश्व के माध्यम से समन्वय कर लेना है। स्वायम्भुव अव्यक्त महाकाल के सात ऋषिप्राण ही उस महकाल की सात रश्मियाँ हैं। पारमेष्ठ्य व्यक्ताव्यक्त करालकाल के सात पारमेष्ठ्यप्राण (**तीन भृगु, तीन अङ्गिरा, सातवाँ अत्रि**) ही उस करालकाल की सात रश्मियाँ हैं, एवं सौर–व्यक्त–कालाश्वरूप क्रान्तिवृत्त के **गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्–बृहती–पङ्क्ति त्रिष्टुप्–जगती**–मूलक सात पूर्वापरवृत्त (तदवच्छिन्न सौर सप्त देवप्राण) हीं इसकी सात रश्मियाँ है। यों यह कालाश्व अपने तीनों कालभावों से सप्त–सप्त–सप्त–प्राणात्मक बनता हुआ इन त्रिसप्तकों से **'सप्तरश्मि'** बन रहा है, जिन इन तीन सप्तकों के समन्वय से ही क्रान्तिवृत्तात्मक सम्वत्सर-काल के ३ लोक, ५ ऋतुएँ, १२ मास, एवं सम्वत्सरात्मक १ सूर्य्य, इस रूप से २१ पर्व हो जाते हैं (देखिए–

तै० सं० ७।३।१०।५) । इसीप्रकार इस सौर सम्वत्सरचक्र में अन्यान्य भी कितने ही सप्त पर्व समन्वित हैं, जिन का मूल सप्तर्षिप्राण ही बना हुआ है * ।

१८-हिरण्यगर्भ सौरप्रजापति की सप्तरश्मिता का समन्वय—

सप्तर्षि-प्राणानुबन्ध से सप्तरश्मि बने हुए स्वायम्भुव-अव्यक्त-महाकाल से, एवं भृग्वङ्गिरोऽत्रि-नामक सप्त पारमेष्ठ्य-प्राणानुबन्ध से सप्तरश्मि बने हुए पारमेष्ठ्य-व्यक्ताव्यक्त-करालकाल से अविनाभूत (नित्य-समन्वित) अपने सप्तछन्द-सप्ताहोरात्रवृत्त सप्तादित्य-सप्तदिग्विवर्त्त-आदि आदि अनेक सप्तकों से सप्तरश्मि प्रमाणित होने वाले सौर-व्यक्त-कालाश्व के, दूसरे शब्दों में क्रान्तिवृत्तात्मक-अश्वमूर्त्ति सौर-सम्वत्सर के मापदण्डात्मक-कालात्मक-सम्वत्सरचक्र का क्या स्वरूप है ?, यह भी दो शब्दों में समन्वित कर लेना चाहिए । क्योंकि अग्न्यात्मक-सत्तासिद्ध-कालाश्वरूप सम्वत्सरप्रजापति का स्वरूप भोगकालात्मक-सम्वत्सरचक्र से ही मानवप्रज्ञा के लिए बोधगम्य बना करता है ।

१९-सौरसम्वत्सरचक्रानुबन्धी मैत्र-वारुण-कपालों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

ज्योतिष्चक्रात्मक खगोल ही इस सम्वत्सरचक्र का परिमाणदण्ड माना जायगा, जिसमें वृत्तांश की मर्य्यादानुसार ३६० अंश माने जायँगे । इन तीन सौ साठ (३६०) अंशों को सर्वप्रथम खगोल के दृश्य-अदृश्य-रूप दो अण्डकटाहों में विभक्त किया जायगा, जिन दोनों विभागों की विभाजिका रेखा माना जायगा ध्रुवप्रोतवृत्त । उत्तरध्रुव से आरम्भ कर दक्षिणध्रुव पर्य्यन्त जो दक्षिणोत्तरवृत्त बनेंगे, उन्हें ही ध्रुवप्रोतवृत्त कहा जायगा, एवं ये ३६० होंगे, साथ ही समानाकारान्वित भी । इन ३६० अहोरात्रवृत्तों में से जो ध्रुवप्रोतवृत्त मध्याह्न का स्पर्श करता हुआ मध्यरात्रि से स्पर्श करेगा, वह अद्यतनलक्षण अहःकाल का, तथा अनद्यतनलक्षण रात्रिकाल का विभाजक माना जायगा । लोकप्रसिद्ध रात के बारह बजे से दिन के बारह बजे पर्य्यन्त का काल अद्यतनरूप अहः (दिन) कहलाएगा, एवं दिन के बारह बजे से रात्रि के १२ बजे पर्य्यन्त का काल अनद्यतनरूपा रात्रि (रात) कहलाएगी । अद्यतनरूप अहः को 'आज' कहा जायगा, अनद्यतनरूपा रात्रि को 'कल' माना जायगा । ये ही दोनों अर्द्धवृत्त दो अण्डकपाल कहलाए हैं, जो क्रमशः **मैत्रकपाल**, एवं **वरुणकपाल** नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन इन दोनों मैत्रावरुण-कपालों के सन्धिरूप पूर्वोक्त मध्यस्थ ध्रुवप्रोतवृत्तात्मक उर्वशीवृत्त के माध्यम से ही **वसिष्ठ-अगस्त्य-मत्स्य**-नामक तीन योगज प्राणों की उत्पत्ति मानी गई है, जिसके लिए पुराणशास्त्र में सुप्रसिद्ध **'मैत्रावरुणाख्यान'** नामक असदाख्यान प्रवृत्त हुआ है । इति स्थितिः खगोलस्य ।

---

* (१)-सः सप्तसिन्धूनदधात् पृथिव्यां, यः सप्त लोकानकृणोद्, दिशश्च ॥
—तै० ब्रा २।८।३।८।

(२)-सप्त दिशो नाना सूर्य्याः सप्त होतार ऋत्विजः । देवा आदित्या ये सप्त ।
—ऋक्सं० ९।११४।३।

(३)-सात दिशाओं के अधिपति निम्न लिखित सात आदित्यप्राण हैं—
१-आरोग, २-भ्राज, ३-पटर, ४-पतङ्ग, ५-स्वर्णर, ६-ज्योतिषीमान्, ७-विभास ।
—तै० आ० १।७।१। —इत्यादि

२०–मैत्रावरुणकपालानुगत ध्रुवप्रोतवृत्त, एवं खगोलीय--स्थिति का समन्वय—

मित्रकपाल को हम दृश्यार्द्धाकाश कहेंगे, जिसके मध्य में सूर्य्य प्रतिष्ठित है, एवं वरुणकपाल को अदृश्यार्द्धाकाश कहेंगे, जिसके मध्य में सौरेन्द्रप्रतिद्वन्द्वी वरुणराजा प्रतिष्ठित हैं। दोनों कपालार्द्धों में ३६० अंशों के १८०–१८० अंश विभक्त हो रहे हैं। इन दोनों में से मैत्र–दृश्य--१८० अंशात्मक--सूर्य्यानुगत--अहरनुगत--अर्द्धकपालात्मक–अर्द्धखगोल को मूल मान कर ही हमें सम्वत्सरचक्र के कालात्मक स्वरूप का अन्वेषण करना है। अहोरात्रविभाजिका--ध्रुवप्रोतरेखा के उत्तरध्रुव से दक्षिणध्रुव--पर्य्यन्त १८० अंश व्याप्त हैं अर्द्ध खगोल के। इन १८० अंशों में से उत्तर ध्रुव से दक्षिण की ओर, तथा दक्षिण ध्रुव से उत्तर की ओर ठीक मध्य में सूर्य्य प्रतिष्ठित हैं, जिन से उत्तरध्रुव भी ९० अंश पर है, एवं दक्षिणध्रुव भी ९० अंश पर है।

२१–त्रिकेन्द्रात्मक सम्वत्सरवृत्त, एवं–'एको अश्वो वहति सप्तनामा' का संस्मरण—

दृश्यार्द्धखगोल के मध्यस्थ सूर्य्य से उत्तरध्रुव--पर्य्यन्त व्याप्त ९० अंशों में से २४ (चौबीस) अंश, एवमेव सूर्य्य से दक्षिणध्रुव--पर्य्यन्त व्याप्त ९० अंशों में से २४ अंश, इन दोनों चतुर्विंशतियों की समन्विता-वस्था से युक्त खगोलखण्ड ही क्रान्तिवृत्त का परिमाणदण्ड होगा, जिसका अर्थ होगा २४ अंश के व्यासार्द्ध से कृतरूप ४८ अंशात्मक–परिसर। सूर्य्य से उत्तर के २४ वें, तथा दक्षिण के २४ वें अंश का स्पर्श करता हुआ जो दीर्घवृत्त (त्रिकेन्द्रात्मक वृत्त) बनेगा, जिसे कि त्रिकेन्द्रानुबन्ध से 'आण्डवृत्त' कहा जायगा, वही 'क्रान्तिवृत्त' कहलाएगा, जिस पर भूपिण्ड सम्वत्सरगति का अनुगामी बना रहता है। इस क्रान्तिवृत्त का नाम हीं 'सम्वत्सरवृत्त' है, एवं यही वह 'अश्व' है, जिसकी इस सम्वत्सरचक्र में सर्वतः व्याप्ति हो रही है। कैसा है यह 'अश्व' ?। ऐसा है यह एक ही क्रान्तिवृत्तात्मक अश्व, जिसके सात नामविवर्त्त हो रहे हैं। **'एको अश्वो वहति सप्त नामा'** (ऋक्सं० १।१६४।२।)। क्या स्वरूप है उन सात नामविवर्त्तों का ?, प्रश्न का उत्तर मन्त्रोपात्त–'सप्तरश्मिः' पद पर ही निर्भर है।

२२–कुटिलकालात्मक सम्वत्सरप्रजापति के सप्त अहोरात्रात्मक अश्ववृत्त, एवं 'यः-सप्त-रश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्' मन्त्र का संस्मरण—

मध्यस्थ सूर्य्य से उत्तर की ओर क्रमशः १२ वें, ८ वें, तथा ४ थे अंश पर तीन पूर्वापरवृत्त बनते हैं, जो अंशह्रसीयता से उत्तरोत्तर छोटे हैं। एवमेव सूर्य्य से दक्षिण की ओर क्रमशः १२–८-४–अंशों पर भी तीन पूर्वापरवृत्त बन जाते हैं। एकवृत्त स्वयं वहाँ बनता है–जहाँ सूर्य्य प्रतिष्ठित हैं। यों एक ही क्रान्तिवृत्ताश्व के सात (७) पूर्वापरवृत्त हो जाते हैं, जिनमें सूर्य्य की प्रतिष्ठारूप मध्यवृत्त सब से बड़ा है। अतएव यह 'बृहत्' नाम से प्रसिद्ध है। इसी बृहद्वृत्त के सम्बन्ध से तत्केन्द्र में प्रतिष्ठित (**सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति**) 'बृहत्' कहलाने लग गया है—'**बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः**'। एवं सौरसाम भी इसी अनुबन्ध से –'**बृहत्साम**' नाम से प्रसिद्ध होगया है। बृहल्लक्षण (क्योंकि वृत्त का मध्यवृत्त पार्श्ववृत्तापेक्षया सब से बड़ा ही होगा) बृहद्वृत्त ही 'बृहतीछन्द' है, तदुत्तर के १२–८–४ वाले तीनों पूर्वापरवृत्त क्रमशः **पङ्क्ति-त्रिष्टुप्–जगती**–छन्दो नामों से, एवं बृहती से दक्षिण के तीनों बृत्त **अनुष्टुप्-उष्णिक्-गायत्री**-इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये ही सात छन्द, किंवा सात अश्व, किंवा एक ही क्रान्तिवृत्ताश्व के सात नाम, किंवा सौर सप्तचितिक प्राणों के सप्त संस्थान हैं। क्रान्तिवृत्ताश्वरूप

इस कालात्मक सम्पूर्ण सम्वत्सरचक्र का संग्रह करने के लिए ही ऋषि ने–कालरूप अश्व को–**'सप्तरश्मिः'** कह दिया है। सप्ताहोरात्रात्मक–सप्तप्राणचितिरूप–क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न–इसी सौर–कालाश्वपुरुष को इसी सप्ताहोरात्रानुबन्ध से अन्यत्र भी **'सप्तरश्मिः'** नाम से व्यवहृत कर दिया गया है, जैसाकि निम्नलिखित मन्त्र-वर्णन से स्पष्ट है—

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्त्तवे सप्त सिन्धून् ।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥

—ऋक्सं० २।१२।१२।

२३--कालाश्वरूप कालवृषभ-महादेव, एवं 'चत्त्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः' मन्त्र का संस्मरण--

त्रैलोक्यप्रजा के लिए अपने सप्त रसात्मक सप्त समुद्रों के दधि–मधु–घृत–अमृतादि रसों का वर्षण करने के कारण हीं यज्ञमूर्त्ति–सौरसम्वत्सरप्रजापति 'कालाश्व' की भाँति **कालवृषभ** (**महादेव**) नाम से भी प्रसिद्ध हो रहे हैं, जैसाकि पूर्वश्रुति के–**'यः सप्तरश्मिर्वृषभः'** इत्यादि से स्पष्ट है। कैसा है यह वृषभ ?। तो सुनिए ! पारमेष्ठ्य सुब्रह्मरूप **अथर्वतत्त्व,** एवं स्वयं के गायत्रीमात्रिक त्रयीवेद के क्रमशः **ऋक्-यजुः-साम-**नामक तत्त्व, ये चारों वेद उस महावृषभ के मानो चार शृङ्ग (सींग) हीं हैं, जिनके द्वारा होने वाले निखनन-व्यापार से ही सम्पूर्ण सर्ग व्यवस्थित हुए हैं यथास्थान । सौरमहिमामण्डल में हीं समहिम सौरसम्वत्सरात्मक यज्ञ-प्रजापतिरूप यह वृषभ पृथिव्यनुगत **प्रातःसवन,** अन्तरिक्षानुगत **माध्यन्दिनसवन,** एवं द्युलोकानुगत–**सायंसवन**–रूप से तीन प्रक्रमरूप पदों में प्रतिष्ठित है । ये ही तीनों सवनात्मक प्रक्रमपद मानो उस वृषभ के तीन पाद (चरण) हैं। इस सम्वत्सरप्रजापति की प्रज्ञा-प्राण–भूत–मात्राएँ पदार्थनिर्म्माण में निरन्तर विस्रस्त होतीं रहतीं हैं, साथ ही यह इनके विस्रस्त भागों को लेकर अपने विस्रस्त भाग की पूर्त्ति भी करता रहता है। विस्रस्त भाग ही प्रवर्ग्य कहलाया है, एवं स्वरूपसधाता भाग ही ब्रह्मौदन कहलाया है । आदानविसर्गानुबन्धी इन दोनों ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्यभावों के धारावाहिक चङ्क्रमण से ही सम्वत्सरप्रजापति अपने यज्ञस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं। अतएव–प्रतिष्ठात्मक–जीवनीयरसात्मक इन दोनों को उस वृषभ के दो मस्तक कहे जा सकते हैं। एवं विविध सप्तक विवर्त्तों के प्रवर्त्तक, मूलभूत सप्तर्षिप्राणनिबन्धन–सप्त दिव्यप्राणात्मक सप्त अहोरात्रवृत्तों के माध्यम से ही क्योंकि आदान–विसर्गात्मक यज्ञकर्म्म प्रक्रान्त रहता है सौरसम्वत्सरप्रजापतिरूप वृषभ का, अतएव कर्म्मसाधकत्वात् इन सात वृत्तों को अवश्य ही इस वृषभ के सात हाथ माना जा सकता है। समहिम **चन्द्रमा,** समहिम **भूपिण्ड,** एवं समहिम **सूर्य्य,** तीनों हीं इसी सम्वत्सरप्रजापति के महिमामण्डल में अन्तर्गभित हैं। इन तीन सौर–चान्द्र–पार्थिव–वृत्तों से–सम्वत्सरों से ही क्रान्तिवृत्तात्मक महासम्वत्सरपुरुष का स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है, जैसाकि इसकी दीर्घवृत्तता से पूर्व में भी यत्र तत्र स्पष्ट किया जा चुका है। इन तीनों केन्द्रों से आबद्ध ही है यह महासम्वत्सर । त्रिकेन्द्रात्मक इसी बन्धनसूत्र से यह सर्वथा अपनी सीमा में मर्य्यादित बना हुआ है। इसी त्रिकेन्द्रबन्धन से कहा जा सकता है कि, यह वृषभ मानो तीन स्थानों से बँधा हुआ है। इसप्रकार चतुर्वेदात्मक चार शृङ्गों से, त्रिसवनात्मक (सवनात्मक) तीन पादों से, ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्यरूप दो शिरोभावों से, एवं सप्ताहोरात्र-वृत्तात्मक सात हाथों से कृतरूप वह सम्वत्सरवृषभ (कालाश्व) त्रिकेन्द्रप्रतिष्ठासूत्रों से आबद्ध होता हुआ अपने

प्रचण्डतेज से सम्पूर्ण विश्व में व्यक्त तथा व्याप्त होरहा है लोकसाक्षी-जगच्चक्षु बनता हुआ। इसका अनाहत-नादात्मक प्रचण्ड अग्निघोष ही इसका गर्ज्जन–तर्ज्जन है। कालाश्व की इसी वृषभरूपता का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि ने कहा है—

चत्वारि शृङ्गा, त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे, सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥

—ऋक्सं० ४।-८।३।

२४–कालवृषभमूर्त्ति महादेव के महिमावर्णनात्मक अथर्ववेद के सात मन्त्रों का अक्षरार्थ संस्मरण----

और फिर कैसा है यह वृषभमूर्त्ति–सौरसम्वत्सरात्मक–व्यक्त कालाश्व ?, उत्तर है—(१) यही वह कालाश्वरूप सम्वत्सरप्रजापति, किंवा तदुपलक्षित तत्प्रतीकरूप सूर्य्य है, जिसने द्यावापृथिवीरूप रोदसी त्रैलोक्य-उत्पन्न किया है। सम्पूर्ण दिशाएँ इसी को आधार मान कर व्यवस्थित हैं। जो भूरादि उर्वियों को प्रकाशित करता है। (२)–जिससे ऋतधर्म्मा–ऋतुप्रवर्त्तक प्राणाग्नि–प्राणसोमवायु निकलते रहते हैं, जिससे सप्तरसों का विनिर्गमन होता रहता है, (३)–जो मृत्यु का प्रवर्त्तक, एवं जीवन का आधार है, जिससे सम्पूर्ण भूत जीवनीया प्राणशक्ति प्राप्त करते हैं, (४)–जो अपने प्राण के प्राणनधर्म्म से द्यावापृथिवी का तर्पण करता रहता है, अपान के अपाननधर्म्म से रसों के रसत्त्व का संरक्षण करता रहता है, (५)–जिसमें विराट्मूर्त्ति स्वयं हिरण्यगर्भ सौर विराट्, परमेष्ठी प्रजापति, अग्नि वैश्वानर प्रतिष्ठित हैं, पंक्तिछन्दोमय पांक्त यज्ञ के माध्यम से जिसमें स्वयं सूर्य्यविराट्, परमेष्ठी, सम्वत्सरप्रजापति, प्राणाग्नि, योगज–वैश्वानर–ये पाँचों विवर्त्त पंक्तिछन्दोऽनुगत पांक्तयज्ञ के माध्यम से प्रतिष्ठित हैं, जिसने 'पर' (अव्यय) के प्रतिनिधिरूप स्वायम्भुव अव्यक्तकाल के प्राण को (ऋषितत्त्व को), एवं परमस्थानीय पारमेष्ठ्य तेज (अङ्गिराप्राण) को अपने में प्रतिष्ठित कर लिया है, (६)-जिसमें भूः–भुवादि ६ उर्वियाँ (प्रतिष्ठाभूमियाँ), एवं पाँच प्रमुख दिशाएँ प्रतिष्ठित हैं, अम्भः–मरीचिः–श्रद्धा–आपः–नामक चारों अप्तत्त्व प्रतिष्ठित हैं, जिसमें यज्ञ के यज्ञप्रवर्त्तक ब्रह्मेन्द्रविष्णु नामक तीन हृद्याक्षर प्रतिष्ठित हैं, (७)–जो अपने पार्थिवरूप से अन्नभोक्ता बन रहा है, चान्द्ररूप से अन्नपति बन रहा है, पारमेष्ठ्यरूप से ब्रह्मणस्पति बना हुआ है, जो भूत–और भविष्यत् का अधिपति बनता हुआ भुवन (लोक) रूप वर्त्तमान का भी साक्षी बन रहा है, इत्यादि इत्यादि रूप से जो महामहिमशाली प्रमाणित हो रहा है। ऐसे कालाश्वमूर्त्ति–कालरूप, एवं क्रोधाविष्ट–गर्ज्जन–तर्ज्जन करते रहने वाले गायत्रीमात्रिक पौरुषेय वेदात्मक महावृषभलक्षण सम्वत्सरप्रजापति को जानने–पहिचानने वाले वेदवित् ब्राह्मण को जो उत्पीड़ित करता है, वह इस ब्राह्मण की मूलप्रतिष्ठारूप उस क्रोधमूर्त्ति प्रजापति को ही उत्तेजित करता है। निश्चयेन उत्तेजित हो पड़ने वाला वह कालपुरुष ब्राह्मणद्वेषियों को अपने क्रोधपाश में हीं आबद्ध कर लिया करता है—"**तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति। उद्वेपय रोहित। प्रक्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रतिमुञ्च पाशान्**"।

—देखिए ! अथर्वसंहिता १३ काण्ड। ३ अनुवाक, १ से ७ मन्त्रपर्य्यन्त।

२५–कालाश्व के 'सहस्राक्ष' विशेषण का संस्मरण—

'सप्त सूर्य्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त' [अथर्व १३।२।८]–इत्यादिरूपेण अन्यत्र उपवर्णित सप्ताहोरात्ररूप छन्दोमय अश्वों से अश्वरूप में परिणत रहने वाले कालाश्व के इस तथोपवर्णित 'सप्तरश्मि' विशेषण के अनन्तर दूसरा 'सहस्राक्ष' विशेषण हमारे सम्मुख उपस्थित होरहा है।

२६–सृष्टिविद्यात्मिका 'साहस्री', एवं साहस्री--सृष्टिविद्या के तीन विवर्त्त—

वैदिक सृष्टिविज्ञान सृष्टि--स्थिति--दृष्टि--भेद से तीन प्रक्रमों में निरूपित हुआ है महर्षियों के द्वारा, जो तीनों सृष्टिविद्याएँ इस प्रक्रमत्रयी के भेद से क्रमशः सृष्टिमूला सृष्टिविद्या, स्थितिमूला सृष्टिविद्या, एवं दृष्टिमूला सृष्टिविद्या–इन नामों से समन्वित हैं विज्ञानजगत् में। प्राणमूर्त्ति परोरजा स्वयम्भू से ही सृष्टि का आरम्भ होता है, वाङ्मूर्त्ति सूर्य्य से ही सृष्टि की स्वरूपस्थिति हो रही है, एवं अन्नादमयी पृथिवी से ही सृष्टि का दृष्टिक्रम उपक्रान्त होता है। विश्वेश्वरांशभूत स्वयम्भू से पृथिवी--पर्य्यन्त व्याप्त पञ्चपर्वा विश्व का ही नाम महाविराट्पुरुष है, जिसका मस्तक है स्वयम्भू, हृदय है सूर्य्य, एवं पाद है पृथिवी। इसी प्रतीकता से उक्त तीनों सर्गविद्याओं को शिरोमूलक सर्ग–हृदयमूलक सर्ग–पादमूलक सर्ग–इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है।

२७–'तासां त्रिवृतं त्रिवृतामेकैकां करवाणि' का समन्वय—

संसृष्टिमूला सृष्टि का, एवं संसृष्टात्मक सृष्ट पदार्थों का स्वरूप है--प्रज्ञा--प्राण--भूत--नामक तीन मात्राओं की समन्वितावस्था। सहजभाषानुसार--ज्ञान--क्रिया--अर्थ--शक्तित्रयी के पुञ्ज का ही नाम सृष्टि है, जिस इस पुञ्ज की प्रत्येक कला ज्ञान--क्रिया--अर्थ--युक्त मनः--प्राण--वाङ्मय--सृष्टिसाक्षी विश्वेश्वरप्रजापति की इन मनः--प्राण--वाक्--कलाओं के त्रिवृद्भाव से त्र्यात्मक--त्र्यात्मक बन रहीं हैं, जैसाकि--'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' इत्यादि व्याससूत्र की आधारभूता--'तासां त्रिवृतं त्रिवृतां--एकैकां करवाणि' इत्यादि छान्दोग्य-श्रुति से प्रमाणित है।

२८--मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति की शक्तित्रयी के तीन विवर्त्त----

मनःप्राणवाङ्मय–मन की ज्ञानक्रियार्थमयी ज्ञानशक्ति ही स्वयम्भू की शक्ति है। प्राणवाङ्मनोमय-प्राण की क्रियार्थज्ञानमयी क्रियाशक्ति ही सूर्य्य की शक्ति है। एवं वाक्प्राणमनोमयी–वाक् की अर्थक्रियाज्ञान-मयी अर्थशक्ति ही पृथिवी की शक्ति है। त्र्यात्मक ज्ञान हीं त्रिवृन्मनोमयी त्रिवृता प्रज्ञामात्रा है, यही स्वयम्भू की स्वरूप–व्याख्या है। त्र्यात्मिका क्रियाशक्ति ही त्रिवृत्प्राणमयी त्रिवृता प्राणमात्रा है, यही सूर्य्य की स्वरूप–व्याख्या है। एवं त्र्यात्मिका अर्थशक्ति ही त्रिवृद्वाङ्मयी त्रिवृता भूतमात्रा है, एवं यही पृथिवी की स्वरूप–व्याख्या है।

२९–पञ्चपर्वात्मिका--त्रिसंस्थानात्मिका सृष्टिविद्या का स्वरूप–दिग्दर्शन—

उक्त निवेदन का निष्कर्ष यह निकला कि–क्रिया–अर्थ–शक्ति गर्भिता ज्ञानशक्ति ही सृष्टि का उपक्रम बनती है, ज्ञानार्थशक्तिगर्भिता क्रियाशक्ति ही सृष्टि की स्थिति का उपक्रम बनती है, और ज्ञानक्रियाशक्तिगर्भित

अर्थशक्ति ही सृष्टि की दृष्टि (अवलोकन) का उपक्रम बनती है । निर्म्माणक्रम में प्राथम्य ज्ञानशक्ति का है, निर्म्मित वस्तु की स्वरूपस्थिति में प्राथम्य क्रियाशक्ति का है, एवं निर्म्मित वस्तु के दर्शन में प्राथम्य अर्थशक्ति का है । इसी आधार पर सृष्टिविद्या के **सृष्टि-स्थिति-दृष्टि-भेद** से तीन प्रक्रम व्यवस्थित हुए हैं । पञ्चपर्वात्मिका सृष्टिविद्या में **स्वयम्भू-सूर्य्य-पृथिवी** तो क्रमशः **शिरः-हृदय-पाद**–मूल बने हुए हैं । शेष रहजाते हैं परमेष्ठी, और चन्द्रमा, नामक दो पर्व । इन में परमेष्ठी का अन्तर्भाव स्वयम्भू में है, तो चन्द्रमा का अन्तर्भाव पृथिवी में है । यों स्वयम्भू परमेष्ठीरूप शिरोभाग, एकाकी सूर्य्यरूप हृदय, चन्द्रमा तथा पृथिवीरूप पादभाग, रूप से पाँच पर्वों के तीन ही प्रमुख पर्व होजाते हैं । सम्पूर्ण सृष्टि का यही स्वरूप–दिग्दर्शन है ।

३०–रथचक्र के 'अक्ष' की स्वरूप-परिभाषा—

शीर्ष शीर्ष ही कहलाया है, पाद पाद ही कहलाया है, किन्तु हृदयभाव अमुक–विशेष–कारणों से 'अक्ष' नाम से व्यवहृत हुआ है सृष्टि की मूर्त्त–व्याख्याओं में । रथचक्र (पहिए) का जो मध्यवर्त्ती अवार–पारीण लौहदण्ड होता है, उसे व्यवहार में **'अक्ष'** (**धुरा**) कहा गया है । सच्छिद्र काष्ठवृत्त कहलाया है रथनेमि, एवं इसी में अक्ष प्रोत रहता है । अक्ष के आधार पर रथनेमि प्रतिष्ठित है, एवं रथोनेमि के बहिः प्रान्तीय परिगणित छिद्रों में प्रोत लम्बायमान काष्ठदण्ड ही **'अरा'** हैं । इस रथदृष्टान्त से यही तात्पर्य्य निकलता है कि, सम्पूर्ण रथचक्र की प्रतिष्ठा लौहमय–अवापारपारीण अक्षदण्ड ही है ।

३१–रथ का एक चक्र, और उस के 'अक्ष' की सहस्रता, एवं सहस्राक्ष-शब्दार्थ–समन्वय–

क्रान्तिवृत्त **'रथस्यैकं चक्रम्'** के अनुसार एक रथचक्र (पहिया) है । **'सहस्रधा महिमानः सहस्र'** रूप से सहस्रभाव में परिणता ज्योतिर्गौरायुमयीं सौररश्मियाँ ही रथ के आरे हैं, मध्यस्थ बृहतीछन्द ही रथनेमि है, एवं क्रान्तिवृत्त का केन्द्रस्थ हृ–द–य–मूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति ही इस रथ का अक्ष है, जो सहस्ररश्मि के सम्बन्ध से 'सहस्राक्ष' कहलाया है । सौर सम्वत्सरप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली सृष्टिविद्या पूर्वकथनानुसार 'हृदयमूला' है, हृदय का नाम हीं क्योंकि 'अक्ष' है–प्रतीकविधि से (रथदृष्टान्तसमतुलन से) । यह अक्षरूप हृदय क्योंकि सहस्ररश्मियों की आधारभूमि है । अतएव विश्व के हृदयस्थानीय–व्यक्तकालमूर्त्ति–इस सप्तरश्मि कालाश्व को ऋषिने **'सहस्राक्षः'** कहना अन्वर्थ मान लिया है ।

३२–अक्ष, और चक्षु, एवं चक्षुर्भावसंग्राहक 'सहस्राक्ष' शब्द—

'अक्ष' का दूसरा नाम है–'चक्षु' । विज्ञानगर्भित प्रज्ञान चक्षु (**प्रज्ञानेत्रो लोकः**), एवं इन्द्रप्राणगर्भित लोकप्रसिद्ध इन्द्रिय–चक्षु (चक्षुरिन्द्रिय) के भेद से चक्षुरूप अक्ष भी दो भावों में विभक्त है । **'सहस्राक्षः'** शब्द इन दोनों चक्षुर्भावों का भी संग्राहक बना हुआ है । विज्ञानगर्भित प्रज्ञान का नाम है मन, एवं-**'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं-जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** के अनुसार यह प्रज्ञानमन हृदयमय है । इसी को **विज्ञानचक्षु-प्रज्ञानचक्षु** भी कहते हैं, जोकि विज्ञानचक्षु **'विज्ञानदृष्टि'** रूपा सूक्ष्मदृष्टि कहलाई है । चक्षुरिन्द्रिय के अभाव में भी यह विज्ञान-प्रज्ञान-चक्षु यथापूर्व विद्यमान रहता है । अतएव अन्धमानव लोक में 'प्रज्ञाचक्षु' कहलाया है । सौरकाल अपने हृदयभाव से विज्ञानाक्ष बना हुआ है । इसलिए भी इसे सहस्राक्ष कहा जा सकता है । एवं सौर इन्द्रप्राण ही चक्षुरिन्द्रिय का उत्पादक बनता है । अतएव सौरकाल को प्रजा की चक्षुरिन्द्रियों के सर्वस्व

बने रहने के कारण भी सहस्राक्ष कहा जा सकता है । चक्षु से अक्ष (धुरा) का समन्वय सम्भव नहीं था, जब कि अक्ष अक्ष (धुरे) का भी संग्राहक है, एवं उभयविध चक्षु का भी संग्राहक है । अब प्रश्न शेष रह जाता है– 'सहस्र' शब्द का, जिस के समन्वय के लिए तो वषट्कारमूला साहस्रीविद्या का ही स्वाध्याय करना चाहिए ।

३३–साहस्रीविद्यामूलक 'सहस्र' शब्द, एवं–'सहस्रशीर्षः--सहस्राक्षः–सहस्रपात्' मन्त्र का संस्मरण—

प्रत्येक वस्तुभाव में हृदय से मण्डल-पर्य्यन्त सहस्ररश्मियाँ व्याप्त हैं, जैसाकि पूर्व परिच्छेदों में (छन्दोरसवितानवेदत्रयी–स्वरूप–प्रसङ्गों में) स्पष्ट किया जाचुका है । केवल सौरकाल में हीं साहस्रीभाव नहीं हैं । अपितु स्वयम्भू, और पृथिवी में भी प्राणरश्मियों के सम्बन्ध से साहस्रीभाव यथावत् व्यवस्थित हैं । अतएव शिरःस्थानीय स्वयम्भू, एवं पादस्थानीया पृथिवी के लिए भी क्रमशः **सहस्रशीर्षः–सहस्रपात्** विशेषण प्रयुक्त हुए हैं । स्वयम्भू यदि सहस्रशीर्ष है, तो पृथिवी सहस्रपात् है । तदपेक्षया सूर्य्य अवश्य ही सहस्राक्ष है, एवं यही इस की सहस्रांशुता है । इसप्रकार स्थितिमूला सृष्टिविद्या के आधारभूत कालाश्वमूर्त्ति–सप्तरश्मि–सौरसम्वत्सर–प्रजापति का हृदयभावानुगत, विज्ञान–प्रज्ञान–चक्षुर्भावानुगत, इन्द्रियचक्षुर्भावानुगत अक्षत्त्व, एवं प्राण–साहस्री-से सम्बद्ध सहस्रत्त्व, अतएव सहस्राक्षत्त्व सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो जाता है । परिलेख के माध्यम से तीनों सृष्टिविद्याओं के आधार से ही इस 'सहस्राक्ष' रूपा सापेक्ष–उपाधि का समन्वय करना चाहिए ।

*

सहस्रशीर्षाः—
- **१–मनः–ज्ञानम्–प्रज्ञा**
- २–प्राणः–क्रिया—प्राणः
- ३–वाक्—अर्थः—भूतम्

त्र्यात्मकं–मनः —ज्ञानशक्तिः— ≺ **स्वयम्भुविवर्त्तम्–सृष्टेः सृष्टिभावः** (सृष्टिमूला–सृष्टिविद्या)

*

सहस्राक्षः
- **१–प्राणः–क्रिया–प्राणः**
- २–मनः—ज्ञानम्–प्रज्ञा
- ३–वाक्—अर्थः—भूतम्

त्र्यात्मकः–प्राणः —क्रियाशक्तिः— ≺ **सूर्य्यविवर्त्तम्–सृष्टेः स्थितिभावः** (स्थितिमूला–सृष्टिविद्या)

*

सहस्रपात्
- **१–वाक्—अर्थः–भूतम्**
- २–प्राणः–क्रिया—प्राणः
- ३–मनः–ज्ञानम्–प्रज्ञा

त्र्यात्मिका–वाक् —अर्थशक्तिः— ≺ **पृथिवी-विवर्त्तम्–सृष्टेर्दृष्टिभावः** (दृष्टिमूला सृष्टिविद्या)

*

३४–अक्षदण्ड से समतुलित 'अश्व', अन्तश्चक्षुः से समतुलित अक्ष, एवं सहस्राक्षमूर्त्ति हृदयावच्छिन्न--कालाश्वलक्षण–अक्षरप्रजापति—

अक्षदण्ड से समतुलित अक्षभाव, विज्ञानगर्भित–प्रज्ञान–मनोरूप अन्तश्चक्षु से समतुलित अक्षभाव, एवं लोकचक्षुरनुगत–इन्द्रप्राणात्मक–चक्षुरिन्द्रियात्मक नेत्र से समतुलित अक्षभाव, इन तीन अक्षभावों का संग्राहक विश्वकेन्द्रस्थ, हृदयरूप यह कालाश्वमूर्त्ति सौरसम्वत्सर–प्रजापति इसी हृदयभाव के कारण क्षरधिया भी 'सहस्राक्षः' बना हुआ है। **'अक्षरमिति त्र्यक्षरं--वागित्येकमक्षरम्'** इस श्रुति के **अनुसार** 'वाक्तत्त्व' जहाँ अन्नादात्मक अग्निरक्षर के सम्बन्ध से एकाक्षर है, वहाँ अक्षरतत्त्व अपने 'हृ'-रूप विष्णु,-'द' रूप इन्द्र, एवं 'यम्' रूप–ब्रह्मा–इन तीन अक्षरों के सम्बन्ध से त्र्यक्षर बना हुआ है, जैसाकि-**'एका-मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु–महेश्वराः'** इत्यादि से स्पष्ट है। 'हृ–द–य' ही 'हृदयम्' की स्वरूप–परिभाषा है, जो इस अक्षरत्रयी से त्र्यक्षरात्मक अक्षर बन रहा है। 'अक्ष' शब्द हृदयात्मक इस 'अक्षरधर्म्म' का भी संग्राहक बन रहा है। अतएव सहस्रप्राणरश्मिभावों का इस अक्षररूप अक्ष से भी समन्वय हो जाता है, जैसाकि–**'सहस्राक्षरे परमे व्योमन्'** इत्यादि अन्य वचन से प्रमाणित है। तदित्थं–मन्त्रोपात्त 'सहस्राक्षः' विशेषण अपने अनुगमधर्म्म से कालाश्वप्रजापति के हृदयरूप हृद्य 'अक्षर' का भी संग्राहक बन रहा है, इत्यलमतिपल्लवितेन सहस्राक्षेतिवृत्तेन।

१–अक्षदण्डेन समतुलितः--अक्षः--इति सहस्राक्षः--प्रतिष्ठा क्रान्तिवृत्तस्य

२–विज्ञानचक्षुषा समतुलितः-अक्षः-इति सहस्राक्षः--प्रतिष्ठा विज्ञानात्मनः

३–चक्षुरिन्द्रियेण समतुलितः-अक्षः–इति सहस्राक्षः–प्रतिष्ठा चक्षुरिन्द्रियस्य

४–हृदयाक्षरेण समतुलितः—अक्षः–इति सहस्राक्षः--प्रतिष्ठा केन्द्रभावस्य

३५–कालाश्व के 'अजर' विशेषण का संस्मरण—

अब क्रमप्राप्त–**'अजरः'** विशेषण हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। 'ब्रह्म' रूप–आत्मक्षर की नित्य–महिमा के स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही यहाँ व्यक्तकालाश्वमूर्त्ति सौरसम्वत्सर प्रजापति के लिए–'अजरः' विशेषण प्रयुक्त हुआ है, जिसका अक्षरार्थ है–जो कभी जरावस्था (वृद्धावस्था) से जीर्ण–शीर्ण–नहीं होता। अपितु जो सदा नवीन–युवा–अजर–ही बना रहता है।

३६–व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन अव्ययब्रह्म के महिमारूप अव्यक्त, व्यक्त--नामक दो काल-विवर्त्त—

इदमत्रावधेयम्। सनातन अव्ययतत्त्व **'व्यक्ताव्यक्तातीत'** कहलाया है, यही **'पुरुषोत्तम'** * नाम से प्रसिद्ध है गीताशास्त्र में। 'अक्षर' नामक मध्यमपुरुष (पराकृति) **'अव्यक्त'** कहलाया है ÷, एवं 'क्षर'

---

* **यस्मात्–क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।**
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (गीता १५।१८)

÷ **अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहुः परमां गतिम्॥** (गीता ८।२१।)।

नामक प्रथमपुरुष (अपराप्रकृति) 'व्यक्त' कहलाया है। इन तीन पुरुषों की समष्टि ही त्रिपुरुषात्मक वह षोडशीपुरुष है, जिसका 'अश्वत्थवृक्ष' रूप से यशोगान हुआ है। इस अश्वत्थप्रजापति के अव्यय–अक्षर–क्षर–निबन्धन तीन पुरुषविवर्तों में से व्यक्ताव्यक्तातीत अव्ययपुरुष के परा–अपरा–प्रकृति-लक्षण अक्षर–क्षर–भाव ही प्रकृत में अव्यक्त–व्यक्त–कालरूप से परिगृहीत हैं। अव्यक्त अमूर्त्त काल अव्यक्त अक्षर है, एवं व्यक्त–मूर्त्त–काल–क्षर है। विश्व में स्वयम्भू प्रजापति अव्यक्ताक्षरकाल–स्थानीय है, एवं परमेष्ठी–गर्भित सूर्य्य व्यक्तक्षरकाल–स्थानीय है।

३७–क्षरभूतनिबन्धना 'जरावस्था' का तात्त्विक-स्वरूप-परिचय—

व्यक्त क्षर का सहजधर्म्म है निरन्तर–परिवर्त्तित होते रहना। परिवर्त्तनधर्म्म के कारण ही व्यक्त क्षर को–'क्षर' (क्षरणधर्म्मा–विस्रंसनधर्म्मा) कहा गया है। जिसप्रकार लौह से जँग का क्षरण होता रहता है, एवमेव क्षर से विकारभावों का क्षरण होता रहता है। क्षर से संक्षरित इन मर्त्य विकारों की संसृष्टि से ही विनाशी भूत–भौतिक-पदार्थों का स्वरूप–निर्म्माण होता है। इन विकारात्मक-मर्त्य-पदार्थों के परिवर्त्तनरूप क्षरण से ही अस्ति–जायते–विपरिणमते–वर्द्धते–अपक्षीयते--नश्यति--लक्षण ६ प्रकार के भावविकार समन्वित होते रहते हैं, जिन्हें 'अवस्था' कहा जाता है। इन में पाँचवीं अवस्था ही 'जरावस्था' कहलाई है, जिसमें बल–ग्रन्थियाँ शिथिल होजातीं हैं, भूतबन्धन श्लथ होजाते हैं। अतएव भूतपदार्थ इस जरा–अवस्था में आकर पिब्द-मान बन जाते हैं। बलग्रन्थिदार्ढ्यमूला घनता (दृढ़ता) उच्छिन्न होजाती है, जिस का प्रत्यक्ष उदाहरण अशीति-वर्षात्मक जराजीर्णशीर्ण भौतिक शरीर बना हुआ है। 'अपक्षीयते' लक्षणा इस जरावस्था का अन्तिम परिणाम (अन्तिम अवस्था) माना गया है–'नश्यति', इसे ही कहा गया है–'मृत्यु', जिसका अर्थ है श्लथ--विकारों का श्लथभाव की चरमावस्था में पहुँचते ही स्वप्रभव व्यक्त क्षर में लीन होते हुए प्रत्यक्षदृष्ट भूत--व्यक्त की अपेक्षा 'अव्यक्त' भाव में परिणत होजाना। अवश्य ही विकारसञ्ज्ञक व्यक्त क्षर अक्षरदृष्ट्या व्यक्त ही है। किन्तु स्वयं व्यक्त वैकारिक भूतों की दृष्टि से तो व्यक्त क्षर भी अव्यक्त ही माना जायगा। 'अव्यक्तनिधनान्येव' इत्यादिरूप से भगवान् ने निधनावस्था के आधारभूत व्यक्त क्षर को इसी दृष्टि से 'अव्यक्त' कह दिया है। इसप्रकार अक्षरदृष्ट्या व्यक्त बने हुए, किन्तु विकारभूत--जगत् की दृष्टि से अव्यक्त बने हुए इस क्षर में विकारभूतों का लीन होजाना, किंवा बलग्रन्थि–बन्धनविमोक से स्थूलभूतों का सूक्ष्मभूतात्मक क्षरभाव में परिणत होजाना हीं भूतमृत्यु कहलाई है, एवं यही ६ ठा 'नश्यति' लक्षण भावविकार माना गया है। इस भावविकार की पूर्वावस्था-रूपा--'अपक्षीयते' अवस्था ही 'जरावस्था' है।

३८–जायस्व-म्रियस्व-मूला जन्मृत्युपरम्परा का सनातनचक्रत्व—

उपादानकारणानुगता कार्य्यकारण–परम्पराओं में हम देखते हैं कि, जब कारण कार्य्यरूप में परिणत होजाता है, तो कारण का स्वरूप ही उच्छिन्न होजाता है। लौह से किट्ट–मल–जँग उत्पन्न होता है। अतएव लौह कारण है, जँग कार्य्य (विकार) है लौह का। निश्चय ही ऐसा समय आता है, जबकि सम्पूर्ण लौह कालान्तर में जँगरूप में परिणत होता हुआ अपना स्वरूप ही खो बैठता है। इसप्रकार उत्पन्न होने वाले, दिग्–देश–प्रदेशात्मक यच्चयावत्–भूतभौतिक–वैकारिक पदार्थों की कार्य्यकारणता (विकारों की ही पारस्परिक–कार्य्यकारणता) कार्य्यानन्तर कारण के मूलोच्छेद का ही निमित्त बनती रहती है। यही इन का जरात्व है,

यही इन का विनाशित्त्व है, जिस से श्रुति ने वैकारिक–भूतों को–'उच्छित्तिधर्म्मा' कहा है। कारण से कार्य्य की उत्पत्ति (विकार से विकारान्य की उत्पत्ति), कालान्तर में कारण का मूलोच्छेद, तो कालान्तर में इसी अजस्र-परिवर्त्तनावस्था से कार्य्य का भी जरात्त्व, एवं अन्ततोगत्त्वा इस कार्य्य का भी मूलोच्छेद, इसी-'जायस्व–म्रियस्व' मूला जन्म–मृत्यु–परम्परा के सनातनचक्र का नाम है–"वैकारिक–कार्य्यकारण–भावात्मक भौतिक जगत्"।

३९-स्वस्वरूपेण अजर-अमर-मृत्युदेवता, एवं तदभिन्न कालाश्व—

बाल–युवा–प्रौढ़–वृद्ध–जरा–मृत्यु–आदि भेदेन विभिन्नावस्थाओं से समन्विता यह उच्छित्ति–परम्परा कालाश्व की सीमा से ही सीमित रहती है। कालचक्र ही इस परम्परा का साक्षी बना रहता है। कालचक्र ही आश्रयभूमि है इस परम्परा की। काल से ही इन अवस्थाओं का उदय होता है, काल में हीं ये अवस्थाएँ विलीन होतीं रहतीं हैं। कालानुगता 'जायते' अवस्था ही 'उत्पत्ति' है, तदनुगता 'वर्द्धते' अवस्था ही 'स्थिति' है, एवं कालानुगता 'अपक्षीयते' अवस्था ही **'संहार'** है। तात्पर्य्य यही है कि, व्यक्त क्षर से ही विकार उत्पन्न होते हैं, व्यक्त क्षर के आधार पर ही विकार प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं व्यक्त क्षर में हीं विकार विलीन होजाते हैं। यहीं, इसी दृष्टिविन्दु पर लौह–जँग के दृष्टान्त का समन्वय करना है। लौह से ही जँग उत्पन्न हुआ है-ठीक। किन्तु लौह से उत्पन्न जँग लौह पर ही प्रतिष्ठित रहे, यह कोई आवश्यक नहीं है। लौह पर रह भी सकता है, रहता भी है अमुक अवधि पर्य्यन्त। किन्तु जँग को लौह से प्रयासपूर्वक पृथक् भी किया जासकता है, स्वयं भी क्षरणधर्म्म से जँग कालान्तर में लौह से पृथक् हो ही जाता है। एवमेव जँग कभी लौह में विलीन नहीं होता। अपितु स्वयं लौह ही सर्वात्मना कालान्तर में जँगरूप में परिणत होता हुआ अपना स्वरूप ही उच्छिन्न कर लेता है। क्या व्यक्त–क्षर, तथा व्यक्ततम विकारभाव के साथ ऐसा ही कार्य्य-कारणभाव है ?। नेति होवाच। विकार–विकारों की कार्य्यकारणता में हीं कारण, कार्य्य–दोनों के स्वरूपोच्छेद का अवसर आता रहता है। किन्तु क्षर और विकार की कार्य्यकारणता में कदापि मूलकारण का उच्छेद सम्भव ही नहीं है, जिस इस स्थिति का लोकव्यवहारभाषा में यों अभिनय होता रहता है कि–**"काल सब को खा जाता है, किन्तु काल को कोई नहीं खा सकता, 'मृत्यु' सब का अवसान कर देती है, सब को मार देती है। किन्तु मृत्यु स्वयं अजर–अमर है"**।

४०-अक्षरप्रजापति की महिमामयी नित्या सनातना अक्षरात्मिका क्षरसृष्टि, एवं-'एष नित्यो महिमा ब्रह्मणः' मन्त्र का संस्मरण—

क्षर से उसी प्रकार विकारों का क्षरण–विस्रंसन–होता रहता है, जैसेकि लौह से जँग निकलता रहता है। लौह समाप्त होजाता है एक दिन। किन्तु क्षर का कभी अवसान नहीं है, भले ही इस से कितने हीं विकारों का क्षरण क्यों न हो जाय। असंख्य–अनन्त–प्रभूत–विकार–परम्पराओं के निरन्तर–विनिर्गत–होते रहने पर भी 'अक्षिति' रूप उस क्षरब्रह्म का स्वरूप वैसा, उसी पूर्वस्वरूप से अखण्ड बना रहता है, जैसाकि-स्वरूप विकारोत्पत्ति–विकारसर्ज्जन–क्षरण से पूर्व रहता है। विकारोत्पत्ति से पूर्व वह विशाल हो लौहवत्, एवं विकारोत्पत्ति के अनन्तर उस का आकार छोटा हो गया हो प्रभूत जँगयुक्त लौहवत्, ऐसा वर्द्धन, किंवा कनीयस्त्व उस नित्य महिमामय 'क्षरब्रह्म' में सर्वथा अनुपपन्न है, जैसाकि–**'एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न**

कर्म्मणा वर्द्धते, नो कनीयान्' इत्यादि से स्पष्ट है। किंवा बीजाङ्कुरोदाहरण से भी इस वचन का समन्वय सम्भव है। अङ्कुर-शाखा-प्रशाखा-पल्लव-आदि आदि सर्ज्जन-कर्म्मों से जिस प्रजार वृक्षबीज का स्वरूप विशाल बन जाता है, एवं इस कर्म्मावरोध से पुनः बीज अपने छोटे स्वरूप में आजाता है, वैसा कार्य्यकारण-भाव नहीं है उस क्षरब्रह्म में। सुविशाल संसारमहीरुह का बीज अवश्य है वह 'क्षरब्रह्म'। किन्तु संसारवृक्षरूप-विकारलक्षण-विश्वकर्म्म की उत्पत्ति से पूर्व उस क्षरबीज का आकार वृक्षबीजवत् छोटा था, इस विश्वकर्म्म से उसकी आयतनवृद्धि होगई, एवं संसार के न रहने पर वह छोटा हो जायगा, इत्यादि वैकारिक-भूतकल्पनाओं का वहाँ प्रवेश भी निषिद्ध है। क्योंकि वह स्वयं महिमामय है अपने साम से। उस का महिमामण्डल सर्वात्मना सदा समान है। सांसारिक भौतिक-ह्रास-वृद्धि-भावों से उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। यही नहीं, यदि इसी के माध्यम से वृक्षबीज को लक्ष्य बनाया जाता है, तो वृक्षबीज की कारणता भी उसी नित्यब्रह्म से समतुलित है। और इसी समतुलन से कहा जासकता है कि-महदक्षर से समन्वित क्षरबीज के गर्भ में ही सम्पूर्ण-सुविशाल बटवृक्ष पहिले से ही विद्यमान है, जो भूतसम्पर्क से अभिव्यक्तमात्र हो पड़ता है। यही नहीं, तत्त्वतः तो इस अनन्त-महिमाविवर्त्त के माध्यम से-'**आत्मैवेदं सर्वम्**'-'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' पर ही पर्य्यवसान कर लेना है आत्मनिष्ठ मानव को, जिसके सभी कार्य्य-कारणवाद नित्य-महिमा से ही समन्वित हैं।

४१–प्रजापति के सापेक्ष अमृत-मृत्यु-भाव, एवं 'तस्मान्मृत्युर्न म्रियते' का तात्त्विक समन्वय—

व्यक्ताव्यक्तातीत अव्यय से समन्वित अव्यक्त अक्षर के अर्द्ध भागात्मक व्यक्त क्षरब्रह्म का ही नाम नित्यमहिमामय वह 'कारणब्रह्म' है, जिसका 'अश्वकाल' रूप से कालसूक्त में उपक्रम हुआ है—'**कालो अश्वो वहति**' इत्यादि मन्त्र के द्वारा। वैकारिक-जगत् की विलयनभूमि यही कालाश्व है, जिसे व्यक्तक्षरानुबन्ध से ही 'व्यक्तकाल' कहा गया है। यही सुप्रसिद्ध 'मृत्यु' तत्त्व है, जो वैकारिक भूतों की जरावस्था का प्रवर्त्तक बनता हुआ स्वयं 'अजर' ही है, अमर ही है। क्यों ?, इसलिए कि यह अजर-अमर-अपने अमृताक्षर से नित्य संश्लिष्ट है। '**अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्**' के अनुसार षोडशीप्रजापति के अर्द्धभागसे समतुलित पराप्रकृतिरूप अव्यक्त अक्षर अमृत है अविपरिणामी बना रहता हुआ, तो अर्द्धभाग से समतुलित अपराप्रकृतिरूप व्यक्तक्षर मृत्यु है विपरिणामी बनता हुआ। इसका यह विपरिणाम अविपरिणामी अमृताक्षर से अभिन्न है। अतएव विपरिणामित्त्वेन क्षर (मर्त्य-मृत्यु) बना रहता हुआ भी यह अविपरिणामी अक्षर की प्रतिष्ठा से अमृत ही बना रहता है। सुनते हैं-जो एकबार भी अमृत से सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, वह जरामरण से रहित हो जाया करता है, अजर-अमर-बन जाया करता है। क्षरात्मक जो मृत्युतत्त्व सदा ही जिस अमृताक्षर से नित्य संश्लिष्ट रहता हो, भला उसकी अजरता अमरता में कैसे सन्देह हो सकता है ?। 'तस्मान्मृत्युर्न म्रियते'। इसीलिए मृत्यु नहीं मरती। अतएव मृत्यु स्वयं अमृत है-अजर है, जिस इस अजर-अमर-मृत्युरूप-सौर सम्वत्सरात्मक कालाश्व से मृत्यु उनकी होती है, जो भूतभौतिक पदार्थविकारानुबन्धी-दिग्-देश-प्रदेश-भावों के परिणामों के साथ ग्रन्थिबन्धन करते हुए अपने मूलभूत अविपरिणामी अमृताक्षर के स्वरूपानुग्रह से वञ्चित बने रहते हैं। सौरसम्वत्सर ही 'मृत्यु' * है दिग्दिशप्रदेशानुबन्धों की

***-एष वै मृत्युर्यत्सम्वत्सरः । एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यां-आयुः-क्षिणोति अथ म्रियन्ते--** —शत० १०।४।३।१

प्रवृत्ति से। एवं यही अमृत है दिग्देशप्रदेशानुबन्धों की वियुक्ति से। अमृत–मृत्यु–दोनों के नियन्ता बन रहे हैं सौर सम्वत्सरप्रजापति, जैसा कि—**'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं–मर्त्यञ्च** (यजुःसंहिता) इत्यादि यजुःश्रुति से स्पष्ट है।

४२–मृत्युपाशात्मक यमपाश का संस्मरण, एवं मृत्युदेवता की सर्वव्याप्ति का समन्वय—

दिग्–देश–प्रदेशात्मक–परिच्छिन्न–भाव ही विकारबलों की ग्रन्थि के प्रवर्त्तक बनते हैं। यही ग्रन्थि–बन्धन वह वारुणपाश है, जिसे वैज्ञानिकोंनें **'मृत्युपाश'**, किंवा **'यमपाश'** कहा है। इस पाश के प्रवर्त्तक बनते हैं मानस–शारीरिक–आसक्तिभाव। भूतानुगता कामार्थासक्ति ही मृत्युपाश की प्रवर्त्तिका मानी गई है, जिसके मूलप्रवर्त्तक हैं–**सोम, और पूषा**। सोमात्मक चन्द्रमा, एवं पूषात्मिका पृथिवी ही मानव के मन, और शरीर के उत्पादक माने गए हैं। चान्द्रमन पार्थिव शरीर के माध्यम से कामासक्ति का, तथा पार्थिव शरीर चान्द्रमन के माध्यम से अर्थासक्ति का प्रवर्त्तक बन जाता है। इसी आसक्ति से बलग्रन्थि दृढ बन जाती है। इसी ग्रन्थिबन्धन से कामार्थासक्त मानव अपने हृदयस्थ अमृतात्मानुग्रह से वञ्चित होता हुआ अनात्म्य भूतभौतिक स्थावर–जङ्गम–प्राकृत–पदार्थों की श्रेणिमें आता हुआ 'जायस्व–म्रियस्व' की चक्रधारा में तरङ्गायित बना रह जाता है। दिग्देश–बन्धन ही मृत्युबन्धन है, जिसके साक्षी चान्द्र–पार्थिव–विवर्त्त बने हुए हैं मनः–शरीरा–नुगता कामार्थासक्ति के माध्यम से, यही वक्तव्य–निष्कर्ष है। अतएव–**'यद्यत्–किञ्चार्वाचीनमादित्यात्–सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्'** यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। मृत्युरूप-सौरसम्वत्सर का आदित्यप्राण अपने अमृताक्षर की प्रतिष्ठा से अमृतात्मक है। अतएव इसकी मृत्युरूपता (मृत्युधर्म्म) का प्रभाव स्वयं उस पर नहीं होता। प्रभाव होता है इस मृत्यु का उन चान्द्र–पार्थिव–विवर्त्तों पर, जो दिग्–देशानुबन्धों से परिच्छिन्न बनते हुए अपरिच्छिन्न अमृताक्षरानुग्रह से वञ्चित बने रहते हैं। अतएव पूर्वोक्त षड्भावविकार, दिग्देशानुबन्धी मृत्युपाश बन्धन, आदि आदि सभी सादि–सान्तभाव आदित्यमण्डल से नीचे नीचे चान्द्री-पार्थिवी–सृष्टियों में ही प्रक्रान्त रहते हैं। अतएव सौर प्राणदेवता अजर-अमर हैं, दिक्-देशानुबन्धों से असंस्पृष्ट हैं। देश-दिक्-के, और खण्ड-काल के व्यवधान कोई प्रभाव नहीं डाल सकते सौर प्राणदेवताओं पर, जैसाकि श्रौत–देवताविज्ञानादि प्रकरणों में विस्तार से निरूपित है।

४३–मृत्युबन्धन–विमोकोपाय, एवं कालनिबन्धना अजरता का समन्वय—

सौर आदित्यप्राण ही धर्म्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य्यभावान्विता विद्याबुद्धि की अधिष्ठात्री है सविताप्राण के माध्यम से *। सौर व्यक्तकालात्मक अमृतप्राणमय विज्ञानात्मा ही मानवीय बुद्धि का स्वरूप–व्यवस्थापक है। इसी विज्ञानबुद्धि से अमृतात्मस्वरूपदर्शन होता है मानव को–**'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'**। इसी स्वरूपदर्शन से मानव मृत्युबन्धन से विनिर्मुक्त होता है–**'तमेव विदित्वा–अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'**। चान्द्रपार्थिवी–मनःशरीरासक्ति जहाँ मृत्युपाशप्रवर्त्तिका है, वहाँ सौरी बुद्धि मृत्युपाशनि–वर्त्तिका है, यही निष्कर्ष है। इसप्रकार अध्यात्म-अधिदैवत-दोनों दृष्टियों से व्यक्तकालात्मक क्षरब्रह्म की, किंवा

* **'धियो यो नः प्रचोदयात्'**।

क्षरात्मक-व्यक्तकाल की, अथवा तो व्यक्तकालमूर्त्ति सौरसम्वत्सर-प्रजापति की अव्यक्त-अमृताक्षर-निबन्धना, किंवा
अव्यक्त--अमृत--कालनिबन्धना अजरता भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। शेष रह जाती है अधिभूत--निबन्धना
अजरता, अमरता, जिसका भी दो शब्दों में समन्वय कर लेना चाहिए।

४४–सत्कार्य्यवादसिद्धान्तमूला अजरता का समन्वय, धूमकेतु के द्वारा सूर्य्य का आवि- र्भाव, एवं 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' का स्वरूप-दिग्दर्शन–

अधिभूत से तात्पर्य है हमारा प्रत्यक्ष दृष्ट--'सूर्य्य' से, जो भूत--भौतिक चान्द्र--पार्थिव--मर्त्य--पदार्थों की
भाँति ही षड्भावविकारों से समन्वित रहता हुआ इन मर्त्यभावों के समतुलन में प्रत्यक्ष में कोई भी विशेषता
रखता हुआ प्रतीत नहीं हो रहा। किन्तु-'**शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**' इस सूत्रानुसार वस्तुस्थिति कुछ ऐसी है कि,
अमृत–प्राणात्मक–आत्मक्षर–निबन्धन कालसूर्य्य के विकारभूतों से भूतपदार्थवत् ही मर्त्याग्निचिति से कृतरूप
इस कालसूर्य्य की ही भूताभिव्यक्तिरूप प्रत्यक्षदृष्ट भूतसूर्य्य (सूर्य्यपिण्ड) भी धाता के सनातन सृष्टिचक्रानुबन्ध
से अजर–अमर ही बना हुआ है। ऐसा समय कभी नहीं आया, कभी नहीं आसकता, कभी नहीं ही आएगा,
जबकि सूर्य्य का अभाव होजाय ब्रह्माण्ड में। भातिदृष्ट्या यद्यपि सूर्य्य भी उत्पन्न होता है अमुक पुण्याह के
उपक्रम में, अमुक दिव्यसहस्रयुग–पर्य्यन्त उत्पन्न सूर्य्य प्रतिष्ठित भी रहता है, एवं अमुक पुण्याह के
अवसान में रात्र्युपक्रम में सूर्य्य का निधन भी हो जायगा। और इस कालक्रमानुबन्धी-गणनक्रमानुपात से
भूतसूर्य्य के साथ भी यद्यपि उत्पत्ति-स्थिति-संहारात्मक अन्यान्य चान्द्र-पार्थिव-भूतभौतिक-पदार्थों की भाँति षड्-
भाव–विकारों का सम्बन्ध समन्वित रहेगा। तथापि भूतसूर्य्य का अभाव कभी न होगा ब्रह्माण्ड में। भाति–
मूलक प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यब्रह्माण्ड की भाँति महान् अलातचक्रात्मक अपने ऋतभावापन्न, अतएव असीम–अनन्त–
भृगुगर्भित अङ्गिराग्निपुञ्जों–धूमकेतुओं–के प्रचण्डतमरूपेण धोधूयमान–बंभ्रम्यमाण–बने रहने से उन सहस्र-
सहस्र–ऋताग्निविस्फुलिङ्गों में सर्वाङ्गीणभावापन्न एक धूमकेतु क्रम–क्रमशः–चितिभावानुगत बनता हुआ नवीन
सूर्य्यपिण्ड का सर्ज्जक भी बनता जारहा है, जो वर्त्तमान सूर्य्य के अवसानकाल के अव्यवहितोत्तरकाल में ही
इस वर्त्तमान सूर्य्य का स्थान ग्रहण कर लेगा। और यह सनातनचक्र शाश्वतीभ्यः समाभ्यः–सदा–सदा के
लिए ही अनवच्छिन्नरूपेण–धारावाहिकरूपेण सतत प्रक्रान्त ही रहेगा। इसी आधार पर–'**याथातथ्यतोऽर्थान्-
व्यदधात्–शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**'–'**धाता–यथापूर्वकल्पयत्**' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं, जिस श्रौत
दृष्टिकोण के आधार पर ही प्राधानिकों का '**सत्कार्य्यवाद**' सिद्धान्त स्थापित हुआ है, जिस का निष्कर्षार्थ यही
है कि-"जिस वस्तु की सत्ता है, अभिव्यक्ति है, उस का कभी अभाव नहीं होता। एवं जिस का अभाव है, अनभि-
व्यक्ति है, उस की सत्तोपलब्धि नहीं होती" जिस इस रहस्य के अन्तस्तल का स्पर्श तो ऋषिदृष्टि ही कर सकती है-

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
—गीता २।१६।

४५–कालाश्व के अभिव्यक्तिरूप दिग्–देश–भाव—

अमूर्त्त–अक्षरकाल की अभिव्यक्ति का ही नाम तो मूर्त्त–व्यक्त–क्षर–काल (कालाश्व) है। इस व्यक्त-
काल की अभिव्यक्ति का नाम ही तो दिक् है, दिक् की अभिव्यक्त ही तो देश कहलाई है, देशाभिव्यक्ति का

नाम हीं तो प्रदेशाभिव्यक्ति है। और यों अव्यक्तामूर्त्ताक्षरानन्तभावात्मक कालात्मक (कालप्रतीक से गृहीत) अनन्तब्रह्म ही तो इस विश्वमहिमारूप में परिणत हुआ है, जिस इस महिमाभाव के समन्वय करने में असमर्थ दार्शनिकोंनें हीं नितान्त भ्रान्त जगन्मिथ्यात्त्ववाद का आविर्भाव कर डालने की महती भ्रान्ति कर डाली है, जबकि अनन्तब्रह्म का विवर्त्त भूत विश्व भी अनन्त–सत्य ही प्रमाणित हो रहा है अपनी अनन्तकालमूला तथाकथिता शाश्वत–सृष्टिधारा के चन्द्रङ्क्रमण से।

४६–'अजर' शब्द का वाच्यार्थ-समन्वय, एवं 'युवानं सन्तं पलितो जगार' का संस्मरण–

इसी अजरता से तो वह काल चिरपुरातन बना रहता हुआ भी चिरनूतन ही प्रमाणित होता रहता है–**'नवो नवो भवति जायमानः'**। वह पुराणपुरुष पुरातन है, पुराना है, तो नित्य नवीन भी है, युवा भी है, जिस में जरात्त्व--वार्द्धक्य--विनाश--आदि असद्भावों का प्रवेश भी निषिद्ध है, जिस इस नितनूतन अजर कालपुरुष को ऋषिप्रज्ञा–**'युवानं सन्तं पलितो जगार'** रूप से अपना उपास्य बनाए रहती है। एवं यही अधिभूतात्मक वह अजरत्त्व--समन्वय है कालाश्व का, जिस के समन्वय के लिए तो भूतासक्ति का परित्याग ही अनिवार्य्य माना है ऋषि ने। **'भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति'** ही इस भूतानुबन्धिनी अजरता--अमरता का महान् उदर्क है।

४७-कालाश्व के 'भूरिरेता' विशेषण का संस्मरण, एवं कालाग्नि की अन्नादता, तन्निबन्धन परिपाकधर्म्म, और तद्द्वारा विश्वस्वरूप-संरक्षण—

अब केवल-**'भूरिरेताः'** विशेषण शेष रह जाता है। अक्षरार्थ-समन्वय विस्तृत होता जारहा है केवल एक ही मन्त्रका। अतः अब व्याख्या-विस्तार में न जाकर इस विशेषण का परिगणित वाक्यों में दिग्दर्शनमात्र ही करा दिया जाता है। कालाश्व कालाग्निरूप है, एवं अग्नि का सहज धर्म्म माना गया है--**'अन्नादभाव'**। उदाहरण के लिए-भूपिण्ड के अग्नि, अन्तरिक्ष के वायु, एवं द्युलोक के आदित्य, इन तीन प्राणरूप मूलाग्नियों के संघर्ष से उत्पन्न योगज--तापधर्मा वैश्वानराग्नि की सर्वाङ्गशरीर में व्याप्ति है केशलोम, एवं नखाग्र भागों को छोड़ कर--(आलोमभ्यः--आनखाग्रेभ्यः) । यह वैश्वानराग्नि ही जाठराग्निरूप से भुक्त चतुर्विध * **खाद्य--चोष्य--लेह्य--पेय--अन्नों** का परिपाक कर इनके रसभाग की चिति से अपनी विस्रस्ता भूतमात्राओं का पुनः सन्धान करता रहता है, और इसी का नाम है शारीरिक–**'अधिभूतयज्ञ'**, जिसे गीता के शब्दों में–**अधि--यज्ञ'** ÷ भी कहा जासकता है। जबतक अग्नि को अन्नाहुति प्राप्त होती रहती है, तबतक अग्निचिति सुरक्षित

---

*–अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
—गीता १५।१४।

÷–अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥
—गीता ८।४।

रहती है। यदि अन्नाहुतिक्रम अवरुद्ध कर दिया जाता है, तो सर्वप्रथम अग्नि शरीरस्थित--प्रवर्ग्यभूत--दोषों--मलों को खाने लगता है। इस प्रवर्ग्य के निःशेष बन जाने पर वही अग्नि ब्रह्मौदनभूत अस्थिमांसरक्तादि को खाने लगता है। जब सभी भाग निःशेष हो जाते हैं, तो इस अन्नाहुति की निःशेषता से वैश्वानराग्नि उत्-कान्त होजाता है, एवं तत्क्षण अधिभूतयज्ञ उपशान्त होजाता है सदा के लिए।

४८–कालाग्नि के स्वरूप-संरक्षक–प्रभूत वीर्य्य का स्वरूप-समन्वय,एवं तन्निबन्धन पारमेष्ठ्य–भूरिधर्म्मा–सोमात्मक रेत—

कालाग्निमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति (कालाश्व) की भूतमात्राएँ सृष्टिनिर्म्माण में निरन्तर विस्रस्त (खर्च) होतीं रहतीं हैं, और अपने सृष्टरूपों के प्रवर्ग्यभागों को ले ले कर प्रजापति अपने इस विस्रस्त भाग का पुनः पुनः सन्धान भी करते रहते हैं। किन्तु इस स्वल्पसंधान से सम्वत्सराग्नि जैसे महान् सूर्य्याग्निहोत्र का सर्वथा सन्तर्पण कदापि सम्भव नहीं है। सौरमण्डलसीमामें भुक्त सृष्टिप्रवर्ग्य तो उस महान् सौर अग्नि की प्रचण्ड बुभुक्षा शान्त करने में-'शाकाय वा स्यात्--लवणाय वा स्यात्' से अधिक कुछ भी तो महत्त्व नहीं रख रहे। अवश्य ही मानना पड़ेगा कि, उस महान् वृषभाग्नि में तो किसी महान् ही अन्न की आहुति होती रहती होगी, एवं उस प्रभूतान्नाहुति से ही सौरकालाग्नि के विस्रस्त भाग का पुनः संधान होता रहता होगा। वही महान् अन्न पारमेष्ठ्य वह सोम है, जो महान् कोशरूप से महदक्षरमूर्त्ति पारमेष्ठ्य मण्डल में सरस्वान् नामक समुद्र में प्रति-ष्ठित है। वह पारमेष्ठ्य दाह्य सोम इस सौर दाहक–कृष्णाग्नि में निरन्तर आहुत होता रहता है। दाहक-दाह्य के इस अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से ही सौरसंस्था ज्योतिर्म्मयी बन रही है-**'अजनयत्सूर्य्ये--ज्योतिरिन्दुः'-'आकृष्णेन रजसा०'** इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार* सौर अग्नि कृष्णवर्ण है, एवं पारमेष्ठ्य सोम की तो कृष्णता स्पष्ट ही है। यों प्रकाश न पारमेष्ठ्य सोम में हैं, न सौर कृष्णाग्नि में। दोनों दाह्य–दाहक तत्त्वों के समन्वय से ही प्रकाश उसी प्रकार व्यक्त हो जाता है, जैसेकि दाह्य आज्यसोम (घृत) की आहुति से दाह्य भूताग्नि (अङ्गा-राग्नि) प्रज्वलित हो पड़ता है। स्पष्ट ही यह प्रकाशपुञ्ज प्रमाणित कर रहा है कि, सौर अन्नादाग्नि में तृतीय-द्यु लोकस्थ पारमेष्ठ्य सोम सौर गायत्रतेज से अपहृत होता हुआ निरन्तर आहुत होता रहता है। यह सोमाहुति ही सौर कालाश्व की अजरता का मूल है, यही सहस्राक्षता की आधारभूमि है, और यही है सप्तरश्मि की प्रतिष्ठा। अतएव इस विशेषण को अन्त में स्थान दिया है ऋषि ने।

---

* (१)–**महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः॥**
—ऋक्सं० ९।९७।४१।

(२)–**त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥**
—ऋक्सं० १।९१।२२।

(३)–**आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥**
—ऋक्सं० १।३५।२।

४६–'भूरिरेता' विशेषण का तात्त्विक समन्वय, एवं सप्तरश्मि-सहस्राक्ष-अजर-भूरिरेता-कालाश्व का संस्मरण—

पारमेष्ठ्य भार्गवसोम आङ्गिरस अग्निगर्भित है, यह पूर्व के पारिभाषिक-परिच्छेदों में स्पष्ट किया जाचुका है। यों सोम भृग्वङ्गिरोमय (तदनुबन्धेनैव अत्रिमय भी) बन रहा है। भृग्वरोऽत्रि की समष्टि का नाम ही है वह 'शुक्र' तत्त्व, जिसके वाक्-आपः-अग्निः-अग्निः-आपः-वाक्-रूप ६ अमृत-मर्त्य-विवर्त्तों का पूर्व में हीं दिग्दर्शन कराया जाचुका है। इसी षट्पर्वा–सौम्य–पारमेष्ठ्य–शुक्र का नाम है–आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति–सत्त्व–रज-स्तमो-गुणात्मक षड्भावापन्न वह **'महान्'**, जिस **'वीध्रगुणक'** महान् में ही चिदात्मा गर्भ धारण कर अंशभाव से चेतनसर्ग के प्रवर्त्तक बन रहे हैं। **'महत्तत् सोमो महिषश्चकार'** (ऋक्सं०) श्रुति पारमेष्ठ्य सोम के इसी 'महान्' भाव की ओर सङ्केत कर रही है। इसी 'महत्ता' को 'भूरिरेता' का 'भूरि' शब्द अत्र अभिव्यक्त कर रहा है। वैसे पारमेष्ठ्य-सरस्वान् समुद्र की अनन्तता भी इस 'भूरि' धर्म की संग्राहिका बन ही रही है। "इस-प्रकार अनेक सप्तकों को स्वसीमा में भुक्त रखने वाले क्रान्तिवृत्तीय सप्ताश्वरूप सप्त अहोरात्रवृत्तों से **'सप्तरश्मिः'** बने हुए, चतुर्विध अक्षभावों से **'सहस्राक्षः'** बने हुए, नवभावानुबन्ध से **'अजरः'**-बने हुए, एवं पारमेष्ठ्य महान् सोमरेत से **'भूरिरेताः'** बने हुए ऐसे सौर सम्वत्सरात्मक व्यक्तकालाश्व ने हीं विश्व का वहन कर रक्खा है", यही मन्त्रपूर्वार्द्ध का संक्षिप्त स्वरूपार्थ–समन्वय है, जिस इस अथर्ववेदीय स्वरूपार्थ का ही सृष्टिविद्या के परपा-रदर्शी विद्वान् महामहर्षि दीर्घतमा ने अपने सुप्रसिद्ध **अस्यवामीयसूक्त** के निम्नलिखित मन्त्रों से स्पष्टीकरण किया है, जिस स्पष्टीकरण के लिए तो–**'रहस्यविद्यात्मक–कतिपय सूक्त'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध ही देखना चाहिए। प्रज्ञाशील पाठकों के बुद्धिविलास के लिए प्रकृत में कालसम्बन्धी कतिपय मन्त्रमात्र ही उद्धृत हो रहे हैं।

अस्यवामीयसूक्तानुगतं–कालाश्वविवर्त्तं सौरसम्वत्सरचक्रात्मकम्

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रं, एको अश्वो वहति सप्तनामा * ।।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥ १ ॥

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त सप्त ॥ २ ॥

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य (परमेष्ठिनः) ॥
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥३॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ॥
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ ४ ॥

***–कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः (इति–एको अश्वो वहति सप्तनामा)।**

पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ÷ ।
तस्य नाक्षस्तप्यते × भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥ ५ ॥
सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ॥
सूर्यस्य चक्षू रजसेत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ६ ॥
—ऋक्संहिता १।१६४।२,३,११,१२,१३,१४, मन्त्र ।

५०—विभिन्न महिमाओं से-'एकवृत' कालाश्व के 'वशी' स्वरूप का अथर्वश्रुति के द्वारा संस्मरण—

अन्नादाग्निमयी पृथिवी, अन्नसोममय चन्द्रमा, आपोमय नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह, अन्तरिक्ष, द्यौ, देवदेवता, ब्रह्म-चतुर्द्दशविध भूतसर्ग, स्वायम्भुव ब्रह्मप्राण (यजुःप्राण), पारमेष्ठ्य अम्भः, तपोलोकात्मक तपः, परमाकाश, वर्च्च, भूत, भव्य, चान्द्री श्रद्धा, सौर रुक्मतेजोरूपा रुचि, नाकस्वर्ग, सौम्या स्वधा, मृत्यु, अम्व, रक्ष, रुद्र, वषट्कार, आदि आदि यच्चयावत् विवर्त्तों के संग्रह से, संवरण से 'एकवृत' बने रहने वाले पूर्वोपवर्णित कालचक्रात्मक कालाश्व को ही सर्ववशित्त्वेन 'वशी' कहा जायगा, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

ब्रह्म च, तपश्च, कीर्त्तिश्च, यशश्च, अम्भश्च, नभश्च, ब्राह्मणवर्चसं च, अन्नं च, अन्नाद्यं च, भूतं च, भव्यं च, श्रद्धा च, रुचिश्च, स्वर्गश्च, स्वधा च, य एतं देवं 'एकवृतं' वेद । स एव मृत्युः, सोऽमृतम्, सोऽम्वम्, स रक्षः, स रुद्रः, वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके, वषट्कारोनुसंहितः । तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते । तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ।

—अथर्वसंहिता १३।४।३ सूक्त ।

५१-व्यक्तकालाश्वरूप रोहितकाल के द्वारा रोदसीब्रह्माण्ड का सञ्चालन, एवं तन्मूलक अव्यक्तकाल का संस्मरण—

व्यक्तकालाश्वरूप रोहितकालपुरुष जिस रोदसीब्रह्माण्ड के सर्ज्जक हैं, उस रोदसीब्रह्माण्ड में अहः, रात्रि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौः, दिशा, भूमि, अग्नि, आपः, ऋक्, (तदुपलक्षित यजुः, और साम), यज्ञ, आदि वे सब साधन-परिग्रह समन्वित हैं, जिन से भूत-भौतिक सर्गक्रम यथापूर्व प्रक्रान्त रहता है । सौरसम्वत्सरात्मक व्यक्त कालाश्वचक्र में वे परिग्रह कहाँ से आए ?, कैसे उत्पन्न होगए, ?, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर इस व्यक्तकाल के मूलाधिष्ठाता उस अव्यक्त-अमूर्त्त-काल से ही सम्बन्धित है, जो क्रन्दसीत्रैलोक्य नाम के पारमेष्ठ्य-त्रैलोक्य से समन्वित रहता हुआ संयतीत्रैलोक्यरूप अपने स्वायम्भुव त्रैलोक्य में अहोरात्रादि सब परिग्रहों के मूल-

---

÷-तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा (इति—तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा) ।
×-सहस्राक्षः, भूरिरेता (इति—नाक्षस्तप्यते भूरिभारः) ।

बलात्मक सुसूक्ष्म बीज सदा से ही सुरक्षित रखता आ रहा है। अनन्त–अव्यक्त–काल का स्वायम्भुव प्राण ही अहः है, जिस से व्यक्त सौर काल में अहः का प्रादुर्भाव हुआ है। उसका पारमेष्ठ्यप्राण ही रात्रि है, जिस से इस में रात्रिभाव उदित हुआ है। स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य–सान्ध्यस्थान ही उसका अन्तरिक्ष है (जो कि तपः कहलाया है), जिस से इस में अन्तरिक्ष प्रादुर्भूत हुआ है। उसके आन्तरिक्ष्य सूत्रवायु से इसके वायु का, उसके परमाकाशरूप द्युलोक से इसके द्युलोक का, उसके महामायात्मक छन्दोरूप दिक्–भाव से इसकी योगमायात्मिका छन्दोरूपा दिशाओं का, उसकी भृगुगर्भिता अङ्गिरा की चिति से अनुप्राणिता भूमि (पिण्डभाव) से इसकी भूमि (पिण्ड) का, उसके ब्रह्माग्नि से इसके देवाग्नि का, उसके अम्भः नामक आपः से इसके मरीचि नामक आपः का, उसकी ब्रह्मनिःश्वसिता ऋगादि वेदत्रयी से इसकी गायत्रीमात्रिकरूपा वेदत्रयी का, उसके भार्गवसोम–आङ्गिरस–अग्निलक्षण अग्नीषोमयज्ञ से इसके सावित्राग्नि–ब्रह्मणस्पति–सोमात्मक सौरयज्ञ का आविर्भाव हुआ है। किंबहुना–यहाँ जो कुछ है, सब का मूल वही है। व्यक्तकालाश्व के सब धर्म्म बीजरूप से उस अव्यक्तकाल में हीं प्रतिष्ठित हैं अव्यक्त--अमूर्त्त–रूप से। ब्राह्म अहःकाल में उस अव्यक्तकाल से ही व्यक्तकालरूप इन सबका आविर्भाव होता है, एवं ब्राह्मरात्रिकाल में उस अव्यक्तकाल में ही इन सब व्यक्तभावों का संवरण हो जाता है, जिस संवरण को–'प्रलय'–(निधन) कहा गया है। **'यदेवेह–तदमुत्र,–यदमुत्र–तदन्विह'–'पूर्णमदः–पूर्णमिदम्'** इत्यादि श्रौतवचन इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिसका भगवान्ने अपनी रहस्यपूर्णा उपनिषद्भाषा में एक वचन से दिग्दर्शन करा दिया है निम्नलिखित रूप से—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

—गीता ८।१८

श्रुत्यर्थानुसारिणी स्मृति ने इसी तथ्य का यों यशोगान किया है कि—

यदा स देवो जागर्त्ति–तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति * शान्तात्मा, तदा सर्वं निमीलति॥

——मनुः १।५२।

* यह संस्मरणीय है कि, अधिदैवत में जो कालविवर्त्त क्रमशः **स्वयम्भू--परमेष्ठी--सूर्य्य--चन्द्रमा--भूः**--कहलाए हैं, अध्यात्म में भुक्त तत् पाँचों हीं अंश क्रमशः **शान्तात्मा--महानात्मा--ज्ञानात्मा (विज्ञानात्मा--बुद्धि) प्राज्ञात्मा (प्रज्ञानात्मा--मन)--भूतात्मा**--इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अधिदैवत का स्वयम्भू, और अध्यात्म का अव्यक्तकालात्मक शान्तात्मा, दोनों अभिन्न हैं। परमेष्ठी, और महान् अभिन्न हैं। सूर्य्य, और विज्ञानात्मा अभिन्न हैं। चन्द्रमा, और प्रज्ञानात्मा अभिन्न हैं। भू, और भूतात्मा अभिन्न हैं। एवं ये पाँचों हीं कालानुबन्धी विवर्त्त 'खण्डात्मा' कहलाए हैं, जिनके नाम–रूप–गुण–कर्म्म–सब पृथक् पृथक् हैं। राजर्षिने इसी अभिन्नता को लक्ष्य बनाते हुए अव्यक्तकालात्मक स्वयम्भू को **'शान्तात्मा'** कह दिया है। महर्षि के निम्न लिखित वचन से इन्हीं कालात्मविवर्त्तों का अध्यात्मभाषा में संग्रह हुआ है। देखिए!

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः, तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्, तद्यच्छेत्–शान्त आत्मनि॥

—कठोपनिषत् १।३।१३।

५२–कारणरूप अहोरात्रादि से कार्य्यरूप अहोरात्रादि का आविर्भाव, एवं काल से काल की प्रसूति का समन्वय—

'धाता यथापूर्वमकल्पयत' रूप से भी इसी सनातन--चक्रधारा की ओर सङ्केत किया है वेदमहर्षि ने, जैसाकि पूर्व में मन्त्रोपात्त '**अजरः**' विशेषणा-र्थसमन्वय में स्पष्ट किया जाचुका है। व्यक्त विश्व में अहः–रात्रिः–अन्तरिक्षादि जितने भी नाम सुने जाते हैं, उन सब के मूलबीज 'सत्कार्य्यवाद'–सिद्धान्तानुसार कारण-ब्रह्मात्मक अव्यक्तकाल में सुरक्षित हैं। अतएव कहा जासकता है कि, कार्य्यरूप अहोरात्रि–अन्तरिक्षादि की उत्पत्ति कारणरूप अहोरात्रादि से ही हुई है। '**दिन से दिन, रात से रात, अन्तरिक्ष से अन्तरिक्ष, भूमि से भूमि, यज्ञ से यज्ञ उत्पन्न हुए हैं**', यह दुरधिगम्या भाषा अव्यक्तमूलक व्यक्त के महिमात्मक विवर्त्त की शरण में आते ही बोधगम्या बन जाती है, जिसका इत्थंभूत पारिभाषिक समन्वय आज तो हमारे लिए दुरधिगम्य ही बना हुआ है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए कारण–कार्य्याभेदमूलिका निम्न लिखित अथर्ववेदीया सूक्ति को, जिसका सर्वस्वरूपसमन्वय तो स्वतन्त्र चिन्तन-स्वाध्याय का ही विषय माना जायगा।

स वा एष अह्नोऽजायत—तस्मात् (अस्मात्) अहरजायत।
स वै रात्र्या अजायत—तस्मात् रात्रिरजायत।
स वा अन्तरिक्षादजायत--तस्मात् अन्तरिक्षमजायत।
स वै वायोरजायत —तस्माद् वायुरजायत।
स वै दिवोऽजायत —तस्माद् द्यौरध्यजायत।
स वै दिग्भ्योऽजायत–तस्माद् दिशोऽजायत।
स वै भूमेरजायत —तस्माद् भूमिरजायत।
स वा अग्नेरजायत —तस्मात् अग्निरजायत।
स वा अद्भ्योऽजायत—तस्मात् आपोऽजायन्त।
स वा ऋग्भ्योऽजायत--तस्मात् ऋचोऽजायन्त।
स वै यज्ञादजायन्त—-तस्माद् यज्ञोऽजायत।

स यज्ञः, तस्य यज्ञः। स यज्ञस्य शिरस्कृतम्।
स स्तनयति. स विद्योतते, स उ अश्मानमस्यति।
पापाय वा, भद्राय वा, पुरुषायासुराय वा।

—अथर्वसंहिता १३।४।४ सूक्त

५३–'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः' इत्यादि उत्तर-मन्त्रभाग का संस्मरण, एवं 'कवि' शब्द का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय—

प्रासङ्गिकमेतत् । प्रकृतमनुसरामः । प्रक्रान्त प्रथम मन्त्र का उत्तरार्द्ध है–'**तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः--तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा**', जिसका अर्थसमन्वय स्पष्ट है । पूर्वोपवर्णित (मन्त्रपूर्वार्द्धोपवर्णित) तथाविध कालाश्व पर बुद्धिमान् कवि आरोहण करते हैं । ऐसे उस कालाश्व का चङ्क्रमण-स्थान सम्पूर्ण पदार्थ बने हुए हैं, किंवा सातों भुवन बने हुए हैं । 'कवयः', और 'भृगवः' दोनों शब्दों का कुछ विशेष अर्थ है । वैसे लोकभाषा में तो प्रज्ञाशील का नाम 'कवि' है, एवं बुद्धिमान् का नाम 'विपश्चित्' है, सो ठीक ही है । प्रश्न है दोनों शब्दों के सृष्टिमूलक तात्विक समन्वय का, जिसका उत्तर हमें '**आरोहन्ति**' इस क्रियापद से प्राप्त हो रहा है । व्यक्तकालात्मक सौर सम्वत्सर पर आरोहण कौन कर सकता है ?, यह प्रश्न है, जिसका– '**कौन कर सकेगा ?**' इस रूप से भी अभिनय किया जासकता है । **भार्गवप्राण का नाम है कवि, एवं आङ्गिरसप्राण का नाम है विपश्चित्** । भृगु, और अङ्गिरा–दोनों पारमेष्ठय तत्त्व हैं, जैसाकि पूर्व में यत्रतत्र विस्तार से बतलाया जाचुका है । अङ्गिरागर्भित भृगु का नाम है सौम्य परमेष्ठी, एवं भृगुगर्भित अङ्गिरा का नाम है आग्नेय सूर्य्य, जिसका तात्पर्य्य यही है कि--परमेष्ठी में भृगु की प्रधानता रहती है, एवं सूर्य्य में अङ्गिरा का प्राधान्य है । इस दृष्टि से अब यह कहा जासकता है कि, परमेष्ठी 'कवि' है, जिसका आविर्भाव पुराणशास्त्रने ब्रह्मा के (स्वयम्भू के) हृदय (त्रयीवेद) से माना है * । '**उशना भार्गवः कविः**' इत्यादि प्रसिद्ध ही है । एवं सूर्य्य विपश्चित् है । कवि (परमेष्ठी) अपने बाह्य–व्यक्त भार्गवरूप से जहाँ कवि है, वहाँ अपने गर्भित अङ्गिरारूप से यही कवि (परमेष्ठी) विपश्चित् भी बन रहा है । एवमेव विपश्चित् (सूर्य्य) अपने बाह्य–व्यक्त आङ्गिरसरूप से जहाँ विपश्चित् है, वहाँ अपने गर्भित भार्गवरूप से यही विपश्चित् कवि भी बन रहा है । एवं इस दृष्टि से दोनों हीं द्वयात्मक बनते हुए दोनों अभिधाओं से समन्वित हो रहे हैं ।

५४–मन्त्रोपात्त 'विपश्चितः' का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

'**आपः--परमेष्ठी**'--'**आपो--भृग्वङ्गिरोरूपम्**' से जैसे परमेष्ठी के कवि–विपश्चित्–भाव समन्वित हैं, तथैव आपो भृग्वङ्गिरोमय रूप आपः से ही कृतरूप सूर्य्य का कवि-विपश्चिद् भाव '**यज्ञो वै बृहत्-(सूर्य्यः)--विपश्चित्**' (शत० २।५।३।१२।)–'**असौ वा आदित्यः कविः**' (शत० ६।७।२।४।) इत्यादि रूप से प्रमाणित है । वैसे परमेष्ठी प्रधानरूप से 'कवि' ही है भृगुप्राधान्येन, एवं सूर्य्य प्रधानरूप से ÷ विपश्चित्

---

* **ब्रह्मणो हृदयं भित्त्वा निःसृतो भगवान् भृगुः ।**
भृगोः पुत्रः कविर्विद्वान् शुक्रः कविसुतो ग्रहः ॥
—महाभारत १।६६।४२।

÷--**यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।**
—ऋक्सं० ३।६२।६।

प्रजापति वैं बृहत्–विपश्चित् (शत० ६।३।१।१६।) ।

ही है अङ्गिराप्राधान्येन । सत्यभावानुगता ऋजुव्यवस्था का व्यवस्थापक सत्यधर्म्मा अङ्गिरा ही चिकित्वान् कहलाया है । नियतव्यवस्थिति, सत्यधर्म्मव्यवस्थिति ही चिकित्वधर्म्म है, जिस से युक्तभाव ही विपश्चित् कहलाया है, जिसका अर्थ लोक में–'सदसद्विवेकशील'--'नीरक्षीरविवेकी' इत्यादि किया जाता है । विपश्चित् ही क्योंकि चिकित्वान् होता है, अतएव विपश्चिद्रूप सूर्य्य का 'चिकित्वान्' रूप से भी ऋषि ने यशोगान किया है * ।

५५–'कवि' भावानुगता श्रद्धा, 'विपश्चिद्' भावानुगत विश्वास, एवं श्रद्धा–विश्वास–शब्दों का तात्त्विक–स्वरूप समन्वय —

उक्त विवेचन से प्रकृत में हमें यही निवेदन करना है कि, पारमेष्ठ्य भार्गवतत्त्व के प्रमुख 'कवि' भाव का, तथा गौण विपश्चिद् भाव का सौरमण्डल में समन्वय हुआ है, जिस इस सौरसमन्वय में कविभाव गौण है, एवं विपश्चिद्भाव प्रमुख है । यह तो हुआ कवि, और विपश्चित्–का तत्त्वार्थ । अत्र इसके आचारात्मक पक्ष का समन्वय कीजिए आध्यात्मिक शब्दों के द्वारा । **श्रद्धा,** और **विश्वास,** दोनों शब्द प्रसिद्ध हैं । **मानसिक स्नेहगुण का नाम श्रद्धा है, बौद्धिक तेजोगुण का नाम विश्वास है** । स्नेहगुण भार्गव तत्त्व है, सौम्य तत्त्व है । तेजोगुण आङ्गिरस तत्त्व है, आग्नेय तत्त्व है । रोदसीब्रह्माण्ड नामक व्यक्त त्रैलोक्य में सूर्य्य तेजोगुणक है, चन्द्रमा स्नेहगुणक है, जिन इन दोनों तेजः-स्नेहगुणों से युक्त समन्वित सौर–चान्द्र–तत्त्वों से ही अध्यात्मजगत् में '**विज्ञानात्मा**' नाम की '**बुद्धि**' तथा '**प्रज्ञानात्मा**' नामक '**मन**', आविर्भूत है । स्पष्ट ही श्रद्धा चान्द्रमन का स्नेहगुण बन रही है, एवं विश्वास सौरीबुद्धि का तेजोगुण बन रहा है । ये ही आध्यात्मिक विपश्चित्, और 'कवि' हैं । सत्यनिर्णायकभाव विपश्चिद्भाव है, यह सौरी बुद्धि का धर्म्म है, इसी से विश्वास का उदय होता है, जो कालान्तर में आस्थामयी निष्ठा के रूप में परिणत होजाता है । विपश्चिद्भावान्विता बुद्धि के विश्वास को अपने स्नेहगुण से अन्तर्य्याम--सम्बन्ध से दृढमूल बनाने वाला तत्त्व ही 'श्रद्धा' है । 'श्रत्' सत्य भाव है, उसे धारण करने वाला स्नेहगुणक सौम्यतत्त्व ही 'श्रत्' का धारण करने से 'श्रद्धा' है । श्रद्धारस ही विश्वास को सत्यनिष्ठा प्रदान करता है । श्रद्धाविहीन रूक्ष–(तेजोगुणक) बौद्धिक विश्वास तो कालान्तर में अभिनिवेशरूप में ही परिणत होजाता है, जिसे 'दुराग्रह' कहा गया है । श्रद्धावञ्चिता बुद्धि कदापि सत्यनिर्णय नहीं कर सकती । अतएव ऐसी बुद्धि से विपश्चिद्भाव (निर्णयात्मिका निष्ठा) सर्वथैव विदूर रह जाता है । एवमेव विपश्चित् से शून्या केवल श्रद्धा भी कालान्तर में मानसिक–भावुकता के रूप में परिणत होती हुई अभिनिवेश की ही जननी बन जाती है । श्रद्धा यदि प्रकृति है, तो विश्वास पुरुष है । पुरुष से वञ्चिता प्रकृति, तथा प्रकृतिसे वञ्चित पुरुष, दोनों ही विभ्रामक हैं । श्रद्धारूपिणी शक्ति, एवं विश्वासरूप शिव, इस शिवशक्ति-

---

*–चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥
आरोहञ्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
चित्रश्चिकित्वान् महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद् विभाति ॥
—अथर्वसंहिता १३।२।२।३२-४२ मन्त्र

समन्वय से ही मानव अभ्युदय–निःश्रेयस् का अनुवर्त्मा बन पाता है । यही दाम्पत्य तत्त्व मानव के स्वरूपबोध की मूलप्रतिष्ठा माना गया है ।

५६–श्रद्धा--विश्वासात्मक कवि–विपश्चिद्रूप पारमेष्ठ्य महानात्मा, तत्पुत्र कालाश्व, एवं 'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः' का तात्त्विक समन्वय—

श्रद्धा-विश्वासात्मक कवि-विपश्चिद्-रूप का ही नाम है वह महानात्मा, जिसके गर्भ में सूर्य्य, किंवा कालाश्व प्रतिष्ठित है । इस महानात्मा में हीं अव्ययात्मब्रह्म स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होते हैं-**'तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'** * । अव्ययात्मब्रह्म ही वह अनन्तब्रह्म है, जिसका प्रतीक माना गया है अव्यक्त-अनन्तकाल, किंवा करालकाल (पारमेष्ठय) से समन्वित स्वायम्भुव महाकाल । अतएव अपने अव्यक्त–अक्षररूप से अमूर्त्तकाल–रूप में, तथा व्यक्त क्षररूप से मूर्त्तकालरूप में परिणत होने से प्रकृत्या कालात्मक बना रहता हुआ भी व्यक्ता-व्यक्तातीत अव्ययब्रह्म अपने पौरुषरूप से कालातीत ही प्रमाणित है । यों वह इस काल पर **आरोहण** ही किए हुए है । मानवप्रजा में किस श्रेणि के मानव काल पर आरोहण कर सकेंगे ?, अब इस पूर्वप्रश्न का समन्वय कर लीजिए आप अपनी प्रज्ञा से ही । कविरूप भार्गव–सौम्य–श्रद्धातत्त्व, विपश्चिद्रूप आङ्गिरस-आग्नेय-विश्वास तत्त्व, दोनों जब भी मानव के प्रज्ञानयुक्त विज्ञानक्षेत्र में (मनोयुक्ता बुद्धि में) समरूपेण समन्वित हो जायँगे, तत्क्षण महद्गर्भित अव्ययात्मब्रह्म स्वस्वरूप से अभिव्यक्त हो पड़ेंगे । इस आत्मस्वरूपोदय से प्रकृतिमूलक विषमवर्त्तन के संरक्षणपूर्वक अव्ययब्रह्मपुरुषमूलक समदर्शन उदित हो पड़ेगा । और इस समदर्शनावस्था में मानव प्रकृत्या प्रारब्धभोगपर्य्यन्त कालसीमा में व्यवस्थापूर्वक-आचारनिष्ठापूर्वक-समस्त प्राकृतिक उत्तरदायित्वों का वहन करता हुआ भी कालातीत बना रहेगा, यही इसकी विदेहमुक्ति–जीवन्मुक्ति मानी जायगी । और ऐसे श्रद्धालु–बुद्धिनिष्ठ–लोकप्रकृतिसिद्धाचारपरायण–मानवश्रेष्ठ को ही कवि, और विपश्चित् कहा जायगा, एवं यही कालारूढ–कालातीत महामानव कहलाएगा, जिसके लिए भगवती श्रुतिने कहा है-**'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः'**, इत्यलमतिपल्लवितेन ।

५७–मध्यम धाममूर्त्ति कालाश्वप्रजापति की परम--अवमधामता, ब्रह्माण्डबन्धनत्रयी का प्रवर्त्तकत्त्व, एवं तद्द्वारा सप्तचक्रात्मक भुवनों का स्थितिस्थापकत्त्व––

पूर्व--परिच्छेदों में एक स्थान पर-**'चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः०'**-इत्यादि अनुगमन्त्र के अक्षरार्थ-का समन्वय करते हुए 'त्रिधा बद्धः' इस अनुगमवाक्य से सौर 'क्रान्तिवृत्त' के गर्भ में अवस्थित तदनुगत पार्थिव-वार्षिक परिभ्रमणाधारभत क्रान्तिवृत्त, चान्द्र दक्षवृत्त, भौम अक्षवृत्त, इन तीन वृत्तों के त्रिकेन्द्रों से ही काला–श्वरूप सौर सम्वत्सर प्रजापति को त्रिधा बद्ध बतलाया गया है (देखिए पृ० सं० १२३।) ' अब एक अन्य दृष्टिकोण से-'त्रिधा बद्धः' का समन्वय किया जारहा है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के माध्यम से । सौरकालाश्व 'सहस्राक्षः' है, जो सहस्राक्षता सहस्रशीर्षः-सहस्रपात्-दोनों के समन्वय से ही गतार्थ बन सकती है । सहस्रशीर्ष स्वयम्भूविवर्त्त, सहस्रपात्

---

*–मम योनिर्म्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्व्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥
—गीता १४।३।

पार्थिव विवर्त्त, दोनों का नियामक विश्वमध्यस्थ–**विश्वकेन्द्ररूप** सहस्राह्व सौर विवर्त्त अवश्य ही ऊर्ध्व के अमृतप्रधान भावों का, एवं अधोऽवस्थित चान्द्र-पार्थिव मर्त्यभावों का, दोनों का यथास्थान सन्निवेश सुरक्षित रखता हुआ सर्वमूर्त्ति-सर्वकर्म्मा बन रहा है। अतएव श्रुति ने इसे **'विश्वकर्म्मा'** * नाम से भी व्यवहृत किया है। परमेष्ठ्यनुगत स्वयम्भू-विवर्त्त इसी का **'परमधाम'** है **(अक्षरधाम है)**, सचन्द्र पार्थिव विवर्त्त इसी का **'अवमधाम'** (अवरधाम-क्षरधाम) है। एवं यह स्वयं **'मध्यमधाम'** है। यों-**'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च'** रूपेण अमृत-परमधाम, मर्त्य अवमधाम, एवं इन दोनों का संग्राहक बनते हुए मध्यमधाममूर्त्ति कालाश्वप्रजापति अवश्यमेव विश्वमूर्त्ति-विश्वकर्म्मा प्रमाणित हैं-**'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः'**। परमधामात्मक परमेष्ठ्यनुगत स्वयम्भू का एक स्वतन्त्र केन्द्र, अवमधामात्मक सचन्द्र भूपिण्ड का एक स्वतन्त्र केन्द्र, एवं स्वयं सौरमण्डल का एक स्वतन्त्र केन्द्र, इन तीन वृत्तकेन्द्रों से आबद्ध रहता हुआ मध्यस्थ कालाश्वमूर्त्ति महान् वृषभ अवश्यमेव इस ब्रह्माण्डबन्धन-त्रयी (केन्द्रत्रयीबन्धन) से भी **'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति'** इस अनुगमभाव को प्रमाणित कर रहा है, जिसे आधार बना कर ही अब हमें मन्त्र के–**'तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा'** इस शेषांश का समन्वय कर लेना है।

५८–कालाश्वप्रजापति विश्वकर्म्मा के त्रैलोक्य–त्रिलोकी–रूप महाविश्व का स्वरूप–दिग्दर्शन—

प्रथम हृद्बन्धनरूप स्वयम्भू 'स्वः' भाव है, द्वितीय हृद्बन्धनरूप मध्यमधामात्मक सूर्य्य 'भुवः' भाव है, एवं तृतीय हृद्बन्धनरूप अवमधामात्मक भूपिण्ड–'भूः' है। ये ही सौर प्रजापति की तीन महाव्याहृतियाँ हैं, जिनका **'ओं भूः-भुवः स्वः'** इत्यादि गायत्रीमन्त्र के माध्यम से भारतराष्ट्र का द्विजातिमानव अहरहः (प्रति–दिन) संस्मरण कर लेना (सन्ध्या के माध्यम से) अपना अनिवार्य्य कर्त्तव्य मानता है।

'महाव्याहृति' शब्द ही यह प्रतिध्वनित कर रहा है कि, अवश्य ही इसके गर्भ में अन्य व्याहृतियाँ भीं समाविष्ट होंगीं, जिनकी अपेक्षा से ही उसे महाव्याहृति कहा होगा। ओमित्येतत्। हाँ, वस्तुस्थिति ऐसी ही है। भूः नाम की प्रथमा महाव्याहृति भी भूः–भुवः–स्वः–रूप से त्रेधा विभक्त है, 'भुवः' भी त्रेधा विभक्त है, एवं 'स्वः' भी त्रेधा विभक्त है। यों तीन की ९ व्याहृतियाँ हो जातीं हैं, जिनमें २ व्याहृतियाँ अन्तर्गर्भित हैं। व्यक्त हैं ७ सात ही व्याहृतियाँ, जिनके ऋषि (प्रतिष्ठाप्राण) ये ही कालाश्वमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति माने गए हैं–**'सप्तव्याहृतीनां प्रजापतिः-ऋषिः'**। तीन तीन अवान्तर व्याहृतियों से एक एक 'महाव्याहृति' का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, यही वक्तव्य है।

भूमूला व्याहृतित्रयी का नाम है **रोदसी त्रिलोकी**, भुवर्मूला व्याहृति का नाम है **क्रन्दसी त्रिलोकी**, एवं स्वर्मूला व्याहृति का नाम है **संयती त्रिलोकी**। तीन त्रिलोकियों से पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः ९ होजाते

***या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ॥**
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥
—ऋक् सं॰ १०।८१।५।

हैं। पृथिवी का पारिभाषिक नाम है **'माता'**, द्यौः का नाम है–**'पिता'**। इस दृष्टि से तीन माता (तीन पृथिवियाँ), तीन पिता (तीन द्युलोक), एवं तीन ही अन्तरिक्ष हो जाते हैं, जिस इस त्रैलोक्य–त्रिकोक्यात्मिका **'लोकविद्या'** का संग्रह करते हुए महर्षि दीर्घतमा ने कहा है—

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वामिन्वाम्॥

—ऋक्सं० १।१६४।१०।

रोदसीत्रैलोक्य का द्युलोक क्रन्दसीत्रैलोक्य का भूः बन जाता है, एवं क्रन्दसीत्रैलोक्य का द्युलोक संयतीत्रैलोक्य का भूः बन जाता है। अतएव ६ के सात ही लोक शेष रह जाते हैं, जो मानो सात विभिन्न चक्र ही हैं कालप्रजापति के। ये ही सातों चक्र क्रमशः **भूः–भुवः–स्वः–महः–जनत्–तपः–सत्यम्**–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं सप्तलोकों से प्रजापति विश्वकर्म्मा की **'सप्तवितस्तिकाय'** रूप से स्तुति हुई है पुराणपुरुष के द्वारा *। ये ही चक्रात्मक वे सात भुवन हैं, जिनमें व्यक्तकालाश्वमूर्त्ति प्रजापति व्याप्त हो रहे हैं अपने **परम–मध्यम–अवम**–धामरूपों से। इस समष्टिव्याप्ति के साथ साथ ही सम्वत्सरकाल व्यष्टिरूप प्रत्येक भूत–भौतिक–भुवनों–पदार्थों में भी दिग्–देश–प्रदेश–रूप से व्याप्त हो रहे हैं। इसी उभयव्याप्ति को लक्ष्य में रख कर महर्षिने अनुगमभावमाध्यम से ही यह कहा है कि–**'तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा'**। निम्नलिखित परिलेख से यह भुवनव्याप्ति सर्वात्मना गतार्थ बन जाती है।

संयतीत्रिलोकी ३
१–स्वः—द्यौः (९) सत्यम् (७)
२–भुवः-अन्तरिक्षम् (८) तपः (६)
३–भूः—पृथिवी (७) जनत् (५)

२–क्रन्दसीत्रिलोकी
१–स्वः—द्यौः (६) महः (४)
२–भवः—अन्तरिक्षम् (५)
३–भूः–पृथिवी (४)

१–रोदसीत्रिलोकी
१–स्वः–द्यौः (३) स्वः (३)
२–भुवः-अन्तरिक्षम् (२) भुवः (२)
३–भूः–पृथिवी (१) भूः (१)

तस्य चक्रा [चक्राणि] भुवनानि विश्वा
[विश्वानि-सर्वाणि] [समष्टया सप्त,
व्यष्टया-अनन्तानि-इति विश्वानि]

—*—

* **क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवाभूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।**
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताभ्ररोमविवरस्य च ते महित्वम्॥
—श्रीमद्भागवते

१–सत्यभुवनम्—सत्यः स्वयम्भूः २–तपोभुवनम्– स्वायम्भुवान्तरिक्षम्	-स्वयम्भूः (आकाशात्मा)	परमधाम (अमृतम्)३	त्रिधाममूर्त्तिः कालाश्वः--सम्वत्सरप्रजापतिः
३–जनद्भुवनम्—ऋतं परमेष्ठी ४–महर्भुवनम्—सौरान्तरिक्षम्	परमेष्ठी (वाय्वात्मा)		
५–स्वर्भुवनम्—सत्यः—सूर्य्यः–	सूर्य्यः (तेज आत्मा)	मध्यमधाम (अमृतमृत्युमयम्) २	
६–भुवर्भुवनम्–ऋतं-सोमः (चन्द्रः)	चन्द्रमाः (जलात्मा)	अवमधाम (मर्त्यम्) १	
७–भूर्भुवनम्—सत्यः—भूपिण्डः	(भूपिण्डः पृथिव्यात्मा		

५६–'काल' शब्द -निर्वचनपूर्वक काल के तात्त्विक–स्वरूप का समन्वय—

मूलसूत्रात्मक प्रथममन्त्र के प्रायः सभी शब्दों के समन्वय का यथामति प्रयास हुआ। अब केवल दो शब्द ऐसे शेष रह जाते हैं, जिनके समन्वय के बिना अर्थसमन्वय अकृत्स्न बना रह जाता है। अतएव संक्षेप से उन दोनों **काल,** और **अश्व**–शब्दों को भी लक्ष्यारूढ बना लेना प्रासङ्गिक बन जाता है। 'काल' शब्द का निर्वचन करते हुए आरम्भ में ही यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, **संख्यान,** और शब्द, इन दो भावों के सूचक **'कल्'** धातु से ही 'काल' शब्द का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। (कल संख्याने, शब्दे च–देखिए पृ० सं० ३)। **कल्यते–इति कालः, कालयति सर्वान्-भावान्-यः-स कालः'** ही कालशब्द का शाब्दिक निर्वचन है, जो **'छन्द'** का ही स्वरूप-संग्राहक बन रहा है। संख्यान से ही कलाविभाग उत्पन्न हुए हैं, जिन कलाविभागों से ही स्वयं प्रजापति भी षोडशकलायुक्त बने हुए हैं। काल ही इस कलाभावात्मक संख्यान (परिगणन) का प्रवर्त्तक है। किंवा संख्यात्मक कलन–परिगणन से ही प्राजापत्यावयव 'काल' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। दूसरा शब्दभाव मनःप्राणगर्भित वाक्तत्त्व का संग्राहक बन रहा है, जिसे **'शब्दतन्मात्रा'** कहा है सांख्यने, जो गुणभूत का आदि बना हुआ है, एवं जिसे तत्त्वभाषा में अव्ययाक्षरगर्भित 'आत्मक्षर' कहा गया है। वाङ्मय **इस** आत्मक्षर **का** ही नाम शब्दतन्मात्रा है, जो भूतसर्ग की मूलाधिष्ठात्री बनी हुई है, जो भूतसर्ग दिक्–देश–प्रदेशात्मक है। भूतसर्गाधारभूत, शब्दतन्मात्रालक्षण आत्मक्षर ही अपने व्यक्तभाव से 'व्यक्तकाल' कहलाया है, जबकि तदभिन्न अमृताक्षर अपने अव्यक्तभाव से 'व्यक्तकाल' कहलाया है। अव्यक्ताक्षरकाल **ब्रह्मनिःश्वसिता वाक्** है, एवं व्यक्त-क्षरकाल **गायत्रीमात्रिक-वाक्** है। वह वाक् **परा** है, यह वाक् **अपरा** है। यों वाक्त्वेन अक्षर भी शब्दभाव से समन्वित हो रहा है। अतएव इसे भी संख्यान, एवं शब्दभावानुबन्ध से 'काल' कहा जासकता है। इसीलिए (अक्षर-क्षरानुबन्ध से ही) काल के अव्यक्त–व्यक्त–दो विवर्त्त–होजाते हैं। अव्यक्ताक्षरमूर्त्ति स्वायम्भुव-प्राण ही अव्यक्तकाल है, जो कलाभावों का भी प्रवर्त्तक है, एवं वाक्परिमाणात्मक छन्दोभाव की भी प्रतिष्ठाभूमि है। व्यक्तक्षरमूर्त्ति सौर प्राण ही व्यक्तकाल है, जो भोगकालानुबन्ध से कलाभावों का भी प्रवर्त्तक है, एवं वाक्-परिमाणात्मक छन्दोभावों की भी प्रतिष्ठाभूमि है। दोनों कालविवर्त्तों के कलाभावों, एवं वाक्–परिमाणों के स्वरूप में अन्तर है, यह ध्यान रख कर ही कालस्वरूप का समन्वय करना चाहिए।

६०-कालशब्द के चिरन्तन-इतिवृत्त पर एक दृष्टि—

आत्मन्वी (शरीरी) प्रजापति में **आत्मा,** और **विश्व,** ये दो प्रमुख विवर्त्त हैं। परात्परभिन्न अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति षोड़शीपुरुष का नाम है आत्मा, एवं तद्गर्भित स्वयम्भु-परमेष्ठि-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-समष्टिरूप ब्रह्माण्ड का नाम है विश्व। दोनों की समष्टि ही **आत्मन्वीप्रजापति (शरीरविशिष्ट आत्मा, विश्वविशिष्ट विश्वेश्वर)** है। इन दोनों प्राजापत्य विवर्त्तों को हम अव्यक्त-व्यक्त-कह सकते हैं, उसीप्रकार-जैसेकि-मानवीय-अध्यात्मसंस्था में आत्मा अव्यक्त-अप्रकट-है अपनी सुसूक्ष्मता से, एवं पञ्चमहाभूतात्मक शरीर व्यक्त है-प्रकट है अपनी स्थूलता से। अव्यक्त आत्मा मनःप्राणवाग्रूप है, तो व्यक्त विश्व मनःप्राणवाङ्मय है वैसे ही, जैसेकि परमेष्ठी भृग्वङ्गिरोरूप है, एवं सूर्य्य भृग्वङ्गिरोमय है। इन दोनों हीं प्राजापत्य विवर्त्तों में संख्यानात्मक कलाभाव भी है, एवं वाक्परिमाणात्मक छन्दोभाव भी है। स्थूलदृष्ट्या आत्मा के कलाभाव जहाँ अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-रूप से तीन हैं, वहाँ सूक्ष्मदृष्ट्या १६ हैं। एवमेव स्थूलदृष्ट्या विश्व के कलाभाव जहाँ स्वयम्भू-परमेष्ठ्यादि रूप से पाँच हैं, वहाँ सूक्ष्मदृष्ट्या माया-जाया-धारादि-बलकोशों की अपेक्षा से विश्व के भी १६ ही कलाविवर्त्त हैं। षोडशकल ही आत्मा है, षोडशकल ही उसका विश्व है। और इसी आधार पर-**'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'** यह अनुगम व्यवस्थित हुआ है। षोडशी आत्मा का कलनभाव अव्यक्तकालात्मक है, एवं षोडशकल विश्व का कलनभाव व्यक्तकालात्मक है। अव्यक्तकाल का वाक्परिमाणात्मक छन्द **'महामाया'** नाम से प्रसिद्ध है, एवं व्यक्तकाल का छन्द **'योगमाया'** नाम से प्रसिद्ध है। यह छन्द ही शब्दपरिमाण (वाक्परिमाणात्मिका आकृति) है। यों संख्यान, और शब्दपरिमाण से व्यक्ताव्यक्तविवर्त्तों का नियामक बना रहने वाला वेदप्राणात्मक अक्षरक्षरात्मक मौलिक तत्त्व ही (प्रकृतितत्त्व ही) 'काल' शब्द का वह समस्त चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसे महर्षि ने 'अश्व' शब्द से समन्वित किया है।

६१-'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः, पादोस्येहाभवत्पुनः' का समन्वय—

एकांशानुगत आनन्त्य ही इस 'अश्व' शब्द का नैदानिक समन्वय है, जिसका-**'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः, पादोऽस्येहाभवत्पुनः'** इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। सुप्रसिद्ध अश्व (घोड़ा) नामक पशु जब भी प्रकृतिस्थ बन कर खड़ा रहता है, इसके तीन पाद तो सर्वात्मना भूतल से संस्पृष्ट रहते हैं, एवं एक पाद असंस्पृष्ट रहता हुआ विकम्पित-एजत्-(गतिप्राणयुक्त) रहता है। चार पैर वाले इस घोड़े का एक पैर अधिकरूपेण पृथिवी से उठा हुआ ही रहता है। यों अश्व के तीन अंश स्थितिमान् हैं, एकांश गतिमान है। इसी नैदानिक-साम्य से काल को इस 'अश्व' के नाम से समन्वित कर दिया है ऋषि ने।

६२-'महान्', और 'एकांश' रूप 'यत्किञ्चिद्' भाग का तात्त्विक समन्वय--

परात्परब्रह्म को चतुष्पाद मान लीजिए वृत्तमर्य्यादा से। प्रत्येकवृत्त ३६० अंशात्मक बनता हुआ ९०-९०-९०-९०-भेद से चतुर्भुज बन रहा है, और यही वृत्तौजा स्वयम्भू की सृष्टि की चतुर्भुजता है। इस दृष्टि से समष्टि-व्यष्टि-रूपेण सभी चतुष्पाद बने हुए हैं। इसी आधार पर **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** यह अनुगम व्यवस्थित हुआ है। इसी नैदानिक-मान्यता से यदि परात्पर को भी चतुष्पाद मान लिया जाता है, तो इसका एकांश ही अव्ययपुरुष है। न तो चार पाद का अर्थ यहाँ चार विभाग हैं, न एकांश का अर्थ एक चतुर्थांश है। अपितु चार पाद का अर्थ है महतोमहीयान्-अनन्तभाव, एवं एकांश का अर्थ है-अणोरणीयान्।

महान्[1], और यत्किञ्चित्[2] ही चतुष्पाद[1], एवं एकांश[2] का तात्त्विक समन्वय है। दोनों हीं विवर्त्त अनन्त हैं। जो महतोमहीयान् है, वही अणोरणीयान् है। महतोमहीयान् परात्पर के समतुलन में इसका एकांशरूप अव्ययपुरुष अणोरणीयान् बनता हुआ भी अपने इस एकांश से ही उस परात्परानन्त्य के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। जो कुछ भी परात्पर में हैं, वह सबकुछ अव्यय में भी है। किंवा जैसा परात्पर है, वैसा ही अव्यय भी है। किंवा जो वह (परात्पर) है, वही यह (अव्यय) है–एतद्वैतत। अतएव **'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'** इत्यादि रूप से श्रुति ने अव्ययात्मक पुरुष को भी 'परात्पर' नाम से व्यवहृत कर दिया है।

६३–अनन्तब्रह्म की एकांशता के माध्यम से अनन्तभावात्मिका पूर्णा अभिव्यक्ति, एवं तत्समन्वय—

इस पूर्णा-अनन्ता अभिव्यक्ति से ही अव्यय भी अब परात्परवत् चतुष्पाद ही माना जायगा, जिसका एकांश होगा पराप्रकृतिरूप अक्षरतत्त्व। यहाँ भी एकांश का वही समन्वय होगा। अनन्त–चतुष्पाद–अव्यय का एकांशरूप अणोरणीयानरूप यह अक्षर भी उस अनन्त के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। अतएव पराप्रकृतिरूप होते हुए भी इसे 'पुरुष' (अव्यय) उपाधि उपलब्ध होगई है, जैसाकि–**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'** इत्यादि मूलक **'त्रिपुरुषात्मक–पुरुषविज्ञान'** से स्पष्ट है। यहाँ यह अवधेय है कि, अव्यय का एकांशरूप–अणोरणीयान्धर्म्मा यत्किञ्चित्–भावरूप अक्षर ही वह अमूर्त्त–अव्यक्त–अनन्त–काल है, जिसकी प्रतीकता से हम उस शाश्वतब्रह्मरूप अनन्तब्रह्म की अनन्तता का अनुमान लगा रहे हैं दृष्टान्तविधि से, जो अनन्तब्रह्म परात्परपुरुषात्मक है। परात्पराभिन्न अव्ययब्रह्म, किंवा अव्ययाभिन्न परात्परब्रह्म ही शाश्वत–अनन्तब्रह्म है, जिसके समतुलन में पराप्रकृतिरूप अव्यक्त–अनन्तकाल एकांशमात्र ही है, यत्किञ्चिदंश ही है, जोकि शाश्वतब्रह्मदृष्ट्या यत्किञ्चित्–एकांश भी अव्यक्तकालात्मक अक्षर उस पुरुष के समग्र स्वरूप को उसी प्रकार अभिव्यक्त कर रहा है, जैसेकि एकांशरूप अव्यय अनन्त परात्पर के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। अतएव जो कुछ अव्यय में है, वह सबकुछ अक्षरात्मक अव्यक्तकाल में भी है। किंवा जैसा अव्यय है, वैसा ही अव्यक्तकालात्मक अक्षर है। किंवा जो वह (अव्यय) है, वही यह (अक्षर) है। तभी तो अव्यय–पुरुषावतार भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ने अपने अव्ययभाव का अक्षरात्मक अव्यक्तकाल से अभेद मानते हुए स्वयं को (अव्यय को) कालरूप से ही व्यक्त कर दिया है *।

६४–अनन्त अव्ययपुरुष के एकांश से आविर्भूत, अनन्ताक्षरकाल के एकांशरूप, रोहितकालात्मक व्यक्त कालाश्व की अनन्तता का समन्वय—

अव्ययपुरुष की पूर्णा-अनन्ता अभिव्यक्ति से अव्ययवत् यह कालाक्षर भी चतुष्पाद ही बन रहा है, जिसका एकांश है अपराप्रकृतिरूप व्यक्तधर्म्मा आत्मक्षरात्मक क्षर। यही कहलाया है व्यक्तकाल, जिसे 'कालाश्व'-

---

* **कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।**
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥
—गीता ११।३२।

'रोहितकाल'–'सम्वत्सर' इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है। अक्षररूप अनन्त अमूर्त्त–चतुष्पाद–महाकालात्मक काल का एकांश बनने वाला यह व्यक्तकालात्मक क्षर भी उस अनन्त–अव्यक्त–अक्षरकाल की पूर्ण-अनन्तता को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है। जो कुछ भी अनन्त कालाक्षर में है, वह सब कुछ इस एकांशरूप व्यक्त कालक्षर में भी विद्यमान है। किंवा जैसा अक्षरकाल है, वैसा ही क्षरकाल है। किंवा जो वह (अक्षर) है, वही यह (क्षर) है। और इस व्यक्तकालात्मक क्षरब्रह्म पर पूर्वोक्त आत्मन्वी–प्रजापति के षोडशकल आत्मभाव की सीमा समाप्त मानली है वैज्ञानिकोंनें।

६५–आवरणात्मक 'अञ्जन', तदनुबन्धी 'साञ्जनविवर्त्त', एवं दिग्देशकालातीत 'निरञ्जनपुरुष' का साञ्जनाधारत्व—

सीमा का अर्थ आत्मा का अवसान नहीं है। अपितु सीमा का अर्थ है यहाँ–भौतिक विश्व के आवरणधर्म्म का पार्थक्य। भौतिक आवरण का मूल **'अञ्जन'** नामक परिग्रह बनता है, जिससे आवरणात्मक भूत की अभिव्यक्ति होती है, एवं जिस भूताञ्जनात्मक भौतिक आवरण से वह **निरञ्जनपुरुष** दिक्-देशात्मक-विश्वरूप में परिणत होता हुआ **'साञ्जन'** कहलाने लग पड़ता है। साञ्जनता विश्वरूप शरीर का धर्म्म है, निरञ्जनता विश्वात्मरूप आत्मा का धर्म्म है। दिक्–देश–प्रदेशात्मक–आकारभाव (मूर्त्त–भूतभाव) व्यक्तकालात्मक क्षर से अनन्तरभावी हैं। अतएव परात्पराभिन्न अव्यय से आरम्भ कर व्यक्तकाल पर्य्यन्त सम्पूर्ण अनन्त विवर्त्त 'निराकार'–'निरञ्जन'–'अमूर्त्त' ही माना जायगा, माना गया है। व्यक्तकालात्मक क्षर की अभिव्यक्तिरूप दिग्भाव से ही भूताकार का उपक्रम होता है, जो दिगात्मक भूताकार ही आगे चलकर प्रत्यक्ष भूतात्मक देशरूप से अभिव्यक्त होता हुआ प्रत्यक्षतम प्रदेशभाव में परिणत हो जाता है। क्योंकि व्यक्तकाल–पर्य्यन्त आकारभाव अनभिव्यक्त हैं। अतएव दिङ्मूलभूत व्यक्तकाल (क्षर), तन्मूलभूत अव्यक्तकाल (अक्षर), एवं तन्मूलभूत कालातीत अनन्तब्रह्म (परात्पराभिन्न अव्यय), सभी विवर्त्त केवल सत्तासिद्ध बनते हुए मानवीया भाति (प्रतीति) से परात्परावत ही प्रमाणित हो रहे हैं।

६६–सत्तासिद्ध अनन्तकाल के स्वरूपलक्षण का अभाव, अनन्तकाल की दुर्बोध्यता, व्यक्तकाल के द्वारा तदनुमान, एवं अनन्ताव्यक्तकाल के द्वारा कालातीत निरञ्जन-पुरुष की अनन्तता का प्रतीकविधि से अनुमानमात्र—

अतएव काल का कोई स्वरूपलक्षण (भौतिक लक्षण) नहीं किया जासकता। सत्तासिद्धता ही कालस्वरूप की वह दुरधिगम्यता है, जिसका दिग्देशप्रदेशमाध्यम से अनुमानमात्र ही लगाया जा सकता है। जबकि काल ही दुरधिगम्य है, तो कालातीत अव्ययब्रह्म की दुरधिगम्यता, उस * सत्तामात्र की अगोचरता की दुर्विज्ञेयता, (परात्परदृष्ट्या अविज्ञेयता) का तो कहना ही क्या है। अतएव जिन दिग्देशकालात्मक–भौतिक–वैकारिक–स्थाणुपुरुषादि गोचर-दृष्टान्तों के अध्यासमाध्यम से दार्शनिकोंनें उस अगोचर–दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म के

---

* प्रत्यस्ताशेषभेदं यत्, सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम्॥

विवर्त्तवाद का समन्वय करने की चेष्टा की है, वह दार्शनिकों का विशुद्ध प्रौढ़िवादमात्र ही माना जायगा, जैसाकि पूर्व के-'अध्यास' स्वरूपनिरूपण-प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है। दिग्देशादि मूर्त्त दृष्टान्तों से अधिक से अधिक व्यक्तकालाश्वरूप काल की अनन्तता के विवर्त्त का तो फिर भी यथाकथञ्चित् अनुमान लगाया जासकता है। किन्तु कालातीत का अनुमान तो कदापि सम्भव नहीं है इन भूतदृष्टान्तों से। हाँ व्यक्त-कालाभिन्न अनन्त अव्यक्तकाल अवश्य ही उस कालातीत का नैदानिक-प्रतीक माना जा सकता है, जिस इस प्रतीकभाव के समन्वय के लिए ही तो कालमीमांसा उपक्रान्त हुई है।

६७-'अश्वत्थ' शब्द का निर्वचन, एवं अमृतम्-ब्रह्म-शुक्रम्-रूप षोडशीब्रह्म का संस्मरण—

अनन्त-परात्पर का एकांशरूप 'परात्परपुरुष' लक्षण कालातीत कालसाक्षी अव्यय, परात्पराभिन्न चतुष्पात्-ब्रह्म (अव्यय) का एकांशरूप अव्यक्तकालात्मक अक्षर, अव्ययात्माभिन्न चतुष्पात्-ब्रह्म (अक्षर) का एकांशरूप व्यक्तकालात्मक **क्षर**, इन तीनों अनन्त विवर्त्तों की समष्टि का नाम ही है-'**विश्वात्मा**', जिसका प्रकृत अथर्वसूक्तने तीसरे कालाश्वरूप सम्वत्सर के माध्यम से ही स्वयं काल के अनन्त विवर्त्तों का, एवं काल के ही सादिसान्त दिग्देशविवर्त्तों का स्वरूप अभिव्यक्त किया है। अव्यय-अक्षर-क्षर-तीनों हीं चतुष्पात् है। इनमें से प्रत्येक के तीन तीन पाद अविचाली हैं, एवं एक एक पाद एकांश-प्रवर्ग्य-रूप से विचाली है। यही अश्वपशु की स्थिति है। इसी नैदानिकभाव से हम अव्यय-अक्षर-क्षर-रूप आत्मा को 'अश्व' कह सकते है समष्टिरूप से, जो अश्वरूपता ही '**अश्ववत्-तिष्ठति**' मूला सुप्रसिद्धा उस-'**अश्वत्थविद्या** की मूलप्रतिष्ठा बनी हुई है, जिसका विस्तारभिया अत्र दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। अव्यय-रूप '**अमृतम्**', अक्षररूप '**ब्रह्म**', क्षररूप '**शुक्रम्**' की समष्टिरूप षोडशीपुरुष ही वह अश्वत्थवृक्ष (ब्रह्माश्वत्थ) है, जिसका ऊर्ध्व (केन्द्र) भाव ही मूल है, परिधिभाव ही शाखा-प्रशाखाएँ है, एवं दिग्रूप द्युनोभाव ही पत्ते हैं, '**यस्तं वेद,-स वेदवित्**' *।

६८-'अश्व'-शब्दचिरन्तनेतिवृत्तबिन्धन 'कालाश्व' से अनुमेय 'अश्वत्थ-ब्रह्म' की कालाश्वात्थरूपता का समन्वय—

व्यष्टिरूप से **अव्ययाश्व-अक्षराश्व-क्षराश्व**-ये तीन भी अश्व माने जासकते है-अश्वत्थमूर्त्ति उक्त षोडशीपुरुष के। क्योंकि तीनों उसी चतुष्पात्-एकांश-भाव से समन्वित हैं। अव्ययाश्व '**कालातीताश्व**' है, अक्षराश्व '**अव्यक्तकालाश्व**' है, एवं क्षराश्व '**व्यक्तकालाश्व**' है। कालातीताश्व (अव्ययब्रह्म) का प्रतीक अव्यक्तकालाश्व (अक्षरब्रह्म) बन रहा है, एवं अव्यक्तकालाश्व का प्रतीक व्यक्तकालाश्व (क्षरब्रह्म) बन रहा है। जब पञ्चपर्वा विश्व में हम इन अश्वों की प्रतीकता का अन्वेषण करने चलते हैं, तो-स्वयम्भू को अमुक सीमा-पर्य्यन्त कालातीताश्व (अव्यय) का प्रतीक कहा जा सकता है, परमेष्ठी को अव्यक्तकालाश्व (अक्षर) का, एवं सूर्य्य को व्यक्तकालाश्व (क्षर) का प्रतीक माना जा सकता है। इस प्रतीक-समतुलन से विश्व में स्वयम्भू कालातीत बन रहा है, परमेष्ठी अव्यक्तकाल बन रहा है, एवं सूर्य्य व्यक्तकाल बन रहा है। तीनों अश्वों में

*-ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
—गीता १५।१।

कालातीत अव्ययाश्व, एवं तत्प्रतीकरूप स्वयम्भू-रूप-अश्व तो अपनी अश्वता से दुर्विज्ञेय ही प्रमाणित हो रहे हैं। इनकी अश्वता एकप्रकार से अविज्ञेया ही बनी हुई है मानवप्रज्ञा के लिए। शेष रह जाते हैं अव्यक्त का अश्वरूप अक्षर, एवं व्यक्त कालाश्वरूप क्षर। इनको परमेष्ठी, और सूर्य्य-प्रतीक माध्यम से अनुमानगम्य (परमेष्ठिदृष्ट्या), एवं प्रत्यक्षगम्य (सूर्य्यदृष्ट्या) भी मान लिया जाता है। अतएव अब तीन अश्वों में से अव्यक्तकालाश्वमूर्त्ति **'परमेष्ठी'**, व्यक्तकालाश्वमूर्त्ति **सूर्य्य**, ये दो ही अश्व मानवप्रज्ञा के आधार बने रह जाते हैं। अतएव 'अश्व' शब्द का इतिवृत्त वेदशास्त्र में आपोमय परमेष्ठी, तथा वाङ्मय सूर्य्य, इन दो प्रतीकों से ही सम्बद्ध मान लिया गया है। प्रकृत में कुछ एक वचनमात्र ही उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिनके माध्यम से प्रज्ञाशील पाठकों को स्वयं ही आपोमय पारमेष्ठ्य, तथा वाङ्मय सौर-अश्वों का समन्वय कर लेना चाहिये।

पारमेष्ठ्य-अश्वः—

१-वरुणो ह वै सोमस्य राज्ञोऽभीवाक्षि प्रतिपिपेष। तदश्वयत्। ततोऽश्वः-समभवत्। तत्-यत्-श्वयथात्-समभवत्, तस्मादश्वो नाम।

—शतपथ ४।२।१।११।

२-अथ यदश्रु (आपः) संक्षरितमासीत्, सोऽश्रुरभवत्। अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्।

—शत० ६।१।१।११।

३-अद्‌भ्यो वा अग्रे अश्वः सम्बभूव। सोऽद्‌भ्यः सम्भवन्न सर्वः समभवत्। असर्वो हि वै समभवत्। तस्मात् (अश्वप्राणप्रधानोऽयं लोकविश्रुतोऽश्वः-पशुरपि) न सर्वैः पद्‌भिः प्रतितिष्ठति। एकैकमेव पादमुदच्य तिष्ठति।

—शत०।५।१।४।५।

सौर-अश्वः—

१-असौ वा आदित्योऽश्वः। (तै० ब्रा० ३।६।२३।२।)।

२-अथ योऽसौ (सूर्य्यः) तपति, एषोऽश्वः। (ऐ० ब्रा० ६।३५।)।

३-सौर्य्यो वा अश्वः। (गोपथ० उ० ३।१६।)।

४-एष वा अश्वमेधः, य एष (सूर्य्यः) तपति। (शत० १०।६।५।८।)।

५-ते (आदित्याः) अश्वं श्वेतं दक्षिणां निन्युरेतमेव-य एष (सूर्य्यः) तपति। (कौ० ब्रा० ३०।६।)।

—*—

६६-कालातीत अव्ययाश्वत्थ, एवं अनन्तकालात्मक अक्षरकालाश्व से अनुग्रहीत व्यक्त-कालाश्वमूर्त्ति रोहितकाल के कुछ एक अथर्ववेदीय-संस्मरण—

अव्ययात्मक कालातीताश्व, एवं तत्प्रतीकरूप कालातीताश्व स्वयम्भू हमारे लिए दुर्विज्ञेयत्त्वेन परात्परवत् अविज्ञेय ही हैं। अक्षरात्मक अव्यक्तकालाश्व, एवं तत्प्रतीकरूप परमेष्ठी हमारे लिए अनुमानगम्य

ही हैं, जबकि व्यक्ताक्षरात्मक–व्यक्तकालाश्व, एवं तत्प्रतीकरूप सौरसम्वत्सराश्व ही हमारे लिए बोधगम्य माने जासकते हैं पारिभाषिक तत्त्वसमन्वय के माध्यम से। अतएव कालस्वरूप का, तथा तद्द्वारा अनन्तब्रह्म का स्वरूप–दिग्दर्शन कराने वाले अथर्वसूक्तने सम्वत्सरात्मक–सौर–अश्वरूप–व्यक्तकाल को ही माध्यम माना है, जिसके महिमामय विवर्त्तों से कालाश्व के मूलभूत अमृतविवर्त्तों (अव्यक्त–कालाश्व, कालातीत अश्व–विवर्त्तों) का भी अनुमानधिया समन्वय हो जाता है, एवं तूलभूत मर्त्यविवर्त्तों (पार्थिव–चान्द्र–विवर्त्तों) का भी स्वरूप समन्वित होजाता है। **सप्तरश्मिः–सहस्राक्षः**–विशेषण कालाश्व के इसी सम्वत्सरानुबन्धी व्यक्तस्वरूप का समर्थन कर रहे हैं। यही कालाश्व (सौर–अश्व) 'रोहित' नाम से प्रसिद्ध हुआ है अथर्व में ही, जिस के कतिपय संस्मरण सर्वात्मना अवधेय हैं प्रक्रान्त कालप्रसङ्ग में—

१–रोहितो द्यावापृथिवी जजान, तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान।
तत्र शिश्रियेऽजएकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन ॥
२–रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत्, तेन स्वस्तभितं तेन नाकः।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि, तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ॥
३–ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयत् युवा कविः।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा विभाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥
४–यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्ग पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद् देवा अधिसृष्टीः सृजन्ते ॥
५–दिवञ्च रोह, पृथिवीं च रोह, राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह।
प्रजां च रोह, अमृतं च रोह, रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व ॥
६–ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्य्यम्।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥
७–यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति।
दुष्वप्न्यं तस्मिंछमलं दुरितानि मृज्महे ॥

—अथर्वसंहिता १३।१।१ सूक्त।

७०–व्यक्त–रोहित–कालाश्व की अनन्तता का समन्वय, एवं–'पुरुष एवेदं सर्वं–यद् भूतं–यच्च भाव्यम्' का संस्मरण—

'रोहित' नाम से प्रसिद्ध, सौरसम्वत्सरात्मक, क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न, सप्तरश्मि–सहस्राक्ष–अजर–भूरिरेता–व्यक्तकालाश्व ही अब हमारे लिए अनन्त-काल बन रहा है अपनी पूर्णाभिव्यक्ति से। अवश्य ही अव्यक्त–अक्षर–कालापेक्षया यह व्यक्त काल उसका एकांश ही है। किन्तु आत्मानुगता अभिन्नता से यह एकांशरूप भी व्यक्त–सम्वत्सरकाल अपने मूलभूत अनन्त–अव्यक्त काल की परिपूर्णता को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर

रहा है। इस परिपूर्णता के कारण हीं अत्र हम इसे भी 'चतुष्पाद्ब्रह्म' ही कहेंगे, जिसके एकांश से ही दिग्देशप्रदेशात्मिका–चान्द्री-पार्थिवी–मर्त्या–भूतभौतिकी संसृष्टिलक्षणा मैथुनीसृष्टि अभिव्यक्त हुई है, जैसाकि–'**तस्माद् देवा अधिसृष्टीः सृजन्ते**' इत्यादि पूर्व मन्त्र (४) से स्पष्ट है । सौरकालानुबन्धी ज्योतिर्म्मय प्राणों का ही नाम 'देवदेवता' हैं, ये ही मूर्त्त-भूत सृष्टि के प्रवर्त्तक हैं–'**देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः**' (मनुः-३।२०१।) । समष्ट्यात्मक चान्द्र–पार्थिव–सर्ग, एवं इस पार्थिव--चान्द्र--सर्ग के गर्भ में प्रतिष्ठित व्यष्ट्यात्मक अनन्त (असंख्य) सर्ग, दोनों हीं सर्ग एकांश–स्थानीय बनते हुए उसी पूर्वनियमानुबन्ध से त्रिपाद्रूप सम्वत्सर के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए तदभिन्न हीं प्रमाणित हो रहे हैं । तभी तो इन दिक्–देशात्मक मर्त्य पदार्थों को भी कालात्मक ही मान लिया है शास्त्र ने। विश्व का छोटे से छोटा, एवं बड़े से बड़ा पदार्थ, सभी पदार्थ, प्रत्येक प्रदार्थ उस कालांशी के एकांशस्थान हैं। अतएव सभी कालात्मक हैं, काल के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहे हैं। प्रदेशात्मक पदार्थ अभिन्न हैं मूलभूत देशभाव से । देशात्मक पदार्थ अभिन्न हैं मूलभूत दिग्भाव से। दिगात्मक भाव अभिन्न हैं मूलभूत व्यक्त–सौर काल से। यह सौरकाल अभिन्न है मूलभूत अव्यक्ताक्षरकाल से। एवं यह अभिन्न है स्वमूलभूत, किंवा सर्वमूलभूत, कालातीत अव्ययपुरुष से। कालातीत अव्यय ही अक्षरप्रकृतिरूप से अव्यक्तकाल बना है, यही क्षरभाव से व्यक्तकाल बना है, यही छन्दः--रस–वितान–भावों से दिक्--देश--प्रदेश–रूप में परिणत हुआ है । यों मूलाव्ययपुरुष ही कालमाध्यम से सर्वरूप में परिणत हो रहा है–'**पुरुष एवेदं सर्वं--यद् भूतं, यच्च भाव्यम्**' । इसी पुरुषमहिमा (अव्ययमहिमा) का दिग्दर्शन कराते हुए अव्ययेश्वरने कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत् , किञ्चिदस्ति धनञ्जय !।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

—गीता

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

—गीता

एतावानस्य महिमा । अतो ज्यायाँश्च पूरुषः ॥

—यजुः

७१–मन्त्रोपात्त--'वहति', और 'आरोहन्ति' क्रियापदों का तात्त्विक समन्वय--

अत्र मन्त्र के वहति, और आरोहन्ति, ये दो क्रियापद और शेष रह जाते हैं, जिन का समन्वय किए बिना मन्त्र का आचारात्मक पक्ष सर्वथा ही अपूर्ण बना रह जाता है। **तत्त्वदृष्टि, एवं आचारनिष्ठा,** दोनों के समन्वय से ही मानव की अभीष्टसिद्धि मानी है ऋषिप्रज्ञाने। समझ-लेना 'तत्त्वदृष्टि' **है,** एवं उस समझ को कार्य्यरूप में परिणत कर लेना 'आचारनिष्ठा' है । जहाँतक तत्त्वदृष्टि का सम्बन्ध है, वहाँतक तो हम अपने आप को असमर्थ ही अनुभूत कर रहे है। क्योंकि हमारी आस्था है कि–बिना ऋषिदृष्टि के तत्त्वसमन्वय सम्भव ही नहीं है । मन्त्र का तत्त्वार्थ तो मन्त्रमहर्षि की प्रज्ञा में हीं सुगुप्त माना जायगा, जिस के प्रति हम तो अपनी तत्त्वशून्या श्रद्धामात्र से अपनी कण्डूमात्र ही शान्त कर रहे हैं तत्त्वदृष्टि के व्याज से। अतएव हमारे

जैसे प्राकृत–लोकमानवों के लिए तो आदेशात्मक वह आचारधर्म्म ही अनुगमनीय है, जिस का बुद्धिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है । यह आचारधर्म्म ही मन्त्र की आदेशात्मिका व्याख्या कहलाई है, जिस मन्त्रव्याख्या–ग्रन्थ का नाम हीं-'ब्राह्मणग्रन्थ', तदनुगत **'आरण्यकग्रन्थ'**, एवं तदनुगत **'उपनिषद्ग्रन्थ'** हैं । मन्त्रात्मक वेद का नाम है **'ज्ञातव्यवेद'**, जिसका सम्बन्ध है–'तत्त्वदृष्टि' से । एवं–ब्राह्मणात्मक (ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषदात्मक) वेद का नाम है–**'कर्त्तव्यवेद'**, जिस का सम्बन्ध है आचारधर्म्म से । कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा ही आचारनिष्ठा है, जिसे 'क्रिया' कहा गया है । ज्ञातव्यवेदात्मिका मन्त्रसंहिताने क्रियापदों से क्रियारूप इस कर्त्तव्यनिष्ठा का ही सुसूक्ष्म सङ्केत कर दिया है, जिस के विस्तार का नाम हीं ब्राह्मणवेद है । मन्त्रोपात्त **'वहति'–'आरोहन्ति'** ये क्रियापद तटस्थरूप से ब्राह्मणभाग–प्रतिपादिता कर्म्मनिष्ठा का ही सूक्ष्म सङ्केत कर रहे हैं, जिस इस सङ्केत–स्पष्टीकरण से पूर्व ब्राह्मणभागोक्त 'सम्वत्सरकाल' का स्वरूप अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ कर लेना अनिवार्य्य होगा ।

७२–व्यक्त–कालाश्व की अर्काश्वमेधता का समन्वय—

व्यक्तकालात्मक–**'रोहित'** नामक–कालाश्व का नाम हीं सौरसम्वत्सर है, जो अपने सर्वव्याप्ति-लक्षण, एवं एकांशेन एजल्लक्षण विकम्पनभाव से–**'अश्व'** उपाधि को चरितार्थ कर रहा है, एवं दिग्–देश–प्रदेशात्मक खण्ड–खण्डभावों का संख्यानव्यवस्थापूर्वक वाक्परिमाणात्मक छन्दोभाव–(सीमाभाव) बनता हुआ–'काल' उपाधि को चरितार्थ कर रहा है । कालात्मक सम्वत्सर के इस 'अश्व' रूप त्रैलोक्य–व्याप्ति-भाव से ही 'अश्वमेध' का आविर्भाव हुआ है, जिस से समन्वित कालाश्व का एक पारिभाषिक नाम हो गया है–**'अर्काश्वमेध'** । इसी 'अर्काश्वमेध' के आधार पर सम्वत्सरकाल का वह स्वरूप व्यवस्थित है, जिस का भगवान् याज्ञवल्क्यने बड़ी ही रहस्यपूर्ण भाषा में स्पष्टीकरण किया है । सौर प्राण का नाम हीं अर्क है, सौर अपान का नाम ही अश्वमेध है, दोनों की समन्विता–अवस्था का नाम हीं 'अर्काश्वमेध' है, जैसाकि–**'प्राणापानौ वा एतौ देवानां–यदर्काश्वमेधौ'** (तै. ब्रा. ३।६।२१।३) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है ।

७३–प्राणन–अपानन, एवं ओज–बल–शब्दार्थ–समन्वय—

प्राणन इन्द्र का धर्म्म है, जो आङ्गिरस-भाव है । अपानन वरुण का धर्म्म है, जो भार्गव–भाव है । यह कहा जा चुका है कि, परमेष्ठी भृगुप्रधान है, सूर्य्य अङ्गिराप्रधान है । सौरमण्डलस्थ परमेष्ठी आप्य प्राण का ही नाम 'वरुण', एवं सौरमण्डलस्थ सौर ज्योतिर्म्मय प्राण का ही नाम 'इन्द्र' है । इन्द्रप्राण ओज–मय है, वरुणप्राण बलमय है । प्राणप्रधाना शक्ति 'ओज' कहलाई है, भूतप्रधाना शक्ति 'बल' कहलाई है । उदाहरण के लिए–हाथी में बल अधिक है सिंह की अपेक्षा, किन्तु ओज न्यून है । उधर सिंह में ओज अधिक है हाथी की अपेक्षा, किन्तु बल न्यून है । दोनों में ओज विशेष शक्तिशाली माना गया है । सौर आङ्गिरस– ऐन्द्रप्राण ही 'अर्क' है, तत्प्राणप्राधान्य से ही सूर्य्य **'अर्क'** * नाम से भी प्रसिद्ध है । एवं बलरूप–पारमेष्ठ्य–भार्गव–वारुणप्राण ही अश्व का मेध भाग है । ऐन्द्रप्राण प्राण है, वारुणप्राण अपान है । यों तद्–

* **आदित्यो वा अर्कः** (श० १०।६।२।६।) । **अर्कश्चक्षुस्तदसौ सूर्य्यः** (तै०ब्रा० १।१।७।२।) । **स वा एष एवार्कः, य एष (सूर्य्यः) तपति** (शत० १०।४।१।२२।) । **प्राणो वा अर्कः** (शत० १०।६।२।६।८।) ।

रूप **ओज-बल** भी अर्काश्वमेध के स्वरूप-संग्राहक बने हुए हैं-**'ओजो बलं वा एतौ देवानां-यदर्काश्वमेधौ'** (तै०ब्रा० ३।६।२१।३।)।

७४-अर्चंश्चरति, और अर्क्यविद्या—

'अर्चंश्चरति' ही 'अर्क' शब्द का तात्त्विक समन्वय है, जो गतिधर्म्मा प्राण का सहज स्वरूप माना गया है, जिसका कि पूर्वपरिच्छेदों में गति-आगति, रूप से अनेकधा दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रत्येक गति पीछे हटती हुई ही अग्रगामिनी बनती है, और यही गतिमात्र का स्वभाव है, भले ही वह शुद्ध प्राणगति हो, अथवा तो प्राणगर्भिता भूतगति हो। पीछे हटना हीं अपानन है, इसी से गतिमान् वस्तु में बल का आधान-संग्रह-आगमन-होता है, एवं इसी का नाम है 'अर्चन्'-(संग्रह-ग्रहण-लेना)। आगे बढ़ना हीं प्राणन है, इस से बल क्षीण होता है, इसी का नाम है 'चरति' (त्याग-देना)। **'अर्चन्-चरति' का अर्थ है आदानपूर्वक विसर्ग**, और यही 'अर्क' शब्द का तत्त्वार्थ है, यही सौरप्राणगति का प्राणापानत्त्व है, जिस के लिए-**'अस्य प्राणदपानती-व्यख्यन् महिषो दिवम्'** (यजुःसंहिता) इत्यादि कहा गया है। प्राणनापानन-मूर्त्ति सौर गतिप्राण (गत्यागत्यात्मक प्राण) ही 'अर्क' है, यही वक्तव्य है, जिसे मध्यस्थ बना कर ही हमें **'अर्क्यविद्या'** मूलक 'सम्वत्सरकाल' का स्वरूप-दर्शनमात्र कर लेना है।

७५-व्यक्तकालाश्वमूर्त्ति 'अर्कपुरुष', तत्प्रचण्ड परिभ्रमण, सौम्य आपः के द्वारा तच्छान्ति, एवं कालाश्व का 'कम्' भाव—

उस स्थिति की कल्पना कर लीजिए, जिस में न तो सूर्य्य था, न चन्द्रमा था, न पृथिवी ही थी। अर्थात् दिग्-देश-प्रदेशरूप से आज जिस पिण्डात्मक सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-आदि का हम अवलोकन कर रहे हैं, किसी समय इनमें से कोई भी मूर्त्ति मूर्त्त-भूत-पिण्ड-रूप से-व्यक्त नहीं थी। था केवल व्यक्तकालात्मक वह अर्कपुरुष (कालरूप प्राणाग्नि), जो उसी प्रकार प्रचण्डवेग से इतस्ततः अनुधावन कर रहा था, जैसे कि चिरकाल से आहार न मिलने से अत्यन्त ही क्रुद्ध कालरूप विषधर भुजङ्ग बुभुक्षा से परवश बनता हुआ प्रचण्डरूप से इतस्ततः सर्पण करता रहता है फण को ऊर्ध्व वितत किए हुए। स्वयम्भू का अवतार हो गया था, तत्परमाकाश के गर्भ में आपोमय भृग्वङ्गिरोरूप परमेष्ठी आविर्भूत होगए थे। 'सरस्वान्' नाम से प्रसिद्ध इस पारमेष्ठ्य महासमुद्र के गर्भ मे-**'यो गर्भोऽन्तरासीत्-तदग्निरभवत्'** (शत० ६।१।१।१०) रूपेण पारमेष्ठ्य भृगु को गर्भ में रखने वाला ऋतभावापन्न अङ्गिरा-अग्नि व्यक्त होपड़ा था, जो स्वायम्भुव गति-प्राणात्मक यजुरग्नि का ही द्वितीयावतार था। सर्वत्र यह ऋताग्निप्राण अन्नसोमरूप अशीति (अन्न) के आहरण के लिए इतस्ततः प्रचण्डवेग से दोलायमान था, जोकि अमृतसोम की आहुति से पूर्वावस्था में शुद्ध 'मृत्युरूप' ही प्रमाणित हो रहा था। अशनाया (अन्नेच्छारूपा बुभुक्षा-भूख) ही वह मृत्युभाव था, जिसने उस अमृतप्राण को भी संक्षोभरूप मृत्युभाव में परिणत कर रक्खा था। यही कालाश्वरूप-प्राणदपानल्लक्षण-ऋताग्निपुञ्जरूप सम्वत्सर की वह पूर्वावस्था थी, जो प्रतिक्षण सत्यपिण्डाभिमुखा बनती हुई भी अपनी इस पूर्वावस्था से व्यवस्थित-सीमाचक्र से अनभिव्यक्त ही थी। आगे चलकर इसी अशनायामूलक (मृत्युमूलक) अर्चञ्श्चरन्-लक्षण-प्राणाग्नि के प्राणदपानत्-व्यापार से अग्निप्राण आपोरूप में परिणत हो जाता है, जोकि आपः पारमेष्ठ्य भृगु का ही प्रथमावतार है। इस सौम्य आपः से उस प्राणाग्निने अपना मृत्युभाव (अशनाया)

शान्त किया, एवं इस आपोरूप अन्न से ही सन्तुष्ट हुए रुद्राग्निरूप कालाग्नि उसी प्रकार–जैसेकि हमारा शारीराग्निरूप रुद्र बुभुक्षावस्था में उग्र हो पड़ता है, एवं अन्नाहुति से वह शान्त हो जाता है। सन्तुष्टिरूप सुखसाधक होने से ही यह आपोरूप-सोमान्न उस अर्काग्नि का 'कम्' बना। 'कम्' का प्रवर्त्तक यह अन्न ही-'क्यम्' कहलाया–'तस्यैतदन्नं क्यम्'। एवं इसी से वह अर्क (कालाग्नि) 'अर्क्यम्' रूप में परिणत हो गया। यही अर्क्यावस्था 'सम्वत्सर' की उपक्रमभूमि बनी, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

नैवेह किञ्चनाग्रऽआसीत्। मृत्युनैवेदमावृतमशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुत–आत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त। अर्चते वै मे कमभूत्-इति तदेवार्क्यस्य अर्कत्वम्।

७६–सम्वत्सरमूला अग्निचयनविद्या से अनुप्राणित कालाश्वमूर्त्ति सौर ब्रह्माण्ड, एवं 'तद्यदपां शर आसीत्' मूला सृष्टिविद्या का संस्मरण—

सम्वत्सरमण्डल का पूर्वरूप वही सौर पानी बना, जिसे 'मरीचि' कहा गया है, एवं जिस से सौराग्नि की प्रचण्डता उपशान्त बनी हुई है। अभी व्यक्तरूप से सम्वत्सर का उदय नहीं हुआ है। अपितु इन मरीचयः–आपः से सम्वत्सर की रूपरेखामात्र ही व्यक्त हुई है। इस आपोरूप सोम की आहुति से गर्भस्थ कालाग्नि चितिभाव में परिणत होता गया। इस चिति से सञ्चित प्राणाग्नि ही उत्तरोत्तर घनता में आता हुआ कालान्तर में मूर्त्त–पिण्डरूप में परिणत होगया, यही 'पृथिवी' भाव कहलाया कालाग्नि का, जिसका अर्थ है–'पिण्डभाव'। परिमण्डलात्मक भार्गव आपः ही प्राणाग्नि के संयोग से घन बनता हुआ संघात में आकर पिण्डरूप में परिणत हो गया, जो पिण्डभाव ही आगे चलकर प्राण के वितानात्मक सहस्र-धर्म्म से त्रेधा विभक्त बनता हुआ अग्नि-वायु-आदित्य-रूप से त्रिसंस्थ बन कर पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-रूपेण त्रैलोक्य-संस्थान में परिणत हो गया, और यहाँ आकर रूपरेखात्मक सम्वत्सर सर्वात्मना अभिव्यक्त हुआ, जिस इस स्थिति के यथावत्–समन्वय के लिए तो हमें सुप्रसिद्धा 'अग्नि–चयनविद्या' की ही शरण में जाना चाहिए। प्रकृत में तो तत्–अक्षरार्थ के लिए भी ग्रन्थकलेवर असमर्थ बन चुका है। वह शेषवचनमात्र ही यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है एकमात्र इस कामना से कि, प्रकृतिसिद्ध विशुद्ध वैज्ञानिक तत्त्वों से समन्विता भारतीय-सृष्टिविद्या को पुनः राष्ट्र की प्रज्ञा स्मृतिपथ पर आरूढ करे, एवं उसके आचारपक्ष के माध्यम से-'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः' को चरितार्थ कर सके।

तद्यत्–अपां–शर आसीत् (घनभावः)–तत्समहन्यत, सा पृथिव्यभवत्। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत–आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स मनसा वाचे मिथुनं समभवत्। स सम्वत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः सम्वत्सर आस। तमेतावन्तं कालमबिभः–यावान्त्सं–वत्सरः। तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत। ततोऽश्वः समभवत्। तन्मेध्यमभूत्। एष वा अश्वमेधः- य एष तपति।

–शत० १०।६।५ ब्राह्मण।

७७–आचारनिष्ठा के द्वारा कालाश्व की साम्वत्सरिक-त्रैलोक्य में परिणति, एवं 'आरोहन्ति' मूलक आचारपक्ष का समन्वय—

कालाश्व की आचारनिष्ठा, किंवा कर्त्तव्यनिष्ठा का परिणाम हुआ इसकी सम्वत्सररूप में परिणति, एवं तद्द्वारा त्रैलोक्यमहिमाभाव में परिणति, सर्वत्र यशःख्यापन, सर्वत्र आधिपत्य, एवं मर्त्य-भौतिक विश्व का सर्जन करते हुए, इस का सर्वात्मना भोग करते हुए भी भूतासक्ति से असंस्पृष्ट बने रहना। 'आरोहन्ति' क्रियापद इसी आचारफल की ओर सङ्केत कर रहा है, जिस सङ्केत के स्पष्टीकरण के लिए तो लोकभाषा का ही आश्रय लेना पड़ेगा। मन्त्र के प्रारम्भ के–'**कालो अश्वो वहति**' वाक्य पर ध्यान दीजिए। कालरूप अश्व वहन कर रहा है ?, प्रश्न का कोई समाधान प्रत्यक्षश्रुति के द्वारा हमें उपलब्ध नहीं हो रहा। यह प्रश्न उस दशा में विशेषरूप से हमारे लिए समस्या बन जाता है, जबकि वही श्रुतिवचन अपने उत्तर वाक्य में–'**तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः**' (कवि और विपश्चित्–विद्वान् उस पर चढ़ रहे हैं) का 'आरोहन्ति' क्रियापद आरोहक का भी निर्देश कर रहा है। '**आरोहन्ति तं कालाश्वं कवयो विपश्चितः**' वत्–'कालाश्वो वहति,–अमुक–पदार्थं-विवर्त्तं-वस्तुजातं'-आदि रूप से कुछ भी तो समन्वय होना चाहिए था-'**वहति**' क्रियापद का भी। समन्वय कीजिए इस महती समस्या का। समस्या–समाधान के लिए एक श्रौत-वचन आप के सम्मुख रक्खा जाता **है**-

> **यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।**
> **यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।**
> —मुण्डकोपनिषत् १।१।७।

७८–'उपादानकारणा' नुबन्धी–कार्य्यकारण के विविध महिमा–विवर्त्त, एवं ऊर्णनाभि–पृथिवी–मानवशरीर के भेद से त्रिविध उपादानभावों का स्वरूप-दिग्दर्शन–

कारण–कार्य्य–का स्वरूप–सम्बन्ध ही व्यक्त हुआ है उक्त वचन से, जो सम्बन्ध मुख्यरूप–से १३ विवर्त्तों में विभक्त माना है छान्दोग्य ने। उन १३ हों कार्य्यकारणों में से एक सम्बन्ध है–**उपादानसम्बन्ध**'। जिस वस्तु की मात्राओं से जिस अन्य वस्तु का नवीनरूप में जन्म होता है, जन्मदाता वही कारण 'उपादान-कारण' कहलाया है, एवं तत्कारण से उत्पन्न कार्य्य ही औपादानिक–कार्य्य माना गया है। मकड़ी अपनी हीं भूतमात्राओं से तन्तुजालरूप कार्य्य उत्पन्न करती है, जो कार्य्य मकड़ी के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहता है। पृथिवी की भूतमात्राओं से ही ओषधि–वनस्पतियाँ उत्पन्न होतीं हैं, एवं पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित रहतीं हैं। ओषधि–वनस्पति–भोक्ता मानव के औषधि–वनस्पति-रूप भूतमात्राभागों से ही इसके केश–लोम (केश वनस्पतिमात्रा से, एवं लोम ओषधिमात्रा से) उत्पन्न होते हैं, जो उत्पन्न होकर मानवशरीर पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं। इन तीनों कार्य्यकारणों में भी सुसूक्ष्म भेद है। तभी तो तीन उदाहरण दिए हैं श्रुति ने। तीनों में उपादानकारण ही कार्य्य की प्रतिष्ठा बना हुआ है, और एतावन्मात्र–भाव से तीनों उदाहरण समानधर्म्मा बने हुए हैं। उपादानकारणता में ही वैसा भी विवर्त्त है, जो कार्य्य को अपने प्रवर्ग्य भाग से उत्पन्न कर कार्य्य से तटस्थ बन जाता है, कार्य्य की सत्ता पृथक् हो जाती है। माता के प्रवर्ग्यभूत शोणित, तथा पिता के प्रवर्ग्यभूत शुक्ररूप उपादानकारण से उत्पन्न पुत्रादि कार्य्य अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व स्थापित करता हुआ स्वयं भी अन्य

कार्य्यों के प्रति कारण बन जाता है, जबकि मकड़ी से उत्पन्न जाल पुनः नवीन जाल नहीं बना सकता। पृथिवी से उत्पन्न ओषधि–वनस्पतियाँ नवीन ओषधि–वनस्पतियाँ, एवं पुरुषशरीर से उत्पन्न केश–लोम नवीन केश-लोम उत्पन्न नहीं कर सकते। यों औपादानिक–कार्य्यकारण–भावों में भी अनेक सूक्ष्म–अवान्तर भेद हो जाते हैं, जिनके समन्वय का यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। यहाँ तो उस उपादानकारण–भाव को ही लक्ष्य बना लेना है, जिससे उत्पन्न कार्य्य जिस पर ही प्रतिष्ठित रहता है, एवं **ऊर्णानाभि–पृथिवी–मानवशरीर**–तीनों उपादान कारणों से उत्पन्न **तन्तुजाल–ओषधि–वनस्पति–केशलोम**–रूप कार्य्य स्व–स्व–कारणों पर ही प्रतिष्ठित हैं। 'अक्षर' नामक अव्यक्त काल से 'क्षर' नामक व्यक्तकालाश्वरूप सम्वत्सरकाल से प्रादुर्भूत मर्त्य विश्व के साथ ऐसा ही औपादानिक–कार्य्यकारणभाव समन्वित है, एवं–उक्त वचन ने इसी का स्पष्टीकरण–समर्थन किया है। अक्षराविभिन्न–क्षरात्मक सम्वत्सरकाल से उत्पन्न विश्व सम्वत्सरकाल पर ही प्रतिष्ठित है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है।

७९–कालाश्व से आविर्भूत कालिक–पदार्थों की कालाश्वरूपता का समन्वय, एवं काल से काल का वहन—

यों काल से उत्पन्न विश्व का स्वयं काल ने हीं उसी प्रकार वहन कर रक्खा है, जैसेकि मकड़ी से उत्पन्न जाल का मकड़ी ने, पृथिवी से उत्पन्न ओषधियों का पृथिवी ने, तथा पुरुषशरीर से उत्पन्न केशलोमों का पुरुषशरीर ने वहन कर रक्खा है अपने हीं क्रोड़ में। प्रकृति का नाम हीं 'क्षराक्षरकाल' है। अतएव कहा जासकता है कि, प्रकृति से उत्पन्ना कृति (कार्य्य) प्रकृति पर ही प्रतिष्ठित है। प्रकृति से उत्पन्न प्राकृत पदार्थ प्रकृति के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् प्राकृत पदार्थों का नियन्त्रण-नियमन-जीवनव्यवस्थापन-आदि आदि सभी कुछ प्रकृति से ही सञ्चालित है। प्रकृति से उत्पन्न प्राकृत पदार्थ अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व नहीं रखते। अतएव प्राकृत पदार्थ स्वतन्त्र व्यक्तित्त्वमूलक स्वतन्त्र पुरुषार्थ करने में असमर्थ हैं। प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ षड्भावविकारानुगत बनते हुए अन्ततोगत्त्वा प्रकृति में हीं विलीन हो जाते हैं। काल से उत्पन्न कालिक पदार्थों का काल में ही विलयन हो जाता है। इसलिए विलयन हो जाता है कि, **काल से उत्पन्न पदार्थ अपनी पदार्थदशा में भी 'काल' से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं।**

८०–कालाश्व से अभिव्यक्त कालात्मक भावों की दिग्देशकालरूपता का समन्वय—

काल ही अभिव्यक्तिदशा में दिक् बना है, दिक् की अभिव्यक्ति ही देश है, एवं देशाभिव्यक्ति ही प्रदेश है। तदित्थं-काल ही बलग्रन्थितारतम्य से दिक्–देश-प्रदेश-रूप पदार्थरूप में परिणत हो रहा है, जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। सम्वत्सरकाल के चक्र से आवेष्टित सम्पूर्ण भूत-भौतिक–मर्त्य-चान्द्र–पार्थिव–पदार्थ (जो कि चतुर्दशविध–भूतसर्ग–कहलाए हैं) कदापि सम्वत्सरसीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते। सम्वत्सर से ही उत्पन्न होते हैं, सम्वत्सर से ही जीवित रहते हैं, सम्वत्सर पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं, और अन्ततोगत्त्वा सम्वत्सर में हीं ये विलीन हो जाते हैं। नान्यः पन्था विद्यते। जबकि काल से उत्पन्न सभी भूत–भौतिक–पदार्थ काल की अभिव्यक्तियाँ मात्र बनते हुए कालात्मक ही हैं, जबकि काल ही इनकी प्रतिष्ठाभूमि है, तो काल के 'तन्त्र' से इन्हें कदापि बहिर्भूत नहीं माना जासकता। काल को छोड़ कर इनके किसी अन्य व्यक्तित्त्व को स्वीकृत नहीं किया जासकता। अधिक से अधिक यही कह दिया जासकता है इस कालिक प्रतिष्ठा

के लिए कि–'कालात्मा ने कालात्मक पदार्थों को स्वकाल–धरातल पर प्रतिष्ठित कर रक्खा है अपने तन्त्र की नियति मर्य्यादा, नियन्त्रण से।

८१–'कं वहति ?', प्रश्न का मूलोच्छेद, एवं-'कालो अश्वो वहति' का रहस्यपूर्ण समन्वय–

क्या ऐसा कहना काल के महान् स्वरूप के अनुरूप होगा ?, नहीं। इसलिए नहीं कि, कहाँ वह महतो-महीयान् काल, और कहाँ ये खण्ड–खण्ड–मात्रापन्न कालिक पदार्थ। प्रतिष्ठा–आधारभूमि अवश्य ही इनकी काल ही है। किन्तु काल के लिए इनका भार सर्वथा निर्भार ही बन रहा है–'**नेमवग्लापयन्ति**'। धरातल ने एक पिपीलिका का वहन कर रक्खा है, तो क्या इस पिपीलिका (चिऊँटी) को इसके नामोच्चारण का गौरव दिया जायगा ?, नहीं। गौरव उसे दिया जाता है, प्रतिष्ठित उस पदार्थ का नामग्रहण किया जाता है, जिसे अपने ऊपर उठाने वाला भार से म्लान हो जाता है। अतएव लोक में भी वस्त्र-उष्णीष-घटिका-आदि पदार्थों का नामोल्लेख नहीं होता, जबकि वहन करता है इन परिग्रहों का मानवशरीर ही। किन्तु यही जब अपनी शक्ति से समतुलित, किंवा अधिक-पाषाणादि भार का वहन-करने लगता है, तो इस सभारता में पाषाणादि के नाम भी व्यवहृत होने लगते हैं, जिसक लिए–'**पत्थर ढोहता हूँ–बोझ उठा रहा हूँ**' इत्यादि वाक्य प्रसिद्ध हैं। स्वशक्तिसमतुलन में सर्वथा निर्भार बने हुए परिग्रहों का कदापि नामोल्लेख नहीं होता। इसके लिए तो '**वहति**' मात्र का सम्मान ही पर्य्याप्त है। एवं इसी दृष्टि से कालिक पदार्थों का नामोल्लेख नहीं हुआ 'वहति' के साथ। '**काल ने काल को उठा रक्खा है**' कहना कुछ अर्थ नहीं रखता। '**काल ने स्वसमतुलन में पिपीलिका समतुलित चन्द्र–पार्थिवादि भौतिक पदार्थों को उठा रक्खा है**', यह कथन काल की गरिमा-महिमा के अनुरूप नहीं बनता। अतएव श्रुति ने कालप्रकृति से उत्पन्न, कालसीमा में भुक्त, काल से ही नियन्त्रित कालात्मक पदार्थों का नाम न लेकर केवल–'**कालो अश्वो वहति**' कह देना हीं पर्य्याप्त मान लिया है। **दिग्–देश–प्रदेशात्मक–मर्त्य–पदार्थों का वहन भी क्या काल के लिए कोई वहन है ?**, काल की इसी अनन्तविभूतिशालिता को अभिव्यक्त करने के लिए ही ऋषि ने 'कं वहति ?,' प्रश्न का मूलोच्छेद ही कर डाला है निरुपाधिक '**वहति**' क्रियापद से।

८२–कालपेक्षया गरिमा-महिमामय गुरुतम–भारात्मक तत्त्व का काल पर आरोहण—

क्या ऐसा भी कोई तत्त्व है, जिसका भार काल के लिए भी गौरवास्पद बन रहा हो ?, यह एक नवीन प्रश्न स्वतः ही आविर्भूत हो जाता है निरुपाधिक–'वहति' पद से। व्यक्तकालात्मक सम्वत्सरकाल अवश्य ही स्वसीमागर्भित दिग्देशप्रदेशात्मक मर्त्य–साम्वत्सरिक–पदार्थों के लिए अनन्त है, महतोमहीयान् है। किन्तु अपने मूलभूत स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य–महाकालात्मक–अमूर्त–अव्यक्त–अनन्तकाल का तो यह भी एकांशमात्र (यत्किञ्चित्) अंश ही है। क्या उस मूलभूत अनन्ताव्यक्तकाल को इस व्यक्तकाल के समतुलन में सम्मान दिया जायगा ?। नहीं। इसलिए नहीं कि, वह काल और यह काल तो एक ही प्रजापति के 'अक्षर–क्षरात्मक' विवर्त्त बनते हुए 'प्रकृति' से अधिक कुछ भी नहीं है। जो स्थान भौतिक–मर्त्य–प्राकृत–पदार्थों का तत्प्रकृतिभूत सम्वत्सरव्यक्तकाल के समतुलन में था, वही स्थान इस व्यक्तकाल का तत्प्रकृतिभूत अव्यक्त–अनन्त–स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्यकाल के समतुलन में माना जायगा। अतएव च अन्ततोगत्वा उक्त प्रश्न के समाधान के लिए तो किसी वैसे ही तत्त्व का अन्वेषण करना पड़ेगा, जो अपने कालात्मक–प्रकृतिभाव

(विवर्त्तरूप महिमाभाव) से कालात्मक भी बन रहा हो, एवं स्वस्वरूप से कालातीत बनता हुआ काल पर
आरूढ भी हो। अवश्य ही कालातीत, प्रकृत्यतीत वह तत्त्व इस अनन्तकाल से भी कहीं अनन्तानन्त ही
होगा, जो कालवत् कभी दिग्देशभावानुबन्धी न बनता हुआ दिक्-देश-काल-तीनों से हीं अनवच्छिन्न ही होगा।
अवश्य ही कालातीत उस अनवच्छिन्न नित्यानन्त-निरपेक्षानन्त अचिन्त्य-तत्त्व के भार को ही कालभार के
समतुलन में कहीं-अधिकतम महतोमहीयान्-गरिमा-महिमामय माना जायगा। और कहा जा सकेगा उसे ही
आधार बना कर यह कि-**'वह काल पर आरूढ है'**।

८३-'अश्वो मानवं वहति', एवं 'अश्वमारोहति मानवः' इन दोनों विभन्न वाक्यों का तात्पर्य्यार्थ-समन्वय—

जो अर्थ **'वहति'** का है, वही अर्थ--**'आरोहति'** का है। उदाहरण से स्थिति का समन्वय कीजिए।
घोड़े ने आदमी को अपने ऊपर पर चढ़ा रक्खा है, एवं **घोड़े पर आदमी चढ़ा हुआ है**, दोनों
वाक्यों का फलितार्थ समान है। दोनों हीं स्थानों में घोड़ा वाहन बना हुआ है आदमी का। किन्तु दोनों
स्थितियों में पारतन्त्र्य-स्वातन्त्र्य--मूलक महान् अन्तर है। **'घोड़े ने चढ़ा रक्खा है' (अश्वो वहति)'**
वाक्य में घोड़ा स्वतन्त्र है, मनुष्य परतन्त्र है। एवं--**'मानव घोड़े पर चढ़ा हुआ है (अश्वमारोहति)**
वाक्य में मानव स्वतन्त्र है, घोड़ा परतन्त्र है। वहनधर्म्म उभयत्र समान है। किन्तु पूर्ववहन में अश्वस्वातन्त्र्य-
मूला वहनक्रिया है-**'वहति'**, एवं उत्तरवहन में मानवस्वातन्त्र्यमूला आरोहण क्रिया है **'आरोहति'**। इसी
उदाहरण--माध्यम से अब हमें **वहति**, और **आरोहति**, का समन्वय देखना है।

८४-"अव्ययात्मा आरोहति कालं, मर्त्यपदार्थाश्च-वहति कालः"-वाक्यों का समन्वय—

सम्वत्सरकालचक्रसीमा में आबद्ध-सीमित--प्राकृत--मर्त्य-यदार्थ काल पर प्रतिष्ठित हैं, किन्तु यहाँ काल
स्वतन्त्र है, पदार्थ परतन्त्र हैं। अतएव पदार्थ स्वतन्त्र--सत्ता से असंस्पृष्ट हैं। एवमेव सम्वत्सरकालचक्र में भुक्त
रहता हुआ अनन्त--अचिन्त्य--क्षराक्षरातीत--अतएव कालातीत अव्ययात्मब्रह्म नामक असङ्गपुरुष भी काल पर
ही प्रतिष्ठित (आरूढ) है। किन्तु यहाँ यह पुरुष स्वतन्त्र है, एवं तदपेक्षया तदेकांशरूप काल परतन्त्र है।
अतएव **'अव्ययात्मा-आरोहति कालम्'**, एवं **'मर्त्यपदार्थान्--वहति कालः'** यही समन्वय अनुरूप माना
जायगा।

८५-ईश्वरीय नित्य विश्वविवर्त्त के कवि, और विपश्चित् का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्राकृत-मर्त्य-पदार्थों का वहनभाव यथाकथञ्चित् समझ में आरहा है। किन्तु उस अप्राकृत-कालातीत,
अतएव मर्त्य विश्व से अतीत सूक्ष्मतम अचिन्त्य **पुरुषाव्यय** के तथाकथित कालारोहणकर्म्म को मानवप्रज्ञा कैसे
समझे समझावे ?, इस प्रश्न का उत्तर वही अनन्ताव्यक्तकाल होगा। कालप्रतीकानन्त्य से ही वह निरपेक्षानन्त-
पुरुष अन्तर्जगत् में अभिव्यक्त हुआ करता है पूर्णस्वरूप से। क्या अर्थ है कालप्रतीकता का ?, प्रश्न का
समाधान है-**'कवयः'**, और **'विपश्चितः'**। पारमेष्ठ्य भार्गवतत्त्व 'कवयः' है, पारमेष्ठ्य आङ्गिरस (वह तत्त्व-
जो सौररूप में परिणत हो रहा है) 'विपश्चितः' है। भृग्वङ्गिरोमय कवि-और विपश्चित्-पारमेष्ठ्य-सौरसम-
न्वयात्मक तत्त्व का नाम हीं हैं-**'महद्ब्रह्म'**, जिसका-**'कविर्म्मनीषी परिभूः-स्वयम्भूः'** इत्यादि ईशोपनिष-

च्छ, ति से स्पष्टीकरण हुआ है। यही महदक्षर-क्षरानुगत वह ब्रह्म है, जिसे हमने 'काल' कहा है। यही प्रतीक बना हुआ है उस अनन्त का। किस अनन्तपुरुष का?। उस अनन्तपुरुष का–जो इस महदक्षररूपा कालात्मिका प्रकृति से समन्वित होता हुआ नानाभाव में परिणत होरहा है। जो इस पुरुष का विश्वनिरुपाधिक–सर्वनिरपेक्ष–विशुद्ध विश्वातीत–स्वरूप है। निरपेक्ष एकत्वनिबन्धन वह विश्वातीत–एकभावापन्न अनन्त तो कालप्रतीक के लिए भी दुरधिगम्य, किंवा अगम्य ही बना हुआ है *। कालप्रतीक के द्वारा गम्य बनता है उस अगम्य का वह गम्य विवर्त ही, जो नानाभावनिबन्धिनी–महदक्षररूपा–कालप्रकृति के गर्भ में आकर प्रकृतिनानात्व से नानाभावापन्न बन जाता है। महदक्षरब्रह्म में गर्भीभूत, नानाभावापन्न ÷ चिदंश ही (उस एक का एकांश ही) कालप्रतीक के माध्यम से गम्य बनता है। इस नानात्व को सूचित करने के लिए ही ऋषि ने 'कविः-विपश्चित्'–न कहकर 'कवयः-विपश्चितः' यह बहुवचनान्त प्रयोग किया है, जिसके समन्वय के लिए अभी थोड़ा और भी अवधानपूर्वक ज्ञातव्य–मन्तव्य है।

८६–स्वतन्त्र पुरुषार्थ से वञ्चित प्राकृत विश्व के जड़-चेतन-पदार्थ, एवं इनका कालाश्व के द्वारा वहन—

भृग्वङ्गिरोरूप अव्यक्ताक्षरकाल से समन्वित भृग्वङ्गिरोमय व्यक्त क्षरकाल से अनुप्राणित लोक भूत–लोक, जीवलोक × भाव से दो भावों में विभक्त है। सुप्रसिद्ध चतुर्दशविध भूतसर्ग ही भूतलोक है, जिसके स्थावर–जङ्गम–(अचर–चर)–नामक दो प्रमुख वर्ग माने गए हैं, जो लोकभाषा में **'जड़-चेतन'** नाम से प्रसिद्ध हैं। क्षरगर्भित अक्षर चेतनभूत की आधारभूमि है, एवं अक्षरगर्भित क्षर जड़भूत की आधारभूमि है। क्षराक्षर–दोनों हीं प्रकृतिभावमात्र हैं। अतएव तद्रूप जड़–चेतनोभयविध चतुर्दशधा विभक्त सर्ग को प्राकृतसर्ग ही कहा जायगा, जिसका कालात्मक सम्वत्सर ने वहन कर रक्खा है, एवं जिसके लिए **'वहति'** क्रियापद प्रयुक्त हुआ है। **नात्र भूतलोकात्मके भूतसर्गे पुरुषात्मनः स्वस्वरूपेण-अभिव्यक्तिः।** पाषाण-लोष्टादि जड़सर्ग, एवं कृमि-कीटादि चेतनसर्ग, ये यच्चयावत्सर्ग-प्राकृतसर्ग हैं, जिनमें कालप्रतीक के द्वारा अनुमेय अनन्ताव्ययात्मा स्वस्वरूपतः अभिव्यक्त नहीं है। अतएव प्राकृतसर्गानुबन्धी जड़–चेतन–सर्ग स्वतन्त्र पुरुषार्थ में नितान्त असमर्थ ही बने रहते हैं।

---

* **स विदन्ति न यं वेदाः (कालपुरुषः), विष्णुर्वेद न वा विधिः।**
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥

—श्रुति

÷ **अंशो नानाव्यपदेशात्, अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।**

—वेदान्तसूत्र २।३।१७।४३।

× **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**

(गीता)।

८७–स्वतन्त्रपुरुषार्थी मानव, एवं तद्द्वारा कालाश्व पर आरोहण—

अब दूसरे 'जीवलोक' विवर्त्त को लक्ष्य बनाइए। सम्वत्सरचक्रसीमा में प्रतिष्ठित 'मानवसर्ग' का नाम हीं 'जीवलोक' है, जिसमें अव्ययात्मा अपने पूर्णस्वरूप से अभिव्यक्त है अंशरूपेण। प्रकृतिभेद-निबन्धन नानात्त्व ही मानवनानात्त्व का मूलाधार है। तदनुबन्धेनैव वह पुरुषात्मा अंशरूपेण नानारूपेण (नाना-मानवप्रकृतिरूपेण) अभिव्यक्त हो रहा है मानवसर्ग में। प्रत्येक मानव स्व स्व प्रकृत्यनुबन्धी–(महदक्षर-अनुबन्धी) चित्पुरुषाभिव्यक्तित्त्व से परिपूर्ण है। अपने नानाभावनिबन्धन मनः–शरीर–बुद्धिरूप प्राकृत-भावों से जहाँ मानव भूतलोक का ही एक चेतनप्राणी बनता हुआ सम्वत्सरकाल से नियन्त्रित है, वहाँ अपने अव्ययात्मरूप से वही मानव अप्राकृत–(प्रकृत्यतीत–अतएव कालातीत–अतएव परिपूर्ण) बना रहता हुआ सम्वत्सरकालचक्र पर आरूढ है। प्रकृत्या मानव सम्वत्सरचक्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता हुआ यदि परतन्त्र है अन्यान्य मर्त्य–प्राकृत–भूतभौतिक–पदार्थों की भाँति, तो पौरुषेण (अव्ययात्मना) वही मानव सम्वत्सर-चक्र का * द्रष्टामात्र बनता हुआ अप्राकृत–स्वतन्त्र–पुरुष (अव्ययात्मनिष्ठ) है। ऐसा अव्ययात्मनिष्ठ–स्वस्वरूपबोधनिष्ठ–आत्मबुद्धिनिष्ठ–अप्राकृत मानव ही काल पर आरूढ रहा करता है, जबकि स्वरूपात्मबोध-विमुख वही मानव प्राकृत मर्त्यभूतमय एक सामान्य 'प्राकृत–जीव' मात्र प्रमाणित होता हुआ काल के द्वारा सञ्चालित-नियन्त्रित ही प्रमाणित हो जाता है।

८८–'कवयो विपश्चितः–तमारोहन्ति' का तात्त्विक-समन्वय—

मानव के आत्मस्वरूपबोध का माध्यम बनता है वह पारमेष्ठ्य महदक्षरब्रह्म, जो अध्यात्मसंस्था में–'**बुद्धेरात्मा महान् परः**' (कठ) के अनुसार बुद्धि से पर अवस्थित है। बुद्धि सौरी है, महान् पारमेष्ठ्य है, यही अव्ययचित् की गर्भभूमि है–'**तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्**' (गीता)। बुद्धिरूप सौर सम्वत्सर से ऊर्ध्वस्थित अक्षरकालात्मक पारमेष्ठ्य महान् (भृग्वङ्गिरोरूप महान्) ही आत्मबोधनिष्ठा का माध्यम बनता है, जिस इत्थंभूत महान् के बोध से ही मानव कवि, और विपश्चित् बनता है। महदक्षरान्वित भार्गव–कवित्त्व, एवं महदक्षरान्वित आङ्गिरस-सौरभावानुगत-विपश्चिद्भाव ही मानव के प्राकृतभाव को प्राकृतिक-सम्वत्सरकाल-चक्र से ऊपर उठाता हुआ इसे सम्वत्सर पर आरूढ कर देता है। और यही–'**कवयो विपश्चितः–तमारोहन्ति**' वाक्य से सम्बन्ध रखने वाली आरोहणक्रिया का रहस्यात्मक समन्वय है, जिसमें मानव अपने आत्म-स्वरूप से पूर्णरूपेण अभिव्यक्त रहता हुआ भी लोकसंग्रहात्मक सम्वत्सरकालानुबन्धी महान्-प्राकृत-उत्तरदायित्व को भी सर्वथा निर्भाररूप से व्यवस्थित बनाए रखता है, और यही मानव का वह महान् आचार है, जो महानात्ममूलक अक्षरब्रह्म की मध्यस्थता से ही गतार्थ बना करता है, जिस गतार्थता का निम्नलिखित कति-पय लोकसूत्रों के माध्यम से भी समन्वय किया जासकता है।

---

* **यस्मादर्वाक्सम्वत्सरमहोभिः परिवर्त्तते।**
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥

—शतपथब्रा० १४।७।२।२०।

८९–'कालो वहति', एवं 'तमारोहन्ति' मूलक कतिपय लोकसूत्र—

(१) १–सम्वत्सरात्मक कालाश्व कालिक-प्राकृतिक पदार्थों का वहन करता है।
२–अप्राकृत-बुद्धिनिष्ठ-पुरुषमानव कालाश्व पर आरोहण करते हैं।

---

(२) १–स्वविकारभूत प्राकृत पदार्थों का प्रकृति (काल) वहन कर रही है।
२–विकारानुगत प्राकृत पदार्थों की अध्यक्षा प्रकृति (काल) पर पुरुष आरोहण कर रहा है।

---

(३) १–प्राकृत पदार्थ कालाधीन हैं।
२–अप्राकृत मानव के काल आधीन है।

---

(४) १–प्राकृत पदार्थों का काल ही सञ्चालन-नियन्त्रण कर रहा है।
२–पुरुष मानव के द्वारा ही काल का सञ्चालन-नियन्त्रण होरहा है।

---

(५) १–मानवेतर समस्त प्राकृतिक पदार्थ कालप्रकृति से नियन्त्रित रहते हुए परतन्त्र हैं।
२–अप्राकृत पुरुषमानव काल का नियन्ता बनता हुआ स्वतन्त्र है।

---

(६) १–काल के द्वारा सञ्चालित पदार्थ कालावच्छिन्न हैं।
२–कालसञ्चालक मानव कालातीत है।

---

(७) १–समय हमारी प्रकृति का निर्म्माता है।
२–आत्मनिष्ठा हमारी प्रकृति का निर्म्माण करती है।

---

(८) १–समय हमारा निर्म्माता है।
२–हम समय के निर्म्माता हैं।

---

(९) १–सब काम समय पर ही होते हैं।
२–सब कामों के लिए सदा ही समय है।

---

(१०) १–हम समयानुसार चल रहे हैं।
२–समय हमारे अनुसार चल रहा है।

---

(११) १–राष्ट्र को समयानुसार चलना चाहिए।
२–राष्ट्रस्वरूप के अनुरूप समय को चलाना चाहिए।

---

(१२) १–काल सत्ताधीश का कारण है।
२–सत्ताधीश काल का कारण है।

---

(१३) १–मानव युगधर्म्म के आधीन है ।
२–युगधर्म्म मानव के आधीन है ।

———

(१४) १–युगधर्म्म मानव का निर्म्माता है ।
२–मानव युगधर्म्म का निर्म्माता है ।

———

६०–अथर्ववेदीय--'कालो अश्वो वहति' इत्यादि प्रथम-मन्त्रार्थ का उपराम—

सम्वत्सरकालारोहणमूलक, 'आरोहन्ति' क्रियापद से सङ्केतिता आचारनिष्ठा–कर्त्तव्यनिष्ठा का महिमात्मक स्वरूप क्या है ?, प्रश्न का उत्तर तो आचारप्रतिपादक ब्राह्मणवेद से, तदुपबृंहक–स्मृति--पुराणादि–शास्त्रों से ही ज्ञातव्य है–'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**' (गीता), जिसका निबन्ध के पूर्व खण्डों में--'**मानवकर्त्तव्यमीमांसा**' नामक स्वतन्त्र स्तम्भ में दिग्दर्शन कराया जाचुका है । प्रतिज्ञात अथर्वसूक्त के प्रस्तुत प्रथममन्त्रार्थ के समन्वय में जो कुछ निवेदन किया गया है, वह केवल स्वान्तःसुखायैव है । लक्ष्यसंसिद्धि तो शास्त्रादेशानुगत आचारात्मक धर्म्म--कर्म्म के अनुगमन से ही सम्भव है, जिस अनुगति को वर्त्तमान भारतराष्ट्र अपनी काल्पनिक--धर्म्मनिरपेक्षता के व्यामोहन से विस्मृत करता हुआ राष्ट्र की 'स्वतन्त्रता' को 'स्व' तन्त्रता से उत्तरोत्तर अभिभूत ही करता जारहा है, इति नु महद्दुःखास्पदम् । कालसूक्त के इस उपक्रम मन्त्र से, एवं तत्प्रवर्त्तक–द्रष्टा--मन्त्रमहर्षि से यही कामना है कि, वे कालात्मक–युगधर्म्मों के कालिक-तात्कालिक–महान् व्यामोहनों से आसक्त भारतराष्ट्र को शीघ्र से शीघ्र उन्मुक्त करने का अनुग्रह करें । इसी मङ्गलकामना का संस्मरण करते हुए अब क्रमप्राप्त दूसरे * मन्त्र की ओर नैष्ठिक पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

इति–प्रथममन्त्रार्थसङ्गतिः

१

——*——

* प्रतिज्ञाता अथर्वसूक्तद्वयी में १५ (पन्द्रह) मन्त्र हैं, जिनका आदिभूत प्रथम मन्त्र–'**कालो अश्वो वहति**' इत्यादि है । पृष्ठ सं० ११० से आरम्भ कर पृ० सं० १६२ पर्य्यन्त के ५३ (त्रेपन) पृष्ठों में केवल इस प्रथम मन्त्र के अक्षरार्थसमन्वय की ही चेष्टा हुई है । अभी १४ (चौदह) मन्त्र और शेष हैं । प्रक्रान्त क्रम के आधार पर ही यदि चेष्टा की जाय, तो इन शेष मन्त्रों के अक्षरार्थसमन्वय में ही दो स्वतन्त्र खण्ड लिपिबद्ध हो सकते हैं । संकल्प है चार खण्डों में ही इस सामयिक निबन्ध को विश्रान्त कर देने का, जिनमें से यह क्रमप्राप्त चतुर्थखण्ड है, जिसके चार स्तम्भों में से अभी–'**दिग्देश–कालस्वरूपमीमांसा**' नामक प्रथम (पूर्वखण्डानुगत स्तम्भक्रमप्राप्त ग्यारहवाँ) स्तम्भ ही चल रहा है । अभी प्रस्तुत चतुर्थ खण्ड में हीं तीन स्तम्भ और समाविष्ट होने वाले हैं । अतएव सूक्तानुगता व्याख्या का यह पारिभाषिक-समन्वयार्थ यहीं उपरत कर दिया जाता है । १५ मन्त्रों में प्रथम मन्त्र मूलमन्त्र है, जिसमें ऋषि ने अपने रहस्यपूर्ण पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से कालपुरुष के सम्पूर्ण इतिवृत्त की ओर सङ्केत करा दिया है । शेष

२–द्वितीयमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (द्वितीयमन्त्रार्थ)

६१–'सप्त चक्रान् वहति काल एषः' इत्यादि द्वितीय मन्त्र का अक्षरार्थ–समन्वय—

२–सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स इयते प्रथमो नु देवः ॥

प्रथममन्त्रोपवर्णित कालाश्वरूप क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न–सम्वत्सर–लक्षण यह काल सात चक्रों का वहन कर रहा है। इस कालचक्र के सात ही नाभिस्थान हैं। इस कालचक्र का अक्ष अमृत [मृत्युधर्म्म से असंस्पृष्ट] है। इत्थंभूत काल ने सम्पूर्ण भुवनों को गतिभावात्मक बना रक्खा है, गतिरूप से सम्पूर्ण–भुवनों को स्वकालसीमा में समन्वित कर रक्खा है, सब में व्याप्त हो रहा है सप्त चक्रमाध्यम से। यही वह प्रथम 'काल' नामक पहिला देव है [इस व्यक्त विश्व में], जो अपने गतिधर्म्म से सब का आधार बना हुआ है। सब में गतिरूप से व्याप्त हो रहा है सब का संवरण करते हुए।

६२–कालाश्व के द्वारा धृत सम्वत्सरमण्डलवर्त्ती सात चक्रों का स्वरूप–परिचय—

'कालो अश्वः–कं वहति' ?, प्रश्न का उत्तर है–**'सप्तचक्रान् वहति काल एषः'**। काल ने सात चक्रों को अपने ऊपर उठा रक्खा है। एवं इन सात चक्रों के माध्यम से अपने स्वरूप के साथ साथ अपने से उत्पन्न सम्पूर्ण साम्वत्सरिक भूत–भौतिक पदार्थों को भी उठा रक्खा है। सप्तचक्रात्मकता ही सम्वत्सरकाल

चौदहों मन्त्र तो इस–'कालो अश्वो वहति' मन्त्र के तूलरूप ही बने हुए हैं। प्रथम मन्त्र के पारिभाषिक समन्वय के अनन्तर शेष चौदहों मन्त्रों का अक्षरार्थ-समन्वय स्वतः ही गतार्थ बन जाता है, जबकि मन्त्रार्थानुगता यह गतार्थता अस्मच्छ्रदृश प्राकृतिक–मानवों के भावुकतापूर्ण उद्गारों से ही अनुप्राणिता मानी जायगी। मन्त्रात्मक वेदशास्त्र के अर्थसमन्वय में कदापि प्राकृत–मानव समर्थ नहीं बन सकता। एवं सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेनैव इसी दृष्टि से महाभाग **कौत्स** ने-**'अनर्थका हि मन्त्राः'** (मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता, नहीं हो-सकता मानव की लोकप्रज्ञा के द्वारा, किंवा बुद्धिवाद के द्वारा) ये उद्गार अभिव्यक्त किए हैं। **'मनसा पृच्छतेदु–मनसा वि ब्रवीमी वः'** इत्यादि तैत्तिरीयश्रुति भी मन्त्ररहस्य का मानव के मननात्मक अन्तर्जगत् से ही सम्बन्ध मान रही है। अतएव **'मननात् मन्त्र'** भी मन्त्र शब्द का एक निर्वचन हुआ है। अहरहः मन्त्रवेद का पारायण, तन्माध्यम से स्वाध्यायनिष्ठापूर्वक अपने अन्तर्जगत् में मनन–निदिध्यासन ही वेदार्थ-समन्वय का अन्यतम राजमार्ग है, जिस इस आनन्त्य को कदापि लिपि के द्वारा, किंवा वैखरी–वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं किया जासकता। अतएव मन्त्रभाग के सम्बन्ध में हमारी तो यह न केवल मान्यता ही है, अपितु दृढ आस्था है कि, मन्त्रों की भाष्य, टीका, व्याख्या–वैखरी–वाणी-लिपि से सम्भव ही नहीं है। इस ऋषिदृष्टि (मन्त्र) की व्याख्या तो ऋषि ही कर सकते हैं, जो ऋषिव्याख्या ब्राह्मणवेद (**ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत्**) नाम से प्रसिद्ध है, जिस व्याख्या के द्वारा ही द्विजातिमानव की कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका आचारनिष्ठा सुरक्षित है। कालप्रसङ्गाकर्षणमात्र से कालप्रेरणया ही प्रसङ्गवश ही कालसूक्तात्मक अथर्वमन्त्र हमारे दृष्टिमात्र के उपास्य बन गए, एवं इस दृष्टिव्यामोहन से ही इनके अर्थसमन्वय की धृष्टता जागरूक हो पड़ी, जो शेष चौदह मन्त्रों के संस्मरण के साथ दो शब्दों में विश्रान्त करली जाती है।

को सर्ववहनशक्ति प्रदान कर रही है। क्रान्तिवृत्तात्मक एक चक्र ही वह सम्वत्सरकाल है, जिस पर भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमण करता हुआ परिभ्रममाण है। इस क्रान्तिचक्र का परिसर चतुर्विंशत्यंशों [२४ अंशों] के व्यासार्द्ध से निष्पन्न होता हुआ दक्षिणोत्तरपार्श्वों से ४८ अंशात्मक बन रहा है, जिसमें सात पूर्वापरवृत्त क्रमशः १२–८–४–४–८–१२–इस अनुपात से षड्भावों में परिणत हो रहे हैं, जिनका 'षडरे' [ऋक् सं० १।१६४।१२] से संग्रह हुआ है। मध्यस्थ वृत्त ही सातवाँ पूर्वापरवृत्त है। यों सात पूर्वापरवृत्त हो जाते हैं एक ही सम्वत्सरचक्र में, जो स्थितिक्रमानुसार क्रमानुपात से केन्द्रस्थ मध्यवृत्त से दक्षिण, तथा उत्तर में समान–अन्तरानुगामी बने रहते हुए भी दृष्टिक्रमानुसार दक्षिण से उत्तर की ओर क्रमशः उत्तरोत्तर बड़े प्रमाणित हैं, तो उत्तर से दक्षिण की ओर क्रमशः उत्तरोत्तर छोटे प्रमाणित हैं। इन आपेक्षिक छोटे बड़े सात अहोरात्रवृत्तों से ही सातों के मध्य के बृहद्वृत्त के केन्द्र में प्रतिष्ठित [क्रान्तिवृत्त के केन्द्र में प्रतिष्ठित] सूर्य्य के साथ महान् परिसररूप एकचक्रात्मक क्रान्तिवृत्त पर [सूर्य्य के चारों ओर] परिभ्रमण करने वाले भूपिण्ड की साम्वत्सरिक-गति से अनुप्राणित अहोरात्र [दिनरात] छोटे–बड़े होते रहते हैं। अहोरात्रों के व्यवस्थापक, एवं इनके छोटे–बड़े–परिमाणों के व्यवस्थापक क्योंकि ये सात पूर्वापरवृत्त ही बनते हैं। अतएव इन्हें–**'अहोरात्रवृत्त'** नाम से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। ये ही सप्तवृत्त सात चक्र हैं, जो छन्दःपरिभाषा में गायत्र्यादि **'सप्त–छन्द'** कहलाए हैं–**'सप्त वै देवच्छन्दांसि'**। क्रान्तिवृत्तात्मक महा छन्द के ही ये सातों वृत्त महिमात्मक विवर्त्त हैं। क्रान्तिवृत्तात्मक परिमाणात्मक–सीमात्मक–महाछन्द ही वह एक अश्व है, जिसका नमन–[गतिप्राणानुबन्धी अवान्तर विस्तार] सात विवर्त्तों में हुआ है। इस नमनभाव से ही सप्तछन्दोवृत्त उस एक ही क्रान्तिछन्द के **'सप्तनाम'** कहलाए हैं–**'एको अश्वो वहति सप्तनामा'**।

'क्रान्ति' शब्द का सहज अर्थ है **'विदूरभावानुगत संक्रमण'**। भूपिण्ड महान् वृत्त के आधार पर सूर्य्य के चारों ओर परिभ्रमण करता हुआ आनुपातिकी विदूरता से सौरप्राण से संक्रमण–संगमन–करता रहता है। अतएव परिभ्रमणवृत्त 'क्रान्तिवृत्त' कहलाने लग पड़ा है। सूर्य्य और भूपिण्ड की विदूरता [दूरी], एवं इस विदूरतापूर्वक सौर पार्थिव–प्राणों का परस्पर सङ्क्रमण ही क्रान्तिवृत्त के 'क्रान्ति' शब्द का पारिभाषिक समन्वय है। गायत्रीछन्द नाम से प्रसिद्ध कर्कवृत्तात्मक दक्षिणस्थ अन्तिम विन्दु पर जब भूपिण्ड पहुँच जाता है, तो यह सूर्य्य से अत्यन्त ही विदूर हो जाता है। एवमेव जगतीछन्द नाम से प्रसिद्ध मकरवृत्तात्मक उत्तरस्थ अन्तिम बिन्दु पर आगत भूपिण्ड भी अत्यन्त विदूर हो जाता है सूर्य्य से। अतएव इन दोनों दक्षिणोत्तर–क्रान्तियों [दूरियों] को–**'परमक्रान्ति'** [आत्यन्तिक विदूरता, अन्तिम दूरी] कह दिया जाता है। परिभ्रममाण भूपिण्ड जब विश्वद्वृत्त नामक मध्यके बृहतीछन्दोवृत्त की कक्षा पर आजाता है [जिस बृहतीछन्द के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है], तो विदूरता समाप्त हो जाती है। भूपिण्ड सौर धरातल के अत्यन्त ही सन्निकट आजाता है। क्रान्ति [दूरी] का पतन [अवसान] हो जाता है। अतएव यह काल **'क्रान्तिपात'** कहलाया है, जो वार्षिक गति में दक्षिणोत्तर–परिभ्रमण के भेद से दोबार आता है, जो कि **'शरत्सम्पात्'**, एवं **'वसन्तसम्पात'** नाम से प्रसिद्ध है, जिन इन दोनों अहोरात्रों का कालपरिमाण समतुलित माना गया है [दिनरात बराबर होते हैं इन दोनों विषुवसम्पात-विन्दुओं पर]। समष्ट्यात्मक सम्वत्सरकाल के इन **क्रान्ति, परमक्रान्ति, क्रान्तिपात-** आदि भावों के प्रवर्त्तक सप्त पूर्वापरवृत्तात्मक ये सप्त चक्र ही बने हुए हैं।

६३–सम्वत्सरमूला सप्तावयवा अग्निचिति से अनुप्राणित कालाश्व के चक्रों का स्वरूप-समन्वय

उक्त सातों व्यष्ट्यात्मक अहोरात्रवृत्त अपने अपने स्वरूप से स्वतन्त्र वृत्त हैं। अतएव प्रत्येक की अपनी अपनी स्वतन्त्र नाभि (केन्द्र) है। यों सात चक्रवृत्तों–पूर्वापरवृत्तात्मक अहोरात्रवृत्तों के सात ही केन्द्र हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है?, कैसे होता है?, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर तो सौरमण्डलप्रतिष्ठात्मक-तत्त्वात्मक वह पौरुषेय गायत्रीमात्रिकवेद ही है, जो अपने मूलाधारभूत स्वायम्भुव–ऋषिप्राणात्मक ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय तत्त्ववेद से अभिन्न बनता हुआ सप्तभावापन्न ही बना रहता है। सप्तर्षिप्राणात्मक स्वायम्भुव यजुः–प्राण ही नभ्यप्राण है, जो '**मध्यत ऐन्ध**' निर्वचन से '**इन्द्र**' कहलाया है। यही आगे चलकर सप्तचिति–रूप से सप्त विवर्त्तों में परिणत हो जाता है। यों आरम्भ में एक ही यजुःप्राण का सप्तधा वितान, आगे चल कर प्रत्येक में सप्त–सप्त–चिति का आधान। यही प्रत्येक की पुरुषता–पुररूपता–ग्रामरूपता–समूहरूपता–संघातरूपता। अतएव सप्त–सप्त–प्राणचितिरूप सात प्राण (निहिताः सप्त सप्त) सात 'पुरुष' कहलाएँ हैं, जिन इन सप्तपुरुषात्मक पुरुषोंकी समष्टि से ही सप्तपुरुषपुरुषात्मक उस प्रजापति का स्वरूप आविर्भूत है, जो सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा बना हुआ है–'**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा**' (शत० ६।१।१।५।)। सप्तावयवा इस प्रजापतिपुरुषप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हृद्य–यजुःप्राण के तप से ही 'जू' रूप वाग्भाग से परमेष्ठी का, परमेष्ठी-गर्भित– इसी सप्तपुरुषप्रजापति (ऋषिप्राणसप्तकमूर्त्ति) से सौर विवर्त्त का आविर्भाव हुआ है, जैसा कि पूर्व-परिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है। सूर्यकेन्द्रस्थ गायत्रीमात्रिक सावित्राग्निलक्षण यजुःप्राण उसी स्वायम्भुव ब्रह्मःनिश्वसित ब्रह्माग्निलक्षण यजुःप्राण का महिमारूप है। अतएव तद्वत् यह भी प्राण सप्त–पुरुषपुरुषात्मक ही बन रहा है। यही सम्वत्सरमूला सप्ताग्निचिति का मूलाधार बन रहा है। इसी के सप्तभाव से क्रान्तिवृत्तात्मक एक ही सम्वत्सरचक्र में सात अवान्तर पूर्वापरवृत्त आविर्भूत हो जाते हैं, जिनका मूल कालाश्व का अर्कप्राणाग्निरूप, पूर्वमन्त्रोपवर्णित 'सप्तरश्मिः' भाव ही बन रहा है।

६४–'यः सप्त चक्रान् वहति काल एषः' का तात्त्विक समन्वय—

'**अमृतं न्वक्षः**' वाक्य इसी सप्तपुरुषपुरुषात्मक हृद्य प्रजापति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। सौरसम्वत्सर अपने विस्रंसनात्मक क्षरणधर्म्म से जहाँ क्षरात्मक है, मृत्युरूप है, वहाँ सम्वत्सरकेन्द्र–वर्त्ती (सूर्य्यकेन्द्रवर्त्ती) अक्षभाव (हृदयरूप यजुःप्राण) अपने 'अक्षिति' रूप अक्षरभाव से 'अमृत' बन रहा है, जिस इस हृदयाक्षररूप केन्द्रस्थ अमृतप्रजापति के सप्तप्राणभावों से ही अहोरात्रात्मक सात अवान्तर चक्र आविर्भूत हुए हैं, एवं यही अक्षररूप हृद्यभाव सप्तवितानात्मक सप्त वृत्तों के स्वतन्त्र सात नाभिभावों की प्रवृत्ति का कारण बन रहा है। प्रथम मन्त्र के '**सप्तरश्मिः**-' की ही व्याख्या '**सप्तचक्रान्**' है, एवं '**सहस्राक्षः**' की ही व्याख्या '**अमृतं न्वक्षः**' है। और–'**यः सप्त चक्रान् वहति काल एषः–सप्तास्य नाभीः-अमृतं न्वक्षः**' इस मन्त्रभाग का यही समन्वय–दिग्दर्शन है।

६५–तेजोरसमूर्त्ति अग्नि, अर्णवसमुद्र, एवं अबग्निमूर्त्ति कूर्म्मप्रजापति —

अब–'**स इमा विश्वा भुवनान्यक्षत्**' वाक्य को लक्ष्य बनाइए। सम्वत्सरकाल की सीमा में प्रतिष्ठित स्थावर–जङ्गम–यच्चयावत् भूतभौतिक पदार्थों के प्रत्यक्षदृष्ट–धामच्छद्–भूतपिण्डों का मूलोपादान माना गया

है-'अप्तत्त्व', जैसाकि-'**इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः-पुरुषवचसो भवन्ति**' इत्यादि पञ्चाग्निविद्या-प्रकरण से स्पष्ट है। अप्तत्त्व ही अप्-वायु-तेज-के उत्तरोत्तर संघात से क्रमशः **आपः-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य**-इन आठ पारम्परिक घनताओं में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्वा भूपिण्ड-भूत-पिण्ड-रूप में परिणत हो जाता है, जैसा कि-'**अद्भ्यः पृथिवी**' इत्यादि तैत्तिरीय वचन से स्पष्ट है। सौर-सम्वत्सराग्नि से सर्वप्रथम 'मरीचि' नामक 'आपः' उत्पन्न होते हैं, जो * '**तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः**' के अनुसार वैसा प्रचण्ड-प्रदीप्त-अग्निमय पानी ही माना गया है, जो कालान्तर में भूतपिण्डरूप भूपिण्ड में परिणत हुआ है। पिण्डाविर्भाव से पहिले तो सम्वत्सरमण्डल में सर्वत्र तेजोरसाग्निमय आपः ही व्याप्त था, जिस आपोमय सौरसमुद्र को-'**अर्णव**' कहा गया है। अर्णवसमुद्र का आपोभाव ही भूतपिण्डरूप से क्योंकि सम्वत्सर को अभिव्यक्त करता है। अतएव सम्वत्सरमण्डलवर्त्ती इस अर्णवसमुद्र को सम्वत्सर का (व्यक्तभाव का) कारण मान लिया है ऋषिने, जैसाकि-'**समुद्रादर्णवादधि सम्वत्सरोऽजायत**' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। पिण्डाविर्भाव से पहिले, एवं आपः की सहज तरलावस्था से पश्चात्, दोनों की मध्यावस्था में विद्यमान घनीभूत उस तेजोमय आण्डवृत्तात्मक आपः का ही पारिभाषिक नाम है-'**कूर्म्म**'। इस मध्यावस्था का दिग्दर्शन कराते हुए ही भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

सोऽकामयत-'आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयम्' इति। तां संक्लिश्य-अप्सु प्राविध्यत्। तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यत्तरत्, स कूर्म्मोऽभवत्। सेयं सर्वा आप एवानुव्यैत्। तदिदं-एकमेवरूपं समदृश्यत-आप एव। —शत० ६।१।१।१२।

६६-सप्तचितिक-सम्वत्सरमूर्त्ति-कालाश्व की त्रैलोक्यव्याप्ति—

तदित्थं-क्योंकि भूतपिण्ड का आरम्भक सौर आपः ही है। अतएव भूतमात्र को हम 'आपोमय' कह सकते हैं। भूतपिण्ड के स्वरूप समर्पक इसी सौर मरीचि-आपः का एक साङ्केतिक नाम है-'**भुवनम्**', जिसके आधार पर भुवन शब्द पानी का भी पर्य्याय बन गया है लोकभाषा में, जैसाकि-'**जीवनं भुवनं वनम्**' इत्यादि अमरवचन से स्पष्ट है। भूतपदार्थमात्र भुवनमूलक ही हैं (आपोमूलक ही हैं)। अतएव इन साम्वत्सरिक भूतपदार्थों को हम अवश्य ही '**भुवनानि**' कह सकते हैं। **सौरसम्वत्सरमध्यवर्त्ती** सावित्राग्नि से उत्पन्न मरीचि नामक भुवनों-आपोभावों-से उत्पन्न सम्पूर्ण भुवनों-(भूतभौतिक पदार्थों) के साथ भुवन के माध्यम से-(आपो-माध्यम से) सम्वत्सर उसीप्रकार घुल-मिल रहा है, जैसे कि 'मर' नामक स्थूल पानी के माध्यम से वैश्वा-नराग्निरूप भूताग्नि आपोमय चूर्ण (चून) में परिपाकरूप से अन्तर्य्याम सम्बन्ध से घुलमिल जाता है। भूतों का परिपाक होता है सम्वत्सराग्नि से-'**पचतीति वार्त्ता**'। यह परिपाक ही सम्वत्सर का अञ्जन है भूतों के साथ, जिसका माध्यम बनते है मरीचि-आपः, यही निष्कर्ष है। इस समञ्जनलक्षण अन्तर्य्यामसम्बन्ध का ही यह परिणाम है कि, सम्वत्सर के यच्चयावत् पदार्थ सप्तपुरुषपुरुषात्मिका सुपर्णचिति से समन्वित रहते हुए सम्वत्सर की प्रतिमा हीं बने हुए हैं। सब में समष्टि-व्यष्टि-रूप से '**चत्त्वारः-आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा**'

---

* **तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः** (शत० १७।६।५।१२)।

रूप से सप्तचितिक सम्वत्सर व्याप्त हो रहा है, जिस व्याप्ति के यथावत् समन्वय के लिए तो **'चयनविद्या'** का ही स्वाध्याय करना चाहिए ।

९७–सप्तलोकभुवनात्मक–पारावतपृष्ठात्मक–विश्व में कालाश्व की व्याप्ति—

श्रुति के **'विश्वा'** (विश्वानि) शब्द का 'सप्त' भी अर्थ है, एवं **'सर्वाणि'** भी अर्थ है । सप्त–रश्मिरूप अमृताक्षरमूर्त्ति कालाश्व की सप्तचितियों से अनुप्राणित भूरादि सत्यान्त सात लोक भी संग्रहीत हैं, जैसाकि प्रथममन्त्रार्थप्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है । सातों लोकभुवनों का सम्वत्सर में जैसे भोग रहा है, तथैव सम्वत्सर के प्रत्येक पदार्थ में भी सातों लोकभुवन उसी अनुपात से समन्वित हैं, जिस समन्वय का 'पारावतपृष्ठ' मूला **'छन्दोमास्तोमविद्या'** से सम्बन्ध माना गया है । अभिन्नसत्तात्मक–कार्य्यकारणमूलक विश्व के सम्बन्ध में यह जानकर हमें कोई आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए कि, जो स्वरूप, जो पर्व–संस्थान–लोक–आदि विभाग महान् में हैं, एक अणु में भी वे सभी विभाग सर्वात्मना उसी क्रमानुपात से सुसमन्वित हैं–**'यदमुत्र––तदन्विह'** । उस पूर्ण का प्रत्येक अंश में पूर्णरूपेणैव सममञ्जन हो रहा है । इसी समव्याप्ति को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है कि, **वह काल सम्पूर्ण भुवनों में व्याप्त होरहा है–'स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत्'** ।

९८–रिरिचान सम्वत्सरप्रजापतिरूप कालाश्व के प्रवर्ग्यरूप ऋतभाग से रोदसी–त्रैलोक्य की स्वरूप–निष्पत्ति—

सममञ्जनलक्षणा तथोक्ता व्याप्ति का आधार बनता है सम्वत्सर का वह प्रवर्ग्यभाग, जिसके पृथक् होकर भूतनिर्म्माण में समन्वित होजाने से प्रजापति अपने आपको कुछ समय के लिए तो **'रिरिचान'** (रिक्त) ही अनुभूत करने लगते हैं उसी प्रकार, जैसेकि अपनी प्रज्ञा–प्राण–भूत–मात्राओं को स्वकर्म्मनिष्ठा में विस्रस्त (खर्च) कर देने वाला मानव अपने आपको रिक्त अनुभूत करने लगता है । केन्द्रीय सत्य से आबद्ध (अमृताक्ष से आबद्ध) सम्वत्सर प्रजापति, एवं ऐसे सत्यप्रजापति की सीमा में इसके ब्रह्मौदनरूप से प्रतिष्ठित अग्नीषोमभाव ही 'सत्य' भाव हैं, जिनसे सम्वत्सरशरीर की स्वरूपरक्षा हो रही है । ब्रह्मौदनभूत इन सत्याग्नि-सोमों से, किंवा 'सत्यसम्वत्सर' से कदापि भूत–भौतिक–पदार्थों का निर्म्माण नहीं होता । इनका निर्म्माण होता है सम्वत्सर के उन अग्नि–सोम–भावों से, जो ब्रह्मौदन की सीमा से प्रवर्ग्यरूपेण केन्द्रीय सत्यबन्धन से पृथक् होकर 'ऋत' रूप में परिणत हो जाते हैं । दूसरे शब्दों में सत्यसम्वत्सर पदार्थों का प्रजनयिता नहीं है । अपितु ऋतसम्वत्सर से ही साम्वत्सरिक प्रजावर्ग का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है । इस ऋतभाव के कारण हीं भूतभौतिकी प्रजा 'अनात्मभावात्मिका' बन रही है, जिसमें केन्द्रात्मक आत्मस्वरूप की स्वतन्त्राभिव्यक्ति नहीं है । अतएव इस ऋत–प्राकृतिक–भूतभौतिक–सर्ग को–**'पशुसर्ग'** ही माना है श्रुति ने–**'यदपश्यत्–तस्मादेते पशवः'** (शतपथ० ६।२।१।१।) ।

९९–ऋताग्निसोममूलक ऋतुभाव, तद्रूप सम्वत्सर, एवं सम्वत्सर की ऋत–सत्यता का समन्वय—

सत्यसम्वत्सराग्निसोममूर्त्ति कालप्रजापति के ऋत–प्रवर्ग्य–भागों का ही नाम है ऋताग्नि, एवं ऋत–सोम, जिन इन दक्षिण–उत्तर–दिगनुबन्धी ऋताग्निसोमों के समन्वय से एक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है,

जोकि ऋतमूलक बनता हुआ 'ऋतु' नाम से प्रसिद्ध है। ऋताग्नि के उद्ग्राभ (चढ़ाव) से **वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा**-नामक तीन आग्नेय-ऋतुओं का, तथा ऋताग्नि के ही निग्राभ (उतार) से **शरत्-हेमन्त-शिशिर**-नामक तीन सौम्य-ऋतुओं का आविर्भाव होजाता है। इन ६ ऋतुओं का मध्यस्थ-अग्नि-सोमोभयात्मक-अग्निसोम-समभावात्मक सातवाँ वह ऋतुभाव है, जिसका सम्वत्सरकेन्द्र से सम्बन्ध है। अतएव जिसे 'ऋतसत्य' रूप 'ऋतु' कह सकते हैं। सत्यसम्वत्सरानुबन्ध से यह जहाँ सत्य है, वहाँ अपने प्रातिस्विक 'ऋत' भाव से ऋत, अतएव **'ऋतसत्यत्तु'** है, यही सातवीं ऋतु है। सप्तचितिक सम्वत्सराग्नि की सप्त अग्नि-चितियोंनें जैसे सात अहोरात्र वृत्तों को जन्म दिया है, तथैव उसी सप्ताग्निचिति ने ऋताग्निसोममयीं इन सात ऋतुओं को जन्म दिया है, इसी दृष्टि से श्रुति ने कहा है—

सप्ताग्नेः। सप्तचितिकोऽग्निः। सप्तर्त्तवः सम्वत्सरः। सम्वत्सरोऽग्निः। यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा, तावतैवैनमेतद्रेतोभूतं सिञ्चति।

—शत० ६।६।१।१४।

१००—सप्तर्षि-सप्त ग्राम्यपशु-सप्तर्त्तु-सप्त शीर्ष्णप्राण-सप्तछन्द-सप्त मरुद्गण-आदि भेदभिन्न सप्तकों का स्मरण, एवं पशुभाग से सृष्टिस्वरूपव्यवस्था—

सप्तकपालोपाधन-प्रकरण में श्रुति ने सप्तर्षिप्राणमूला सप्ताग्निचिति के आधार पर ही **सप्तर्त्तु, सप्त ग्राम्यपशु, सप्तर्षि, सप्तशीर्ष्णप्राण, सप्तछन्द, सप्तमरुद्गण,** आदि अनेक साम्वत्सरिक-सप्तकों का स्वरूप-विश्लेषण किया है यज्ञप्रक्रिया के माध्यम से (देखिए—शत० ६।३।१। ब्राह्मण)। ऋतुरूप ऋताग्निसोम की समष्टि ही सप्तर्त्तुरूप वह 'ऋतसम्वत्सर' है, जिसे ऋतभावानुबन्ध से हम 'प्रवर्ग्य' ही कहेंगे। इसी प्रवर्ग्य—ऋतसम्वत्सर—से भूतभौतिक पदार्थों का स्वरूप-निर्म्माण प्रक्रान्त है शाश्वतीभ्यः समाभ्यः। किस माध्यम से सत्यसम्वत्सरकाल सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त होता है ?, प्रश्न का उत्तर यही सप्तर्त्तु समष्टिरूप-ऋत-प्रवर्ग्यात्मक सम्वत्सर है, जो अपने इस अनात्म्य-मरणधर्म्मा ऋत पशुभाग से ही पशुरूप मर्त्य भूतों का सर्ज्जन कर इनसे समन्वित हो रहा है।

१०१—'पुरुषो वै यज्ञः' का समन्वय—

क्या मानव का भी ऐसा ही स्वरूप है ?। नहीं। मानव की प्रकृति का अवश्य ही ऐसा ही स्वरूप माना जायगा, एवं प्रकृति-स्थानीय **शरीर-मन**, तथा **लोकबुद्धि**, इन तीन विवर्त्तों को तो ऋतप्रवर्ग्य से ही समुत्पन्न कहा जायगा। किन्तु मानव का **'आत्मभाव'** तो सत्यसम्वत्सर का ही प्रतिमान माना जायगा, और 'मानव' अभिधा का समन्वय प्रधानरूप से इस सत्यसम्वत्सर से ही समतुलित माना जायगा। प्रमाणों की प्रचुरता में भी प्रमाणजिज्ञासुओं के लिए प्रमाण इसलिए अप्रमाण ही बने रहेंगे कि, उन प्रमाणवचनों की रहस्यात्मिका परिभाषाएँ आज विलुप्तप्राय हैं। उदाहरण के लिए इसी प्रमाण को लीजिए कि—

पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञः—यदेनं पुरुषस्तनुते। एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते। तस्मात् पुरुषो यज्ञः।

— (शत० १।३।२।१।)।

१०२–सम्वत्सररूप आधिदैविक यज्ञ, एवं पुरुषरूप आध्यात्मिक यज्ञ का अक्षरात्मक समतुलन—

"यह पुरुष (मानव) यज्ञ है, यज्ञस्वरूप है। कारण ?, कारण यही कि–इस पुरुष को पुरुष ही वितत करता है। यह पुरुष (मानव) अपने स्वरूप से वितायमान होता हुआ उसी परिमाण से वितत होता है, जिस परिमाण से कि इस का वितानकर्त्ता पुरुष वितत है। वितान-कर्त्ता पुरुष वितत है। वितानकर्त्ता उस पुरुष के परिमाण से वितत होने के कारण ही यह पुरुष यज्ञ कहलाया है", इत्यादि वाक्य-सन्दर्भ-मात्र से तबतक हम कुछ भी तो अर्थसमन्वय नहीं कर सकते, जबतक कि इस पुरुष का (मानव का), इसके उत्पादक पुरुष (प्रजापति–सम्वत्सरयज्ञ) का, उसकी, और इसकी यज्ञरूपता का पारिभाषिक समन्वय नहीं कर लिया जाता। अतएव '**यह मानव उस सत्यसम्वत्सर का प्रतिमान है, सर्वात्मना प्रतिमूर्त्ति है**' इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रमाणवचनों के प्रकृति–प्रत्ययादि से समन्वित षष्ठ्यर्थ–पञ्चम्यर्थ–युक्त प्रमाण से तबतक हम क्या प्रामाणनिष्ठा प्राप्त कर लेंगे, जबतक कि प्रमाणवचन के पारिभाषिक वैज्ञानिक तत्त्वों से परिचित नहीं हो जायँगे। उदाहरण के लिए इसी वचन को लीजिए कि—

"पुरुषो वै सम्वत्सरः। 'पुरुष' इत्येकं, 'सम्वत्सर' इत्येकम्। अत्र तत्समम्। द्वे वै सम्वत्सरस्याहोरात्रे, द्वाविमौ पुरुषे प्राणौ। अत्र तत्समम्। त्रय ऋतवः सम्वत्सरस्य, त्रय इमे पुरुषे प्राणाः। अत्र तत्समम्। चतुरक्षरो वै सम्वत्सरः, चतुरक्षरोऽयं यजमानः। अत्र तत्समम्। पञ्चर्त्तवः सम्वत्सरस्य, पञ्चेमे पुरुषे प्राणाः। अत्र तत्समम्"–इत्यादि।

— शा० १२।३।२ ब्राह्मण।

अक्षरार्थ यही है कि–यह पुरुष सम्वत्सर है। पुरुष के साथ इसलिए सम्वत्सर की समानता है कि, '**पुरुष**' यह एक है, '**सम्वत्सर**' यह एक है। इस दृष्टि से दोनों समतुलित हैं। सम्वत्सर के अहः–रात्रि रूप से दो पर्व हैं, तो पुरुष में भी दो प्राण हैं। सम्वत्सर की तीन ऋतु हैं, तो पुरुष में तीन प्राण हैं। सम्वत्सर चार अक्षर वाला है, तो (पुरुषरूप) यजमान भी चार अक्षर वाला है। सम्वत्सर की पाँच ऋतुएँ हैं, तो पुरुष में ये पाँच प्राण हैं। सम्वत्सर की छह ऋतु हैं, तो पुरुष में ६ प्राण हैं। सम्वत्सर की ७ ऋतु हैं, तो पुरुष में सात प्राण हैं। सम्वत्सर के १२ मास हैं, तो पुरुष में १२ प्राण हैं। सम्वत्सर के १३ मास हैं, तो पुरुष में भी १३ प्राण हैं। सम्वत्सर के २४ अर्द्धमास (पक्ष) हैं, तो पुरुष के भी २४ पक्ष (पर्व) हैं। सम्वत्सर के २६ पक्ष हैं, तो पुरुष के भी २६ ही पर्व हैं। सम्वत्सर की यदि ३६० अहः–रात्रियाँ हैं, तो पुरुष की भी ३६० ही अस्थियाँ (हड्डियाँ) हैं। सम्वत्सर के यदि ३६० अहः हैं, तो पुरुष के भी ३६० ही मज्जापर्व हैं। सम्वत्सर के यदि ७२० अहोरात्र हैं, तो पुरुष के भी अस्थि–मज्जा–मिला कर ७२० ही पर्व हैं। और आगे चलिए–सम्वत्सर के १०८०० (दशहहजार आठसौ) **मुहूर्त्त** हैं। इन मुहूर्तों से पन्द्रहगुणित '**क्षिप्र**' हैं। क्षिप्रों से पन्द्रहगुणित "एतर्हि" हैं। इन से पन्द्रह गुणित '**इदानि**' हैं। इन से पन्द्रह गुणित '**प्राण**' हैं। जितने प्राण हैं, उतने ही '**अन**' हैं। जितने 'अनाः' हैं, उतने ही '**निमेष**' हैं। जितने निमेष हैं, पुरुषशरीर में उतने ही **लोमगर्त्त** (रोमकूप) हैं। जितने लोमगर्त्त हैं, उतने ही '**स्वेदायन**' हैं। और जितने स्वेदायन हैं, उतने

हीं वर्षाबिन्दुरूप 'स्तोक' हैं । यही मानव के श्वासप्रश्वासात्मक प्राणनापानन का मापदण्ड है, जैसाकि श्रुतिने समन्वय का उपसंहार करते हुए सर्वान्त में कहा है—

शतं शतानि पुरुषः समेनाष्टौ शता यन्मितं, तद्वदन्ति ।
अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन तावत्कृत्व प्राणिति, चाप चानिति ॥

'पुरुष एक है, तो सम्वत्सर भी एक है' केवल इस प्रथम-समत्त्व का ही पारिभाषिक समन्वय
कर लीजिए । इसी से परिभाषाज्ञानवञ्चित-प्रमाणभक्तों का प्रमाणजिज्ञासा-व्यामोहन उपशान्त हो जायगा एकान्ततः।
स्थूलदृष्ट्या–प्रकृतिदृष्ट्या, किंवा भूतविज्ञानदृष्ट्या तो पुरुष (मानवसंस्था) में भी असंख्य-भूत-भौतिक-पदार्थों-
द्रव्यों का समावेश हो रहा है, एवं ज्योतिश्चक्रात्मक खगोललक्षण-सौरसम्वत्सरमण्डल में भी ग्रहोपग्रह-नक्षत्र-
अग्नि–वायु–आदित्य–देव–यक्ष–राक्षस–आदि आदि रूपेण असंख्य पदार्थ समन्वित हो रहे हैं । अनेक खण्ड-
खण्डों की समष्टि का ही नाम जब पुरुष है, एवं अनेक पदार्थों के समन्वय का नाम हीं जब सम्वत्सर है, तो इन्हें
'एक' अभिधा से कैसे, और क्यों व्यवहृत किया गया ?, प्रश्न का उत्तर प्रकृत्याधारभूत पुरुषब्रह्म (अव्ययात्मब्रह्म)
पर ही अवलम्बित है, जो अपने अखण्ड–निरवच्छिन्न–दिग्देशकालातीत–स्वरूप से **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'**
नाम से प्रसिद्ध है । इस एक–अद्वितीय–अविभक्त–समब्रह्म के आधार पर ही नानाबलनिबन्धना **प्रकृति** नाना-
भावापन्ना **विकृति** के रूप से अभिव्यक्त होती है । विकृति नानाभावापन्न **विकार**–रूप में, विकार नानाभावापन्न
वैकारिक–पञ्चीकृत भावों के रूप में, वैकारिक भाव नानाभावापन्न **महाभूतरूप** में, एवं महाभूत असंख्य-
भावापन्न **भूत-भौतिक**-पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं । यों उस एक **'रसपुरुष'** प्रतिष्ठा के आधार पर प्रति-
ष्ठिता नानाभावापन्ना प्रकृति ही नानाभावों में नानारूपों से अभिव्यक्त हो रही है, जो कि प्रकृतिमूलक नाना-
त्व उस एक का ही महिमा-मय वैभव (विवर्त्त) माना गया है, जैसाकि-**'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** इत्यादि
ऋङ्मन्त्र से प्रमाणित है, जो कि प्रमाणमन्त्र सुप्रसिद्ध **'एकेश्वरवाद'** की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस के
पारिभाषिक–तात्त्विक–समन्वय करने में असमर्थ जड़प्रकृतिवादियोंनें यह भ्रान्त कल्पना कर डाली है कि,
"संहिताकाल में आर्य्य एकेश्वर से अपरिचित रहते हुए बहुदेवताभक्ति के ही अनुगामी बने हुए
थे । इन्हें एकेश्वरवाद का बोध तो बहुत आगे जाकर उपनिषत्काल में हीं हुआ है" ।
पुरुषात्मस्वरूपबोध के संस्पर्श से भी वञ्चित उन प्रकृतिवादपरायणों की उक्त मान्यता का भावुकतासंरक्षण-माध्यम-
मात्र से समादर कर लिया जासकता है । किन्तु जो भारतीय तत्त्वविशोधक (रिसर्चस्कॉलर) महानुभाव अन्त-
र्राष्ट्रीय–ख्यातिरूपा लोकैषेणा के महान् व्यामोहन में आसक्त होकर प्रतीच्य प्रकृतिवाद का ही अन्धानुकरण करते
हुए उक्त प्रतीच्य--मान्यता को 'आस्था' प्रदान करने लग पड़े हैं, अवश्य ही वे भारतीय प्रज्ञा की दृष्टि में तो
महान् प्रत्यवाय के ही पात्र माने जायँगे ।

१०३–अखण्ड--अव्ययपुरुष के द्वारा ब्रह्ममहिमा की सर्वव्याप्ति—

वक्तव्य प्रकृत में यही है कि, प्रकृतिभ्यः पर अवस्थित अव्यपुरुष ही वह 'पुरुष' है, जो निरपेक्ष एकत्त्व से
समन्वित रहता हुआ **'एक'** ही है । इस **'एकपुरुष'** की पूर्णाभिव्यक्ति तो एकमात्र **'मानव'** में हीं हुई है । अत-
एव मानव ही **'पुरुष'** **(अव्यय)** उपाधि का अधिकारी बन रहा है । यही मानव की गुह्यतमा वह श्रेष्ठता है,

जिसे प्रकृतिवादव्यामोहन से विस्मृत कर देने वाले मानव ने आज अपने आप को प्रकृतिमात्रांश मानने–मनवाने की महती भ्रान्ति कर डाली है प्राकृतिक भूत-पर्वों के नानात्त्व के माध्यम से। मानव की प्रकृति **'नाना'** भावापन्ना अवश्य है, किन्तु स्वयं मानव अपने आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व से तो **एक ही है, पुरुष ही (अव्यय-पुरुष ही) है।**

क्या प्रकृतिभावों में भी इस एकत्त्व का सम्मान किसी प्राकृत–विवर्त्त को उपलब्ध हुआ है?, यह प्रश्न है, जिसका समाधान कालात्मक सम्वत्सर ही बन रहा है।

१०४–अखण्डपुरुष के आधार पर खण्ड--खण्डात्मक प्राकृत–भावों का वितान, एवं कालपुरुष के द्वारा प्राकृत--खण्डों का नियन्त्रण—

सम्वत्सर का स्वरूप उस अनन्तपुरुष का प्रतीक बनता हुआ तदभिन्न है। अतएव इस सत्यसम्वत्सर को **'प्रजापति' 'पुरुष'** आदि उपाधियाँ प्राप्त होगई हैं। यही सम्वत्सरात्मक सत्यकाल पुरुषनिबन्धन एकत्त्वधर्म्म से **'कालपुरुष'** नाम से प्रसिद्ध हो गया है, जो अपने इस पुरुषभाव से अनन्त–अव्यक्त–अमूर्त्त बनता हुआ कालातीत (प्रकृत्यतीत) ही प्रमाणित हो रहा है। जिस प्राकृतिक विवर्त्त का यह वहन कर रहा है, वह दिग्–देश–प्रदेशात्मक–अनेकभावापन्न सम्वत्सर ही **'ऋतसम्वत्सर'** कहलाया है, जिस के मानव की प्रकृति की भाँति ऋतु–मास–पक्ष-अहोरात्र–अहोपअहादि अनेक अवयव माने गए हैं। अवयवसमष्टि का नाम कदापि अवयवी नहीं है, जैसा कि अनात्मवादी प्राकृत **'मानवाभास'** मानते रहते हैं। अखण्ड है वह अवयवी, जिस की अखण्डसत्ता पर खण्डखण्डात्मक प्राकृतिक अनेक अवयव प्रतिष्ठित रहा करते हैं। अखण्ड पुरुष के आधार पर ही खण्डप्रकृति प्रतिष्ठित है। अखण्ड कालपुरुषात्मक सत्यसम्वत्सर पर ही खण्डकालात्मक ऋत–सम्वत्सर प्रतिष्ठित है। पुरुष (मानव) के खण्डात्मक प्रकृतिभावों के आधारभूत 'पुरुष' (अव्यय) को ही ब्राह्मणश्रुति ने **'एकपुरुष'** कहा है। एवं काल के खण्डात्मक ऋतसम्वत्सररूप प्राकृत भावों के आधारभूत 'सत्यसम्वत्सर'लक्षण कालपुरुष को ही श्रुतिने–**'एकसम्वत्सर'** कहा है। एवं यही–**'पुरुष' इत्येकं, 'सम्वत्सर' इत्येकम्'** इस प्रारम्भिक वचन का पारिभाषिक समन्वय है। तदनन्तर जितने भी मानवीय, तथा साम्वत्सरिक-पर्वों के समत्त्व का श्रुतिने प्रतिपादन किया है, वे सम्पूर्ण समत्त्व तो मानव की नानाभावापन्ना प्रकृति के, तथा सत्य-सम्वत्सर के प्रकृतिरूप नानाभावापन्न ऋतसम्वत्सर के पर्व-विभागों से ही सम्बद्ध हैं, जिन का भारतीय प्रकृतिविज्ञान के आधार पर ही सम–समन्वय किया जा सकता है। प्रकृतिविज्ञान की **विकृति–विकार–वैकारिक–महाभूत–भूतभौतिक**–इन सोपानपरम्पराओं के अन्तिम विवर्त्तस्थानीय भूतभौतिक वर्त्तमान–जड़–भूतविज्ञान के द्वारा तो श्रुति के प्रकृतिविज्ञान की परिभाषाओं का भी समन्वय दुर्बोध्य ही माना जायगा भूतविज्ञानवादियों के लिए।

१०५–कालानुबन्धी सापेक्ष पुरुष–प्रकृति द्वन्द्व, अनन्ताव्यय के प्रति अनन्तकाल की प्रतीकता, एवं तत्समन्वय –

सत्यसम्वत्सरात्मक काल **'पुरुष'** है, एवं ऋतसम्वत्सरात्मक काल **'प्रकृति'** है। मानवसंस्था के **'पुरुष' [अव्यय] भाव'** से सत्य सम्वत्सरात्मक **'कालपुरुष'** समतुलित है, एवं मानव के **'प्रकृतिभाव'** से **[शरीर–संस्थान से]** ऋतसम्वत्सरात्मिका **'कालप्रकृति'** समतुलिता है, यही वक्तव्य–निष्कर्ष है, जिस से एक अद्भुत

दृष्टिकोण की ओर भी स्वत: ही हमारा ध्यान आकर्षित हो पड़ता है। सत्यसम्वत्सररूप **'अनन्तकालपुरुष'** उस **'अनन्त अव्ययपुरुष'** का दृष्टान्तविधि से प्रतीकमात्र है। इस की पुरुषविधता **'प्रतीक'** भाव पर ही परि-समाप्त है। क्योंकि दृष्टान्त को कभी सिद्धान्त बनने का महद्भाग्य उपलब्ध नहीं होता। अतएव प्रतीक-विधिमात्र से 'प्रतीकपुरुष' कोटि में आता हुआ भी कालपुरुष अन्ततोगत्वा है-'प्रकृति' ही-अपने पराप्रकृति-रूप अक्षरभाव से [सत्यसम्वत्सररूप से], एवं अपराप्रकृतिरूप क्षरभात्र से [ऋतसम्वत्सररूप से], जबकि पुरुष [मानव] अपने अव्ययात्मभाव से उस अव्यय से सर्वात्मना अभिन्न रहता हुआ साक्षाद्रूपेणैव 'पुरुष' प्रमाणित हो रहा है। कालवत् [सम्वत्सरवत्] इस का 'पुरुष' भाव प्रतीकमात्र न हो कर साक्षात् पुरुषभाव ही है। तभी तो समस्त ब्रह्माण्ड में एकमात्र मानवपुरुष को ही उस षोडशीप्रजापतिरूप **अव्ययेश्वर** के सन्नि-कट बतलाया गया है, जैसाकि-**'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'-'योऽसावादित्ये पुरुषः-सोऽहम्'-'योऽसौ-सोऽहं'-'अहं ब्रह्मास्मि'-'स हि नेदिष्ठं पस्पर्श'** इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है।

१०६-अनन्तबोध में प्रतीकता का असामर्थ्य, एवं मानव के द्वारा ही तदभिन्न अनन्तन्तब्रह्म का समतुलन-समन्वय-

अतएव मानव ही अपने आत्माव्ययपुरुषमूलक पुरुषार्थ से उस अव्ययेश्वरवत् **'कालातीत'** बन सकता है, जबकि उसी अव्ययेश्वर का प्रतीकपुरुषात्मक कालपुरुष कालातीत नहीं माना गया। अतएव सम्वत्सर-पुरुष, तथा मानवपुरुष, दोनों के साम्य प्रतिपादन में मानवपुरुष को श्रुतिने उद्देश्यकोटि में रक्खा है, एवं कालात्मक सम्वत्सरपुरुष को विधेयकोटि में रक्खा है। पुरुषोद्देश्येनैव सम्वत्सरसाम्य का विधान हुआ है। अर्थात्-पुरुष के माध्यम से ही सम्वत्सर की समता का समन्वय हुआ है।

१०७-'पुरुषो वै सम्वत्सरः' श्रुतिमूलक पुरुषप्राधान्य का समन्वय—

'पुरुषो वै सम्वत्सरः' वचन इसी पुरुषप्रधानता, एवं सम्वत्सरगौणता का समर्थक बन रहा है। आगे चल कर भी-**'पुरुष'-इत्येकं,-'सम्वत्सर' इत्येकम्। अत्र तत्समम्'** इस रूप से पुरुष को प्रथम स्थान मिला है, एवं सम्वत्सर को द्वितीय स्थान। पुरुष से सम्वत्सर समतुलित है, न कि सम्वत्सर से पुरुष सम-तुलित। मानव तो अपने हृदस्थ अव्ययपुरुष से वही स्थान रखता है, जो स्थान विश्वाधिष्ठाता अव्ययेश्वर पुरुष का है। वही काल बना है, तो मानवीय-अव्यय भी यही भाषा बोल सकता है। बोली है ऐसी ही अद्वैतभाषात्मिका पुरुषभाषा ब्रह्मवित् ब्रह्ममूर्त्ति * इस महर्षिमानवने, जैसाकि-**'अहं मनुरभवम्-अहं-सूर्य्य इवाजनि'** इत्यादि से स्पष्ट है। और तत्त्वदृष्ट्या तो पुरुष, तथा सम्वत्सर का साम्य भी प्रतीकात्मक ही माना जायगा। अन्यथा सम्वत्सर तो उस आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठ से सर्वथा अवरकक्षा में ही प्रतिष्ठित रह जाता है। अपने अव्ययपुरुषरूप से तो मानव सम्वत्सरचक्र से ऊपर उठा हुआ ब्रह्मवत् साम्वत्सरिक-परिवर्त्तनों का द्रष्टामात्र ही बना रहता है, जैसाकि-**'यस्मादर्वाक्-सम्वत्सरं-अहोभिः परिवर्त्तते'** इत्यादि रूप से पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है-[देखिए पृ० सं० १६१]।

---

*--**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**। (श्रुतिः)

१०८--सत्यसम्वत्सर--ऋतसम्वत्सर--रूपेण सम्वत्सरद्वयी का दिग्दर्शन, एवं प्रकृति--त्रिशिष्ट पुरुष के साथ सम्वत्सरद्वयी का समतुलन----

अब दूसरा स्थान आता है उस पुरुष [मानव] का, जो **प्राणिति-अपानिति च**-रूप से श्वास-प्रश्वास लेते रहने वाला वैसा प्राकृत-प्राणीमात्र ही है, जैसे कि अन्य स्थिर-चर-जीव प्राणन अपान करते हुए अपने आयुःकाल का उपभोग करते रहते हैं। ऐसा पुरुषभाव ही प्रकृतिभाव है, ऐसा मानव ही प्राकृत-मानव है, जिस का इस प्रकृतिभावानुबन्ध से ही सांख्यशास्त्र ने चतुर्द्दशविध-भूतसर्गों में अन्तर्भाव कर लिया है (अपने आत्माव्ययपुरुष से भूतातीत बने रहने वाले भी) इस का। तात्पर्य्य यही है कि, मानव के आत्माव्ययपुरुषातिरिक्त **बुद्धि-मनः-शरीर**-ये तीनों पर्व ही मानव की **सत्त्व-रजः-तमो**-गुणात्मिका-**अहङ्कृति-प्रकृति-आकृति**-रूपा वह प्रकृति है, जिस इस त्रिभावापन्ना प्रकृति से ही मानवपुरुष **प्रकृतिविशिष्ट पुरुष** बन रहा है। इन मानवीय तीनों प्रकृतिभावों की समष्टि ही मानव का प्राकृतरूप है, जिस अनुबन्ध से इसे **'प्राकृतपुरुष'** कहा जायगा। एवमेव कालपुरुषरूप पुरुषसम्वत्सर-सत्यसम्वत्सर [अनन्त-अमूर्त्त-अव्यक्त काल] का व्यक्तरूप-ऋतसम्वत्सर ही **'प्राकृतसम्वत्सर'** कहलाएगा। एवं जैसे माननीय पुरुष से उस सत्यसम्वत्सरात्मक कालपुरुष का प्रतीकविधि से साम्य-समतुलन हुआ था, तथैव अब इन दोनों के दोनों प्राकृतभावों का भी समतुलन होना हीं चाहिए। और इस प्राकृत समतुलन के सम्बन्ध में भी एक विशेष दृष्टिकोण का समन्वय कर लेना चाहिए तत्प्रतिपादक श्रौत-अक्षरों के माध्यम से ही।

१०९--ऋतसम्वत्सरात्मक कालाश्व की प्राकृतभावों के प्रति प्रभव-प्रतिष्ठा--परायणता--का समन्वय----

सम्वत्सरकालानुबन्धी-दिग्-देश-प्रदेशात्मक प्राकृतिक विवर्त्तों में मानवप्रकृति का स्थान गौण-एवं द्वितीय-माना जायगा, जबकि पुरुषानुगत समन्वय में मानवपुरुष का स्थान प्रमुख-एवं प्रथम माना गया था। ऋतसम्वत्सरात्मक-क्रान्तिवृत्तात्मक-कालाश्वरूप-व्यक्त-सम्वत्सर ही प्राकृत सम्वत्सर है, जिस में असंख्य-भावों का समावेश है, जिन का कि **सौर[1]- चान्द्र[2]- पार्थिव[3]**- इन तीन वर्गों में हीं अन्तर्भाव मान लिया गया है। इन तीनों के मूल प्राकृतिक उक्थ [कोश] ही क्रमशः **सूर्य्य[1]- चन्द्रमा[2]-भूपिण्ड[3]** हैं। इन तीनों मूल-उक्थ विम्बोंकी तीन प्रकृतियाँ हीं [एक प्रकृति के तीन विवर्त्त ही] क्रमशः **अहङ्कृति[1]-आकृति[2]-प्रकृति[3]**-नामों से प्रसिद्ध हैं. जो क्रमशः सत्त्व[1]- रज[2]-स्तमो[3]-गुणप्रधाना बनीं हुईं हैं। इन तींनों सूर्य्य-चन्द्रमा-भू-नामक महान् साम्वत्सरिक-कोशों से प्रवर्ग्य-रूपेण विनिर्गत-विस्रस्त होते रहने वाले सौर-चान्द्र-पार्थिव-प्राणों से चतुरशीति-लक्ष [८४०००००चौरासीलाख] जीवयोनिवर्ग प्रादुर्भूत होते रहते हैं गुणत्रय के तारम्य से। "त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं तत्" [गीता] इत्याद्यनुसार समस्त भूतभौतिक प्रपञ्च, इन प्रपञ्चों के **सौर बुद्धिभाव--चान्द्र मनोभाव**-एवं **भौम शरीरभाव**-रूप प्रकृतिभाव, इन त्रिगुणात्मक प्राकृत भावों से हीं उत्पन्न होते रहते हैं, एवं अन्त में इन्हीं में विलीन हो जाते हैं। यों ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्त कालाश्व ही इन प्रकृतिभावों का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण-स्थान-बन रहा है। इस महान् सम्वत्सरचक्र के समतुलन में चौ-

रासीलाख योनियों में से एक मानवयोनि के प्राकृत स्वरूप की क्या-कितनी-कैसी-इयत्ता होगी ?, प्रश्न का उत्थान भी असंगत है। उस महाप्राकृत सम्वत्सर के समतुलन में तो सभी भूतभौतिक-पदार्थ-सर्वथा अंश-अंशतर-अंशतम- प्रत्यंशतम ही प्रमाणित हो रहे हैं। ऐसी दशा में इन के साथ उस का साम्य-विचार भी आपातरमणीय ही तो माना जायगा।

११०-प्राकृत महिमाविवर्त्त का श्रद्धापूर्वक सम्मान—

किन्तु मानव को तो ऋषि ने इस आपातरमणीयता के क्षेत्र से बहिर्भूत ही मान लिया है। तो क्या मानव का प्राकृत स्वरूप (बुद्धिमनःशरीरभावत्रयी) भी कालसम्वत्सररूपा-सौर-चान्द्र-पार्थिवी महाप्रकृति के समतुलन में (इसके पुरुषभाववत्) प्राथम्य-एवं प्रमुखता रख रहा है। नेति होवाच। प्राकृत जगत् में तो सर्वात्मना प्रकृति का ही सम्मान किया जायगा, जिस प्रकृतिसम्मान की उपेक्षा कर जगन्मिथ्यात्त्ववादी-ब्रह्मवादी वेदान्तीने अपना, और अपने साथ साथ सम्पूर्ण विश्व का भी अहित ही कर लिया है। समझा ही नहीं है उसने विवर्त्तरूपा प्रकृति के सृष्टिसर्गात्मक स्वरूप को। आलप्यालम्। महतीयं विडम्बना अध्यासवादासक्तानां दार्शनिकानाम्। आस्तां तावत्।

१११-सम्वत्सर के दो अहोरात्रों के साथ मानव के दो प्राणों का समतुलन, एवं आश्चर्य्यमयी ऋषिदृष्टि के प्रति प्रणतभावेन नमो नमः—

निवेदन प्रकृत में यही करना है कि-प्राकृत-समतुलन में प्रकृति का सम्मान करते हुए ऋषि ने ऋत-सम्वत्सर को प्रथम स्थान दिया, एवं मानवप्रकृति को द्वितीय स्थान। साथ ही एकमात्र मानव से ही इस साम्य का समतुलन करते हुए ऋषिने सङ्केतरूप से ही यह भी प्रमाणित कर दिया कि,—अन्यान्य प्राकृत-पदार्थ जहाँ प्रकृति के (ऋतसम्वत्सर के) प्रत्यंशमात्र हैं, वहाँ मानव का प्राकृत-स्वरूप तो सर्वात्मना तदभिन्न बनता हुआ प्रकृति का साक्षात् उसी प्रकार प्रतिमान की बना हुआ है, जैसे कि मानव का पुरुषभाव (आत्म-भाव) साक्षाद्रूप से अव्ययेश्वर का प्रतीक नहीं, अपितु प्रतिमान ही बन रहा है। सम्वत्सर में जैसा जो कुछ अथ से इति पर्य्यन्त व्याप्त है, व्यवस्थित है, मानवसर्ग में, मानव के प्राकृतभाव में वह सब कुछ उसी रूप से व्याप्त है, व्यवस्थित है। यों मानव इतर प्राकृत-पदार्थों के समतुलन में कालप्रकृति से भी नेदिष्ठतम ही प्रमाणित हो रहा है। सममुच पुरुषभावेनापि परिपूर्ण है मानव, एवं प्रकृतिभावत्त्वेनापि परिपूर्ण ही है मानव। अतएव ऋषिने एकमात्र मानव के साथ ही (मानव के प्राकृत-स्वरूप के साथ ही) प्राकृत-सम्वत्सर को समन्वित माना है सम्वत्सर को प्रधानता देते हुए, प्रकृति का सम्मान करते हुए। अतएव पुरुषरूपता के सममतुलन में जहाँ ऋषि ने—'पुरुष' इत्येकं,-'सम्वत्सर' 'इत्येकं' रूप से पुरुष को प्रधान, और सम्वत्सर को गौण माना था, वहाँ प्रकृतिरूपता के समतुलन में' **द्वे वै सम्वत्सरस्य-अहोरात्रे, द्वाविमौ पुरुषे (प्राकृत-पुरुषे, पुरुषस्य प्रकृतिभावे वा) प्राणौ-अत्र तत्समम्**' इत्यादि रूप से प्राकृत सम्वत्सर को प्रथम, एवं प्राकृत मानव को द्वितीय स्थान प्रदान किया है, इत्यहो आश्चर्य्यमयी ऋषिदृष्टिर्गहनगभीरतत्त्वसंग्राहिका, इति-नमः-परम-ऋषिभ्यः, नमः-परम-ऋषिभ्यः प्रणतभावेन साञ्जलिबन्धम्।

११२–क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न–कालाश्वरूप–ऋतसम्वत्सरात्मक– भूतपति से अनुप्राणित अण्डकटाहों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

ग्रन्थखण्डमर्य्यादा की दृष्टि से सम्भवतः हम पुनः–विस्तारानुगामी बनते जा रहे हैं। अतएव ब्राह्मणोक्त साम्य के पारिभाषिक–समन्वय को यहीं उपसंहृत कर दिया जाता है। विशेष जिज्ञासुओं को महर्षि स्वैदायन की सुप्रसिद्धा अनतिप्रश्नात्मिका–असमाधेया प्रश्नावली से सम्बन्ध रखने वाले 'सम्वत्सर यज्ञरहस्य' के ही स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहिए। प्रकृत में केवल एक दो साम्यों का अन्यभावानुबन्धों से दिग्दर्शनमात्र ही कराता हुआ द्वितीय मन्त्रार्थ उपरत हो रहा है।

क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न–कालाश्वरूप–ऋतसम्वत्सरात्मक-भूतपति-सम्वत्सर * का वृत्तभाव ही क्रान्ति–वृत्तात्मक वह 'अण्ड' है (त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त है), जिसके सूर्य्य–चन्द्र–भेद से दो **'कटाह'** बन रहे हैं, जो कि पुराणभाषा में **'अण्डकटाह'**, एवं स्मृतिभाषा में **'शकल'** नाम से प्रसिद्ध है ÷। इन दोनों सौर–चान्द्र–कटाहों के दाम्पत्यभाव से ही सर्वप्रथम **'द्यावापृथिवी'** युग्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। सौरप्राणावच्छिन्न अर्द्ध अण्डकटाह ही द्युलोक है, एवं चान्द्रप्राणावच्छिन्न अर्द्ध अण्डकटाह ही पृथिवी है [जो सुप्रसिद्ध भूपिण्ड से पृथक् तत्त्व है]। सौरप्राण आङ्गिरस अग्नि है, तद्रूप द्युलोक ही **'पिता'** है। चान्द्रप्राण भार्गवसोम है, तद्रूप पृथिवीलोक ही **'माता'** है—**'द्योष्पितः पृथिवि मातः'** [ऋक्संहिता]। इसप्रकार क्रान्तिवृत्त–रूप ब्रह्माण्ड के दो अण्डकटाह ही सौर–चान्द्र–अग्नि–सोम–भावों से द्यु–पृथिवी–रूपेण पिता–माता–रूप उस दम्पतीभाव में परिणित हो रहे हैं, जिनके इस ऋताग्नि–ऋतसोमात्मक–दाम्पत्यभाव से ही सम्पूर्ण भूत–भौतिक–सर्गों का आविर्भाव हो रहा है यथापूर्व, जैसा कि–**'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्–दिवं च पृथिवीं, चान्तरिक्षमथो स्वः'** इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है।

११३–सौर अर्द्धाण्डकटाह, चान्द्र अर्द्धाण्डकटाह, तदनुगत प्राकृतिक आधिदैविक दाम्पत्य, एवं तत्प्रसूतिरूप अर्द्धवृगलात्मक मानव–मानवी–रूप दाम्पत्य—

सौर अर्द्ध आकाश ही सम्वत्सर का 'अहः' भाग है, एवं चान्द्र अर्द्ध आकाश ही सम्वत्सर का 'रात्रि' भाग है। अहः आग्नेय है, सौर है, ऐन्द्र है। रात्रि सौम्या है, चान्द्री है, वारुणी है। **'अहोरात्राणि विदधत्'** से इस सौर अर्द्धाकाश, तथा चान्द्र अर्द्धाकाश की ओर ही सङ्केत हुआ है। अहोरूप सौर अर्द्धाकाश दृश्यार्द्धा-काश, है, इसी से मानव का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। रात्रिरूप चान्द्र अर्द्धाकाश अदृश्यार्द्धाकाश है, इसी से मानवी का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। यों मानव, और मानवी क्रमशः सौर अण्डकटाह, एवं चान्द्र अण्डकटाह के प्रतिमान बने हुए हैं। दोनों के समन्वितरूप का ही नाम आध्यात्मिक–प्राकृत–सम्वत्सर है, जिसका द्युलोक मानव है, पृथिवीलोक मानवी है। अर्द्ध सौराकाशरूप मानव, तथा अर्द्ध चान्द्राकाशरूपा मानवी, दोनों के समन्वयात्मक द्यावापृथिव्य परिपूर्ण स्वरूप का ही नाम **परिपूर्ण मानव है**, जैसाकि–**'सोऽयमाकाशः पत्न्या-**

***–यः स भूतानां पतिः, सम्वत्सरः सः** (शत० ६।१।३।८)।

÷ ताभ्यां स शकलाभ्यां दिवं भूमिं च निर्म्ममे (मनुः)।

पूर्य्यते' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। मानव, और मानवी क्योंकि अर्द्ध-अर्द्ध-अरडकटाह-स्वरूप हैं। अतएव इनका एक पारिभाषिक नाम रख दिया है-'अर्द्धवृगल'। एक नींबू की दो समान फाँकें, एक चणों की दो समान दालें, हीं इस अर्द्धवृगलता का समन्वय है। एक सम्वत्सर के दो शकल-दो खरड ही सम्वत्सर के द्यावा-पृथिवीरूप दो अर्द्धवृगल हैं, जिन इन दोनों अर्द्धवृगलों से मानव-मानवीरूप अर्द्धार्द्धभाग समतुलित हैं। और यों 'मानव-मानवी' रूप से मानवस्वरूप उस द्यावापृथिवीरूप-ऋताग्नि-ऋतसोमात्मक-क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न-ऋतसम्वत्सरलक्षण प्राकृतिक सम्वत्सर से सर्वात्मना समतुलित हो रहा है, जैसाकि समतुलन मानवेतर अन्य किसी भूतभौतिकसर्ग के साथ अभिव्यक्त नहीं है।

११४-मानव--मानवी के समसाम्मुख्य से विष्वद्वृत्तीय पूर्ण सम्वत्सरमण्डल का संग्रह, एवं सम्वत्सर के ४८ अंशों के साथ मानव--मानवी के ४८ पशुओं (फँसलियों) का समतुलन—

क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न सम्वत्सर का क्रान्तिवृत्त एक, तो मानव-मानवी का सम्मिलितरूप से पूर्णाण्डरूप वृत्त भी एक ही। क्रान्तिवृत्त का परिसर २४ अंश के व्यासार्द्ध से निष्पन्न हुआ है, जिस से पूरा परिसर ४८ अंशात्मक बन रहा है। ४८ अंशात्मक क्रान्तिवृत्तीय परिसर के २४ अंशों की अभिव्यक्ति तो मानव में होती है अर्द्धाण्डकटाह के माध्यम से, एवं २४ अंश ही अभिव्यक्त होते हैं अर्द्धाण्डकटाह के माध्यम से मानवी में। ये ही २४-२४-पशु (फँसलियाँ) हैं। क्रान्तिवृत्तीय अर्द्धभाग के २४ अंश ही मानव के २४ पशुओं के निर्म्माता हैं, एवं अर्द्धभाग के २४ अंश ही मानवी की २४ फँसलियों के निर्म्माता हैं। दोनों के संकलन से ४८ फँसलियाँ हो जातीं हैं, और यही क्रान्तिवृत्तीय परिसर के ४८ अंशों के साथ मानवसंस्था का समतुलन है। क्रान्तिवृत्तीय सात पूर्वापरवृत्तों में से मध्य का वृत्त ही 'बृहतीछन्द' है, जिसे व्यवहारभाषा में-'विष्वद्वृत्त' कहा गया है। इसी से मानव-मानवी के मेरुदण्ड का निर्म्माण हुआ है। मानव-मानवी के समसाम्मुख्यरूप दाम्पत्यभाव से दोनों के मेरुदण्ड मिल कर एक परिपूर्ण (पूरा) विष्वद्वृत्त बन जाता है। जिसप्रकार मध्यस्थ विष्वद्वृत्त से दक्षिणोत्तर पशुस्थानीय २४ अंश आबद्ध हैं उस सम्वत्सर में, ठीक उसी प्रकार से अंशस्थानीय २४ पशु विष्वद्वृत्तस्थानीय मेरुदण्ड से आबद्ध हैं। पशु संलग्न हैं मेरुदण्ड से वत्तुलवत् बनते हुए क्रान्तिवृत्तीया पार्थिवगति से सम्बन्ध रखने वालीं दक्षिणोत्तर की परमक्रान्तियों से। इसप्रकार मानव मानवीरूप मानवीय दाम्पत्यसर्ग सर्वात्मना क्रान्तिवृत्तीय सम्वत्सर से समतुलित है। यही अपने भूतभौतिक-मानवादि-स्तम्बान्त-सर्ग के साथ सम्वत्सरकाल का वह अञ्जनभाव (व्याप्तिभाव) है, जिसे लक्ष्य बना कर ही श्रुतिने कहा है-'स इमा विश्वा भुवनान्यञ्ज्यत्'-(प्रतिमानरूपेण मानवसर्गे, अंशरूपेण च इतरसर्गेषु)।

११५-अक्षरप्रधान सत्यसम्वत्सर, क्षरप्रधान ऋतसम्वत्सर, एवं सत्यगर्भित ऋतसम्वत्सर की कालाश्वता का समन्यवय—

काल के दो स्वरूप उपस्थित हुए पूर्वसन्दर्भापेक्षया हमारे सम्मुख, जिन्हें क्रमशः सत्यसम्वत्सर, एवं ऋतसम्वत्सर नामों से व्यवहृत किया गया है। दोनों क्रमशः अक्षर-क्षर-प्रधान बनते हुए अमृत-मृत्यु-रूप हैं। प्राण 'अमृत' तत्त्व है। यही अक्षर है, एवं तद्रूप सत्यसम्वत्सर ही 'अमृत-सम्वत्सर'-है-'प्राणो वै

सम्वत्सरः' (ताण्ड्यब्रा, ५।१०।३)। भूत 'मृत्यु' तत्त्व है, यही-'क्षरः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार क्षर है, तद्रूप ऋतसम्वत्सर ही 'मृत्यु-सम्वत्सर' है-'एष वै मृत्युर्यत्सम्वत्सरः' (शत० १०।४।३।१।)। अक्षरामृतरूप सत्यसम्वत्सर का नाम है **अमूर्त्त अव्यक्त-काल**, एवं क्षरमृत्युरूप ऋतसम्वत्सर का नाम है **मूर्त्त-व्यक्त-काल**। अथर्ववेदीय-कालसूक्त में दोनों को एकरूप मानते हुए दोनों का 'कालाश्व' नाम से संग्रह हुआ है। कालाश्व का पूर्वरूप (अव्यक्ताक्षररूप) ही सत्यसम्वत्सर है, एवं कालाश्व का उत्तररूप (व्यक्तक्षररूप) ही ऋतसम्वत्सर है। सत्यसम्वत्सर मानव के सत्यधर्म्मा 'अव्ययपुरुष' से समतुलित है, तो मानव का ऋतधर्म्मा प्राकृतात्मक प्राकृतिक स्वरूप ऋतसम्वत्सर से समतुलित है। यों पुरुष-प्रकृति भावानुबन्ध से दोनों सम्वत्सर मानवसंस्था में समन्वित हो रहे हैं, एवं यही सम्वत्सर की अङ्गनरूपा व्याप्ति का संक्षिप्त निदर्शन है। अब इस दिशा में केवल यह एक प्रासङ्गिक प्रश्न यही शेष रह जाता है कि-सत्य-ऋत-भावापन्न, अव्यक्त-व्यक्त-मूर्त्ति-अमूर्त्त-मूर्त्त-इस कालाश्व को 'सम्वत्सर' नाम से क्यों व्यवहृत किया गया ?, किंवा कालाश्वप्रजापति 'सम्वत्सर' नाम से कैसे प्रसिद्ध होगए ?। इसी शेषप्रश्न का समाधान करता हुआ द्वितीय मन्त्र का यह शेषांश हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है कि-'**कालः स ईयते प्रथमो नु देवः**'।

११६-कालाश्व की यजुःप्राणात्मिका गति, एवं 'कालः स इयते प्रथमो नु देवः' भाग का समन्वय—

मन्त्रभाग का '**ईयते**' यह क्रियापद ही कालाश्व के 'सम्वत्सर' नाम का समन्वय कर रहा है। गत्यर्थक 'इण्' धातु से कर्म्म में 'यक' प्रत्यय के द्वारा ही-'ईयते' क्रियापद सम्पन्न हुआ है। अव्यक्ताक्षरप्राण ही वह यजुःप्राण है, जिसे हमने पूर्वपरिच्छेदों में 'गति' तत्त्व कहा है, एवं तत्रैव जिसके आगति-गति-स्थिति-भावों का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। ऋक्सामरूप वयोनाध (छन्द) पर आरूढ वयोरूप गतिधर्म्मा यजुःप्राण ही अपने स्वायम्भुवरूप से अव्यक्तकाल कहलाया है, एवं यही अपने सौररूप से व्यक्त कालाश्व कहलाया है। प्राण का अव्यक्तभाव ही प्राणप्रधान अक्षरभाव है, एवं प्राण का व्यक्तभाव ही भूतप्रधान क्षरभाव है। इन दोनों अमृत-मर्त्य-भावों की समन्वितावस्थाका नाम हीं '**कालप्रजापति**' है, जिसका अर्द्धभाग अमृतप्राणाक्षरात्मक है, तो अर्द्धभाग मृत्यु-क्षरात्मक है *। अमृतमृत्युरूप कालाश्व की मूलप्रतिष्ठारूप विशुद्ध-निरपेक्ष-स्थितिरूप वह अव्ययब्रह्म है, जिसका यह कालाश्व प्रतीकविधि से दृष्टान्त बन रहा है। वही अनन्ताव्ययब्रह्म '**समब्रह्म**' कहलाया है सर्वत्र समरूपेण समवस्थित रहने के कारण। इस '**सम**' का संग्राहक ही '**सम्**' उपसर्ग माना गया है, जिसका अर्थ है-'एकीभाव' (**समित्येकीभावे**)। प्रकृतिमूलक नानाभावों, भेदभावों को एकरूप में परिणत किए रहना उसी समब्रह्म का धर्म्म है। अतएव प्राणगतिरूप कालाश्व इसी 'सम्' रूप 'समाव्यय' से एक '**वत्सर**' बन रहा है, जो इस 'सम्' के सम्बन्ध से ही आगे चल कर-'**सम्वत्सर**' रूप में परिणत होगया है। अव्ययब्रह्माधारेण एकत्वभाव में परिणत नानाभावानुबन्धी गतिरूप प्राकृतिक विवर्त्त ही-'**सम्वत्सर**' शब्द का पारिभाषिक समन्वय है।

---

* **अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्।**

११७–कालाश्व की सम्वत्सरता का समन्वय, एवं 'सम्वत्सर' शब्द का निर्वचन—

'सन्'–एकत्र वसन्–सन्–त्सरति–गच्छति' ही 'सम्वत्सर' शब्द का एक निर्वचनार्थ है। जिसका तात्पर्य्य यही है कि, किसी एक धरातल पर प्रतिष्ठित–सीमित–रहता हुआ गतिशील प्राण ही सम्वत्सर है। और यही प्राणप्रधान–अक्षरात्मक–सत्यसम्वत्सर का निर्वचन है, जबकि भूतप्रधान–भूतपति–क्षरात्मक–ऋत–सम्वत्सर का निर्वचन उक्त निर्वचन से सर्वथा विभिन्न ही माना गया है। इस द्वितीय निवर्चन में 'सम्वत्सर' शब्द का वास्तविक रूप है–**'सर्वत्सर'**, जो परोक्षभाषादृष्टि से–'सम्वत्सर' कहलाने लग पड़ा है। **'सर्वतः–त्सरति–गच्छति'** ही 'सर्वत्सर' शब्द का निर्वचनार्थ है। क्रान्तिवृत्त का वृत्तत्व **'छद्मगति'** से ही सम्पन्न हुआ है (त्सरति–छद्मगतिभावेन सम्पन्नो भवति–त्सर–छद्मगतौ)। 'कुटिलगति' का नाम ही छद्मगति है, एवं यही 'त्सरति' है।

११८–सम्वत्सराधिपत्य के लिए देवासुरों की प्रतिद्वन्द्विता, एवं तत्र देवताओं का विजय, तथा असुरों का पराभव—

तात्पर्य्य यही है कि–वृत्त की प्रतिबिन्दु कुटिल बनी रहती है। यह कौटिल्य ही वृत्त का स्वरूप-निर्म्मापक बना करता है। सूर्य्य सम्वत्सरमण्डल के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। यह अपने सहजाकर्षण से स्वप्रवर्ग्यभूत भूपिण्ड को केन्द्र की ओर आकर्षित करता रहता है। इसी सौरप्राणाकर्षण से भूपिण्ड गतिशील बन जाता है। सौर प्राण ही इन्द्र कहलाया है। इन्द्रप्राणरश्मियों के प्राणनरूप आघात से उसी प्रकार भूपिण्ड गतिशील बन जाता है, जैसे कि पदाघात से कन्दुक (गेंद) घूमती हुई गतिशीला बन जाती है *। प्रश्न होता है कि, सौरप्राणाकर्षण से भूपिण्ड स्वस्थान से सूर्य्य की ओर गतिशील बनता हुआ सूर्य्यकेन्द्र में हीं क्यों नहीं विलीन हो जाता ?। इस प्रश्न का समाधान है प्राणाकर्षण। जिसप्रकार सौरप्राण भूपिण्ड को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है, तथैव स्वयं भूपिण्ड भी अपने प्राणाकर्षण से सूर्य्य को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। इस समानाकर्षण का नाम ही वह देवासुरप्रतिद्वन्द्विता है, जिससे प्रतिद्वन्द्वी बने हुए सौरप्राणरूप देवदेवता, तथा पार्थिव तमोरूप (भूभानुगत) असुर–**'अस्माकमेवेदं खलु–भुवनम्–अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्'** रूप से भूपिण्ड को स्वाधिकार में रखने की प्रतिस्पर्द्धा करते रहते हैं। पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमणापेक्षया आंशिक सफलता भी मिलती है असुरों को भूपिण्ड पर स्वत्त्वाधिकार–प्रतिष्ठित कर लेने में। किन्तु अन्ततोगत्त्वा सम्पूर्ण विजय सौरदेवताओं को ही उपलब्ध होता है। सम्वत्सरमण्डलदृष्ट्या असुर पराभूत ही होजाते हैं। सम्वत्सरमाध्यम से भूपिण्ड सूर्य्यमण्डलाभिगामी ही बना रहता है। भूपिण्ड के सूर्य्यप्रतिदिक् का तमोमय अर्द्ध भाग भले ही असुरों की सम्पत्ति बन रहा हो। किन्तु सूर्य्यानुगत–ज्योतिर्म्मय–अर्द्ध भूपिण्ड, एवं सूर्य्यसम्मुखावस्थित इस अर्द्ध भूपिण्ड से सूर्य्यपर्य्यन्त व्याप्त–वितानसामात्मक पृथिवीमण्डल पर तो सौरदेव–प्राणों का हीं असपत्न साम्राज्य रहता है। देवदूत **'अग्नि'** के द्वारा इस अदिति पृथिवी पर सौर देवताओं का ही आधिपत्य हो जाता है, जबकि असुरदूत **'सहरक्षा'** नामक आसुराग्नि अपने दौत्यकर्म्म में असफल ही बने रह जाते हैं। (देखिए–शतपथब्रा० १।४।१।३४।)

*** यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्–यद् भूमिं व्यवर्त्तयत्।**
चक्राण ओपशं दिवि। (ऋक्संहिता ८।१४। ।)।

११९–सौर-पार्थिव-आकर्षणमूला-गति की सर्वत्सरता का समन्वय, एवं तन्मूलक 'सर्वत्सर' रूप 'सम्वत्सर'—

उक्त आकर्षण की प्रतिस्पर्द्धा से प्रकृत में यही बतलाना है कि, समानाकर्षण से न तो सूर्य्य ही भूपिण्ड से संलग्न होपाता, एवं न भूपिण्ड ही सूर्य्य से संलग्न होता। अपितु नियत स्थान पर ही व्यवस्थित होता हुआ भूपिण्ड सूर्य्याभिमुख बना रहता है। समानाकर्षणमूला दो गतियाँ 'स्थिति' भाव की जननी बन जाया करतीं हैं। समानबलशाली दो मल्लों के द्वारा अपनी अपनी ओर आकर्षित किए जाने वाली रज्जु स्थिर होजाया करती है। यदि सूर्य्य, और भूपिण्ड में समानाकर्षण है, तो सूर्य्यवत् भूपिण्ड को भी स्थिर हो जाना चाहिए था। किन्तु ऐसा है नहीं। स्थिर सूर्य्य के चारों ओर नियत–अन्तर से भूपिण्ड परिक्रमा लगा रहा है। ऐसा क्यों ?, प्रश्न का उत्तर है समानाकर्षणानुगता सौरप्राणगति की बलवत्ता। 'आकर्षण'–त्वेन दोनों गतियाँ समाना हैं। किन्तु सूर्य्य का आकर्षण कहीं प्रबल–प्रबलतर–प्रबलतम है भूपिण्डप्राणाकर्षण के समतुलन में। अतएव दोनों आकर्षणों में बलवत्तम सौर आकर्षण का ही विजय होजाता है। भूपिण्ड को सूर्य्याभिमुख बनते हुए गतिशील बन जाना पड़ता है उसी प्रकार, जैसेकि अपनी अपेक्षा से कहीं बलवत्तम प्रमाणित पारमेष्ठ्य आकर्षण से (भूपिण्डापेक्षया स्थिर बने हुए) सूर्य्य को भी परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाते रहना पड़ता है। किंवा जैसेकि सूर्य्यापेक्षया स्थिर भी परमेष्ठी को स्वापेक्षया बलवत्तम स्वयम्भू के चारों ओर घूमते रहना पड़ता है। इस प्राकृतिक परिभ्रमण-मर्य्यादा से तो एकमात्र स्वयम्भू ही अतीत माने गए हैं–**'ऊर्ध्वस्तस्थौ'** *।

सौरप्राबल्य से भूपिण्ड गतिमान् बन गया, चल पड़ा। किस ओर चल पड़ा भूपिण्ड ?, अब यह प्रश्न उपस्थित होपड़ा। प्रत्यक्षदृष्ट्या तो यही समझ में आ रहा है कि, अपने सत्यभावापन्न ऋजुधर्म्म से गति भी ऋजुपथ का ही अनुसरण करती है। किसी पिण्ड को कराघात से जब हम गति प्रदान करेंगे (फैंकेंगे), तो वह कराघातानुगता ऋजुदिशा में (सीधा) ही तो गतिशील बनेगा। इसी सामान्य नियमानुबन्ध से गतिमान् भूपिण्ड को भी ऋजुभाव का ही अनुसरण करना चाहिए था। किन्तु ऐसा होता नहीं। होता यह है कि-जिस बिन्दु पर भूपिण्ड प्रतिष्ठित है, वह ऋजुभाव से यद्यपि जाना चाहता है सीधा ही, किन्तु सौर-केन्द्राकर्षण से भूपिण्ड की यह बिन्दुगति ऋजुभाव को छोड़कर छद्मगतिरूप में परिणत हो जाती है, कुटिलगतिरूप में परिणत होजाती है। कुटिलबिन्दु से पुनः–ऋजुभाव की अनुगति का प्रयास, तो पुनः उसी हृदयाकर्षण से उत्तरबिन्दुगति की कुटिलभाव में परिणति। इस धारावाहिक-बिन्दु–बिन्दु–कौटिल्य का परिणाम यह होता है कि, कुटिलभावानुगता ऋजुगतिसमष्टि से वृत्तभाव आविर्भूत हो पड़ता है। **प्रतिबिन्दु को कुटिताओं की समष्टि का नाम ही वृत्तात्मक मण्डल है**, यही निष्कर्ष है। और यही सम्वत्सरमण्डलरूप क्रान्तिवृत्त की–'सर्वतः–त्सरति' (सब ओर से, प्रति बिन्दु–बिन्दु–रूपेण–कुटिल–गतिमान्) रूप **'सर्वत्सर'** भाव है, एवं यही क्रान्तिवृत्तात्मक ऋत–व्यक्त–नामक दूसरे मर्त्यसम्वत्सर के तत्त्वसम्मत 'सर्वत्सर' शब्द का निर्वचनार्थ-समन्वय है।

---

*–तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥
—ऋक्सं० १।१६४।१०।

१२०–द्वितीय मन्त्रार्थोपराम—

उक्त सर्वत्सरता का परिणाम क्या होता है ?, दूसरे शब्दों में आकर्षण–विकर्षण–मूलक इस पार्थिव–परिभ्रमण का लाभ क्या है ?, उपयोगिता क्या है ?, प्रश्न का समाधान भी 'सम्वत्सर' शब्द के गर्भ में हीं निहित है। कुटिलपरिभ्रमणात्मक सर्वत्सरभाव से ही क्रान्तिवृत्तीया सम्पूर्ण भूतमात्राएँ प्रवर्ग्यरूप से सम्वत्सर-मण्डल से पृथक् होकर भूत–भौतिक–पदार्थों के निर्म्माण में उपयुक्त होतीं रहतीं हैं। यदि यह छद्मगति न होती, तो सम्वत्सरमात्राओं का विस्रंसन–क्षरण–असम्भव था। क्षरण के अभाव में क्षरभूतपदार्थों का निर्म्माण असम्भव था। यह गतिभाव ही विस्रंसन के माध्यम से भूतसर्ग का जन्मदाता बन रहा है, एवं यही सर्वत्सररूपा नियमित गति की महती उपयोगिता है। इस सर्वात्मक क्षरण से भी इस ऋतसम्वत्सर को–'सर्वत्सर' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है। इसी निर्वचन–रहस्य का समष्टिरूप से संग्रह करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है कि—

स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवेवास, तदहरकुरुत। अथ यदस्माऽअसुरान्त्ससृजानाय तम–इवास, तां रात्रिमकुरुत। तेऽअहोरात्रे। स ऐक्षत प्रजापतिः–'सर्वं वाऽअत्सारिषं, य इमा देवता असृक्षि' इति–स 'सर्वत्सरो'ऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतत्, यत्–'सम्वत्सर' इति।

—शत० ११।१।६।११,१२,।

इति द्वितीयमन्त्रार्थसङ्गतिः

२

—✻—

(३)–तृतीयमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (तृतीयमन्त्रार्थ)

१२१–'पूर्णः कुम्भोऽधिकाले–आहितः' इत्यादि तृतीय मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय—

३–पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्कालं तमाहुः परमे व्योमन्॥

'उस काल के आधार पर ही (काले–अधि, काल में हीं) पूर्णकुम्भ प्रतिष्ठित है, जिस पूर्णकुम्भ को हम सन्तगण (मन्त्रद्रष्टा–सत्ताब्रह्मोपासक महर्षि) अनेकरूप से देखते रहते हैं। (अनेकरूपों से प्रतीयमान) यह पूर्णकुम्भ ही इन सम्पूर्ण भुवनों-लोकों का आत्मा (प्रभवात्मिका आभ्यन्तरप्रतिष्ठा) बना हुआ है। (जिस काल में भूतप्रतिष्ठारूप पूर्णकुम्भ प्रतिष्ठित–आहित है) उस काल को (वैज्ञानिक) महर्षि–"परमेव्योमन् (परमाकाश) कहा करते हैं (जिसका कोई मापदण्ड नहीं है)" इत्याद्यक्षरार्थात्मक प्रकृत

तृतीय मन्त्र के द्वारा कालपुरुष के अव्यक्त–व्यक्त–नामक उन्हीं दोनों विवर्त्तों का एक अन्य दृष्टिकोण से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, जिन दोनों विवर्त्तों का द्वितीय मन्त्रार्थ-समन्वय-प्रकरण में **सत्यसम्वत्सरात्मक–अमूर्त्त–अव्यक्त–काल**, तथा **ऋतसम्वत्सरात्मक-मूर्त्त-व्यक्त-काल** रूप से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। **'कालः काले आहितः'** (**काल काल में ही प्रतिष्ठित है**) इस सूत्र के माध्यम से ही हमें प्रस्तुत तृतीय-मन्त्रार्थ का समन्वय कर लेना चाहिए।

१२२–महाविश्व में पूर्णकुम्भ का अन्वेषण--प्रयास, एवं तदनुबन्धेनैव कूर्म्मप्राणी, तथा कूर्म्मप्रजापति का दृष्ट्यनुबन्धी--संस्मरण—

मन्त्रार्थसमन्वय के लिए सर्वप्रथम हमें उस 'पूर्णकुम्भ' के स्वरूप का अन्वेषण कर लेना **है**, जो हमारी चक्षुरिन्द्रिय का विषय बना करता है, किंवा अन्यान्य भूतादि पदार्थों की भाँति जिस पूर्णकुम्भ को हम अनेक रूपों में विभक्त देखा करते हैं। किसी निरावरण प्रान्त में जाकर स्वस्थतापूर्वक-प्रकृतिस्थ बन खड़े हो जाइए, एवं जिस भूपृष्ठबिन्दु पर आप खड़े हों, वहाँ से खड़े खड़े ही अपने चारों ओर के निरावरण प्रान्त पर दृष्टि डालिए। क्या देखेंगे आप इस दृष्टिनिपेक्ष के द्वारा ?। उत्तर स्वयं आप ही यह देदेंगे कि–"चारों ओर सर्वथा वर्त्तुल (गोलाकार) पार्थिव धरातल, एवं वर्त्तुल पार्थिव धरातल के वर्त्तुलान्त परिधिमण्डल से संलग्न एक तने हुए वर्त्तुल ही छाते के आकार का आकाशमण्डल ही हम देख रहे हैं"। मस्तकोर्ध्वभागीय आकाशवृत्त, दूसरे शब्दों में तने हुए छाते, किंवा गुब्बारे की भाँति, किंवा अर्वाग्बिल–ऊर्ध्वबुध्न शिरःकपाल * की भाँति चारों ओर उत्तरोत्तर अधोऽधः नत होता हुआ पार्थिव वर्त्तुल क्षितिज से संलग्न खगोलीयवृत्त, और तत्संलग्न सपाट पार्थिव–वर्त्तुल-धरातल, ऐसे प्रत्यक्षदृष्ट आकार से समतुलित कोई प्राणी क्या आपने कभी इस धरातल पर देखा है ?। आप कहेंगे, देखा है, और अनेक बार देखा है। वही दृष्ट–श्रुत–वर्णितोपवर्णित प्राणीविशेष **'कूर्म्म'** (**कछुआ**) नाम से प्रसिद्ध है आपके लोकव्यवहार में। कूर्म्म का ऊपर का वेष्टन ऊर्ध्व आकाशवृत्त से समतुलित है, एवं कूर्म्म का भूसंलग्न अधोभाग सपाट पार्थिवधरातल से समतुलित है। निरावरणप्रान्तीय पूर्वोक्त दृश्य से यों कूर्म्मप्राणी सर्वात्मना समतुलित है। कठोर कमठपृष्ठ ही मानो ऊर्ध्वाकाश है, एवं कोमल कमठाधोभाग ही मानो पार्थिव धरातल है।

१२३–अग्निचयनमूला कूर्म्मचिति, तत्प्रतीकमाध्यमेन कश्यपप्रजापति का संस्मरण, एवं प्राणात्मक कश्यप, तथा प्राणीरूप कूर्म्म के आकारों का समतुलन—

कूर्म्म का अन्वर्थ नाम है **'कश्यप'**। क्योंकि यह अपने कशभागों से ही पानी पीता है–(कशाभ्यां पिबतीति कश्यपः)। इस प्राणी का कश्यप नाम वर्णविपर्य्ययरूप से ऋतसम्वत्सरप्रजापति के साथ सम्बद्ध होगया है। अतएव वह 'कश्यपप्रजापति' कहलाने लग गया है। क्या वह कशों से पानी पीता है ?। नहीं,

*--**अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।**
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥
—शतपथब्रा० १४।५।२।२५।

अपितु उसकी कश्यपता तो वर्णविपर्य्ययमूला पश्यकता से अनुप्राणिता है-'**कश्यपः कस्मात्-पश्यको भवति**'। अतएव पश्यकरूप कश्यप (कछुए) के रूप में परिणत होकर ही वह अपने विश्व का पश्यक बन रहा है। यही क्योंकि अपने भूत-भौतिक-मर्त्य-प्रजासर्ग उस कश्यपाकार को '**कश्यप प्रजापति**' कह दिया जाता है। का कर्त्ता है। अतएव '**यदकरोत्-तस्मात् कूर्म्मः**' इस निर्वचन के आधार पर उस पश्यक का नाम '**कूर्म्मप्रजापति**' भी होगया है, जिसका पुराणशास्त्रने-'कूर्म्मावतार' रूप से विशद निरूपण किया है। जिसप्रकार कश्यपप्राणी का कश्यप नाम पश्यकधर्म्मत्त्वेन उस 'कर्तृधर्म्मा कूर्म्म प्रजापति' से समन्वित होगया है, तथैव उस 'कूर्म्म' का नाम इस कश्यपप्राणी के साथ समन्वित होगया है। यों कश्यप (कछुआ) 'कूर्म्म' नाम से, तथा कूर्म्म (प्रजापति) 'कश्यप' नाम से प्रसिद्ध होगए हैं। इस प्रसिद्धि का मूल है-प्राण, और प्राणी की प्राणनिबन्धना समानता। योंतो सभी प्राणी कूर्म्मप्रजापति के प्राण से ही सम्भूत हैं। किन्तु कूर्म्मप्रजापति के साम्वत्सरिक प्राण का आपोमय-अब्गर्भित-मूल-कूर्म्मप्राण कश्यपप्राणी में क्योंकि अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रधान बना रहता है। अतएव इस कश्यपप्राणी को उस आपोमय-पूर्वनिर्दिष्ट छन्दोमय आकार से आकारित-छन्दित-कूर्म्मप्राण का प्रतिमान मान लिया है। जिसप्रकार वह कूर्म्मप्राण चारों ओर से अर्णव-समुद्र से वेष्टित रहता है, तथैव तत्प्राणप्रधान यह कश्यपप्राणी भी अब्गर्भ में हीं सन्तरण करता रहता है। अतएव सम्वत्सराग्निचिति में उस आपोमय-अब्गर्भित कूर्म्मप्राण के संग्रह के लिए कश्यपप्राणी का भी समावेश होता है, जैसाकि-'**स कूर्म्ममुपदधाति। अवका उपरिष्टात्, अवका अधस्तात्**' (शतपथ) इत्यादि से स्पष्ट है। प्राणों, एवं तद्रूप विभिन्न प्राणियों के इसी साम्य से भारतीय तत्त्वविज्ञानकाण्ड में नामकरण व्यवस्थित हुआ है। अश्व--गौ--वृषभ--महिष--उष्ट्र--रासभ--मयूर--कोकिल--आदि आदि जो भी प्राणी-नाम सुने जाते हैं, वस्तुतः ये सब प्राकृतिक प्राणों के ही नाम हैं। प्राण-नाम से ही प्राणी-नाम प्रसिद्ध हुए हैं। एवं प्राणधर्म्मानुबन्ध से ही वैदिकी-'**प्राणीविद्या**' (जन्तुविद्या--जन्तुशास्त्र) व्यवस्थित हुई है। इसी प्राणसाम्य से प्रकृत में हमने प्राकृतिक कूर्म्मप्राण की प्रतिकृतिरूप कश्यपप्राणी का दिग्दर्शन करा दिया है उस कूर्म्मप्राण के प्रत्यक्षदृष्ट आकारविशेष के समतुलन--माध्यम से।

१२४-पारमेष्ठ्य विष्णुभगवान् के कूर्म्मावतार का समन्वय—

हाँ, तो अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना चाहिए कि, इस कश्यपप्राणी के आकार से समतुलित पूर्वप्रदर्शित निरावरणप्रान्तीय दृश्य का ही नाम '**कूर्म्मप्रजापति**' है, जिस में दधि--घृत--मधु--ये तीन रस समाविष्ट हैं; सौर सत्यसम्वत्सराग्नि से विनिर्गत द्रवभावापन्न प्रवर्ग्यात्मक आपोमय रसाग्नि ही कूर्म्म की स्वरूपव्याख्या है, जिसका-'**तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्**' (शत० ६।१।१।१२) इत्यादिरूप से निरूपण हुआ है। सत्यसम्वत्सरप्रजापति के प्रथमावतार--स्थानीय ऋतसम्वत्सरप्रजापति का नाम हीं '**कूर्म्मवतार**' है, जिसे '**आपोमय अग्न्यवतार**' कहा जायगा। सत्यसम्वत्सर आग्नेय प्राणात्मक है। अतएव उस में आप्यप्राणात्मक आसुरभाव का प्रवेश निषिद्ध माना गया है, जबकि उसी सत्यसम्वत्सर के 'मरीचि' नामक आपःसमुद्र (अर्णवसमुद्र) के गर्भ में ऋताग्नि-ऋतसोम से समन्वित ऋतसम्वत्सर आपोभाव से देवासुरप्रतिद्वन्द्विता की क्रीड़ास्थली बन रहा है, जैसाकि पूर्व के 'सर्वत्सरात्मक' सम्वत्सर--नामनिर्वचन प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जाचुका है। आपोमय अर्णवसमुद्र का गर्भीभूत, अतएव आपोभाव से चारों ओर से

परिवेष्टित ऋताग्नि ऋतसोमात्मक--त्रैलोक्यरसमूर्त्ति ऋतसम्वत्सर ही 'कूर्म्म' है । अतएव इसे आपोमय--रसाग्निसोममूर्त्ति (ऋताग्निसोममूर्त्ति) भी कहा जासकता है। इसी साम्वत्सरिक कूर्म्म को लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

रसो वै कूर्म्मः । यो वै स एषां लोकानां-अप्सु प्रविद्धानां पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स एष कूर्म्मः । यावानु वै रसः, तावानात्मा । स एष इमऽएव लोकाः ।

—शत० ७।५।१।१।

१२५–स्तौम्य--पार्थिव--उख्या--रूपा कूर्म्मत्रिलोकी, एवं तदाधारभूता रोदसीत्रिलोकी–

ऋताग्निसोमरसात्मक इस कूर्म्मप्रजापति की व्याप्ति पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–नामक उस त्रैलोक्य में है, जो पार्थिवी स्तौम्यत्रिलोकी कहलाई है । सत्याग्नि–सत्यसोमात्मक (सूर्य्य–चन्द्रमात्मक) सत्यसम्वत्सर भी त्रैलोक्यात्मक है, एवं ऋतसम्वत्सरात्मक कूर्म्म भी त्रैलोक्यात्मक है । किन्तु दोनों त्रिलोकियों के स्वरूप में महान् विभेद है । सत्यसम्वत्सर की त्रिलोकी में सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड–रूप तीन लोक हैं, जबकि ऋतसम्वत्सर में भूपिण्ड से संलग्ना महिमा पृथिवी के (जो महिमापृथिवी अपने रथन्तरसाम से सूर्य्यपर्य्यन्त व्याप्ता मानी गई है) त्रिवृत् (६)–पञ्चदश (१५)–एकविंश (२१)–नामक तीन पार्थिव–स्तौम्य लोक हैं, जिसे **स्तौम्यत्रिलोकी--पार्थिवत्रिलोकी--उख्यात्रिलोकी--कूर्म्मत्रिलोकी**--इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है । उधर वह सत्यसम्वत्सरत्रिलोकी–**'रोदसीत्रिलोकी'** नाम से प्रसिद्ध है ।

१२६–कूर्म्मरूप कश्यपप्रजापति से काश्यपी-प्रजा की प्रवृत्ति, एवं तदाधारभूत श्रौतसन्दर्भ का समन्वय—

पार्थिव–त्रिलोकी (पार्थिव–महिमामण्डलात्मक स्तोमानुबन्धी त्रैलोक्य) के पृथिवी का घनरस ही दधि है, अन्तरिक्ष का तरलरस ही घृत है, एवं द्युलोक का विरलरस ही मधु है । यों तीनों लोक तीनों रसों से समाप्लुत हैं । कूर्म्मप्रजापति इन तीन रसों की समाप्लुतावस्था ही है । इन्हीं त्रैलोक्य-कूर्म्मरसों से प्राणियों के घन–तरल–विरल–रसभावों का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है । ऊपर ऊर्ध्वकपाल, नीचे समानधरातलात्मक अधः कपाल, दोनों कपालों का मध्यविवर, ये ही द्यौः–अन्तरिक्ष–पृथिवी–नामक तीन लोक हैं कूर्म्मप्रजापति के, जो अपने एक ही रस से लोकभेद से घन–तरल–विरल–अवस्थाओं में आते हुए त्रिरसात्मक बने हुए हैं । इस आकाररूप–छन्दोरूप–में परिणत होकर ही कूर्म्मप्रजापतिरूप ऋतसम्वत्सर पार्थिवप्रजा का सर्ज्जन करते हैं । इस प्रजासर्गकर्तृत्व से ही इन्हें–'कूर्म्म' कहा जाता है । ये ही प्रजा के द्रष्टा–स्रष्टा बनते हुए **'पश्यक'** हैं । पश्यकत्वेनैव इन्हें (वर्णविपर्य्य से) **'कश्यप'** भी कहा गया है । सम्पूर्ण प्रजा इसीसे उत्पन्न है । अतएव लोक में [उस विज्ञानयुगात्मक पूर्वलोक में–अतीत युग में] यह लोकव्यवहार प्रसिद्ध है [था] कि–'सम्पूर्ण **प्रजाएँ काश्यपी ही तो हैं,** * । कूर्म्मप्रजापति के इसी स्वरूप को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

---

*–इसी परम्परा के आधार पर राजस्थान में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि–'**जिसका कोई गोत (गोत्र) नहीं, उसका** कश्यपगोत (**कश्यपगोत्र**)" ।

तस्य यदधरं कपालं--अयं स लोकः। तत्प्रतिष्ठितमिव भवति। प्रतिष्ठित-इव ह्ययं लोकः। अथ यदुत्तरं--सा द्यौः। तद्व्यवगृहीतान्तमिव भवति। व्यवगृहीतान्तेव हि द्यौः। अथ यदन्तरा-तदन्तरिक्षम्। स एष इमऽएव लोकाः। तमभ्यनक्ति-दध्ना, मधुना, घृतेन। दधि हैवास्य लोकस्य रूपं, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य। दधि हैवास्य लोकस्य रसः, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य। स यत्कूर्म्मो नाम-(तदुच्यते)। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत, अकरोत्तत्। तत्--यत्-अकरोत्, तस्मात् कूर्म्मः। कश्यपो वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः-सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' इति।

---शत० ७।५।१।२ से ५ वीं कण्डिकापर्य्यन्त

१२७--खगोलीय--भूगोलीय खस्वस्तिक--अधःस्वस्तिक भावों का समन्वय, तदनुबन्धी जन्मलग्न, एवं एककाल में सम्पूर्ण विश्व में एक ही प्राणी की प्रसूति का दिग्-दर्शन—

जो त्रैलोक्यविभाग, एवं देवविभाग सत्यसम्वत्सर में हैं, वे ही लोकादि विभाग 'कूर्म्म' रूप ऋतसम्वत्सर में हैं। अन्तर केवल अक्षर-क्षरात्मक अमृत-मृत्युभावों का है। सत्यसम्वत्सर अक्षरप्रधान बनता हुआ जहाँ अक्षुण्ण है, अमृत है, वहाँ ऋतसम्वत्सर क्षरप्रधान बनता हुआ विस्रस्त ÷ है, मृत्यु है। अन्य सभी भावों से यह उसकी प्रतिमा ही बना हुआ है, जिस इस प्रतिमाभूत, कूर्म्मरूप ऋतसम्वत्सर का 'प्रतिमान' ही माना गया है मानवसर्ग। आकारसाम्यानुगत सर्वसाम्य '**प्रतिमासाम्य**' है, एवं तत्त्वानुगत आंशिक साम्य '**प्रतिमान-साम्य**' है। उस सम्वत्सर के प्रतिमारूप इस सम्वत्सर के प्रतिमान का नाम हीं मानवसर्ग है। प्रत्येक मानव क्योंकि स्व-स्व-पूर्णाभिव्यक्तित्व से परिपूर्ण है। अतएव प्रत्येक परिपूर्ण मानव का स्रष्टा कूर्म्मप्रजापति भी पृथक् पृथक् है। मानव के शिरोऽन्तःस्थानीय ब्रह्मरन्ध्र से आबद्ध आकाशवृत्तीय केन्द्र का नाम है-'**खस्वस्तिक**', एवं मूलग्रन्थ्यनुगत भूवृत्तीय केन्द्र का नाम है-'**अधःस्वस्तिक**'। इन दोनों ऊर्ध्वाधः-द्यावापृथिव्य स्वस्तिक-केन्द्रों के आधार पर ही गर्भस्थ मानव के नाभिकेन्द्र से संलग्न स्वतन्त्र कूर्म्मत्रिलोकी का आविर्भाव होजाता है, जिसकी दध्यादि रसत्रयी से ही मानव का स्वरूप-निर्म्माण होता है, जिस इस फलितज्योतिर्भावानुगत सुसूक्ष्म रहस्य के लिए तो-'**लग्नविद्या**' का ही स्वाध्याय करना चाहिए।

जैसाकि-मन्त्रार्थ का उपक्रम करते हुए कहा गया था, निरावरणप्रान्त में जहाँ भी मानव खड़ा होता है, वहीं के खस्वस्तिक-अधःस्वस्तिक के आधार पर मानवकेन्द्र के माध्यम से जो कूर्म्माकार बनेगा, वही इस मानव का अपना कूर्म्मत्रैलोक्य कहलाएगा। इसी प्रातिस्विक लग्न का नाम जन्मकाल होगा, यही खगोलीय ग्रहोपग्रहों का व्यवस्थापक होगा, यही '**समय**' कहलाएगा, जो प्रत्येक मानव का पृथक् पृथक् ही होगा ग्रहकक्षावृत्तों

÷ प्रजापतेर्ह प्रजाः ससृजानस्य पर्वाणि विसस्रंसुः। स वै सम्वत्सर एव।

--शत० १।६।३।३५।

के केन्द्रानुगत स्वातन्त्र्य से । इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकलेगा कि-"**एक समय में सम्पूर्ण विश्व में एक ही-वही-मानव उत्पन्न होता है**" । प्रत्येक मानव का उत्पत्तिकाल कूर्म्मत्रैलोक्य के भेद से सर्वथा पृथक् पृथक् ही रहेगा । जबकि मानव में प्रतिव्यक्ति स्वतन्त्र केन्द्र रहेगा, वहाँ मानवेतर प्राणियों का केन्द्र एक ही होगा प्राकृतिक कूर्म्मप्रजापति । अतएव वहाँ वैकारिकी कालमीमांसा का कोई सम्बन्ध नहीं माना जायगा । अतएव च मानवेतर प्राणियों के साथ फलादेश का कोई समन्वय नहीं होगा । अपितु इन का भाग्य तो सर्वात्मना उस महाकालचक्रात्मक महाकूर्म्म से ही आबद्ध रहेगा, जबकि स्वतन्त्र केन्द्रत्वेन स्वतन्त्र कूर्म्मत्रैलोक्यनिर्म्माता मानव स्वतन्त्र पुरुषार्थ में सक्षम बनता हुआ अपना भाग्यनिर्म्माता बन सकेगा । केन्द्रविच्युत मावन ही तो अपने इस कूर्म्मरूप से अपरिचित रहते हुए इतर प्राणियों की भाँति भाग्यवशवर्त्ती (प्रकृतिवशवर्त्ती) बने रहते हैं ।

१२८--'पूर्णकुम्भ' का तात्त्विक--स्वरूप--परिचय—

कालाश्वमूर्त्ति सत्यसम्वत्सरप्रजापति स्रष्टा हैं, विश्वकर्म्मा हैं रोदसीत्रैलोक्य-गर्भिता प्रजा के । अपने इस प्रजननात्मक सृष्टिधर्म्म का प्रथम उपयोग कहाँ किया ?, सर्वप्रथम क्या उत्पन्न किया सत्यप्रजापति ने ?, यह प्रश्न है, जिसका समाधान पूर्व के प्रतिमाभाव से हो जाता है । यदि शास्त्रीय '**प्रजापति**' शब्द से, एवं इस से प्रसूत '**प्रतिमा**' शब्द से समाधान-समन्वय-सम्भव नहीं है, तो उस दशा में लौकिक प्रजापति, एवं इनके लौकिक प्रतिमानसर्ग-की ओर ही लोकमानवों का ध्यान आकर्षित किया जायगा । सुप्रसिद्ध घटनिर्म्माता मानव ही-लोक में 'प्रजापति' कहलाया है *, जिसे प्रान्तीयभाषा में-'**कुम्हार**' कहा गया है । घट का ही दूसरा नाम-'**कुम्भ**' है । अतएय यह '**कुम्भकार**' भी कहलाया है संस्कृतभाषा में । जिस आकार से घट का यह मृद्भाग से अलातचक्र के आधार पर निर्म्माण करता है, वह घटाकार व्यक्त घट से पूर्व ही कुम्भकार के मनोधरातल में प्रतिष्ठित रहता है । मृद्भाग से यह अपने मानसिक घट को ही व्यक्तरूप प्रदान कर देता है । यह व्यक्तघट ठीक वैसा ही आकर लिए होता है, जैसा आकार कुम्भकार के मानसिक अव्यक्तघट का होता है । यह घट नष्ट होजाता है, विस्रस्त होता रहता है । किन्तु वह प्राणात्मक सांस्कारिक मूलघट कभी नष्ट नहीं होता । अतएव वह यदि सत्यघट है, पूर्णघट है, भराघट है, तो यह ऋतघट है, अपूर्णघट है, रिक्तघट है । यों प्रजापतिरूप सत्यघट की यह ऋतघट प्रतिमा ही बना हुआ है ÷ । जैसा आकार इस पार्थिव-मृण्मय घट का है, ठीक वैसा ही आकार उस साम्वत्सरिक-'घट' का है, जो सत्यसम्वत्सर का प्रथम निर्म्माण माना गया है । प्रथमनिर्मितत्वनैव वह

***-घटानां निर्म्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ।**

—महिम्नस्तोत्रे

÷ इसी पूर्णता की कामना से भारतीय प्रत्येक शास्त्रीय-आचार में, एवं लौकिक सांस्कृतिक आयोजनों में जलपरिपूर्ण घट का संस्थापन अनिवार्य्य माना गया है । एवं उस प्राजापत्य पूर्णघट की प्रतीकता से इस परिपूर्ण-वारुणघट का भी पूजन होता है । पूर्णघट का साम्मुख्य भी इसी आधार पर '**शकुनवसन्तराज**' में माङ्गलिक शकुन मान लिया गया है ।

'घट' उस सत्यप्रजापति की **'प्रतिमा'** कहलाया है। मृण्मय घटवत् वह प्रतिमात्मक घट क्षरणधर्म्म से विस्रस्त होता रहता है। अतएव उसे भी रिक्त–अपूर्ण–घट–कहना चाहिए था। किन्तु नहीं कहा जाता उसे–रिक्त–अपूर्ण-घट। इसलिए नहीं कहा जाता कि, सत्यसम्वत्सर का कार्य्यकारणभाव महिमात्मक बनता हुआ नित्य है। **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** रूपेण अक्षरात्मक सत्यप्रजापति क्षरात्मक ऋतघट को उत्पन्न कर प्रतिष्ठारूप से तद्-गर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं। अतएव यह क्षरघट क्षरित-विस्रस्त होता हुआ भी अपने रूप से अक्षर-अमृत-पूर्ण-ही बना रहता है। अतएव सत्यसम्वत्सरप्रजापति के प्रतिमाभूत घट को तो ÷ **'पूर्णघट'**, किंवा–**'पूर्णकुम्भ'** ही कहा जायगा, जो कि प्रथमकार्य्यरूप, एवं प्रार्थिवप्रजा का कारणरूप पूर्णघट स्वाधारभूत–स्वजनिता–पिता–सम्वत्सररूप अव्यक्त काल में हीं समर्पित रहता है।

१२६--अग्निचयनानुबन्धी 'उखासम्भरण' कर्म्म, तदनुगता उख्या त्रिलोकी, एवं तद्रूप आग्नेय साम्वत्सरिक उख्यकुम्भ—

चयनयज्ञ में एक कर्म्म–**'उखासम्भरण'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसका स्वरूप यही है कि, एक उखा [मृण्मय घट] में अरणिमन्थन से प्रसूत अग्नि प्रतिष्ठित किया जाता है, एवं इसे एक वर्षपर्य्यन्त सुरक्षित रक्खा जाता है। तदनन्तर इष्टका के द्वारा विनिर्म्मित पञ्चचितिक-वेदिस्थान में स्थित उत्तरावेदि के आहवनीय में इस साम्वत्सरिक उख्याग्नि को प्रतिष्ठित कर इस में आहुति दी जाती है। सम्वत्सरपर्य्यन्त उखा नामक मृण्मयघट में अग्नि को स्थापित किए रहना हीं **'उखासम्भरण'** कर्म्म है, जिस का मूल वही पूर्वोक्त पूर्णघट बन रहा है। त्रैलोक्यरूप सम्वत्सर ही तथोपवर्णित कूर्म्माकार से घट है, जिस में सम्वत्सर पर्य्यन्त सम्वत्स–राग्नि स्थापित रहता है। अनन्तर इसी की **'चिति'** से पार्थिवसर्ग का निर्म्माण होता है। वही उख्यघट कूर्म्म–त्रैलोक्य के सम्बन्ध से **'उख्यात्रिलोकी'** कहलाई है, जैसाकि–**'इमे वै लोका उखा'** [शत० ६।५।१।१७।] इत्यादि से स्पष्ट है। पार्थिव अग्नि, आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य–आदित्य–प्राणत्रयीरूपा ऋतसोमगर्भिता अग्नि–त्रयी इस त्रैलोक्यरूपा उखा में सम्वत्सर परिमाण से सम्भृत है, यही प्राकृतिक उखा–सम्भरण है, जो अध्या–त्मसंस्था में भी इसी रूप से समतुलित है। उदरगुहा पृथिवी है, उरोगुहा अन्तरिक्ष है, कण्ठगुहा द्युलोक है, समष्टित्रयीरूप मृण्मय-भौतिक शरीर ही * त्रैलोक्यरूपा उखा [घट] है, जिस में अग्निमूर्त्ति वैश्वानर, वायु-मूर्त्ति तैजस, तथा आदित्यमूर्त्ति प्राज्ञरूप कूर्म्मरस परिपूर्ण है। यह मानवीय उखा उस दैवी उखा का ही प्रति–मान है, जो कि दैवी उखा उस दिव्य सम्वत्सर की प्रतिमा बनी हुई है। शब्द है वास्तव में–**'उत्खा'**।

÷ साम्वत्सरिक-प्राजापत्यसर्ग की सभी प्रक्रियाएँ घटनिर्म्माता प्रजापति-कुम्भकार के घटनिर्म्माणकर्म्म में सर्वात्मना समाविष्ट हैं। इसी क्रियासाम्य से वह प्रजापतिशब्द इस कुम्भकार के साथ भी समन्वित हो गया है, जिन साम्य का विशद विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य में द्रष्टव्य है।

---

*–अतएव सन्तभाषा में शरीर 'घट' नाम से प्रसिद्ध होगया है, जबकि इस अमृतरसपरिपूर्ण भी घट को [मानवशरीर को] भावुकतावश सन्तोंनें– **'माटी की काया'** कह कर इस की ब्रह्मपुरता की अवहेलना ही कर डाली है।

सत्यप्रजापति के तपने त्रैलोक्यरसों को मानो खोद-खोद कर ही इस पार्थिव त्रैलोक्यरस का स्वरूप-सम्पादन किया है कूर्म्मरूप से । अतएव इसे 'खननात्' 'उत्खा' कहना अन्वर्थ बन रहा है। यही 'उत्खा' शब्द परोक्षभाषा में-'उखा' कहलाने लग पड़ा है ÷ ।

१३०-आग्नेय पूर्णकुम्भ, सौम्य पूर्णकुम्भ, एवं दोनों कुम्भों की क्रमशः आङ्गिरस-भार्गव--रसों से सम्पूर्णता—

उक्त सन्दर्भ का निष्कर्ष यही हुआ कि, सत्यसम्वत्सर से प्रवर्ग्यरूपेण प्रथम आविर्भूत ऋत-सम्वत्सर का ही नाम 'कूर्म्म' है, तदवच्छिन्ना पार्थिव-त्रिलोकी ही 'पूर्णकुम्भ' है, जिस में दधि-घृत-मधुरूप त्रैलोक्यरस परिपूर्ण हैं। रसपरिपूर्णता से ही यह कुम्भ-'पूर्णकुम्भ' कहलाया है, और यही है क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न व्यक्त-मूर्त्त कालात्मक वह पूर्णकुम्भ, जो कि अपने प्रतिष्ठारूप उस सत्यसम्वत्सरात्मक-अव्यक्त-अमूर्त्त काल में प्रतिष्ठित रहता हुआ तदभिन्न प्रमाणित हो रहा है।

अब एक दूसरे दृष्टिकोण से क्रान्तिवृत्तीय सम्वत्सर की पूर्णकुम्भता का समन्वय कर लीजिये। पूर्णकुम्भात्मक क्रान्तिवृत्तीय सम्वत्सर को हमने-'ऋत' कहा है, जिसका अर्थ है ऋताग्नि, और ऋतसोम। उख्या-त्रिलोकी, किंवा कूर्म्मत्रिलोकीरूप वही पूर्णकुम्भ **आग्नेय कुम्भ** है, एवं यही त्रैलोक्मात्मक पूर्णकुम्भ ऋत-सोम की दृष्टिसे **'सौम्य कुम्भ'** है। आग्नेय कुम्भ का पारिभाषिक नाम **'उखा'** है, एवं सौम्य कुम्भ का पारिभाषिक नाम **'द्रोण'** है। दोनों हीं कुम्भ हैं, दोनों हीं कलश हैं। एक उख्यकुम्भ, किंवा उख्यकलश है, तो एक द्रोणकुम्भ, किंवा द्रोणकलश है। अग्निदृष्ट्या वही ऋतसम्वत्सर उख्यकुम्भ है, एवं सोमदृष्ट्या वही सम्वत्सर द्रोणकुम्भ है। जिसप्रकार इस त्रैलोक्यकुम्भ में त्रैलोक्य का शवसोनपात् अग्निरस (ऋताग्नि) परिपूर्ण है, तथैव इसी त्रैलोक्यकुम्भ में त्रिलोकी से अतीत चतुर्थ-पारमेष्ठ्य-लोकीय सोमरस भी (ऋतसोम भी) परिपूर्ण है।

१३१-सौम्य-मधुकलश की वारुणकुम्भता का समन्वय—

यह 'पूर्णकुम्भ' शब्द इन दोनों अग्नि-सोम-कलशों का, किंवा ऋताग्नि-ऋतसोमात्मक सम्पूर्ण सम्वत्सर का संग्राहक बन रहा है। ये दोनों कुम्भ, किंवा एक ही कुम्भ के दोनों महिमाविवर्त्त ही क्रमशः साम्वत्सरिक **अहः**, एवं **रात्रि** के स्वरूपाधिष्ठाता बने हुए हैं। आग्नेय पूर्णकुम्भ अहः का, तथा सौम्यकुम्भ रात्रि का प्रवर्त्तक बनता है। अहोरात्रयुक्त दोनों आग्नेय-सौम्य-कुम्भ मिलकर एक दाम्पत्यकुम्भ है, जिस अग्नीषोमात्मक पूर्णकुम्भ से ही प्रजासर्ग प्रवृत्त है। दोनों में प्रजनशक्ति रात्र्यनुगत सौम्य कुम्भ में ही है। अग्नीसोमाहुति से ही प्रजोत्पत्ति हुई है। सोम ही उत्पादक शुक्र है। अतएव प्रजननधर्म्मानुगत गार्हस्थ्य-जीवन से

÷--एतद्वै देवा एतेन कर्म्मणा--एतया-आवृता (पद्धत्या) इमाँल्लोकान्-उदखनन्। यदुदखनन्--तस्मात्--'उत्खा'। 'उत्खा' ह वै तं--'उखा' इत्याचक्षते परोक्षम्"।

——शत० ६।७।१।२३।

अनुप्राणित आचारधर्म्मों में सौम्यकलश को ही प्रधानता दी गई है-**'वरुणस्योत्तम्भनमसि०'** * इत्यादि रूप से। **'त्वमपोऽजनयत्'** के अनुसार आप: तत्त्व सोम का ही प्रतिरूप है। इस सोमसम्पति के संग्रह के लिए ही माङ्गलिक-आचार-कलशों को जल से पूर्ण कर दिया जाता है, इति नु आचारधर्म्मानुगतं किमपि प्रासङ्गिकमेव।

१३२-उभय-कुम्भों का भारतीय सांस्कृतिक-प्रजा के सांस्कृतिक आचारों में प्रतीकविधि से संग्रह—

और हाँ-प्रजापति (कुम्भकार-कुम्हार) का घट तो आग्नेयघट का ही प्रतीक है, जो उखासम्भरण-कर्म्मानुपात से एक सम्वत्सर से सीमित रहता है। आग्नेय-अलाब (हाव) में अपरिपक्व मृण्मय घटों की चिति होती है। इस अलावाग्नि से इन कच्चे घड़ों का परिपाक होजाता है, तभी कुम्भकार की घटनिर्म्माण-प्रक्रिया सर्वात्मना सम्पन्न होती है। उधर वह आपोमय-कूर्म्मरूप त्रैलोक्यात्मक-ऋतसम्वत्सर घट भी अपरिपक्व ही रहता है अपने आपोभाव से तबतक, जबतक कि सम्वत्सराग्नि उसे परिपक्व नहीं बना देता। सम्वत्सरपर्य्यन्त सम्भृत अग्नि ही उस 'उखा' रूप घट को परिपक्व करता है। यही अवस्था आध्यात्मिक घट की है। गर्भस्थ शिशु आपोमय कूर्म्म की अपरिपक्वावस्थामात्र है, जो मातृगर्भाशय में एक सम्वत्सर (चान्द्रसम्वत्सर) पर्य्यन्त अग्निचिति से रुद्रात्मक बनता हुआ ही एवयामरुत् की प्रेरणा से परिपक्वावस्था में भूमिस्थ बनता है। मानव-मानवी के दाम्पत्य को दृढमूल बनाने वाला संस्कार-विशेष ही धार्म्मिक-परिणय-सम्बन्ध (विवाहसंस्कार) कहलाया है, जो उख्यघट की भाँति सम्वत्सरात्मकरूप से प्रजातन्तुवितान की ही मूलप्रतिष्ठा बनता है। अतएव विवाह-कर्म्म में विवाह से पूर्व वर-कन्या-पक्ष के दोनों हीं नारीवर्गों के द्वारा प्रजापति (कुम्हार) के चक्र का पूजन होता है, जो प्रान्तीयभाषा में-**'चाकपूजना'** (चक्रपूजन) कहलाया है। मङ्गलगान करतीं हुईं सौभाग्यवतीं कुल-नारियाँ कुम्भकार के घर जातीं हैं, वहाँ प्रजापति का पूजन होता है, धराधारभूत अलातचक्र का पूजन होता है, माङ्गलिक घटों का पूजन-शृङ्गार होता है। अनन्तर अमुक संख्याक घट श्रद्धापूर्वक इन स्त्रियों के द्वारा ही लाए जाते हैं विवाहमण्डप में, एवं इन्हें मातृकास्थान में रख दिया जाता है, जहाँ ये एक वर्ष पर्य्यन्त सुरक्षितरूपेण रख दिए जाते हैं। और यह घटस्थापनकर्म्म सम्वत्सराग्नि से परिपूर्ण उख्यघट का ही प्रतीक बन रहा है। इसप्रकार भारतीय आचारपद्धतियों में जलपूर्ण सौम्यघट, एवं सम्वत्सराग्निपूर्ण आग्नेयघट, दोनों हीं प्रकार के घटों का प्रतीकरूप से संग्रह हो रहा है, जो कि भारतीय सांस्कृतिक जनजीवन के **'प्रकृतिवद्धि-कृतिः-कर्त्तव्या'** इस महान् आचारसूत्र का ही महिमामय विवर्त्त है।

---

*—**वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्य-ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥**

—यजुःसंहिता ४।३६।

१३३–अग्निरस–प्रधान उख्यकुम्भरूप कूर्म्मप्रजापति के प्राणीभेद से असंख्य–अनन्त विवर्त्त, एवं–'तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तं' मन्त्रभाग का तात्त्विक समन्वय—

'यच्च किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकं–अग्निकर्म्मैव तत्सर्वम्' इत्यादि के अनुसार दृष्टि [प्रत्यक्ष] का आधार आग्नेय प्राण हीं माना गया है। अतएव आग्नेय ग्रह: के स्वरूप-सम्पादक आग्नेय उख्य–घट को ही हम दृष्टि का विषय मानेंगे। तभी तो अर्थसमन्वयारम्भ में हीं हमने निरावरणप्रान्त में उपस्थित मानव के द्वारा कूर्म्मप्रजापति का साक्षात्कार प्रमाणित किया है। आग्नेय उख्यघटरूपा कूर्म्मत्रिलोकी ही वह पूर्णकुम्भ है, जिस का पूर्वोक्तरूप से हम अपने चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष करते रहते हैं। साथ ही यह आग्नेयघटरूप पूर्णकुम्भ स्वस्वस्तिक–अधःस्वस्तिकरूप से प्रत्येक मानव का भिन्न भिन्न है, यह भी पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। अतएव मानवानुपात से अनन्त विवर्त्त हो जाते हैं इन आग्नेय उन परिपूर्ण कुम्भों के, जिन को अग्नित्वेन हम कूर्म्मत्रैलोक्यरूप से देखा करते हैं। यह भी संस्मरणीय है कि–ये पूर्णाग्नेय कुम्भ भी दो भावों में विभक्त हो रहे हैं। मानव के गर्भकाल से सम्बन्ध रखने वाला कुम्भ [कूर्म्मत्रैलोक्य] पृथक् वस्तुतत्त्व है, जिस से मानव का स्वरूप–निर्म्माण हुआ है। और यह प्रजनयिता कूर्म्मत्रैलोक्यरूप ऋताग्निसम्वत्सर तो यावज्जीवन इसी का साक्षी बना रहता है। साथ ही मानव इस अपने प्रजनयिता कुम्भ को देख भी नहीं सकता महान् कूर्म्म से पृथक् करके। मानव देखता है उस कुम्भ को, जो इस के चक्षुरिन्द्रिय से तत्काल इस के मानसपटल में आता है। यह दृष्ट कुम्भ बदलता रहता है मानव के स्थान–भेद से। बहुधा परिवर्त्तमान इसी कुम्भ के कारण कूर्म्माकाश बदलते रहते हैं, एवं तत्सहैव भाषा–वेश–संस्कारादि में भी उच्चावच परिवर्त्तन होते रहते हैं। कूर्म्मसम्वत्सररूप इन दार्ष्टिविषक परिवर्त्तनीय कुम्भों को लक्ष्य बना कर ही ऋषि ने 'बहुधा' शब्द का प्रयोग किया है तृतीय मन्त्र में, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है। तदित्थं अग्निप्रधान उख्यघटात्मक कूर्म्म के अनेक विवर्त्त हो जाते हैं।

१३४–मध्यरेखात्मिका उर्वशी से अनुप्राणित मैत्रावरुणग्रह, तद्‌द्रोतः-प्रतिष्ठारूप 'द्रोण-कलश', एवं ऋग्वेदीय मैत्रावरुणाख्यान पर एक दृष्टि—

शेष रह जाता है रात्रिस्वरूप–प्रवर्त्तक वह सौम्य घट, जो अपने रात्रिभाव के कारण दृष्टिका विषय नहीं बनता। वही सौम्य घट 'द्रोणकलश' कहलाया है, जो क्रान्तिवृत्तीया स्थिति से अनुमेय ही बनता है, एवं जो ध्रुवप्रोतवृत्त के माध्यम से एकविध ही बना रहता है। अवश्य ही यह उस से अभिन्न है। अतएव उख्यरूप कूर्म्माग्नेय घट की अपेक्षा से तो इसे भी परिवर्त्तनीय ही माना जायगा। किन्तु स्वयं यह अपने प्रातिस्विकरूप से तो एकरूप ही बना रहता है, अपरिवर्त्तनीय ही बना रहता है। इसी सौम्यघट के माध्यम से 'मैत्रावरुणग्रह' व्यवस्थित हो रहा है। रात्रि के १२ बजे से दिन के बारह बजे पर्य्यन्त के अर्द्धभाग को काटता हुआ जो दक्षिणोत्तर-ध्रुवानुगत एक दक्षिणोत्तरवृत्त बनेगा, उसे ही 'उर्वशी' नामक ध्रुवप्रोतवृत्त कहा जायगा, यही रेखा इस द्रोणकलश का मुखस्थान माना जायगा, जिस पर मित्र, और वरुण, दोनों प्राणों का सङ्गम हो रहा है। अद्यतनावच्छिन्न [रात के १२ से दिन के १२ पर्य्यन्त] अर्द्ध–खगोल मित्रकपाल है, जिस में इन्द्रात्मक मैत्रप्राण की प्रधानता है। एवं अनद्यतन [दिन के बारह से रात के१२

पर्य्यन्त] अर्द्धखगोल वरुपाकपाल है, जिस में वरुणात्मक वारुपाप्राण की प्रधानता है । तथोक्त मध्यस्थ-[इन- दोनों पूर्व-पश्चिम,-मैत्र-वारुण-कपालों का विभाजक] उर्वशी नामक ध्रुवप्रोतवृत्त ही वैसा स्थान है, जिस में दोनों प्राण समन्वित हैं। इन दोनों प्राणों का ऊर्वशीप्राण से संगमन होता है। इसी में इसी वृत्त पर वसिष्ठ-मस्त्य-अगस्त्य-नामक तीन योगजप्राण आविर्भूत होते हैं, जिस इस **प्राणसृष्टि** के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही पुराणशास्त्र ने '**मैत्रावरुणाख्यान**' नामक 'असदाख्यान' का संग्रह किया है वैदिक असदाख्यान के आधार पर ही। '**अमुक यज्ञ में मित्रावरुण उपस्थित हुए। वहाँ उर्वशी अप्सरा भी विद्यमान थी। सोमरससे परिपूर्ण द्रोणकलश एक ओर प्रतिष्ठित था। उर्वशी को देख कर मित्रावरुण का रेतःस्खलन हो गया। वह कुछ तो द्रोणकलश में पड़ गया, कुछ कलश के प्रान्तभागों में। इसी मैत्रावरुणशुक्र से वसिष्ठादि उत्पन्न हुए**'' इत्यादि रूप से उपगीयमान जिस पौराणिक आख्यान को सुन कर आज की नवीनप्रज्ञा संक्षुब्ध हो पड़ती है, वह संक्षोभ उस समय सर्वथा निर्मूल हो जाता है, जबकि हम पौराणिक-आख्यानों की भाषा का पारिभाषिक समन्वय जान लेते हैं । हाँ, जो नवीन वेदभक्त इन पौराणिक आख्यानों के आधार पर अनर्गल प्रलाप करने लग पड़ते हैं—उन वेदभक्तों ? का अनुरञ्जन तो ब्रह्मा के द्वारा भी इसलिए सम्भव नहीं है कि, जैसे वे पुराण की परिभाषाओं से अपरिचित हैं, तथैव वेद के अक्षरदर्शनमात्र से भी वे अधिकांश में पराःपरावत ही बने रहते हैं। यदि ऐसा न होता, तो वे कदापि पौराणिक उन मैत्रावरुणादि आख्यानों की असदालोचना में प्रवृत्त होने का साहस न करते, जो आख्यान इसीरूप से सूत्ररूप से उन के मान्य संहितावेद में भी ज्यों के त्यों समाविष्ट हैं । लक्ष्य-बनाने का अनुग्रहकरें वे वेदभक्त इन वचनों को, एवं तदनन्तर ही पुराणस्पर्श का उपक्रम करें।

१-त इन्निण्यं हृदयस्य प्रतीकैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति ।
यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः ॥
२-विद्युतो ज्योतिः परिसञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा ।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार ॥
३-उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः ।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ॥
४-स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान्त्सहस्रदान उत वा सदानः ।
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः ॥
५-सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम् ।
ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥
—ऋक् सं० ७।३३।६। से १३ मन्त्र पर्य्यन्त
६-अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः ।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्त्तस्व हृदयं तप्यते मे ॥
—ऋक् सं० १०।६५।१७।

१३५–ऋग्वेदोपवर्णित–पूर्णकुम्भात्मक–मङ्गलकलशों का मान्त्रिक–संस्मरण—

मैत्रावरुणप्राणसंगमनस्थानरूप याम्योत्तरवृत्तात्मक उर्वशीवृत्त ही सोमरस से परिपूर्ण उस 'द्रोणकलश' का स्वरूप-परिचय है, जिस सोममात्रा से ही उख्यकुम्भात्मक आग्नेय सम्वत्सररूप 'उख्यकलश' से प्रजासर्ग प्रवृत्त है। उख्यकुम्भ से समन्वित इसी सोमररसपरिपूर्ण पूर्णकुम्भ का निम्नलिखित ऋङ्मन्त्रों से यत्रतत्र अपेक्षाभेद से स्पष्टीकरण हुआ है, जिनके अर्थसमन्वय के लिए तो स्वतन्त्र–निबन्ध ही अपेक्षित होगा—

१–धृषत्–पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिस्थानो रयिमस्मासु धेहि ॥
—ऋक्सं० ६।४७।६।

२–इन्द्राविष्णू हविषा वावृधानाग्राद्वाना नमसा रातहव्या।
घृतासुती द्रविणं धत्तमस्मे समुद्रः स्थः कलशः सोमधानः ॥
—ऋक्सं० ६।६६।६।

३–सुत इन्द्राय विष्णवे सोमः कलशे अक्षरत्।
मधुमाँ अस्तु वायवे। (ऋक्सं० ९।६३।३।)।

४–प्र सोमो अति धारया पवमानो असिष्यदत्।
अभि द्रोणान्यासदम् (ऋक्सं० ९।३०।४।)।

५–अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया।
वाजं गोमन्तमक्षरन् (ऋक्सं० ९।३३।२।)।

६–स देवः कविनेषितो भिद्रोणानि धावति।
इन्दुरिन्द्राय महना (ऋक्सं० ९।३७।६।)।

७–अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत्।
सीदयच्छ्ये नो न योनिमा (ऋक्सं० ९।६५।१९।)।

८–आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै।
समु प्रिया आववृत्रन्मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम् ॥
—ऋक्सं० ३।३२।१५।

१३६–'पूर्णः कुम्भः काले–अधि आहितः' का तात्त्विक समन्वय—

उक्त विवेचन के आधार पर अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, सत्याग्निसोममय सम्वत्सरात्मक अव्यक्त–अनन्त–अमूर्त–काल (अक्षरकाल) के आधार पर प्रतिष्ठित ऋताग्निसोममय–क्रान्तिवृत्त–

निबन्धन–व्यक्त–मूर्त्त–काल (क्षरकाल) के ही **अग्निकुम्भ, सोमकुम्भ**–नामक दो महिमा–विवर्त्त हैं अहोरात्ररूपेण, किंवा प्राणनापाननरूपेण। दोनों कुम्भों की समष्टि ही ऋताग्नि–ऋतसोम से परिपूर्ण **'पूर्ण–कुम्भ'** है, जो यह ऋताग्निसोममय–प्रजासर्ज्जक ऋतसम्वत्सरात्मक–व्यक्तकालमूर्ति पूर्णकुम्भ अपने प्रतिष्ठाभूत उस अक्षरकालात्मक सत्यसम्वत्सरकालरूप अव्यक्तकाल में ही गर्भीभूत है। सौरसम्वत्सर–त्रिलोकी के गर्भ में ही वह पार्थिवी स्तौम्यत्रिलोकी प्रतिष्ठित है, जिसे हम कूर्म्मरूप से मानवदृष्टिभेद से अनेक विवर्त्तों–अनेक कुम्भों में देख सकते हैं। सत्ताब्रह्मोपासक आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठ ही प्रकृति के इस रहस्यपूर्ण पूर्णकुम्भात्मक सम्वत्सरचक्र का कूर्म्मरूपेण दर्शन कर सकते हैं। जो जड़भूतवादी इस पूर्णकुम्भात्मक सम्वत्सर के व्यक्ततम–भूतभौतिक विवर्त्त को ही सर्वस्व मान बैठते हैं, उनके लिए तो प्राणात्मक पूर्णकुम्भ अदृष्ट–अश्रुत–ही बना रहता है। सत्तोपासक सन्त ही * उसे देखने में समर्थ बनते हैं। यही–**'पूर्णः–कुम्भः–काले–अधि–आहितः, तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः'** इस तृतीय मन्त्रार्द्ध का अक्षरार्थमात्र-समन्वय है।

१३७–अव्यक्त सत्यकालरूप उत्पीड़क-वृषापुरुष से उत्पीड़ित व्यक्त-ऋतकालरूपा योषा स्त्री, एवं 'कालं कालेन पीड़यन्' इत्यादि मनुवचन का समन्वय—

पूर्णाकुम्भात्मक, कूर्म्मरूपेण प्रत्यक्षदृष्ट काल ही ऋतसम्वत्सरकाल है, जो रोदसीत्रैलोक्यात्मक अव्यक्त–सौरकाल में आहित है। इस दृष्टि से अब काल के ही दो अव्यक्त-व्यक्त–विवर्त्त हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। **'कालं कालेन पीड़यन्'** इत्यादि स्मृतिवचन का **'कालेन'** से सङ्केतित तृतीयान्त काल अव्यक्त–सत्यकाल है, एवं **'कालम्'** से सङ्केतित द्वितीयान्त काल व्यक्त ऋतकाल है, जिसे 'पूर्णकुम्भ' कहा गया है। ऋताग्नि–ऋतसोम आपोभावात्मक हैं अपने ऋतधर्म्म से। अपनी इस ऋतता से ही यह प्रवर्ग्य बन कर प्रजा का उपादान बनता है। **'संक्लिश्य–अप्सु प्राविध्यन्'** रूप सङ्क्लेदन ही इस ऋतकाल का उत्पीड़न है, जो उस सत्य–अव्यक्तकाल की सीमा में हीं प्रक्रान्त है। अतएव उस अव्यक्तकाल को इस व्यक्तकाल का उत्पीड़क मान लिया है राजर्षि ने–इसके ऋतात्मक क्लेदनधर्म्म से। मानवदाम्पत्य में सत्याग्निप्रधान पुरुष यदि सत्याव्यक्तकाल का प्रतिनिधि–(प्रतिरूप) है, तो ऋतसोमप्रधाना स्त्री ऋतव्यक्तकाल का प्रातिनिध्य कर रही है। पुरुषकाल के द्वारा स्त्रीकाल उत्पीड़ित होकर ही प्रजासर्गप्रवृत्ति का कारण बन रहा है। इसप्रकार प्रजासर्ग में भी स्त्रीपुम्भाव से **'कालं कालेन पीड़यन्'** का समन्वय सर्वात्मना समन्वित हो रहा है, जिस इस उत्पीड़न का यथार्थ समन्वय तो मानव को अपने प्रज्ञाक्षेत्र में हीं करते रहना चाहिए। **'वृषा (पुरुषः) योषां (स्त्रियं) अनुधावति'** ही 'कालेन–कालं–पीड़यन्' है। और यही प्रजोत्पत्ति का बीज है।

*** असन्नेव स भवति, 'असद्' ब्रह्मेति वेद चेत्।**
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद 'सन्त' मेनं ततो विदुः॥
—तैत्तिरीयोपनिषत् २।६।१।

१३८–प्रत्यक्–पराक्-शब्दों के वाच्यार्थ का समन्वय, कालपुरुष की विश्वसापेक्षा 'प्रत्यग्रूपता' का निदर्शन, एवं-'स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यक्' मन्त्रभाग की सङ्गति—

काल में (सत्यसम्वत्सर में) प्रतिष्ठित पूर्णकुम्भात्मक (ऋतसम्वत्सररूप) काल उत्पीड़ित होकर करता क्या है ?, मन्त्रोत्तरार्द्ध इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। यही उत्पीड़ित ऋतकाल सम्पूर्ण (विश्वा–विश्वानि–सर्वाणि) भुवनों-भूतभौतिक--पदार्थों का अपने प्रवर्ग्यभाग से दाम्पत्यविधिपूर्वक सर्ज्जन कर--'तत्सृष्ट्वा' विधि से सृष्टा प्रजाओं का 'प्रत्यगात्मा' बन जाता है उसीप्रकार, जैसेकि सत्यकाल से आवि–र्भूत ऋतकाल में प्रविष्ट सत्यकाल इस ऋतकाल का प्रत्यगात्मा बन रहा है। एक ही आत्मभाव के **केन्द्र,** और **बहिः**-रूप से **प्रत्यक्–पराक्**–भेदेन दो विवर्त्त होजाते हैं। केन्द्रस्थ वही आत्मभाव **'प्रत्यक्' कह–**लाया है, एवं पिण्डस्थ वही आत्मभाव 'पराक्' कहलाया है। प्रजाओं का शरीरात्मक बहिःसंस्थान उसी ऋतसम्वत्सर का पराग्भाव है, एवं प्रजाओं का हृदयस्थ अन्तःसंस्थान उसी ऋतसम्वत्सर का प्रत्यग्भाव है। यों प्रजा के **हृदयस्थ आत्मभाव,** एवं **पिण्डात्मक शरीरभाव**-रूपेण वह सम्वत्सर इन दो भावों का प्रवर्त्तक बन जाता है। इन दोनों में शरीरात्मक–पराग्भाव प्रजा का अपना स्वरूप बन जाता है, जबकि प्रजा का हृदयस्थ प्रत्यग्भाव उस सम्वत्सर का ही प्रतिरूप बना रहता है अपने सृष्ट में प्रविष्टरूप से। अतएव प्रजासृष्टि की दृष्टि से उस सर्ज्जक सम्वत्सरकाल को प्रजाभूतों का प्रत्यगात्मा * ही कहा जायगा। **'स इमा विश्वा भुवनानि** प्रत्यङ्' इस वाक्यसन्दर्भ के **'प्रत्यक्'** का यही समन्वय है। **"वह इन सम्पूर्ण-भूत–भौतिक–पदार्थों का प्रत्यक् (हृत्प्रतिष्ठा) ही बना हुआ है"** यही तात्पर्य्यार्थ है।

१३९–'कालं तमाहुः परमे व्योमन्' इत्यादि मन्त्रभाग का समन्वय, एवं प्रक्रान्त तृतीय मन्त्रार्थ का उपराम—

अव्यक्त–अक्षर–कालात्मक-**सत्यसम्वत्सरकाल,** व्यक्त–क्षर–कालात्मक **ऋतसम्वत्सरकाल,** एवं व्यक्ततम विकारक्षरात्मक भूतभौतिकसर्गों के हृदयों में प्रतिष्ठित प्रजासर्गाधारभूत **प्रत्यक्काल,** तीनों हीं काल–विवर्त्त वस्तुतः उस एक ही परमाकाशात्मक स्वायम्भुव काल के विवर्त्तमात्र हैं। वही सत्यकाल **है,** वही ऋत–काल **है,** एवं वही प्रत्यक्काल **है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' ही** तो उसकी महिमा का समन्वय **है।** मन्त्रोपसंहार करते हुए ऋषि ने–**'कालं तमाहुः परमे व्योमन्'** इस अन्तिम वाक्य–सन्दर्भ से कालपुरुष की इसी परमाकाशात्मिका महामहिमा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया **है।**

इति तृतीयमन्त्रार्थसङ्गतिः

३

——*——

*–पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
—कठोपनिषत् २।४।१।

(४) चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (चतुर्थमन्त्रार्थ)

१४०-'स एव सं भुवनान्याभरत्' इत्यादि चतुर्थ मन्त्र का अक्षरार्थ--समन्वय—

४-स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्येत् ।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः ।।

अब सर्वथा संक्षेप से ही यहाँ से मन्त्रार्थसमन्वय-प्रक्रान्त हो रहा है विस्तारभिया । पूर्वोक्त तीनों मन्त्रों के समन्वय-प्रसङ्ग से कालानुबन्धिनी जिन परिभाषाओं का, तथा कालसूक्त से पूर्व के परिच्छेदों में काल, एवं इसके विवर्त्तरूप दिक्-देश-प्रदेश-भावों की जिन परिभाषाओं का दिग्दर्शन हुआ है, हमारी ऐसी आस्था है कि, यदि अवधानपूर्वक उन परिभाषाओं को लक्ष्यारूढ़ बना लिया गया, तो इन शेष मन्त्रों का अर्थसमन्वय स्वतः ही गतार्थ बन जायगा । इसलिए भी अब विस्तारक्रम अनपेक्षित मान लिया गया है । प्रकृत चतुर्थ मन्त्र का अक्षरार्थ यही है कि-"**वह काल ही भुवनों (भूतभौतिक पदार्थों) का भरण-पोषण करता है, वह काल ही इन पदार्थों के चारों ओर वेष्टित हो रहा है । इसप्रकार अपने इस भरणधर्म्म से, तथा वेष्टनधर्म्म से वह काल इन पदार्थों का पिता रहता हुआ भी इनका 'पुत्र' बन रहा है । इस सर्व-व्याप्ति, एवं सर्वरूपता के कारण ही यह कहा जायगा कि, काल से बड़ा उत्कृष्ट और कोई दूसरा तेजस्वी-वर्चस्वी तत्त्व नहीं है (इन भूत-भौतिक-पदार्थों के लिए)**" ।

१४१-मन्त्रोपात्त प्रत्यक्-आभरत्-पर्य्येत्-शब्दों के द्वारा दिक्-देश-प्रदेश-भावों का संग्रह—

तृतीय मन्त्र का 'प्रत्यक्' शब्द (स इमा विश्वा भुवनाति-प्रत्यक्), एवं प्रस्तुत चतुर्थ मन्त्र के-**आभरत्**, तथा पर्य्येति, रूप क्रियापद क्रमशः काल के **दिक्-देश-प्रदेश**-नामक तीन सुप्रसिद्ध विवर्त्तों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं । प्रत्येक पदार्थ छन्दः-रसः-वितानम्-लक्षण साम्वत्सरिक सौर गायत्रीमात्रिक पौरुषेयवेद (व्यक्तकाल) से ही क्रमशः **मूर्त्ति-पिण्ड-महिमा**-इन तीन भावों, संस्थानों में परिणत हो रहा है, जिन इन तीनों संस्थानों का पूर्वके पारिभाषिक परिच्छेदों में विस्तार से निरूपण किया जा-चुका है । छन्दोमयी मूर्त्ति ही पदार्थ का **हृद्य आत्मा** है, रसमय पिण्ड ही पदार्थ का **'पदम्'** है, एवं वितान-मयी महिमा ही पदार्थ का **'पुनःपदम्'** है । आत्मा पदार्थ की हृद्या **मूलप्रतिष्ठा** है, 'पदम्' पदार्थ का **स्पृश्यभाव** है, एवं 'पुनःपदम्' पदार्थ का **दृश्यभाव** है । मूलप्रतिष्ठाभाव ही **दिग्भाव** है, स्पृश्यभाव ही **देशभाव** है, एवं दृश्यभाव ही **प्रदेश**--भाव है । यों **छन्द-रस-वितान**-वेदात्मक **मूर्त्ति-पिण्ड-महिमा**-रूप-**आत्मा-पद-पुनःपद**-लक्षण **प्रतिष्ठा-स्पृश्य-दृश्य**-भावत्रयी ही दिक्-देश-प्रदेश-त्रयी बन रही है प्रत्येक पदार्थ की ।

१४२-दिक्-देश-प्रदेश-लक्षण मूर्त्ति-पिण्ड--मण्डल-भावों की छन्दो-रस-वितान-वेदता, एवं काल की सर्वव्याप्ति—

पदार्थ के पदार्थत्त्व के सर्वस्व बने हुए दिक्-देश-प्रदेशात्मक मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डल-भाव उस ऋताग्नि-**सोममय-छन्द**-रस-वितान-वेदमूर्त्ति-गायत्रीमात्रिकभावापन्न ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्तकाल के ही विवर्त्त बन रहे

हैं। ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्त काल ही हृद्य–आत्मरूप दिग्भाव में, दिग्भाव ही वस्तुपिण्डात्मक देशभाव में, एवं देशभाव ही वस्तुमण्डलात्मक प्रदेशभाव में परिणत हो रहा है। यों काल ही सर्वप्रथम दिग्रूप से अभिव्यक्त होता हुआ दिङ्माध्ययेन देशभाव का, एवं देशमाध्यमेन प्रदेशभाव का प्रवर्त्तक बन रहा है। दूसरे शब्दों में–काल ही अपनी छन्दोरूपा प्रतिष्ठा से दिक् बन रहा है। काल ही अपने रसरूप से देश बन रहा है। एवं काल ही अपने वितानरूप से प्रदेश बन रहा है। वेदात्मक व्यक्तकाल का छन्दोवेद ही पदार्थ का दिग्भाव है, यही हृद्य आत्मा है। इस का रसवेद ही पदार्थ का देशभाव है, यही वस्तुपिण्डात्मक 'पदम्' है। इसका वितानवेद ही पदार्थ का प्रदेशभाव है, एवं यही वस्तुमण्डलात्मक 'पुनःपदम्' है।

१४३–काल के प्रत्यग्रूप से ही मूर्त्तिरूप 'आभरत्' लक्षण 'पदम्' भाव का आविर्भाव, एवं दिक्–देश–प्रदेश–भावों का समन्वय—

पदार्थ का दिग्रूप-मूर्त्तिरूप–हृद–आत्मभाव ही काल का 'प्रत्यक्' रूप है। पदार्थ का देशरूप–पिण्डरूप–पदभाव ही काल का **'आभरत' रूप** है। एवं पदार्थ का प्रदेशरूप–महिमात्मक मण्डलरूप पुनः–पदभाव ही काल का 'पर्य्येति' रूप है। छन्दोरूप से वही काल प्रत्येक पदार्थ का दिग्रूप–प्रत्यगात्मा बना हुआ है, रसरूप से वही काल प्रत्येक पदार्थ को रसप्रदान करता हुआ पदार्थ का देशरूप भरणात्मक–पोषणात्मक–स्वरूप बना हुआ है, एवं वितानरूप से वही काल प्रत्येक पदार्थ के चारों ओर महिमारूप से व्याप्त होता हुआ पदार्थ का प्रदेशरूप बना हुआ है। इन तीनों में से दिग्रूप मूर्त्तिभाव ही काल का छन्दोरूप है, देशरूप पिण्डभाव ही काल का रसरूप है, एवं प्रदेशरूप मण्डलभाव ही काल का वितानरूप है। इन तीनों में दिग्भावात्मक प्रत्यक्काल क्योंकि काल के सन्निकटतम है। अतएव काल के इस छन्दोरूप दिग्भावात्मक प्रत्यग्भाव का कालस्वरूप में ही अन्तर्भाव मान लिया है वैज्ञानिकों ने। अतएव उस प्रथम दिग्रूप प्रत्यक्–विवर्त्त का कालस्वरूप–संग्राहक तृतीय मन्त्र में ही–'स **इमा विश्वा भुवनानि** प्रत्यङ्' रूप से संग्रह कर लिया गया है। अब शेष रह जाते हैं पिण्ड–मण्डलानुगत देश–प्रदेशरूप दो विवर्त्त।

१४४–'भुवनान्याभरत्', एवं 'भुवनानि पर्य्येत्' का तात्त्विक समन्वय—

पारिशेष्यात् प्रकृत चतुर्थ मन्त्र **'आभरत्'** और **'पर्य्येत्'**-रूपसे काल के इन शेषभूत देश और प्रदेश रूप पिण्ड–मण्डल–नामक दो विवर्त्तों को ही लक्ष्य बना रहा है। वस्तुपिण्डात्मक देश ऋताग्निसोमरस से भृत हैं, स्वरूपतः पुष्ट हैं। वस्तुमण्डलात्मक प्रदेश अपने वितानभाव से–महिमामण्डलरूप से इस पिण्ड–वस्तु के चारों ओर व्याप्त है। रसभरण के द्वारा वस्तु को पिण्डरूपता–देशरूपता प्रदान करता है काल अपने रसवेद से। एवं वितानप्रसार के द्वारा वस्तु को मण्डलरूपता–प्रदेशरूपता–प्रदान करता है काल अपने वितान-वेद से। यों काल ही दिग्रूप से वस्तु का प्रत्यगात्मा बनता हुआ देशरूप से सम्भर्त्ता, एवं प्रदेशरूप से परिमण्डल प्रमाणित हो रहा है। वही प्रत्यक् (दिक्) है, वही आभरत् (देश), है, और वही है पर्य्येत् (वही है प्रदेश)। **'स एव सम्भुवनान्याभरत (देशरूपेण पिण्डरूपेण वा), 'स एव भुवनानि पर्य्येत् (प्रदेशरूपेण-मण्डलरूपेण वा)'** * इस पूर्वार्द्ध का यही निष्कर्षार्थ–है।

---

* वस्तुपिण्डं आभरत् रसवेदमाध्यमेन। वस्तुमण्डलं पर्य्येत्–वितानवेदमाध्यमेन। वस्तुपिण्ड एव देशः। वस्तुमण्डलमेव प्रदेशः। इति सर्वं सुस्थम्।

१४५–ऋतसम्वत्सरमूर्त्ति व्यक्तकालप्रजापति से आविर्भूत दिक्--देश--प्रदेश--भाव, एवं तदनुबन्धी पितापुत्रीय--सम्बन्ध का स्वरूप--दिग्दर्शन—

ऐसा क्यों, और कैसे हो पड़ा ?। ऋतसम्वत्सरमूर्त्ति व्यक्तकालप्रजापति पूर्वोक्त तीन (दिक्–देश–प्रदेश–लक्षण मूर्त्ति–पिण्ड–मण्डल)–रूपों में क्यों, और कैसे परिणत होगए ?, यह प्रश्न है। मन्त्रोत्तरार्द्ध 'पिता-पुत्रीय-सम्बन्ध' के माध्यम से इसी प्रश्न का रहस्यात्मक समाधान कर रहा है। सम्वत्सरप्रजापति छन्दोरूप **मनोभाव से काममय हैं, रसरूप प्राणभाव से तपोमय हैं, एवं त्रितानरूप वाग्भाव से श्रममय हैं।** ज्ञानमय **काम** (इच्छा), क्रियामय **तप**, तथा अर्थमय **श्रम**, इन तीनों से समन्वित मनःप्राणवाङ्मय, छन्दोरसवितानात्मक ऋतसम्वत्सरप्रजापति ही भूतभौतिक पदार्थों के **उक्थ-ब्रह्म-साम**-लक्षण **'आत्मा'** हैं, **प्रत्यग्भावस्थानीय हैं**। इन से ही भूतसर्ग उत्पन्न हुआ है इनकी इन तीनों मात्राओं के विस्रंसन से ही। छन्दोरसवितानरूपेण त्रिकल बन हुए सम्वत्सरात्मा से सम्वत्सर के ही विस्रस्तरूप प्रवर्ग्यभाव से उत्पन्न पुत्रस्थानीय प्रजासर्ग में अवश्य ही वही संस्थानक्रम होना हीं चाहिए, जो स्रष्टा प्रजापति में है। इसी आधार पर तो **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** सिद्धान्त स्थापित हुआ है। ऋतसम्वत्सरप्रजापति उपादानकारण हैं पार्थिवप्रजा के। उपादानात्मक कार्य्यकारणभाव **में–'कारणगुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते'** नियमानुसार कारण ही कार्य्यरूप में परिणित हुआ करता है। अतएव उपादानकारण के धर्म्म हीं कार्य्य में समाविष्ट हो जाते हैं। स्रष्टा–स्थानीय कारण पिता है, तो सृष्टिस्थानीय कार्य्य पुत्र है। पितारूप कारण ही पुत्ररूप कार्य्य बना है, बनता है। जबकि उस सम्वत्सरकालपिता में छन्दः–रस–वितान–रूप तीन कारण हैं, तो रूपरसगन्धस्पर्शशब्दात्मक * साम्वत्सरिक भूत-भौतिक-पदार्थों में भी समष्टि-व्यष्टि रूप से उन्हीं तीनों धर्म्मों का समन्वय स्वतःसिद्ध बन जाता है। **'पितासन्–अभवत् पुत्र एषाम्'** का यही संक्षिप्तार्थ-समन्वय है।

१४६–चतुर्थ--मन्त्रार्थसमन्वयोपराम—

दिग्-देश-प्रदेशात्मक, नाम-रूप-कर्म्ममय-यच्चयावत् भूत-भौतिक-पदार्थों की अपेक्षा उस पिता-काल-प्रजापति–सम्वत्सरप्रजापति से अधिक और कोई भी तो तेजस्वी नहीं है। उसी के वर्च से ÷ सम्पूर्ण भूत वर्चस्वी बने रहते हैं। प्रत्येक भूत की जीवनात्मिका स्वरूपसत्ता ही उस भूत का तेज है, वर्च है। यह वर्च उस परमतेजस्वी–वर्चस्वी प्रजापति-सम्वत्सरकाल पर ही अवलम्बित है। काल में (अव्यक्तसत्यसम्वत्सर में) प्रतिष्ठित

---

* **शब्दः स्पर्शश्च रूपश्च रसो गन्धश्च पञ्चमः।**
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः॥

—मनुः

÷ **सम्वत्सर एव वर्चो द्वाविंशः। सम्वत्सरो हि सर्वेषां भूतानां वर्चस्वितमः।**

—शत० ८।४।१।१६।

काल (व्यक्त–ऋतसम्वत्सर) का जबतक इन कालिक पदार्थों पर अनुग्रह रहता है, तभी तक ये वर्चस्वी बने रहते हैं। जिस क्षण भी काल का निग्रह उपस्थित हो जाता है, तत्क्षण ही भूतपदार्थों का वर्चस्व शदरभ्रवत् विलीन हो जाता है–'तस्माद्धै नान्यत् परमस्ति तेजः'।

—इति- चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयः

४

——*——

(५)–पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (पञ्चममन्त्रार्थ)

१४७–'कालोऽमूं दिवमजनयत्'–इत्यादि पञ्चम मन्त्र का अक्षरार्थ—

५–कालोऽमूं दिवमजनयत्, काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते॥

"काल ने उस द्यु लोक को उत्पन्न किया है, और फिर काल ने (ही) इन पृथिवियों को (उत्पन्न किया है)। काल में ही भूत और भविष्यत् (प्रतिष्ठित हैं, एवं काल में ही) इषित (अपेक्षित-ऐच्छिक-वर्त्तमान) प्रतिष्ठित है" इत्यक्षरार्थात्मक मन्त्र ने सम्वत्सरानुबन्धी **आधिदैविकसर्ग** को ही अपना लक्ष्य बनाया है। क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न-अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्रादि निमेषान्त, ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्तकाल जिस अव्यक्त–सत्यसम्वत्सरात्मक–रोदसीत्रिलोकी में प्रतिष्ठित है, उस अव्यक्त–सम्वत्सरकाल में क्योंकि सौरसंस्थात्मक **अधिदैवत-विवर्त्त**, चान्द्रसंस्थात्मक **अध्यात्मविवर्त्त**, एवं भूपिण्डसंस्थात्मक **आधिभौतिकविवर्त्त**, ये तीन विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं, अतएव तत्प्रतिमाभूत ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्तकाल में भी **दैविक-आत्मिक-भौतिक**-इन तीनों सर्गों का समन्वित बने रहना स्वतः एव प्रमाणित हो जाता है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव **पृथ्वीलोक**, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव **अन्तरिक्षलोक**, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न **द्यु लोक** के भेद से स्तोमात्मिका महापृथिवी के इन तीन पार्थिव विवर्त्तों को ही **स्तौम्यत्रिलोकी** कहा गया है विज्ञानभाषा में, जो ये तीनों पृथिवीरूप ही पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यु लोक उस सत्य सम्वत्सरात्मक अव्यक्तकाल के क्रमशः भौम–चान्द्र–सौररूप पृथिवी अन्तरिक्ष–द्यौः–लोकों के प्रतिमान बने हुए हैं। व्यक्तकालात्मक क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न इस स्तौम्यत्रैलोक्यात्मक प्रतिमाप्रजापति के पार्थिव तीनों लोक ही क्रमशः पार्थिव (पृथिवीमण्डल में भुक्त) अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–सर्गों के आविर्भावक बने हुए है।

१४८–'प्राण'-लक्षण अधिदैवतसर्ग, 'प्राणी'-लक्षण अध्यात्मसर्ग, एवं 'भूत'-लक्षण अधिभूतसर्ग नाम की प्राजापत्या सर्गत्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्राण–प्राणी–भूत–भेद से प्राजापत्यसर्ग तीन विभागों में विभक्त है। प्राणसर्ग ही **'अधिदैवतम्'** है, प्राणीसर्ग ही **'अध्यात्मम्'** है, एवं भूतसर्ग ही **'अधिभूतम्'** है। लोष्ट–पाषाणादि–जड़-अचेतन–भूतभौतिक पदार्थ ही भूतसर्गात्मक 'अधिभूतम्' सर्ग है। कृमि–कीट–पक्षी–पशु–प्राकृतमानव–भेद से पञ्चधा विभक्त 'जीव' नामक चेतनपदार्थ ही प्राणीसर्गात्मक 'अध्यात्मम्' सर्ग है। त्रिवृत्स्तोमरूप पृथिवी–

लोक से अभिन्न अग्निप्राणप्रमुख आठ वसुप्राण, पञ्चदशस्तोमरूप अन्तरिक्ष से अभिन्न वायुप्राणप्रमुख ग्यारह रुद्रप्राण, एकविंशस्तोमरूप द्युलोक से अभिन्न आदित्यप्राणप्रमुख बारह आदित्यप्राण, आग्नेय प्राणों एवं रुद्रप्राणों के मध्य का एक सान्ध्यप्राण, तथा रुद्रप्राणों, एवं आदित्यप्राणों के मध्य का एक सान्ध्य प्राण, ये दो सान्ध्य नासत्य दस्र नामक अश्विनीप्राण, सम्भूय त्रैलोक्यात्मक ये तैतीस पार्थिव–त्रैलोक्य प्राण हीं प्राणसर्गात्मक 'अधिदैवतम्' सर्ग है। भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान–नामक तीनों सापेक्षकाल भी अपनी प्रत्यक्ष कालावयवता से व्यक्तकालात्मक बनते हुए प्राणरूप ही बने हुए हैं। अतएव इन तीनों सापेक्ष कालों का भी प्राणसर्गात्मक 'अधिदैवतसर्ग' में हीं अन्तर्भाव हो रहा है। यों लोकाभिन्न ३३ प्राणदेवता, अग्न्यनुगत वर्त्तमानकाल, वाय्वनुगत भूतकाल, एवं आदित्यानुगत भविष्यत्काल, इस तत्त्वसमष्टि का नाम हीं प्राणसर्ग है, और यही अधिदैवतसर्ग है उस ऋतसम्वत्सरात्मक व्यक्तकालप्रजापति का उसके मूलभूत अव्यक्तकाल के रोदसी त्रैलोक्य के सौररूप–अधिदैवत-द्युलोकीय प्राणों का विवर्त्तात्मक ही। इस सर्ग में दिग्देशप्रदेशात्मक भूतधर्म्मों का अभाव है। अतएव भूतानुबन्धी दिग्दशादिभाव अधिदैवतसर्गात्मक प्राणदेवसर्गों के संचरण–गमन–स्थिति-आदि में किसी भी प्रकार से प्रतिबन्धक नहीं बनते। इस मन्त्र से पूर्व के-'**स एव सं भुवनान्याभरत्**' इत्यादि चतुर्थ मन्त्र में जहाँ इसकाल के आधिभौतिक सर्ग का निरूपण हुआ है, वहाँ प्रस्तुत '**कालोमूं दिवमजनयत्**' इत्यादि पञ्चम मत्र से, तथा-'**कालो भूतिमसृजत**' इत्यदि षष्ठ मन्त्र से (दो मन्त्रों से) प्राणविध अधिदैवतसर्ग का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

१४६–पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयोपराम—

वह काल अपने पाणरूप से ही द्युलोक में परिणत हुआ। कालरूप से ही त्रिवृत्–पञ्चदश-एकविंश-रूप तीन * पृथिवीलोकों के रूप में परिणत हुआ। एवं कालरूप से ही भूतभविष्यत्–वर्त्तमानरूप में परिणत हो रहा है। यों छन्दोरूप त्रैलोक्यछन्द से छन्दित–अतएव छन्दों से अभिन्न ३३ प्राणदेवता, तीन सापेक्ष-काल, सबकुछ प्राणप्रधान बनते हुए स्वयं सम्वत्सर के ही प्राणात्मक अधिदैवतस्वरूप को अभिव्यक्त कर रहे हैं। एवं यही प्रकृत मन्त्र का संक्षिप्त अक्षरार्थमात्र–समन्वय है।

इति—पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयः

५

—*—

---

* **यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां, मध्यमस्यां, परमस्यां उत स्थः** (ऋक्सं०)।
तिस्रो वाऽइमाः पृथिव्यः। इयमहैका, द्वे अस्याः परे। (शत० ५।१।५।२१)।

(६)–षष्ठ–मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (षष्ठमन्त्रार्थ)

१५०–'कालो भूतिमसृजत' इत्यादि षष्ठ मन्त्र का अक्षरार्थ—

६–कालो भूतिमसृजत, काले तपति सूर्य्यः।
काले विश्वा भूतानि, काले चक्षुर्वि पश्यति ॥

"कालने भूति उत्पन्न की, काल में सूर्य्य तप रहा है, काल में ही सम्पूर्ण भूत हैं, काल में हीं चक्षु [विषयों को] देखता हैं" इत्यक्षरार्थक मन्त्र भी कालानुगता 'प्राणविभूति' का दिग्दर्शन कराता हुआ काल के अधिदैवतसर्ग का ही स्पष्टीकरण कर रहा है अपनी स्वयंसिद्धा प्राणभाषा में। कथमिति चेत् ?, श्रूयताम्।

१५१–प्राणमहिमात्मक ऐश्वर्य्य, तदनुबन्धी 'श्रीभाव', तदभिन्न अक्षरभाव, एवं भूतानुगत क्षररूप लक्ष्मीभाव, तथा कालप्रजापति के अमृत–मृत्यु–विवर्त्त—

प्राणसर्ग को हमने पूर्वमन्त्रार्थप्रकरण में सम्वत्सरप्रजापति का 'अधिदैवतसर्ग' कहा है। प्राण ही इस ईशिता-[ईश्वर] प्रजापति का वैसा महान् ऐश्वर्य्य है, जिस ऐश्वर्य्य के महिमा-मण्डल में सम्पूर्ण त्रैलोक्य, एवं त्रैलोक्यानुगता देव–भूत–प्रजा प्रतिष्ठित है। पिण्डभाव का जहाँ 'लक्ष्मी' से सम्बन्ध है, वहाँ महिमाभाव का 'श्रीः' से सम्बन्ध माना गया है। यही लक्ष्मी, और श्री के स्वरूप में महान् भेद है। लक्ष्मी के न रहने पर भी श्री रह सकती है, किन्तु श्री के बिना लक्ष्मी की स्थिरता असम्भव है। अतएव दोनों में श्री का स्थान प्रमुख मान लिया गया है। जो विभेद अमृत, और मृत्यु में है, वही विभेद श्री और लक्ष्मी में है। श्री अविनाशी अक्षरभाव है, एवं लक्ष्मी विनाशी-क्षर-भाव है। भूतपिण्ड क्षरप्रधान बनता हुआ विनश्यत् है, एवं यही भूतमयी लक्ष्मी का स्वरूप-परिचय है। भूतमहिमा अक्षरप्रधाना बनती हुई अविनाशिनी है, एवं यही प्राणमयी श्री का स्वरूप-परिचय है। भूतलक्ष्मीरूप मर्त्यभाव सप्त-पुरुषपुरुषात्मक भूतचितिरूप है, तो प्राण-श्रीरूप अमृतभाव इन सात चित्य पुरुषों के मन्थन से ऊर्ध्व विनिर्गत रस है।

१५२–शरीरसंस्थानुगत चित्य–चितेनिधेय–भाव, एवं सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति के श्रीरूप 'भूति' भाव का ऊर्ध्व वितान—

आप के शरीरसंस्थान में हीं दोनों भावों का साक्षात्कार कर लीजिय। सम्पूर्ण शरीर को शिरोभाग, कबन्धभाग, –रूप से दो भागों में विभक्त मान कर अब–दोनों के स्वरूप पर दृष्टि डालिए। मूलग्रन्थि से कण्ठपर्य्यन्त का उदर–उरु– आदि प्रदेश [जिसे आप 'धड़' कहते हैं] चार पुरुषचितियों की समष्टि है, यही 'चत्वारः आत्मा' है। दहिना हाथ, दहिना पैर, दोनों की समष्टि द्विपुरुषचितिरूप 'दक्षिणः पक्षः' है, बायाँ हाथ, बायाँ पैर, दोनों की समष्टि 'उत्तरः पक्षः' है। चत्वारः आत्मा की [धड़ की] मूलप्रतिष्ठा रूप त्रिकास्थिभाग [जिस के तने रहने से शरीरयष्टि तनी रहती है, जिस के मूर्च्छित होजाने से कमर झुक जाती है वार्द्धक्य में सहजरूप से, एवं युवा–प्रौढावस्था में भी प्रचण्ड सत्रानुष्ठान–बैठक–से] ही सातवीं पुरुष–

चिति है, यही 'पुच्छप्रतिष्ठा' है। इसप्रकार चतुर्भागात्मक मध्याङ्ग [धड़], द्विभागात्मक दक्षिणोत्तर पक्ष, एवं एक भागात्मक पुच्छप्रतिष्ठा-रूपेण सात चित्याग्निपुरुषों की समन्वितावस्था का नाम ही हैं-कबन्ध। क्या शिरोभाग में मर्त्यचिति नहीं है ?। है, और अवश्य है। किन्तु शिरोमण्डलस्थ ज्ञानेन्द्रियवर्ग को निकाल देने पर यदि शिरोभाग पर दृष्टि डाली जाती है, तो शिरोभाग उसी प्रकार-निश्चेष्ट-मर्त्यपिण्ड ही बना रह जाता है, जैसाकि कबन्ध। अतएव ऐसे इन्द्रियशून्य मस्तक का तो कबन्ध में हीं अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसे ज्ञान--शून्य व्यक्ति के लिए तो लोक-में भी यही प्रसिद्ध है कि-'**अरे इस के तो माथा ही नहीं है**'। शिर का शिरस्त्व तो ज्ञानेन्द्रियप्राण पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव शिरोभाग से तद्गत अमृतप्राण ही संगृहीत हुआ है।

१५३-अमृत--भावों का अन्तरान्तरीभाव, एवं पशुमस्तक की श्रीलक्षणा भूति का समन्वय—

क्या यह अमृतप्राण शिरोऽतिरिक्त कबन्ध नामक मर्त्यभाग से पृथक् रहने वाला कोई आगन्तुक प्राण **है**, जो बाहिर से आकार शिरोरूप में परिणत होता है ?, नेति होवाच। ऐसा नहीं है ।. अपितु-'**नामृतं मृत्युभिर्विना**'-**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**!-'**अन्तर मृत्योरमृतं, मृत्यावमृतऽमाहितम्**'-**अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्**' इत्यादि वचनानुसार अमृत-मृत्यु-[प्राण-भूत] दोनों अविनाभूत हैं। जिस कबन्धभाग को मृत्युचितिरूप मर्त्यपिण्ड कहा गया है, उस का आधार अमृतप्राण ही है। इसी के आधार पर तो यह मर्त्यपिण्ड स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित-सुरक्षित है। सप्तपुरुषात्मक इस कबन्धरूप सप्तचितिलक्षण पिण्ड का ही, सातों पुरुषों का अमृतप्राणात्मक रस भाग ही ऊर्ध्व वितत हो कर शिरोरूप-अमृतप्राणभाग से अभिव्यक्त हो जाता है। श्रीरूप प्राण के ऊर्ध्वसमुदोहन से ही क्योंकि इस ऊर्ध्व भाग का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। अतएव इस अमृत श्रीप्राण से ही यह ऊर्ध्व भाग 'शिरः' कहलाया है, अतएव तन्त्रशास्त्र ने पशु के मस्तकभाग को-'श्रीः' नाम से व्यवहृत किया है।

१५४-प्राणोपासक भारतवर्ष की सांस्कृतिक--लिपि के आरम्भ के--'श्री' रूप भूतिभाव, एवं वर्त्तमान स्वतन्त्र भारत में तदुपेक्षा—

प्राणोपासक भारतवर्ष इस प्राणरूप श्रीभाव के संग्रह के लिए अपने यच्चयावत् लौकिक-शास्त्रीय-आचार-आयोजनों में पत्रादि में सर्वप्रथम 'श्रीः' का संस्मरण-लेखन अनिवार्य्य मानता है। भारतीय संस्कृति के तत्त्वमूलक आचारधर्म्म से पराङ्मुख, किंवा अपने आपको निरपेक्ष घोषित कर बैठने वाले आज के स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के स्वतन्त्र राष्ट्रीय ? मानवों नें जड़- भूतलक्ष्मी के विमोहन में आकर अपने सभी आचारायोजनों में से 'श्रीः' का बहिष्कार कर अपने आप को शुद्ध मर्त्य-प्राणविहीन जड़पिण्डरूप में हीं परिणत कर लिया है जड़भूतवादी श्रीविहीन केवल भूतलक्ष्मी-लोलुप-प्रतीच्य-राष्ट्रों से यदा कदा उपलब्ध होती रहने वाली अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिमूला-लोकलिप्सा-लोकैषणा के आकर्षण-व्यामोहन से ही।

१५५–श्रीलक्षणा भूति का स्वरूप-परिचायक श्रौत–सन्दर्भ—

हाँ, तो आपने यह देखा, और समझा भी कि, आप के भौतिक–शरीरसंस्थान में कबन्ध, और शिरः-रूप से मर्त्य भूत, एवं अमृत प्राण-दोनों भाव समन्वित हैं। इन दोनों में कबन्धभाग सप्तपुरुषपुरुषात्मक मर्त्यपिण्ड है, एवं शिरोभाग अमृतप्राणात्मिका श्रीः है, जिस की विद्यमानता में कबन्धरूपा चिति ही लक्ष्म-भावानुगता 'लक्ष्मी' की परिचायिका बनी रहती है। आपके इन्हीं दोनों विवर्त्तों को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है-

त एतान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्–यदूर्ध्वं, नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, यदवाङ्–नाभेस्तौ द्वौ। पक्षः पुरुषः (दक्षिणः), पक्षः पुरुषः (उत्तरः)। प्रतिष्ठैक आसीत्। अथ या-एतेषां सप्तानां पुरुषाणां 'श्रीः', यो रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्, तदस्य 'शिरो'ऽभवत्। यत्श्रियं समुदौहन्–तस्मात्–शिरः। अथ यत्प्राणा अश्रयन्त, तस्मादु प्राणाः श्रियः। अथ यत्सर्वस्मिन्नश्रयन्त–तस्मादु शरीरम्। स एष पुरुषः प्रजापतिरभवत्। स यः सः पुरुषः प्रजापतिरभवत्, अयमेव सः-योऽयमग्निश्चीयते। स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्तपुरुषोऽह्ययं पुरुषः–यच्चत्त्वार आत्मा, त्रयः पक्ष– पुच्छानि।

—शत० ६।१।१। प्रथमब्राह्मण

१५६–महासुपर्णरूप सम्वत्सर का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं साम्वत्सरिक कालपुरुषानुगत श्रीरूप भूतिभाव—

क्या आप यह जानते हैं कि, आप का शारीरिक-संस्थान ऐसा क्यों, एवं कैसे व्यवस्थित हुआ ?। अवश्य जानते होंगे। तो लीजिए ! अन्यान्य अत्यावश्यक–लोककर्म्मों में व्यासक्त बने रहने के कारण विस्मृत हो जाने वाले, किन्तु आप के स्वरूपान्तर्गत (प्रज्ञान्तर्गत) उस तथ्य का हम अपनी ओर से ही सम्वत्सर के माध्यम से ही स्मरणमात्र करा देते हैं आप को। आप जिस सम्वत्सर के प्रतिमान हैं, वह क्रान्तिवृत्तीय–व्यक्तकालात्मक ऋतसम्वत्सर अपना यही संस्थानक्रम रखता है। क्रान्तिवृत्तात्मक सम्पूर्ण सम्वत्सरमण्डल ही व्यक्त–कालात्मक आधिदैविक पुरुष है। यही इस की कबन्धात्मिका शरीरसंस्था है। सप्त अहोरात्र–वृत्तात्मक परि–मण्डल ही इस सम्वत्सरशरीर का स्वरूप–परिचय है। ऐसे सप्ताहोरात्रवृत्तशरीरी इस सम्वत्सर का मध्य–स्थ बृहद्वृत्तात्मक बृहतीछन्दो नामक विषुवान् (विष्वद्वृत्त) ही **'चत्त्वार आत्मा'** लक्षण मध्यभाग (धड़) है, षण्मासात्मक उत्तरायणभागसे अनुगता वृत्तत्रयसमष्टि (१२-८-४-अंशात्मिका **जगती-त्रिष्टुप्-पङ्क्ति-छन्दोवृत्तसमष्टि**) ही **उत्तरपक्ष** है, षण्मासात्मक दक्षिणायनभाग से अनुगता वृत्तत्रयसमष्टि (१२-८-४-अंशात्मिका **अनुष्टुप्-उष्णिक्-गायत्री-छन्दोवृत्तसमष्टि**) ही **दक्षिणपक्ष** है, एवं त्रिवृत्स्तोमात्मक पृथिवीलोक का उपक्रम-स्थानीय भूपिण्ड ही इस की **पुच्छप्रतिष्ठा** है। इन सात मर्त्य–चित्य–पुरुषों की समष्टि ही सप्तपुरुषपुरुषात्मक वह **'महासुपर्ण'** है, जिसे सम्वत्सर कहा गया है। इन सातों में अवस्थित श्रीरूप अमृतप्राण ही ऊर्ध्वभाग में आदित्यरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ इस कबन्धात्मक सम्वत्सरमर्त्यशरीर का प्राणश्रीरूप शिरोभाग है, जिस आदित्यप्राण के प्रतीक स्कम्भस्थ प्रत्यक्षदृष्ट भगवान् सूर्य्यनारायण ही इस सम्वत्सरशरीरी महासुपर्ण के

वे 'श्री' स्वरूप हैं, जिस की विद्यमानता में ही सम्वत्सरप्रजापति महिमारूप से अभिव्यक्त हो रहे हैं। यदि आदित्यप्राणात्मक सूर्य्य न रहे, तो सम्वत्सर की वही दशा हो जाय, जो दशा अमृतेन्द्रियप्राणशून्य शवशरीर की हो जाया करती है। अतएव अमृतरूप इस प्राण को ही सम्वत्सर की 'श्री', किंवा सम्वत्सर का महिमात्मक 'ऐश्वर्य्य' कहा जायगा। सम्वत्सर के तथाकथित स्वरूप को लक्ष्य बना कर ही श्रुतिने कहा है–

(१)–अथ ह वा ऽएष महासुपर्ण एव–यत्सम्वत्सरः। तस्य यान्पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति, सोऽन्यतरः पक्षः। अथ यान् षडुपरिष्टात्–सोऽन्यतरः। आत्मा विषुवान्। यत्र वा आत्मा, तत्पक्षौ। यत्र वा पक्षौ, तदात्मा। न वा ऽआत्मा पक्षावतिरिच्यते, नात्मानं पक्षावतिरिच्येते। एवमु हैतदवरेषां चैव, परेषां च भवति।

—शत० १२।२।३।७।

(२)--प्राण आदित्यः (ताण्ड्यब्रा० १६।१३।२)। **अथैष वाव यशः, य एष** (आदित्यः) **तपति** (शत० १४।१।३२)। **श्रीर्वैस्वरः** (शत० ११।४।२।१०)। **स्वरद्देवाः सूर्य्यः** (शत १-१।२।२)।

१५७--श्रीरूपा विभूति, तद्रूप महिमामण्डल, तदात्मक सामवेद, एवं--अमृत मर्त्य–चितियों का समन्वय—

भूतानुगता लक्ष्मी जहाँ भूतपिण्ड से ही आबद्ध रहती है, वहाँ प्राणानुगता श्री भूतलक्ष्मी को स्थिर–प्रतिष्ठा प्रदान करती हुई स्वयं भूतपिण्ड से बाहिर मण्डलरूप से परिव्याप्त हो जाती है। वितान ही प्राण का स्वरूपधर्म्म है, एवं श्री प्राणका ही वैतानिक स्वरूप है। महिमामण्डलरूप साममण्डल का नाम हीं वितानमण्डल है। तभी तो वितान को साम कहा गया है। इस प्राणवितान से ही तो आदित्य को 'साम' कहा गया है। इसीलिए तो महिमारूप विभूतिभाव–ऐश्वर्य्यभाव–के सम्बन्ध में–भगवानने तीनों वेदो में से वितानरूप साम का ही संग्रह किया है–'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (विभूतिरूपेण–वितानरूपेण')। यच्चयावत् भूतभौतिक–पदार्थों में उसी तथाकथित चितिसंस्थान–क्रमानुपात से भूतचिति, एवं प्राणवितान, दोनों मर्त्य–अमृत–भावों का समन्वय हो रहा है।

१५८–'दैवतानि च, भूतानि च' मूलक प्राजापत्य विवर्त्त, एवं भूतविस्तारात्मिका-कालानुगता ऐश्वर्य्यलक्षणा भूति का समन्वय—

इनमें भूतचितिभाग ही भूतानि है, एवं प्राणवितान ही दैवतानि है। 'दैवतानि च भूतानि च' की समन्वितावस्था का नाम हीं पदार्थ का स्वरूप-परिचय है। भूत की प्रतिष्ठा बनता हुआ, भूतकेन्द्र में अणोरणी-यान्‌रूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ प्राण अपने वितानभाव से (रश्मिप्रसारात्मक–अर्चंश्चरन्–लक्षण–प्राणापान-व्यापार से) बहिर्द्धा वितत होता हुआ, भूतपिण्ड को गर्भस्थ बनाता हुआ अपना एक स्वतन्त्र महिमामण्डल बना लेता है, जो कि मण्डल **श्रीमण्डल-यशोमण्डल-विभूतिमण्डल-वितानमण्डल-साममण्डल-ऐश्वर्य्यमण्डल-**

प्राणमण्डल, आदि आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया जासकता है, जो कि मण्डलविद्या ही-**'वषट्कारविद्या'** कहलाई है। भूतकेन्द्र से चल कर भूतपिण्ड से बहिर्द्धा अमुक सीमापर्य्यन्त क्योंकि प्राणमण्डलात्मक श्रीभाव व्याप्त रहता है। अतएव श्री का 'बहिर्द्धेव वै श्रीः' (जै० उप० ब्रा० १।४।६) यह लक्षण मान लिया है श्रुतिने। तदित्थं इस भूतपिण्ड का आधारभूत, एवं भूतपिण्ड को गर्भ में रखने वाला भूतानुगत (भूतपिण्डाधारेण वितत) प्राण-मण्डल ही भूताधारेण वितत होने से 'भूति' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। **भूत का विस्तार ही भूति है।** पिण्ड की मण्डलरूपता ही पिण्ड का विभूतिभाव है। पद्य का गानात्मक विस्तार ही पद्य की विभूति, किंवा भूति है *। जबतक भूति है, तभी तक भूत है। भूति के उत्क्रान्त होते ही भूत 'शव' भाव में परिणत होता हुआ विलीन हो जाता है उसीप्रकार, जैसे कि श्रीविहीना लक्ष्मी की आसक्ति भूतसम्पत्तिमात्रासक्त एक लक्ष्मीभक्त को श्रीविहीन बनाए रहती है।

१५९–श्रीसमन्विता लक्ष्मी की विभूतिपरायणता, एवं 'भूतिश्री' से वञ्चिता जड़भावापन्ना लक्ष्मी का काल के द्वारा निगरण—

श्री से समन्विता लक्ष्मी जहाँ अपने भूतभात्र से दान-भोगानुगता बनी रहती है, वहाँ श्री से वञ्चिता लक्ष्मी का निश्चित परिणाम नाश ही माना गया है ÷। अपने विनाश के साथ साथ ऐसी श्रीविहीना (दानभोग-वञ्चिता) भूतलक्ष्मी सम्पत्तिसंग्राहक को भी सर्वथैव श्रीविहीन–प्राणहीन–ओज–तेज–हीन–शवशरीरी ही बनाए रहती है, जिस इत्थंभूत श्रीविहीन-भूतलक्ष्मीपङ्कनिमग्न के दर्शनमात्र से भी प्राणवान् मानव उद्विग्न हो पड़ते हैं। प्राणवान् मानव ही क्या, ऐसे श्रीविहीन–अर्थगृध्नु–भूतलिप्सु–अर्थलोलुपों से तो जड़–चेतन–सभी उद्विग्न हो पड़ते हैं अपने अपने भूतिरूप प्राणों के अभिभूत हो जाने से। पदार्थ स्व स्व प्राणों से भूतिमान् हैं। किन्तु भूतिशून्य तथाविध शवशरीरी–प्राणहीन–वित्तासक्त के सान्निध्य में जाकर तो इन संसर्गियों का प्राण भी एकबार तो सहसा कुण्ठित ही हो जाता है। इसीलिए शास्त्रने तो 'कृपण'–वित्तलोलुप–श्रीविहीन–भूतपिण्डमात्र व्यक्ति के नामग्रहण को भी अमाङ्गलिक मान लिया है। इति नु प्रासङ्गिकम्। वक्तव्यांश यही है कि, **भूतपिण्ड का प्राणमण्डल ही 'भूति' कहलाई है। और यों भूत–प्राण–भेद से प्रत्येक पदार्थ 'भूत' और 'भूति'** रूप बना हुआ है।

१६०–सम्वत्सरात्मक कालपुरुष के द्वारा ही भूतपदार्थों में मण्डलरूप 'भूति' का वितान, एवं 'सम्भूतिं च विनाशं च' का समन्वय—

प्रश्न यह है कि भूतों में (पदार्थों में) मण्डलात्मिका–यशःश्रीरूपा यह भूति आई कहाँ से ?। प्रश्न इसलिए हो पड़ा कि, स्वयं भूत तो मर्त्य–क्षर-परमाणुओं का संघातमात्र है, पुद्गलमात्र है, जिसमें मण्डल-रूप में परिणत होने की क्षमता ही नहीं है। दिग्देशात्मक धामच्छद भूतपिण्ड तो अपने भौतिक-तन्मित-

---

* विभूतिर्भूतिरैश्वर्य्यमणिमादिकमष्टधा (अमरः)

÷–दानं–भोगो–नाश–स्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति, न भुङ्क्ते–तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

तावान् स्वरूप से ही स्वरूपवान् बन रहा है । मण्डलरूपा भूति भूत के स्वयं के दिक्-देश-भावमात्रानुबन्ध से सर्वथा अनुपन्ना है । इसी प्रश्न का आधिदैविक-प्राणविवर्त्त के माध्यम से समाधान करते हुए ऋषिने कहा है कि-'कालो भूतिमसृजत' । दिग्देशात्मक भूतों (भूतपिण्डों) में भूतिरूप प्राणमण्डल का आविर्भाव 'काल' से ही हुआ है । काल दिग्देश से अतीत रहने वाला अधामच्छद प्राणतत्त्व है, जिसके बलग्रन्थ्य-नुगत भाव ही दिग्देशरूप से भूति के आधार पर भूतपिण्ड के सर्ज्जक बन रहे हैं । दिग्देशात्मक भूत से अतीत, किन्तु आधारभूत-भूतपति-प्राणमूर्त्ति सम्वत्सरकाल ही भूतों में मण्डलरूपा भूति को अभिव्यक्त कर रहा है । कालात्मक प्राण के अन्तर्हित होते ही भूत भूतिरहित बनता हुआ निष्प्राण बन जाया करता है । सर्गकाल में वह सम्वत्सरकाल ही भूतों को भूतिरूपा सम्भूति प्रदान करता है, एवं प्रतिसर्गकाल में वही काल भूतों को 'विनाश' प्रदान कर देता है । दोनों का आधारबिन्दु सर्ग-संहाराधिष्ठाता सम्वत्सरकाल ही बना हुआ है । जो मानव काल के इस-'कालः सृजति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः' के सम्भूति-विनाश-चक्र की अभिन्नता जान लेता है, निश्चयेन वह कालभय से अतिमुक्त हो जाता है-

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥
—ईशोपनिषत् *

१६१--प्राणमण्डलात्मिका कालमयी 'भूति' की साक्षात्कारानुगता दुर्बोध्यता, एवं तदपेक्षया स्थूल उदाहरणों का अनुगमन—

"भूतपिण्डात्मक पदार्थों का प्राणमण्डल ही 'भूति' तत्त्व है, जो कि प्राणात्मक काल की ही विवर्त्तरूपा (महिमारूपा) सृष्टि है" इस निष्कर्ष से अनुप्राणिता 'भूति' को, प्राणमण्डल को अस्मच्छदृश प्राकृत मानव कैसे अपनी प्रज्ञा में प्रतिष्ठित करें ?, दूसरे शब्दों में हम कैसे उस भूतिमण्डल का स्वरूप हृदयङ्गम करें, जबकि भूतपिण्डात्मक पदार्थों की भूतियों का (प्राणमण्डलों का) हमें साक्षात्कार नहीं हो रहा ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए ही मन्त्र का शेषभाग प्रवृत्त हुआ है । विज्ञानदृष्ट्या तो मानव की दृष्टि का (प्रत्यक्ष का) आधार भूतिरूप प्राणमण्डल ही बना करता है । जिस भूतपिण्ड को मानव देखना मानता है, वस्तुतः वह तो स्पृश्यमात्र है, जैसाकि देश-प्रदेश-भावों के स्वरूप-परिचय-प्रसङ्ग से पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाचुका है । प्राणात्मक भूतिमण्डल ही आलोक के माध्यम से दृष्टि का विषय बना करता है । किन्तु सहसा स्थूलदृष्ट्या स्पृश्यपिण्ड-दृश्यमण्डल-का यह विवेक हृदयङ्गम नहीं होता । अतएव ऋषि प्रत्यक्षोदाहरणों से, भौतिक उदाहरणों से, भूतपिण्डात्मक स्थूल उदाहरणों से ही अनुग्रह कर 'भूति' के स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहे हैं ।

१६२-भूतपिण्ड-सूर्य्यपिण्ड, एवं चक्षुरिन्द्रिय-रूपा उदाहरणत्रयी—

यद्यपि उदाहरण तीन हैं, एवं तीनों हीं भूतात्मक हैं । किन्तु तीनों भौतिक उदाहरण अपने अपने प्रातिस्विक विवर्त्तों से क्रमशः अधिदैवत-अधिभूत-अध्यात्म-भावों के संग्राहक बने हुए हैं । प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यपिण्ड,

* इस मन्त्र का वैज्ञानिकार्थसमन्वय तदुपनिषद्भाष्य में द्रष्टव्य है ।

पार्थिव लोष्ट पाषाणादि भूतपिण्ड, एवं मानव का चक्षुरिन्द्रिय, तीनों हीं विवर्त्त भूतपिण्डात्मक बनते हुए जहाँ भौतिक उदाहरण हैं, वहाँ तीनों क्रमशः आधिदैविक (सूर्य्य), आधिभौतिक (भूत), एवं आध्यात्मिक (चक्षु), इन तीन प्राजापत्य–विवर्तों के भी संग्राहक बन रहे हैं। इस दृष्टि को आधार बना कर ही हमें उदाहरणत्रयी का समन्वय करना चाहिए।

१६३–काल, और भूति का जन्य–जनक–भावसम्बन्ध, निरुपाधिका भूति, और सोपाधिका भूति, एवं भूतात्मिका भूति का समन्वय—

स्वयं 'भूतितत्त्व' दिग्देशादि से युक्त भूतपदार्थों के समतुलन में इन भूतों से पृथक् अपना अस्तित्व रखने वाला कालात्मक विवर्त्त है, जिसका जन्यभाव जनक काल पर ही विश्रान्त है। **'कालो भूतिमसृजत'** का भूति तत्त्व वह प्राथमिक भूतितत्त्व है. जो आगे चलकर कालसीमा में व्यक्त–अभिव्यक्त–होने वाले भूतपिण्डों को भूतिभाव प्रदान करने वाला है। जो स्थान काल का है, वही स्थान 'भूति' का है। काल की पूर्वावस्था 'काल' है, तो काल की उत्तरावस्था 'भूति' है। यही जन्य–जनक–भाव है दोनों में, जो भूतानुबन्धी मूर्त्त कार्य्यकारण-भावात्मक जन्य–जनक–भावों से पृथक् तत्त्व है। भूतानुगता भूति जहाँ भूतपदार्थों की कालसीमा में भुक्त है, वहाँ भूतातीता भूति काल से समन्विता रहती हुई कालात्मिका ही बन रही है। कालात्मिका भूति, किंवा भूत्यात्मक काल, दोनों का एक ही अर्थ है–जिसका **'कालः'** इस प्रथमान्त पद से सङ्केत हुआ है। काल से अभिव्यक्त विश्व में वही कालात्मिका भूति दिग्देशोपाधि का रूप धारण कर लेती है। दिग्देशोपाधि में परिणत होजाने वाली भूतात्मिका भूति अब काल से अभिन्न न रह कर भूतों से अभिन्न बन जाती है। अत–एव इस सोपाधिक–भूति को 'कालः' से समन्वित न कर उसीप्रकार **'काले'** से ही समन्वित माना जायगा, जैसे कि भूत्यनुगत दिग्देशात्मक भौतिक पदार्थ 'काले' से ही समन्वित रहते हैं। निरुपाधिका–भूतातीता भूति कालात्मिका बनती हुई 'कालः' ही है, जबकि सोपाधिका–भूतानुगता–भूति भूतात्मिका बनती हुई **'काले'** एव (काल में हीं) प्रतिष्ठिता है। भूतिभाव के जो तीन उदाहरण अत्र उपस्थित हुए हैं, तीनों हीं भूतात्मिका भूति के उदाहरण हैं। अतएव ऋषिने इन तीनों के साथ–**'काले'** इस सप्तम्यन्त पद का ही सन्निवेश अनुरूप माना है।

१६४-'काले तपति सूर्य्यः'-मन्त्रभागानुगता सूर्य्यपिण्डानुगता 'भूति' का समन्वय—

पहिला उदाहरण 'सूर्य्य' है। आधिदैविक–मण्डल का महान् प्रतीक सूर्य्यबिम्ब प्रत्यक्षदृष्टया भूतपिण्ड बना रहता हुआ भी किस प्रकार अपने प्राणात्मक रश्मिप्रसार से त्रैलोक्य में व्याप्त हो रहा है, इस प्रत्यक्षदृष्ट स्थिति में अन्य प्रमाण अनपेक्षित है। सर्वथा विभूतिशाली–भूतिशाली–बने हुए भगवान् सूर्य्यनारायण अपने भूतपिण्डरूप से ही ऐसे वर्चस्वी–तेजस्वी–ओजस्वी–प्रदीप्ततम–प्राणवान्-प्रमाणित हो रहे हैं कि, जिनपर किसी भी भूतवादी की दृष्टि क्षणमात्र भी तो नहीं ठहर सकती। सम्पूर्ण त्रैलोक्य का सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य भूतात्मिका इस **'सूर्य्यभूति'** पर ही अवलम्बित है। पार्थिवपरिभ्रमणानुबन्ध से जब (रात्रि में) सूर्य्य का दर्शन अवरुद्ध हो जाता है *, तो क्या दशा हो जाती है लोकैश्वर्य्य की ?, प्रश्न का समाधान सर्वविदित है। लोकचक्षुरूप

* **नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः।**
उदयास्तमनं चैव दर्शनादर्शनं रवेः॥
––पुराण

सूर्य्य सचमुच त्रैलोक्य की भूति ही बने हुए हैं अपने प्राणप्रतपन कर्म्म से, जोकि प्राणप्रतपनकर्म्म भार्गवाङ्गिरस-अग्नीषोमीय–तपोरूप–प्राणदपानत्–व्यापारलक्षण ही माना गया है विज्ञानभाषा में, एवं जिस प्राणदपानल्लक्षण 'तपःकर्म्म' की ओर सङ्केत किया है ऋषिने--'तपति' क्रियापद से। यही लोकभूति का आधिदैविक प्राण मूर्त्ति सूर्य्यभूतात्मक प्रथम भौतिक उदाहरण है, जिसका–'काले तपति सूर्य्यः' (भूतरूपेण)–इस वाक्य से संग्रह हुआ है।

१६५–अहरागम, रात्र्यागम–निबन्धन सौर--पारमेष्ठ्यभाव, एवं आधिभौतिक--विवर्त्तानुगता भूति का उदाहरण—

अब दूसरे आधिभौतिक–भावापन्न–भौतिक उदाहरण को लक्ष्य बनाइए। जो पदार्थ, जो भूत काल की सीमा में विलीन हो गए, जो कि विलयनभाव इन व्यक्त भूतों की अव्यक्तावस्था कहलाई है, निधनावस्था मानी गई है *, उन अव्यक्त–भूतों की अव्यक्ता भूति का यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। प्रसङ्ग प्रक्रान्त है उन व्यक्त भूतों का, जो व्यक्त सौर विभूतिकाल में सर्वात्मना स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होते हुए हमें प्रतीत होरहे हैं। सम्भूत्यात्मक भूत ही यहाँ भूति के उदाहरण बन रहे हैं। "**भूत स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं, विद्यमान् हैं, किंवा हैं**"- यही इन भूतों की 'भूति' का प्रत्यक्षीकरण है। काल के ही अहः, रात्रि–भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। अहःकाल व्यक्तकाल माना गया है, जिसके साक्षी सूर्य्य हैं। एवं रात्रिकाल 'अव्यक्तकाल' माना गया है, जिसके साक्षी परमेष्ठी हैं। सौर (ऐन्द्र, तथा आग्नेय) अहःकाल ही '**अहरागम**' कहलाया है, एवं पारमेष्ठ्य (वारुण, तथा सौम्य) रात्रिकाल ही ÷ '**रात्र्यागम**' कहलाया है, जिन इन मन्वन्तरानुबन्धी दोनों कालविवर्त्तों का आरम्भ के गणणानन्त्यकाल–प्रसङ्ग–में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। सूर्य्यसत्तात्मक पुण्याहकाल ही '**सृष्टि–काल**' है, एवं परमेष्ठिसत्तात्मक रात्रिकाल ही '**लयकाल**' है।

१६६–चतुर्विंशति-होरात्मक अहोरात्रकाल के अनुपात से भौतिकी 'भूति' के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष–तारतम्य का समन्वय—

महतोमहीयान् दोनों कालविवर्त्तों का हम मानव के चतुर्विंशति–होरात्मक अहोरात्रकाल में भी साक्षात्कार कर रहे हैं। पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमण से होने वाले सूर्य्य के दर्शन-अदर्शन-रूप कालविभागों से अहः (दिन)–रात्रि (रात) का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। दिन में सभी भूतपदार्थ भूतिरूप से हमारे लिए अभि–व्यक्त हो पड़ते हैं, जबकि रात में ये सभी भूतपदार्थ अपने भूतिरूप से अन्तर्म्मुख बनते हुए अभिव्यक्ति से पृथक् ही हो जाते हैं। ज्योतिर्म्मय (आलोकमय) अहः में जो भूतभूति हमें प्रतीत होती रहती है, तमोमयी रात्रि में वही भूतभूति प्रतीति से पराङ्मुख बन जाती है। भूत तो अहःकालवत् रात्रि में भी विद्यमान हैं। फिर रात्रि में ये

---

* अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

÷ अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

प्रतीत क्यों नहीं होती हमें ? । यदि 'भूत' ही भूतप्रत्यक्ष का कारण होता, तो अहःकालवत् रात्रिकाल में भी इनकी प्रतीति होनी चाहिए थी । नहीं होती प्रतीति । हाँ–हाथों से स्पर्श अवश्य किया जासकता है रात्रि में भी इन भूतों का । कृत्रिम आलोकों से भी प्रत्यक्ष सम्भव है । किन्तु ये सब आलोक तो परम्परया सौर अहः-कालात्मक ज्योतिर्भाव के ही प्रवर्ग्यरूप हैं । रात्रि में हीं क्यों, अहःकाल में भी गुहानिहित भूत प्रत्यक्ष के कारण नहीं बनते । अतएव स्पष्ट है कि, अहःकालसाक्षी सौर भूतिभाव ही इन भूतों की **'प्राणभूति'** को अभिव्यक्त कर प्रतिफलन के द्वारा इस भूति को प्रत्यक्ष–प्रत्यय की अनुगामिनी बना देता है ।

१६७–'तपति' रूपा 'आलोकभूति', एवं 'काले तपति' का समन्वय—

क्या प्रत्यक्षानुभूता भूतभूति केवल सौर प्रकाशमात्र ही है ? । नहीं । यदि ऐसा होता, तो तद्भूतपदार्थ के न रहने पर भी तद्भूत की भूति का प्रत्यक्ष सम्भव बन जाता । अतएव मानना पड़ेगा कि, स्वयं भूत भी प्रातिस्विकरूप से अपनी प्राणविभूति रख रहा है । आलोकभूति का इस भूतभूति के साथ सामातिमान (उभय-मण्डलातिमान) होता है । भूतभूतिमण्डल आलोकभूतिमण्डल से समन्वित होता है । यही प्रतिफलित होकर भूतभूति के प्रत्यक्ष का कारण बनता है, जिसमें दोनों भूतियाँ समन्वित हैं । तभी तो सर्वप्रथम **'काले तपति सूर्य्यः'** रूप से ऋषिने 'तपति' रूपा आलोकभूति का स्पष्टीकरण किया है, जिसके माध्यम से ही भूतभूतियों का साक्षात्कार सम्भव है ।

१६८–'काले ह विश्वा भूतानि' मूला भूतात्मिका भूति—

इसप्रकार आलोकभूतात्मक सौरकालरूप भूतिकाल में ही भूतों का भूतिमण्डल अवस्थित है स्व-स्वरूप से । **'भूत प्रतीत हो रहे हैं'** यह वाक्य ही भूतों की भूति का परिचायक बन रहा है । क्योंकि स्पृश्यभावापन्न भूपिण्ड की प्रतीति नहीं होती । प्रतीति होती है उस दृश्यभावात्मक प्राणमण्डलरूप भूतिभाव की ही, जिस भूतिमण्डलात्मक दृश्यमण्डल के गर्भ में भूतपिण्डात्मक स्पृश्यभूत प्रतिष्ठित है । तदित्थं–सौरकालात्मक पुण्याहकाल में प्रतिष्ठित सम्पूर्ण भूत भूतप्रतीतिरूपेण 'भूति' भाव से सदा ही समन्वित रहते हैं । इस दूसरे भौतिक–उदाहरण को लक्ष्य बना कर ही ऋषिने कहा है—**'काले ह विश्वा भूतानि'–सौरकालात्मके पुण्याहकाले एव सम्पूर्णभूतानि प्रतीयन्ते, इति सैषा प्रतीतिः, तद्भानं, सा–भातिरेव भूतिर्भूतानाम्** ।

१६९–अध्यात्ममूला 'भूति' के उदाहरण का समन्वय—

अब तीसरे अध्यात्ममूलक भौतिक–उदाहरण को लक्ष्य बनाइए । आधिदैविक सम्वत्सरमण्डल में जो स्थान आदित्य का, एवं तत्प्रतिमारूप सूर्य्य का है, मानव की अध्यात्मसंस्था में वही स्थान 'चक्षुः' (चक्षुरिन्द्रिय) का है, जिसके माध्यम से ही मानव, (किंवा सम्पूर्ण प्राणी) भूतजगत् का दर्शन–साक्षात्कार करने

में समर्थ बनता है * । सर्वाङ्गशरीर यदि भूतपिण्ड है, तो चक्षुरिन्द्रियात्मक आध्यात्मिक भूतभाग इस भूतपिण्ड की 'श्रीः' है, जिस श्री के विनिर्गमन से, 'इति' भाव से मानव की **'इतिश्री'** (अवसान) हो जाया करती है । चक्षु ही मानव की प्राणरूपा विभूति का एकमात्र परिचायक है । **'आँख मिचना'** हीं मानव के भूत-संस्थान की परिसमाप्ति है । अतएव मुमूर्षु मानव की प्राणात्मिका चेतना का अनुमान तद्बन्धुगण, एवं वैद्य-गण चक्षु के माध्यम से ही लगाया करते हैं ।

१७०–चक्षुःप्राणात्मिका 'श्री' का स्वरूप-समन्वय, एवं त्रिभूतिमय चक्षुर्म्मण्डल के त्रिवृत्स्वरूप का दिग्दर्शन—

चक्षुःप्राण वास्तव में मानव की श्री का प्रत्यक्ष निदर्शन है । यही इसके आध्यात्मिक 'यशःश्रीभाव' का एकमात्र परिचायक है । इसके बिना मानवीय-शरीर भूतपिण्डमात्र है, शवमात्र है । क्या प्रज्ञाचक्षु (अन्ध) मानव में 'श्रीः' नहीं रहती, जबकि इसकी चक्षुरिन्द्रिय विलुप्त है ? । नेति होवाच । श्रीरूप चाक्षुषप्राण तो अवश्य है । किन्तु तद्ग्राहिका चक्षुः रूपा भूतमात्रा का विकास अवरुद्ध होगया है । उस दशा में वह भूतिरूपा चाक्षुषी श्रीः मानवीय प्रज्ञा (मानस) में हीं आश्रय ग्रहण कर लेती है । अतएव अन्धमानव को-'प्रज्ञाचक्षुः' कहा गया है । भूतमात्रा सूक्ष्मभूत है, जिसमें प्राणमात्रारूप अधामच्छद तत्त्व प्रतिष्ठित रहता है । प्रज्ञामात्रा से अभिन्ना [1]**प्राणमात्रा** ÷, तत्र प्रतिष्ठिता सूक्ष्मा [2]**भूतमात्रा**, एवं तदाधारभूत चक्षुर्गोलकरूप [3]**स्थूलभूत**, इन तीनों के समन्वय से ही 'चक्षुः' का सर्वाङ्गीण स्वरूप सम्पन्न होता है । अतएव चक्षु को **'त्रिवृत'** माना गया है-'त्रिवृद्धै चक्षुः' (कौ० अ० ३।५।) । स्थूलभूतात्मक स्थूलचक्षु के शिथिल होजाने से भी बाह्य विषयदर्शन अवरुद्ध होजाता है । इस शैथिल्य की ही चिकित्सा सम्भव है, जिसे 'नेत्रचिकित्सा' कहा जाता है ।

१७१–चक्षुरनुगत अश्विनी-प्राण, एवं-'चक्षुर्विपश्यति' का समन्वय—

भूतविज्ञानमूला वर्त्तमान चिकित्सा केवल इसीकी चिकित्सा कर सकती है, जबकि भारतीया प्राणचि-कित्सा प्राणशैथिल्य की भी चिकित्सा में सफल है (थी) । प्रज्ञात्मक प्राण ही वास्तविक चक्षु (चक्षु-

---

*** आदित्यो वा उद्गाता-अधिदैवं, चक्षुरध्यात्मम्** । (गोपथब्रा०पू० ४।३।) । **चक्षु-रादित्यः**-(शत० ३।२।२।१३) । **अथ यत्तचक्षुरासीत्** (प्रजापतेः सम्वत्सरस्य), **स आ-दित्योऽभवत्** । (जै० उप० २।२।३।)। **चक्षोः सूर्य्योऽजायत** (प्रजापतेरिन्द्रभागात्-सूर्य्या-भिव्यक्तिः--यजुः सं० ३१।१२।) । **चक्षुरेवोद्गाता** (अध्यात्मम्) (गो० पू० २।१०।) । **अर्कश्चक्षुः-तदसौ सूर्य्यः** (तै० १।१।७।२।) ।

÷ **स होवाच-(इन्द्रः)-प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा । तं मामायुरमृतमित्युपास्व । अथो खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा--इदं शरीरं परिगृह्य-उत्थापयति । तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत । यो वै प्राणः-सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा--स प्राणः । सहह्येतावस्मिच्छरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः । तस्यैषैव दृष्टिः, एतद्विज्ञानम् ।**

—कौषतक्युपनिषत् ३।३।

रिन्द्रिय) है, जिस चाक्षुष प्राणविशेष का नाम है–'अश्विनी'। अश्विनीकुमारप्राण ही चक्षुःप्राणरूप में परिणत हुआ है, जिस इस आश्विनप्राण की मरीचिका (कालीमिर्च) में प्रधानता मानी गई है। अतएव मरीचिका को चक्षुःप्राणोत्तेजिका माना है शास्त्र ने। स्थूलभूतात्मक नेत्र स्फीत भले ही रहें, यदि यह नेत्रप्राण मूर्च्छित होकर प्रज्ञा में विलीन होजाता है, तब भी चाक्षुष–प्रत्यक्ष–सम्भव नहीं है। प्रज्ञात्मक प्राणचक्षु भी है, स्थूल–भूतात्मक नेत्र भी है। यदि भूतमात्रात्मक अक्षभाव शिथिल है, तब भी प्रत्यक्षव्यापार अवरुद्ध है। तदित्थं प्रज्ञाऽभिन्न प्राणमात्रात्मक **चक्षु**, तदनुगत भूतमात्रात्मक **अक्ष**, एवं दतनुगत स्थूलभूतात्मक **नेत्र**, तीनों की प्रकृतिस्थता में हीं **चक्षुर्विपश्यति**। तीनों में से किसी एक के भी शिथिल होजाने से, विकृत होजाने से, मूर्च्छित होजाने से, किंवा उत्क्रान्त होजाने से **चक्षुर्न विपश्यति**। साथ ही तीनों की प्रकृतिस्थतानुगता विद्यमानता में भी तीनों में से किसी भी एक के तटस्थ बन जाने से, अन्यभावानुगत बन जाने से भी **पश्यन्नपि न पश्यति**। विविध प्रत्यक्षों के द्वारा भूतों की भूति का साक्षात् करते रहने वाला चक्षु सचमुच ही प्राणिजगल्लक्षण अध्यात्मजगत् की 'भूति' ही बना हुआ है।

१७२-षष्ठमन्त्रार्थसमन्वयोपराम—

चक्षुर्लक्षणा भूति का प्राणीजगत् की दृष्टि से तो महत्त्व सार्वजनीन है ही। एतदतिरिक्त जड़जगत् से अनुप्राणित कतिपय अचेतन–जड़–भूतों में भी जब केवल जड़रूप से भी 'चक्षु' के प्रतीकमात्र का, किंवा प्रतीकात्मक चक्षु के आकारमात्र का सन्निवेश करा दिया जाता है, तो वह जड़भूत भी चेतनप्राणी की भाँति विकसित हो पड़ता है अपने मर्त्य भी भौतिक प्रतिमान से। काँस्य–पित्तलादि से निर्म्मिता धातुप्रतिमाओं में, पाषाणप्रतिमाओं में, तथा तूलिका–माध्यमेन–विविध–रङ्गरञ्जिता चित्रप्रतिकृतियों में जबतक 'चक्षु' की प्रतिकृति समन्वित नहीं कर दी जाती, तबतक ये सभी प्रतिमान निर्जीव से, निष्प्राण से, शवशरीर से ही प्रतीत होते रहते हैं। कृष्णबिन्द्वाकाराकारिता चक्षुःप्रतिकृति के सन्निविष्ट होते ही प्रतिमा–चित्रादि मानो सजीव ही हो पड़ते हैं। जब केवल चक्षुका प्रतीक भी यों जड़भूतों में भी भूतिरूप ऐश्वर्य्य उद्दीप्त कर देता है, तो फिर प्राणीसर्गानुबन्धी प्राणवान् चक्षु के भूति–भाव के सम्बन्ध में तो कुछ भी वक्तव्य शेष नहीं रह जाता। इसी आध्यात्मिक,-किन्तु भूतानुबन्धी भूतिविवर्त्त को लक्ष्य बनाकर ही ऋषि ने कहा है–**'काले चक्षुर्विपश्यति'** **(सौरकालात्मके पुण्याहकाले–एव चक्षुर्भूतान् विपश्यति–स्वानुगतादित्यप्राणेन भूतिरूपेण, सैषा चाक्षुषी भूतिः प्रजापतेः सम्वत्सरस्य)।**

१–कालो भूतिमसृजत—भूतातीता कालात्मिका भूतिर्निरुपाधिका
२–काले तपति सूर्य्यः—भूतात्मिका सौरभूतिः –अधिदैवतानुगता–भूतिः
३–काले विश्वानि भूतानि-भूतात्मिका–भूतभूतिः–अधिभूतानुगता—भूतिः
४–काले चक्षुर्विपश्यति—भूतात्मिका–प्राणिभूतिः-अध्यात्मानुगता—भूतिः

संस्मरणीय है कि, 'भूति' शब्द श्री–यशोरूप 'प्राण' का ही संग्राहक है। चतुष्पर्वा भूति का निरूपक प्रकृत मन्त्र इस 'प्राणभूति' को लक्ष्य बनाता हुआ तत्पूर्व के-**'कालोऽमूं दिवमजनयत्'** इत्यादि पञ्चम मन्त्रवत् सम्वत्सरकाल के आधिदैविक–विवर्त्त को ही लक्ष्य बना रहा है, जैसाकि अर्थसमन्वयारम्भ में हीं स्पष्ट किया जाचुका है। और यही इस षष्ठ मन्त्र का अक्षरार्थ--समन्वयमात्र है।

इति षष्ठ-मन्त्रार्थसमन्वयः

६

——*——

[७]–सप्तममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण [सप्तममन्त्रार्थ]

१७३–'काले मनः, काले प्राणः' इत्यादि सप्तम-मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय,-एवं अर्द्ध-चेतन, तथा चेतनलक्षण द्विविध प्राणियों का स्वरूप-परिचय––

७–काले मनः, काले प्राणः, काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नदन्ति–आगतेन प्रजा इमाः ॥

"काल में मन (है), काल में प्राण (है), काल में नाम समाहित (एकीभावरूप से आहित-प्रतिष्ठित) है। आगत (वर्त्तमान) काल से ये सम्पूर्ण प्रजाएँ (अन्तःसंज्ञ, तथा ससंज्ञ नामक प्राणी) हर्षित बनीं रहतीं हैं, सुसमृद्ध बनीं रहतीं हैं" इत्यक्षरार्थक प्रस्तुत मन्त्र काल के आध्यात्मिक विवर्त्त को ही लक्ष्य बना रहा है, जबकि पञ्चम–षष्ठ–मन्त्रोंनें आधिदैविक विवर्त्त को, तथा चतुर्थ मन्त्रने आधिभौतिक विवर्त्त को लक्ष्य बनाया है। जैसे प्राणजगत् का नाम आधिदैविक है, भूतजगत् का नाम आधिभौतिक है, तथैव प्राणीजगत् की सामान्य अभिधा है–**'आध्यात्मिक'**। अध्यात्मविवर्त्तरूप प्राणीजगत् (जिसे लोकभाषा में चेतनजगत्–कहा गया है) **अर्द्धचेतनात्मक एकेन्द्रिय प्राणीसर्ग, एवं चेतनात्मक सर्वेन्द्रिय प्राणीसर्ग**, भेद से दो भागों में विभक्त है। ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्मादि वे पदार्थ, जो बीजरूप से भूगर्भ में निक्षिप्त होकर जल-सिञ्चनधर्म्म से कालपरिपाक के द्वारा क्रमशः अङ्कुरित होते हुए कालान्तर में ओषधि–वनौषधि–वनस्पति-वृक्षादिरूप में परिणत होजाते हैं अपने पार्थिवमूल में आबद्ध बने रहते हुए ही, उन्हें हीं **'मूलजीव'** कहा गया है, एवं केवल एक त्वगिन्द्रिय के विकास के कारण हीं इन्हें **एकेन्द्रिय**, वैश्वानर, तथा तैजस के समन्वय के कारण **द्व्यात्मक**, एवं चेतना के अन्तःप्रतिष्ठित रहने के कारण **अन्तःसंज्ञ** नाम से व्यवहृत किया गया है–**'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुख–दुःख–समन्विताः'**। यही अर्द्धचेतनात्मक प्राणीसर्ग का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

१७४--ससंज्ञ--प्राकृत--जीवों का स्वरूप--परिचय, एवं अध्यात्मजगत् का स्वरूप-समन्वय--

दूसरा चेतनात्मक प्राणीसर्ग है, जिसके **कृमि--कीट--पक्षी--पशु--प्राकृतमानव (मनोवशवर्त्ती-चान्द्रमानव)** भेद से अवान्तर पाँच विवर्त्त माने गए हैं। जलचरप्राणियों का कृमि–कीट–पक्षी–पशु–इन

चारों प्राणियों में हीं अन्तर्भाव होजाता है। इनमें क्योंकि अर्थशक्तिप्रधान पार्थिव **वैश्वानर**, क्रियाशक्ति-प्रधान आन्तरिक्ष्य **तैजस**, एवं ज्ञानशक्तिप्रधान दिव्य **प्राज्ञ**, तीनों लोकप्राण समाविष्ट रहते हैं, अतएव इन्हें-'**त्र्यात्मकजीव**' कहा गया है। चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण इन्हें '**संसज्ञ**' कहा गया है। एवं सम्पूर्ण इन्द्रियों की अभिव्यक्ति के कारण इन्हें-'**सर्वेन्द्रियजीव**' मान लिया गया है। इन उभयविध (अर्द्धचेतन--चेतन)--जीवों की समष्टि ही प्राणीसर्ग है, यही 'अध्यात्मजगत्' है, एवं मन्त्र इसी जगत् के साथ काल का महिमात्मक सम्बन्ध प्रमाणित कर रहा है।

१७५--ईश्वर--जीव--जगत्--शब्दों का पारिभाषिक-समन्वय, एवं 'परावर' अक्षर का महिमामय विवर्त्त—

अर्द्धचेतन-चेतनोभयविध प्राणीसर्ग का नाम जीवसर्ग है, इस दृष्टिकोण में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि-अर्द्धचेतन-चेतनसर्गद्वयी को 'प्राणीसर्ग', एवं 'जीवसर्ग' नाम से क्यों, किस आधार पर व्यवहृत किया गया !, एवं क्यों इस उभयविध सर्ग को 'अध्यात्मम्' कहा गया ?। प्रश्नोत्थान का मूलकारण यही है कि, जीव में एक ओर इसके शरीर से सम्बद्ध भूत भी इसमें विद्यमान है, तो दूसरी ओर--'**अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्**' लक्षण भूतातीत 'अव्यय' भी साक्षी रूप से प्राणीसर्गात्मक जीवसर्ग का आधार बना हुआ है। जबकि यह जीवभाव मनोघन अव्यय, तथा वाङ्मय क्षरात्मक भूत, दोनों से भी समन्वित है, तो फिर इसे केवल 'प्राणी' ही क्यों कहा गया ? एवं इस प्राणी की 'जीवसंज्ञा' क्यों हुई ?। इन सब आध्यात्मिक प्रश्नों का उत्तर वह '**सेतुतत्त्व**' है, जिसे '**अक्षर**' कहा गया है, जिसके इस ओर वाङ्मय क्षर है, उस ओर मनोघन अव्यय है, एवं दोनों के मध्य में प्राणमय अक्षर प्रतिष्ठित है। क्षरात्मक वाङ्मय भूत ही विश्व का भौतिक स्वरूप है, जिसका तट क्योंकि अक्षर ही बन रहा है, अतएव इसे 'सेतु' (तट) कहना अन्वर्थ है *। यह सेतुरूप अक्षर प्राणात्मक बनता हुआ 'गति' स्वरूप है, अतएव क्रियामय है। मध्यस्थ होने से इसका परस्थानीय मनोघन-ज्ञानमूर्त्ति-अव्यय से भी सम्बन्ध है, एवं अवरस्थानीय-वाङ्मय-अर्थमूर्त्ति क्षर से भी सम्बन्ध है। अव्ययदृष्ट्या '**पर**' बने हुए, एवं क्षर-दृष्ट्या '**अवर**' बने हुए, अतएव ÷ '**परावर**' बने हुए इस मध्यस्थ प्राणात्मक अक्षर के 'पर' अव्यय, एवं 'अवर' क्षर--दोनों के मनो--वाग्--भावों--धर्म्मों का भी समावेश हो जाता है। इसप्रकार स्वस्वरूप से प्राणप्रधान बना रहने वाला भी मध्यस्थ अक्षर अव्यय के मन से मनोमय, क्षर की वाक्--से वाङ्मय, एवं स्व के प्राणप्राधान्य से प्राणमय बनता हुआ **मनःप्राणवाङ्मय** प्रमाणित होरहा है। मनःप्राणवाङ्मय, प्राणप्रधान, अतएव प्राणमूर्त्ति यही अक्षर (पराप्रकृति) जीव है। जिसप्रकार

---

* **यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।**
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥
—कठोपनिषत् ३।२।

÷ **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे 'परावरे' ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

मनोघन अव्यय 'ईश्वर' है ×, वाङ्मय चर भूतमय 'जगत्' है +, एवमेव मनःप्राणवाङ्मय--प्राण-प्रधान, अतएव प्राणमूर्त्ति, अव्यय की पराप्रकृतिरूप 'परावर' नामक 'अक्षर' ही 'जीव' कहलाया है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अपरेयम् (सैषा क्षरात्मिका--अपराप्रकृतिः)
................इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां (१) महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत् ॥
—गीता

१७६-मनः-प्राण-वाङ्मय अक्षरात्मा, एवं उसकी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियाँ—

प्राणमूर्त्ति अक्षर ही क्योंकि जीवसर्ग का अधिष्ठाता बनता है, दूसरे शब्दों में प्राणात्मक अक्षर ही जीव का जीवत्त्व है । अतएव जीवसर्ग को इस प्राणमूर्त्ति अक्षर के प्राधान्य से **'प्राणीसर्ग'** कह दिया जाता है, जब कि प्राणात्मक यह अक्षर मध्यस्थता के अनुसार बन रहा है मनःप्राणवाङ्मय ही । अव्ययप्रधान वही आत्मविवर्त्त 'ईश्वर' है, यही **'अधिदैवतम्'** है । अक्षरप्रधान वही आत्मविवर्त्त 'जीव' है, यही **'अध्यात्मम्'** है । एवं क्षरप्रधान वही आत्मविवर्त्त 'जगत्' है, और यही--**'अधिभूतम्'** है-**'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयं, त्रयं सदेकमयमात्मा'** । क्योंकि प्राणीसर्ग अक्षरप्रधान है, अक्षर ही क्योंकि अध्यात्मम् है । अतएव जीवसर्गात्मक प्राणीसर्ग को अवश्य ही 'अध्यात्मम्' कहा जा सकता है, कहा गया है । व्यवहार अक्षरप्राण की प्रधानता से जीव के लिए 'प्राणी' ही होगा । किन्तु इस जीवात्मक प्राणी के प्राणाक्षर को माना जायगा-मनःप्राणवाङ्मय ही । अतएव 'अध्यात्मम्' भावापन्न प्राणात्मक प्राणी रूप आत्मा (जीव) का लक्षण माना गया है-**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो मनोमयः'**, जिसका अर्थ है-**'ज्ञान-क्रिया-र्थ-शक्तिमयः'** । इसी विश्लेषण को आधार बना कर हमें प्रकृत मन्त्र का समन्वय करना चाहिए ।

१७७-प्राणीजगत् का स्वरूपेतिवृत्त, एवं तदनुबन्धी वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

मनोमय अक्षर द्युलोकीय **प्राज्ञ** का, प्राणमय अक्षर अन्तरिक्षलोकीय **तैजस** का, एवं वाङ्मय अक्षर पृथिवीलोकीय **वैश्वानर** का संग्राहक बन रहा है । अतएव अब जीवरूप 'प्राणी' की अध्यात्मसंस्था के लिए

× यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।
—गीता

+ क्षरः सर्वाणि भूतानि (गीता) ।

१--"अक्षरधियां त्ववरोधः--सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्" ।
—व्याससूत्र ३।३।३३।

यह कहा जासकेगा कि–"मनोमय अक्षरानुगृहीत ज्ञानशक्तिमय प्राज्ञ, प्राणमय अक्षरानुगृहीत क्रिया-शक्तिमय तैजस, तथा वाङ्मयाक्षरानुगृहीत अर्थशक्तिमय वैश्वानर, इन तीनों की समन्वितावस्था-रूप, मनःप्राणवाङ्मय–अक्षरप्राणप्रधान–प्राण ही 'प्राणी' का समस्त स्वरूपेतिवृत्त है"। कालपुरुष का स्वरूप अभिव्यक्त करते हुए हमने इसे अव्यक्त प्राणरूप ही कहा है। वह और जीव, दोनों इस अव्यक्ताक्षरप्राण के समतुलन से उसी प्रकार समतुलित हैं, जैसे कि सम्वत्सर, और पुरुष समतुलित हैं। कालात्मक प्राण में, तथा जीवात्मक प्राणी में अन्तर यही है कि, वह जहाँ क्षरभूतों का प्रवर्त्तक रहता हुआ भी 'भूतानांपतिः' है, वहाँ यह प्राणी स्थूलभूतों से समन्वित है व्यक्त ऐहिक जीवन में, एवं सूक्ष्मभूतों से समन्वित है साम्परायिक–गति (प्रेतगतिरूपा लोकान्तरगति) में *। इस भूतासञ्जन से प्राणी उसका अंश कहलाया है ÷, जब कि वह कालसम्वत्सरात्मक प्राण भूतों को स्वाधिकार में रखता हुआ इनका वशी (पति) बन रहा है। ऐसे प्राणात्मक-काल के आधार पर प्राणीरूप जीवात्मक यह 'अध्यात्म' विवर्त्त प्रतिष्ठित है, जिसके वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूप-अर्थ-क्रिया-ज्ञान-शक्तिमय-वाक्-प्राण-मन-नाम के प्राणाक्षर-प्रधान (प्रकृतिप्रधान) तीन अवान्तर विवर्त्त माने गए हैं। प्राणी का ज्ञानशक्तिमय प्राज्ञात्मक **मन** भी कालात्मक सम्वत्सरप्राण में हीं प्रतिष्ठित है। प्राणी का क्रियाशक्तिमय-तैजसात्मक **प्राण** भी उसके प्राण में हीं प्रतिष्ठित है। एवं प्राणी का अर्थशक्तिमय-वैश्वानरात्मक-वाग्रूप **नाम** भाग भी उसके प्राण में हीं प्रतिष्ठित है। और यहीं पुनः किञ्चिदिव कुछ और भी जान लेना है।

१७८–ईश्वरीय देवसत्यात्मक साक्षी महासुपर्ण, एवं जीवभावानुबन्धी देवसत्यात्मक भोक्ता सुपर्ण, तथा दोनों का सख्यभाव—

जिस काल में प्राणियों के मन, प्राण, नाम (वाक्)–भाव प्रतिष्ठित हैं, उस काल को हमनें प्राणात्मक कहा है। आधारात्मक वह प्राण क्या केवल प्राणरूप ही है, अथवा तो उसमें भी प्राणीवत् त्र्यात्मकता है ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसके उत्तर में–'ओमित्येतत्' ही कहा जायगा। अवश्य ही उसका प्राण त्रिवृत् है, तभी तो यह प्राणी त्रिवृत् बनता हुआ वैश्वानरादिरूप से त्र्यात्मक बन पाया है। यह प्राणी उसी का तो (काल का ही तो) प्रतिमान है। कारणात्मक जनक काल के कारणभाव ही तो कार्य्यात्मक जन्य प्राणी में आनुपूर्वी से अवतरित हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि-षष्ठ-मन्त्रार्थ-समन्वय में कालात्मक सम्वत्सर के अमृत-मृत्यु-भाव का चितिरूप से समन्वय करते हुए हमनें सम्वत्सर को सप्तचितिरूप 'महासुपर्ण' कहा था (देखिए पृ० सं० २०२ के श्रुतिवचन)। 'सुपर्ण' शब्द के साथ सम्बद्ध 'महा' शब्द अपने सहजसिद्ध सापेक्षभाव से किसी 'अवर' भाव का भी संग्राहक बन रहा है, जिस छोटे सुपर्ण की अपेक्षा से ही सम्वत्सरकाल को 'महासुपर्ण' कहना अन्वर्थ बन सकता है। यदि प्राणलक्षण सम्वत्सरकाल महासुपर्ण (बड़ा सुपर्ण) है, तो तदंश-तत्प्रतिमानरूप प्राणीलक्षण जीव अवश्य ही 'अवरसुपर्ण' (छोटा सुपर्ण) है।

---

* तदन्तरेत्यादिकसूत्रमेतद्ब्रूह्येतदर्थं यदि वेत्थ किञ्चित्।
स प्राह जीवः करणावसादे संवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मैः ॥

÷ अंशो नानाव्यपदेशात्, अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।
—व्याससूत्र २।३।४३।

१७६–साक्षी महासुपर्ण के, एवं भोक्ता अवरसुपर्ण के सायुज्यभाव का समन्वय—

उस महासुपर्ण का अक्षरात्मक प्राण अवरसुपर्णरूप जीवाक्षरप्राण की भाँति उन्हीं तीनों अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक मनः–प्राण–वाग् भावों से ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तिमय बनता हुआ त्र्यात्मक ही है। प्रधानता अक्षरधिया उसमें भी प्राण की ही है। प्राणी उसे इसलिए नहीं कहा जा सकता कि, वह भूताधीन नहीं है, अपितु भूत उसके आधीन हैं। अवरसुपर्णात्मक प्राण इसलिए प्राणी (प्राणवान्) कहलाने लगता है कि, इसका प्राण भूताधीन बना रहता है। इस एक भेद के अतिरिक्त प्राणात्मक-अक्षरसम्वत्सर से यह प्राणीरूप अक्षरात्मक जीव अन्यान्य सभी पर्व-संस्थानों से सर्वात्मना समतुलित है। प्राणात्मकता ही उसका आधारत्त्व है, एवं प्राणित्व ही इसका आधेयत्त्व है। यदि इसके भी भूत को पृथक् कर लिया जाता है-ज्ञान–कर्म्मों–पासना–योगादि प्रकारों से, तो फिर यह आधेय भी तदाधाररूप में हीं परिणत हो जाता है, जिस परिणति को ही वैज्ञानिक–'**सायुज्य**' नाम की '**अपरामुक्ति**' कहा करते हैं।

१८०–साक्षी महासुपर्ण के विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-रूपों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

पूर्व परिच्छेदों में हमने अव्ययानुगत–स्वयम्भू को **सहस्रशीर्षः** कहा है, विश्वमध्यस्थ–केन्द्रस्थ–अक्षरानुगत सूर्य्य को **सहस्राक्षः** कहा है, एवं विश्वान्तर्भूत क्षरानुगत भूपिण्ड को **सहस्रपात** कहा है। अब इसी विभूतित्रयी को पार्थिव-ऋत-सम्वत्सररूप कालपुरुष के साथ समन्वित कीजिए-'तत्सृष्ट्वा' नियमानुरोधेन। क्रान्तिवृत्तीय कालसम्वत्सर का द्युलोकीय(२१)आदित्यप्राण ज्ञानप्रधान बनता हुआ **सहस्रशीर्षः** है, अन्तरिक्ष-लोकीय(१५)वायव्यप्राण क्रियाप्रधान बनता हुआ **सहस्राक्षः** है, एवं पृथिवीलोकीय(६)आग्नेयप्राण अर्थप्रधान बनता हुआ **सहस्रपात्** है। सहस्रपात्–वाङ्मय–अर्थशक्तिमय–अग्निप्रधान–क्षरानुगत–पार्थिव उसी अक्षर-प्राण का नाम है '**विराट्**'। सहस्राक्ष–प्राणमय–क्रियाशक्तिमय-वायुप्रधान–अक्षरानुगत–आन्तरिक्ष्य उसी अक्षरप्राण का नाम है '**हिरण्यगर्भ**'। एवं सहस्रशीर्ष–मनोमय–ज्ञानशक्तिमय–आदित्यप्रधान–अव्ययानुगत–दिव्य-उसी अक्षरप्राण का नाम है '**सर्वज्ञ**'।

१८१–भोक्ता सुपर्ण के वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूपों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं नर-नारायण का संस्मरण—

इसप्रकार उस त्रिलोकीरूप–प्राणदेवतात्रयी (अग्नि–वायु–आदित्यत्रयी) से कृतरूप–मनःप्राणवाङ्–मय–ज्ञानक्रियार्थशक्तिमय-सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्मूर्त्ति सम्वत्सरकालात्मक अक्षरप्राण का नाम हीं महासुपर्ण है, जिसके * [1]**सर्वज्ञप्राण** का अंश [1]**प्राज्ञ है**, [2]**हिरण्यगर्भप्राण** का अंश [2]**तैजस है**, एवं [3]**विराट् प्राण** का अंश [3]**वैश्वानर है**। सर्वज्ञानुगत प्राज्ञ, हिरण्यगर्भानुगत तैजस, विराडनुगत वैश्वानर, इन तीनों अंशभावों की समष्टि का नाम ही है अवरसुपर्ण। अवरसुपर्ण जीव है, महासुपर्ण इस जीव का ईश्वर है। जीव का कर्त्ता–धर्त्ता–विधर्त्ता सब कुछ वही महासुपर्ण है। यह भूताञ्जनधर्म्म से **भोक्ता सुपर्ण है**, वह भूताधिपत्य

---

* **यः सर्व्वज्ञः सर्ववित्-यस्य ज्ञानमयं तपः।**
तस्मादेतद् ब्रह्म-नामरूप-मन्नञ्च-जायते ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।९।

करता हुआ साक्षीसुपर्ण है। दोनों अंशी–अंशरूप से, कारण–कार्य्यरूप से पृथक् रहते हुए भी साथ रहने वाले (सयुक्–जोड़ले) सखा हैं, अभिन्न हैं। वह अर्णवसमुद्र में इतस्ततः विचरण करने वाला नारायण है, तो यह उसी नारायण से सान्निध्य रखता हुआ तदाधारभूत नर है। दोनों की समन्वितावस्था का नाम हीं **'नरनारायण'** नामक ऋषितत्त्व है, जिसका पञ्चरात्रयज्ञ–प्रक्रिया में विस्तार से स्वरूप विश्लेषण हुआ है। इन्हीं दोनों सुपर्णों को लक्ष्य बना कर मन्त्रश्रुति कहती है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोऽरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्-अन्यो अभिचाकशीति॥

—ऋक्सं० १।१६४।२०।

१–सहस्रशीर्षः–सर्वज्ञः——आदित्यप्राणः–मनोमयः–ज्ञानशक्तिमयः–अव्ययानुगतोऽक्षरप्राणः

२–सहस्राक्षः–-हिरण्यगर्भः-वायव्यप्राणः–-प्राणमयः–-क्रियाशक्तिमयः-अक्षरानुगतोऽक्षरप्राणः

३–सहस्रपात्–विराट्——आग्नेयप्राणः–-वाङ्मयः–अर्थशक्तिमयः–क्षरानुगतोऽक्षरप्राणः

——*——

१–अव्ययानुगतोऽक्षरप्राणः-मनोमयकालः-प्राणिनां-मनोऽधिष्ठाता	स एष **'महासुपर्णः'**
२–अक्षरानुगतोऽक्षरप्राणः–प्राणमयकालः-प्राणिनां-प्राणाधिष्ठाता	
–क्षरानुगतोऽक्षरप्राणः—वाङ्मयकालः-प्राणिनां-नाम्नामधिष्ठाता	

——*——

१–सर्वज्ञानुगतः—प्राज्ञः–मनोमयः प्राणः-तदिदं मन एव–तच्च सर्वज्ञप्राणात्मके काले प्रतिष्ठितम्

२–हिरण्यगर्भानुगतः-तैजसः-प्राणमयः प्राणः-सोऽयं प्राण एव-तच्च हिरण्यगर्भप्राणात्मके काले प्रतिष्ठितम्

३–विराडनुगतः–वैश्वानरः–वाङ्मयः प्राणः-तदिदं नामैव-तच्च विराट्प्राणात्मके काले निहितम्

—"इति-काले मनः, काले प्राणः, काले नाम समाहितम्"–

–इत्याहुर्म्महर्षयः

१८२–'काले नाम समाहितम्' के 'समाहितम्' पद का पारिभाषिक-दृष्टिकोण—

अन्यदपि किञ्चित्। ऋषि ने–'काले मनः, काले प्राणः–काले नाम समाहितम्' कहते हुए मन, और प्राण के साथ तो किसी प्रतिष्ठा की सूचिका क्रिया का समावेश नहीं किया, जबकि-**'काले नाम समाहितम्'** रूप से तीसरे अर्थशक्तिमय वाङ्मय नाम के साथ 'समाहितम्' का समन्वय आवश्यक मान लिया। ऐसा क्यों?। यदि नाम के साथ 'समाहितम्' है, तो मन के साथ भी–'काले मनः प्रतिष्ठितम्–काले प्राणः प्रतिष्ठितः'–इत्यादिरूप से कुछ तो भी कहना चाहिए था ऋषि को। नहीं कहा। क्यों?। इस क्यों? के समाधान का अन्वेषण हमें अपनी श्रद्धात्मिका ऋजुप्रज्ञा से ही ढूँढ निकाल लेना है।

१८३--मनः-प्राण--भावों की अक्षररूपता, तथा वाग्भाव की क्षररूपता, एवं वागनुबन्धी नामविवर्त्तात्मक भौतिक जगत्—

यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, सम्वत्सरप्रजापति का ज्ञानमय मन, तदंशरूप प्राणी का मन, सम्वत्सर का क्रियामय प्राण, तथा प्राणी का प्राण, दोनों क्रमशः अव्यय--अक्षरात्मक हैं, जबकि सम्वत्सर का अर्थशक्तिमय वाक्तत्त्व, तथा प्राणी का वाङ्मय नामतत्त्व, दोनों क्षरात्मक हैं। सम्वत्सरप्राणात्मक काल अव्य--यगर्भित अक्षरकाल है। क्षर भी इसमें हैं, किन्तु वशवर्त्ती बन कर। अतएव सम्वत्सरकाल का मौलिक स्वरूप उसके अव्ययात्मक मनोमय-अक्षर, एवं अक्षरात्मक प्राणमय अक्षर, इन दो भावों पर ही मुख्यरूप से विश्रान्त है। इधर प्राणियों का मन, तथा प्राण भी अक्षरात्मक ही बना हुआ है, जबकि वाङ्मय नाम ही क्षरात्मक बनता हुआ भौतिक विवर्त्त है। निष्कर्षतः प्राणी का ज्ञानमय मन, तथा क्रियामय--प्राण, दोनों अक्षरकालात्मक सम्व-त्सराक्षरकाल से सर्वात्मना अभिन्न ही प्रमाणित हो रहे हैं, जबकि वाङ्मय तीसरा नामविवर्त्त दिग्देशभावों के समन्वय से स्थूल भूतविवर्त्त में आता हुआ अपने इस क्षरभूतधर्म्म से, किंवा दिग्देशात्मक धामच्छद--पदार्थधर्म्म से उस प्राणात्मक काल से पृथग्वत् बन रहा है।

१८४-'काले मनः-काले प्राणः' मन्त्रभाग का रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक-समन्वय—

यह ठीक है कि, प्राणी के मन, और प्राण—दोनों सुसूक्ष्म अक्षरविवर्त्त भी काल से अभिन्न हैं। अत-एव इन कालरूप ही (अक्षरप्राणप्रधान हीं) मनः—प्राणों को 'काल में' प्रतिष्ठित बतलाना असङ्गत ही बन जाता है—क्षरभूत की पार्थक्यापेक्षा में। तदपि प्राणी का मनःप्राणरूप अक्षरात्मक—कालस्वरूप अंशात्मक है, साथ ही क्षरभूताधीन भी। अतएव इस कालात्मक भी मनःप्राणद्वन्द्व को काल में················। बस। 'काले' से अधिक अब और कुछ भी नहीं कहा जायगा इन कालाभिन्न, अतएव कालरूप ही मनः—प्राण—विवर्त्तों के लिए। अंशमर्य्यादया इन्हें—अवरकाल मान कर उस अंशी को परमकालत्त्वेन इनका················ क्या ?, का कोई समाधान नहीं हो सकता। **'काल में मन, काल में प्राण'**—बस, अलम्। इतना ही कह देना पर्य्याप्त है इन मनः—प्राणों के लिए। मनः—प्राण की इसी कालात्मकता को सङ्केतविधि से समझाने के लिए ही ऋषि ने केवल—**'काले मनः काले प्राणः'**— कह कर ही किसी भी क्रियापदादि का समावेश किए बिना ही इस प्रसङ्ग को समाप्त कर दिया है। मन, और प्राण की कालात्मकता से यह अवश्य कहा जासकता था कि—**'काले मनोरूपः कालः प्रतिष्ठितः, काले प्राणमयः कालः प्रतिष्ठितः'**। किन्तु ऐसा कहना तो—**'काले—कालः (मनः) प्रतिष्ठितः, काले कालः (प्राणः) प्रतिष्ठितः'** इस रूप का होता, जो कि इत्थंभूत रूप सर्वथा ही अशुद्ध माना गया है शब्दार्थमर्य्यादा में। काल में कालत्त्व तो रहता है, किन्तु—**'सामान्ये सामान्याभावः'** नियमानुसार काल में काल का रहना सर्वथा अनुपपन्न है। इन्हीं सब कारणों से ऋषि ने अंशमर्य्यादा का रक्षण करते हुए जहाँ—'काले' कह दिया, वहाँ काल से इन मनः—प्राणों की अभिन्नता के अनुबन्ध से **'मनः'—'प्राणः'** इस रूप से नामोच्चारण मात्र कर के ही 'काले' इस सप्तम्यन्त पद की अपेक्षा को उपरत कर किया।

१८५-'मध्यत ऐन्ध' रूप इन्द्रतत्त्व,-एवं मानव के लिए हिततम इन्द्रदेवता—

अत्र शेष रह गया चरात्मक वाग् विवर्त्त । प्राणों को जहाँ **'हित'** माना है ऋषि ने, वहाँ वाक् को **'उपहिता'** कहा है, जिस हितोपहित प्रसङ्ग का प्रकृत में हमें विश्लेषण नहीं करना है * । वाङ्मय भूत प्राण के आधार पर ही प्रतिष्ठित है । प्राणसत्ता ही वाङ्मयी भूतसत्ता का आधार है । भला इस से बड़ा हितैषी इस वाङ्मय भूत का और कौन होगा ? । इस प्रतिष्ठात्मिका हितैषिता के अनुबन्ध से ही प्राण को 'हित' कहना अन्वर्थ बनता है । मध्यस्थ यह प्राणतत्त्व ही **'यन्मध्यत-ऐन्ध'** निर्वचन से 'इन्द्र' है, एवं भूतहितात्मक इस इन्द्रप्राण को जान लेने से अधिक मानव के लिए और कोई दूसरा विशिष्ट 'हित' नहीं माना जासकता, जैसाकि-**'एतदेवाहं (इन्द्रः) मनुष्याय हिततमं मन्ये, यन्मां विजानीयात्'** (कौषीतक्युपनिषत्) इत्यादि से स्पष्ट है ।

१८६-'उपाहितम्', और 'समाहितम्' का समन्वय—

वाङ्मय भूत क्योंकि इस 'हित' नामक मध्यस्थ प्राण के समीप-प्राणाधार पर प्रतिष्ठित रहता है । अतएव इस 'उप' भाव से अवश्य ही वाङ्मय भूतविवर्त्त को **'उपहित'** कहा जासकता है,जिस इस उपहितता-आधेयता-के लिए ही ऋषि ने-**'काले नाम समाहितम्'** यह कहा है । **'उपाहितम्'** ही 'समाहितम्' का अर्थ है । काम **'आहितम्'** से भी चल सकता था । क्योंकि आधाराधेयभाव का समर्थन 'आहितम्' से भी हो रहा है । 'उप' से भी काम चल सकता था । तभी तो वाक् को 'उपहित' कहा गया है । तदनुबन्धनैव यहाँ भी 'उपाहितम्' भी कहा जासकता था । किन्तु नहीं कहा गया । अपितु 'आहितम्' के पीछे 'सम्' उपसर्ग और लगाया गया । शरीर पर वस्त्र उपाहित हैं, आहित हैं । भूतल पर प्रासादादि उपाहित हैं, आहित हैं । स्थाली में तण्डुलादि उपाहित हैं, आहित हैं । इन सभी स्थलों में आधाराधेयभाव है । सर्वत्र आधार की सत्ता भिन्न है, आधेय की सत्ता भिन्न है । किन्तु वाङ्मय भूत, और तत्कारणभूत वाङ्मय काल का कार्य्यकारणभाव ऐसा नहीं है । अपितु यहाँ तो वह वाङ्मय काल ही इन वाङ्मय भूतों में (दिग्देशरूप से) परिणत हुआ है । यही अभिन्नसत्तानुबन्धी एकसत्तात्मक कार्य्यकारणभाव है । कारण को पृथक् कर देने से कार्य्यरूप वाग्विवर्त्त का अस्तित्त्व ही नहीं रहता । इसी एकीभाव को लक्ष्य बना कर, इसी अभिन्नसत्ताभाव को लक्ष्य बना कर ऋषि ने **'आहितम्'** के साथ 'सम्' रूप एकीभावार्थक उपसर्ग का समन्वय अनिवार्य्य मान लिया है । वाङ्मय भूत-विवर्त्त आहित हैं दिग्देशानुबन्ध से, एवं समाहित हैं अभिन्नसत्तानुबन्ध से । यही वाङ्मय भूतों की सम्-(अभिन्नसत्तानिबन्धना) आहितता (आधेयता) है, यही **'समाहितता'** है, और यही है-**काले नाम समाहितम्'** का निष्कर्ष ।

***-तदाहुः-किं 'हितम्', किं-'उपहितम्' इति ? । प्राण एव हितम्, वागुपहितम् । प्राणे हीयं वाक-उपेव हिता । प्राणस्त्वेव हितम् । अङ्गान्युपहितम् । प्राणे हीमानि अ-ङ्गानि-उपेव हितानि । (शत० ६।१।२।१५) । प्राणो वै हितम् । प्राणो हि सर्वेभ्यो हितः ॥** (शत० ६।१।२।१५) ।

१८७–मनःप्राणवाङ्मय कालप्रजापति, और उसके महिमामय रूप-कर्म्म-नाम-विवर्त्त–

पूर्व में हमनें अर्थशक्तिप्रधान तृतीय आत्मविवर्त्त को–'**स वा एष आत्मा वाङ्मयः**' इत्यादि रूप से 'वाङ्मय' कहा है। मन, और प्राण विवर्त्त के साथ–'वाक्' विवर्त्त का ही सहज सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में तो ऋषि को–**काले मनः, काले प्राणः**'–की अनुरूपता के संरक्षण के लिए '**काले नाम समाहितम्**' के स्थान में–'**काले वाक् समाहिता**' ही कहना चाहिए था। ऐसा न कह कर ऋषि ने '**नाम**' का निर्द्देश किस अभिप्राय से किया ?, यह एक प्रासङ्गिक प्रश्न और शेष रह जाता है। दो शब्दों में इस शेष प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए। मन, प्राण, वाक, तीनों अपने अमृतभाव से '**आत्मा** 'कहलाए हैं, जिन इन तीनों के मर्त्यरूप क्रमशः '**रूप–कर्म्म–नाम**' माने गए हैं। रूप (वर्णरूप, और आकाररूप, दोनों रूपविवर्त्त–आकाररूप, और रँग) मन का मर्त्यभाग है, कर्म्म प्राण का मर्त्य भाग है, एवं नाम वाक् का मर्त्य भाग है। मनःप्राणवाङ्मय अमृतात्मा '**आत्मा**' है पदार्थ का, एवं नामरूपकर्म्ममय पिण्डभाव '**शरीर**' है पदार्थ का। मनःप्राणवाङ्मयी सत्ता से समन्वित नामरूपकर्म्मात्मक भौतिक पदार्थ का नाम ही है दिग्देशात्मक मर्त्यप्रपञ्च, जो अपने मर्त्य धर्म्म से सदा परिवर्त्तित होता रहता है। **पदार्थ का मनःप्राणवाङ्मय अस्तित्त्व कभी नहीं बदलता, बदलते हैं पदार्थ के नाम–रूप–कर्म्म**। (शत० १४।४।४।)।

१८८–अमृतप्रजापति की मर्त्या सृष्टि, एवं उसका वाक्प्रधानत्त्व—

यह ठीक है कि–रूप–कर्म्म–नाम–तीनों क्रमशः मनः–प्राण–वाक्–रूप तीन अमृत पर्वों के मर्त्य विवर्त्त हैं। किन्तु इन तीनों मर्त्य पर्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है वाङ्मय नामविवर्त्त ही। मन, और प्राण अपने कालिक अक्षरभाव से जहाँ दिग्देशबन्धन से असंसृष्ट हैं, वहाँ वाग्भाव ही अपने क्षरभाव से दिग्देशबन्धन से संसृष्ट बनता हुआ मन के रूप का, तथा प्राण क कर्म्म का भी संग्राहक बन जाता है, जो कि रूप, तथा कर्म्म भी मर्त्यक्षरानुबन्ध से वागनुगत नाम के ही सजातीय बने हुए हैं। अतएव वाङ्मय '**नाम**' से जहाँ तन्मूलभूत 'वाक्' नामक अमृतपर्व का संग्रह हो जाता है, वहाँ इस 'नाम' भाग से ही तत्समानधर्म्मा मर्त्य मानसिक रूप, एवं प्राणानुबन्धी मर्त्य कर्म्म, दोनों का भी संग्रह हो जाता है।

१८९–अमृतभावों के द्वारा मर्त्यभावों का संग्रह—

यों वाङ्मय 'नाम' मनः–प्राण के पूरक 'वाक्' भाव के साथ साथ मनः–प्राण–वाक् के रूप–कर्म्म-नाम–नामक तीनों मर्त्यभावों का भी संग्राहक प्रमाणित हो रहा है। अतएव ऋषि ने न तो 'वाक्' का नामनिर्द्देश किया, न मनः प्राण के रूप-कर्म्म–भावों का दिर्द्देश किया। अपितु निर्द्देश किया उस 'नाम' भाव का, जिस से मनःप्राणानुबन्धी 'वाग्भाव' भी सगृहीत हो जाता है, एवं मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के रूप–कर्म्म–नाम-लक्षण मर्त्यभावों का भी संग्रह गतार्थ बन जाता है। यही तो प्राणी की स्वरूपव्याख्या है। प्राणी में **आत्मा**, और **शरीर**, ये दो ही तो विवर्त्त हैं। प्राणी का आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है, तो शरीर वाङ्माध्यमेन नाम-रूप–कर्म्मात्मक है। यह सर्वात्मना अवधेय है कि, यद्यपि प्रकृतिसिद्ध क्रम **मनः-प्राण–वाक्**-रूप से **रूप–कर्म्म–नाम**–ही है। किन्तु लोकव्यहार में प्रसिद्ध है **नाम–रूप–कर्म्म**-यह क्रम। वाग्विवर्त्त रूप नाम का प्राथम्य ही यह प्रमाणित कर रहा है कि, क्षरात्मक वाग्भाव ही अपने 'नाम' विवर्त्त के द्वारा क्षरात्मक मनोभाग के रूपभाग को, एवं अक्षरात्मक प्राणभाग के कर्म्मभाग को व्यक्तरूप प्रदान कर रहा है।

१६०–'काले वाक् समाहिता' का प्रतिनिधि–'काले नाम समाहितम्' वाक्य, और तत्समन्वय—

इसी सृष्टि-अनुबन्ध-क्रम को लक्ष्य में रखकर ऋषिने 'काले वाक् समाहिता' न कहकर 'काले नाम समाहितम्' कहा है। 'वाक्' के कहने से प्राणी का आत्मभावमात्र (मनःप्राणवाङ्मय आत्मभावमात्र) तो संगृहीत हो जाता। किन्तु नामरूपकर्म्मात्मक शरीरभाव का संग्रह नहीं होता। रूप, अथवा तो कर्म्म, दोनों में से किसी एक का निर्देश भी लक्ष्यपूर्त्ति नहीं कर सकता था। क्योंकि रूप–कर्म्म–नाम–तीनों में वाङ्मय नाम हीं सर्वप्रथम प्रवृत्त होता है मर्त्यपरम्परा में। अतएव एकमात्र 'नाम' विवर्त्त ही ऐसा था, जिससे आत्मा की शेषभूता 'वाक्' कला के संग्रह के साथ साथ आत्मा के मर्त्य–शरीरविवर्त्त का भी संग्रह गतार्थ बन जाता है, इत्यलमतिपल्लवितेन।

१६१–कालपुरुष के अतीत-आगत-अनागत-नामक-तीन महिमाभावों का संस्मरण—

अब–'कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः' इस मन्त्रोत्तरार्द्ध को लक्ष्य बनाइए। काल के आधार पर प्रतिष्ठिता, मनःप्राणवाग्गर्भितरूप-नामों की समष्टिरूपा ये पार्थिवप्रजाएँ 'आगतकाल' से ही सुसमृद्धा हैं, हर्षिता हैं, (होतीं रहतीं हैं)। मन्त्रोपात्त सापेक्ष 'आगतेन' पद स्वतः ही अतीत (भूत), और 'अनागत' (भविष्यत्) इन दोनों कालों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर लेता है। क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न सम्वत्सर काल के–'भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान' नामक तीनों अतीत–आगत–अनागत–ये विवर्त्त सर्वसामान्य में प्रसिद्ध हैं, जिन इन तीनों कालोंका आरम्भ के कालगणन-प्रसङ्ग में यत्र तत्र अनेकधा दिग्दर्शन कराया जाचुका है। कालसीमा में प्रतिष्ठित प्रजासर्ग (प्राणीसर्ग) की जन्म–स्थिति–भङ्ग (उत्पत्ति–स्थिति–विनाश) नाम की तीन अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं। इन तीनों हीं अवस्थाओं का काल ही प्रवर्त्तक बन रहा है। काल में ही प्रजा जन्म लेती है, काल से ही प्रजा स्थित रहती है, एवं अन्ततोगत्त्वा काल में ही प्रजा का विनाश, किंवा विलयन हो जाता है। जन्मप्रवर्त्तक वही काल 'अतीतकालात्मक भूतकाल' कहलाया है, स्थितिप्रवर्त्तक वही काल आगतकालात्मक भवत्काल (वर्त्तमानकाल) कहलाया है, एवं विलयनप्रवर्त्तक वही काल अनागत–कालात्मक भविष्यत्काल कहलाया है।

१६२–अतीत-अनागत-रूप भूत-भविष्यत्-कालविवर्त्तों की दिग्देशकाल-निरपेक्षता, एवं आगतकालरूप वर्त्तमान कालविवर्त्त की दिग्देशसापेक्षता—

तीनों में आरम्भ का भूतकाल (अतीतकाल), तथा अन्त का भविष्यत्–काल (अनागतकाल), ये दोनों तो दिग्देशानुबन्धों से निरपेक्ष बने रहते हुए अपने कालस्वरूप से समानधर्म्मा बने रहते हैं। अतएव इन दोनों का 'काले' इस एक सप्तम्यन्तपद से ही संग्रह कर लिया गया है। दिग्देशात्मिका प्रजा इस काल में प्रतिष्ठितमात्र है अपने जन्मभाव से, एवं निधनभाव से। प्रजा की आयतनवृद्धि–समृद्धि–परिवर्त्तन–आदि–में कदापि न तो भूतकाल ही निमित्त बनता, न भविष्यत् ही। आयतनवृद्धि–समृद्धि–परिवर्त्तन–आदि भाव ही प्रजा की स्वरूप-स्थिति के मूलबीज माने गए हैं। इनमें निमित्त वही बन सकता है, जो प्रजाओं के दिग्देशादि अनुबन्धों का प्रवर्त्तक–नियन्ता–प्रेरक–बनता रहे। वह है एकमात्र वर्त्तमानकाल, जिसे 'आगतकाल' भी कहा गया है,

एवं राजर्षिमनु के शब्दों में जो आगतकाल 'भवत्काल' भी कहलाया है *। दिग्देशानुबन्धिनी समृद्धि के, तन्मूला स्थिति के निमित्त बने रहने से ही 'आगत' (वर्त्तमान) काल को ऋषिने 'कालेन' इस तृतीयान्तपद से समन्वित किया है।

१६३--काल का अधिष्ठातृत्त्व, निमित्तत्त्व, आरम्भणत्त्व, एवं तीनों के समन्वय से कालिक 'विश्वकार्य्य' की स्वरूपस्थिति—

इदमत्रावधेयम्। भूत का अर्थ है-जो व्यतीत हो चुका, भविष्यत् का अर्थ है-जो कभी होने वाला है, एवं भवत् का अर्थ है-जो हो रहा है। काल एक, और उसके विवर्त्त ये तीन। एक ही काल के इन तीन विवर्त्तों का समन्वय कालसीमा में भुक्त मानव की लोकप्रज्ञा के लिए सचमुच ही सर्वथा दुरधिगम्य ही बना हुआ है। आधार भी काल (काले) है, निमित्त भी काल (कालेन) है, और आधेय भी काल (कालः) ही है, ये तीनों ही व्यवहार काल के लिए समादरणीय बने हुए हैं। अधिष्ठान, निमित्त, आरम्भण, तीन कारणों के समन्वय से ही वैज्ञानिकोंनें कार्य्य की स्वरूपनिष्पत्ति मानी है ÷।

१६४-घटनिर्म्माता कुम्भकार की घटनिर्म्माणप्रक्रिया, एवं तत्र कारणत्रयीका समन्वय—

कुम्भनिर्म्माता लोकप्रजापति (कुम्भकार) की घटनिर्म्माणप्राक्रिया पर दृष्टि डालिए। घटात्मक कार्य्य की निष्पत्ति के लिए इस प्राजापत्य कर्म्म में तीनों कारण समन्वित हो रहे हैं। अपने प्रत्येक अवयव से, बिन्दु-बिन्दु से प्रचण्डतम वेग से गतिमान् बना रहने वाला एजल्लक्षण (कम्पनलक्षण), किन्तु अपनी समष्टि से, अवयवीरूप से केन्द्रावद्धत्त्वेन सर्वथा स्थितिमान् बना रहने वाला अनेजल्लक्षण (कम्पनरहित), एवंविध अनेजदेजल्लक्षण × मृत्पिण्ड का आधारभूत अलातचक्र (कुह्मार का चाक) बना हुआ है घटनिर्म्माणप्रक्रिया में अधिष्ठानकारण (आलम्बनकारण, आधारभूत कारण)। अधिष्ठातृकारणात्मक चक्र के अमुक नियत प्रान्त-भाग में नियत छिद्र में प्रविष्ट काष्ठदण्ड के द्वारा इस चक्र को परिभ्रममाण करता हुआ, चक्रमध्यस्थ मृत्-पिण्ड को घटाकार प्रदान करने वाला कुम्भकार ही निमित्तकारण है, एवं घटरूप में परिणत होते रहने

---

* भूतं-भवद्-भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। (मनुः)।

÷ किंस्विदासीदधिष्ठानं, आरम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥
—ऋक्सं० १०।८१।२

× अनेजदेकं मनसो जवीयः-नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतो अन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ (ईशोपनिषत्)।

वाला मृत्पिण्ड ही आरम्भणकारण (उपादानकारण) है *। इन तीनों कारणों के सहसमन्वय से ही 'घट-कार्य्य' अभिव्यक्त हुआ है। इसी कारणत्रयी का अन्वेषण अब हमें काल के क्षेत्र में करना है।

१६५-कालपुरुष के द्वारा कारणत्रयी से विनिर्म्मित पूर्णकुम्भात्मक घट —

सृष्टि का स्वरूप तो कार्य्यात्मक है। कुम्भकार के सृष्टि कर्म्म में जो स्थान मृण्मय घट का है, वही स्थान यहाँ उस 'पूर्णकुम्भ' (पूर्णघट) का है, जिसके **आग्नेय उख्यघट**, तथा सौम्य-द्रोणकलश, दोनों का स्वरूप पूर्व के-'**पूर्णः कुम्भः-अधि-काले-आहितः** [तृतीय मन्त्र] इत्यादि मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। **पुरुष**, और **प्रकृति**, इन दोनों विवर्त्तों का नाम हीं क्रमशः **कालातीततत्त्व**, एवं **कालतत्त्व** है। पुरुष कालातीत है, यही अनन्तब्रह्म है, यही '**अव्ययपुरुष**' नाम से प्रसिद्ध है। गुण-विकार-सृष्टि-भावों की अपेक्षा से यह अव्यय सर्वथा तटस्थ है। गुण-विकारात्मिका सृष्टि का नाम हीं कालिक सृष्टि है, जिसके कार्य्य-कारण-भावों के साथ कालातीत उस अनन्ताव्यपुरुष का कोई सम्बन्ध नहीं है। न वह कारण बनता, न कार्य्य ÷। अतएव उक्त कारणत्रयी की अपेक्षा से उस कालातीत 'पुरुष' नामक अव्यय को तो हम तटस्थ ही मान लेते हैं। शेष रह जाती है उस कालातीत पुरुष की कालात्मिका प्रकृति।

१६६-कालात्मिका प्रकृति के विभूति-योग-बन्ध नामक तीन सम्बन्ध, एवं कारणत्रयी का समन्वय—

कालात्मिका 'प्रकृति' ही 'कृति' (कार्य्य) का क्यों कि 'प्र' भाव (पूर्वभाव-कारणभाव) है। अतएव इसे ही कार्य्य के प्रति कारणता समर्पित की जायगी। 'प्रकृतिः **कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः**' इस दार्शनिक भाषा से भी प्रकृति की कारणता का यथाकथञ्चित् अनुमान लगाया जा सकता है, जबकि आपोभाव से ही निर्म्मित पुष्करपलाश (कमलपत्र) कभी असङ्ग पुरुष की असङ्गता का दृष्टान्त नहीं बन सकता। उस का दृष्टान्त तो एकमात्र तत्प्रतीकभूत 'काल' ही बन सकता है। हाँ, तो 'प्रकृति' कालात्मिका है, किंवा 'काल' का ही नाम 'प्रकृति' है। इस '**प्रकृतिकाल**' के, किंवा '**कालप्रकृति**' के माध्यम से ही हमें अब कारणत्रयी का समन्वय ढूँढ निकाल लेना है-कालातीत अव्यय पुरुष को सर्वथा तटस्थ मानते हुए ही। एक ही प्रकृति के तीन विवर्त्त हो जाते हैं प्राकृत बलों के पारस्परिक तीन विभिन्न सम्बन्धानुबन्धों से, जो बलसम्बन्ध **विभूति-योग**, एवं **बन्ध**-नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों हीं क्रमशः **सहचर-संशर-ग्रन्थि**-इन नामों से भी प्रसिद्ध हैं। रसाधार (अव्ययाधार) पर व्यवस्थित प्रकृतिरूप बलों का सहचरभाव ही विभूतिलक्षणा प्रकृति है, बलों का संशरभाव ही योगलक्षणा प्रकृति है, एवं बलों का ग्रन्थिभाव ही बन्धलक्षणा प्रकृति है। बन्धनाभाव, किन्तु साहचर्य्य-

---

* **वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्।**
—उपनिषत्

÷ **न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते।**
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च॥
—उपनिषत्

यही सहचरसम्बन्धात्मक '**विभूतिसम्बन्ध**' है। दृढ़बन्धन का अभाव, किन्तु सामान्य-शिथिल बन्धन की प्रवृत्ति, यही संशरबन्धनात्मक '**योगसम्बन्ध**' है। एवं दृढ़बन्धन की प्रवृत्ति, और यही ग्रन्थिबन्धनात्मक '**बन्ध-सम्बन्ध**'। इसप्रकार प्रकृतिरूप कालिक बलों के इन तीन सम्बन्धानुबन्धों से एक ही प्रकृति के **विभूति-प्रकृति, योगप्रकृति-बन्धप्रकृति**, ये तीन महिमाविवर्त्त हो जाते हैं, जिन्हें अवधानपूर्वक लक्ष्य बना कर ही हमें कारणत्रयी का समन्वय करना है।

१९७--काल, और मृत्यु--शब्दों की अभिन्नार्थता का समन्वय—

यह स्मरण रहे कि, अव्ययपुरुषानुबन्धी रसभाव जहाँ '**अमृत**' कहलाया है, वहाँ प्रकृत्यनुबन्धी बल-भाव '**मृत्यु**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सदैकरसतानुगता अपरिवर्त्तनीयता ही '**अमृतरस**' का तटस्थ लक्षण है, एवं अनेकबलानुगता परिवर्त्तनीयता ही '**मृत्युबल**' का स्वरूप लक्षण है। 'अमृत'-रसानुबन्धिनी नित्या शान्ति ही रसामृत का दिग्दर्शन है, एवं 'मृत्यु'-बलानुबन्धिनी नित्या अशान्ति ही बलमृत्यु का स्वरूप परिचय है। यही प्रकृति का स्वरूप है, यही काल का कालत्त्व है। अतएव **काल**, और **मृत्यु**, दोनों लोकव्यवहार में अभिन्नार्थक ही बने हुए हैं।

१९८–रसानुबन्धी अभिन्नता-एकता–समता–आदि भावों का, तथा बलानुबन्धी भिन्नता-अनेकता–विषमता–आदि भावों का समन्वय,- तथा समदर्शनानुगता विषमता–

अभिन्नता–एकता–समता–साम्य–शान्ति–अपरिवर्त्तन–अमृत–आदि भाव सर्वत्र रसानुबन्धी माने जायँगे, एवं भिन्नता-अनेकता–विषमता–वैषम्य–अशान्ति–परिवर्त्तन–मृत्यु–आदि भाव बला-नुबन्धी कहे जायँगे। पुरुषनुगता नित्या शान्ति ही '**समदर्शन**' की मूलप्रतिष्ठा रहेगी, एवं प्रकृत्यनुगता नित्या-शान्ति ही **विषमवर्त्तन** की अधिष्ठात्री मानी जायगी। विषमवर्त्तन से पृथग्भूत समदर्शन विषमदर्शन में परिणत होता हुआ सर्वविनाश का प्रवर्त्तक बन जायगा, तो समदर्शन से पृथग्भूत समवर्त्तन गुणत्रयी की साम्यावस्था में आता हुआ महाप्रलय का सर्ज्जक बन जायगा। अतएव समदर्शनपूर्वक विषमवर्त्तन का अनुगमन ही पुरुष-मूला शान्ति का, तथा प्रकृतिमूला समृद्धि का एकमात्र राजमार्ग माना है ऋषिप्रज्ञाने, जिस इस रहस्यात्मक राजपथ के सुसूक्ष्म समन्वय को विस्मृत कर बैठने वाले प्राकृत मानव ने आज विषमवर्त्तनात्मिका प्रकृति को समवर्त्तनरूप में परिणत करते हुए भहाप्रलय का ही सूत्रपात कर लिया है। रसानुबन्धी अमृतभाव, एवं बलानुन्धी मृत्युभाव, किंवा पुरुष-प्रकृति-भाव-की समन्वितावस्था का नाम ही* 'अहम्' लक्षण 'मानव' है। अतएव मानव की जीवन- व्यवस्था का एकमात्र महान् सूत्र माना जायगा-'**समदर्शनत्त्वे सति विषमवर्त्तनत्त्वम्**'–इति नु प्रासङ्गिकमेव।

---

* **अमृतं चैव, मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !।**
--गीता

१९९-अमृतानुगता विभूतिप्रकृति, अमृतमृत्युनिबन्धना योगप्रकृति, मृत्युनिबन्धना बन्धप्रकृति, एवं प्रकृतिका त्रिगुणात्मक विस्तार—

पुनः प्रकृतमनुसरामः। विभूतिसम्बन्धात्मिका उसी प्रकृति का नाम है—'**अमृतम्**'। बलों की सह-चरावस्था के कारण विभूतिरूपा बनी हुई इस प्रकृति का अमृतरसात्मक अव्यय से पार्थक्य नहीं होने पाता। एतावता ही प्रकृति के इस विभूतिरूप को—'अमृतम्' (सापेक्ष-अमृतभाव) कह दिया जाता है। योगसम्बन्धात्मिका उसी प्रकृति का नाम है—'**अमृतमृत्यू**'। बल बन्धनानुगत बन गए, यह तो इस का मृत्युभाव हुआ, एवं अभी बलों का ग्रन्थिबन्धन नहीं हुआ, यही इसका रसानुगत अमृतभाव रहा। अतएव इसे—'अमृतमृत्यू' कहना अन्वर्थ बन गया। बन्धसम्बन्धात्मिका उसी प्रकृति का नाम है—'मृत्यु'। यहाँ क्योंकि बल ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध में परिणत होते हुए मर्त्यभूतों के प्रवर्त्तक बनने लग पड़े। अतएव रस-भाव अन्तर्लीन होगया इन में। अतएव च यहाँ केवल बल ही व्यक्त रह गए। और इसीलिए बन्धसम्बन्धावच्छिन्ना वही प्रकृति 'मृत्यु' कहलाने लग पड़ी। और यों कालरूपा एक ही प्रकृति बलसम्बन्धों के तारतम्य से **अमृता-प्रकृति, अमृतमृत्यू-प्रकृति, मृत्युप्रकृति**-इन तीन महिमाभावों में परिणत हो गई, जो दर्शनभाषा में क्रमशः **सत्त्वप्रकृति**[१]-**रजःप्रकृति**[२]-**तमःप्रकृति**[३], इन नामों से प्रसिद्ध हुई, एवं विज्ञानभाषा में जिन इन तीनों कालप्रकृतियों के स्वयम्भुगर्भित **परमेष्ठी**[१], परमेष्ठिगर्भित **सूर्य्य**[२], सौरप्राणगर्भित-चन्द्रानुगत **भूपिण्ड**[३], ये तीन मर्त्य प्रतीक कहलाए हैं—'**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम्**' (गीता)।

२००-अक्षरानुगत विभूतिभाव, आत्मक्षरानुगत योगभाव, एवं विकारक्षरानुगत बन्धभाव का समन्वय—

विभूतिसम्बन्धावच्छिन्ना-सत्त्वगुणान्विता-अमृताप्रकृति का नाम ही है—'**अक्षर**'[१], जिसे कालातीत अव्ययपुरुष की '**पराप्रकृति**' कहा गया है। योगसम्बन्धावच्छिन्ना-रजो-गुणान्विता अमृतमृत्युप्रकृति का नाम ही है—**आत्मक्षर**[२], जिसे अव्ययपुरुष की—'**अपराप्रकृति**' कहा गया है। एवं बन्धसम्बन्धावच्छिन्ना तमो-गुणान्विता मृत्युप्रकृति का नाम ही है—'विकारक्षर', जो दर्शनभाषा में—'विकृति' नाम से प्रसिद्ध है। जिस के कि रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द- नाम के पाँच तन्मात्रा-वर्ग '**गुणभूत**' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन के कि-**अणुभूत-रेणुभूत-महाभूत**-आदि प्रक्रमों से अन्ततोगत्वा प्रजारूप **सत्त्वभूतों** का आविर्भाव हुआ है, जो कि सत्त्वभूत ही '**कार्य्यजगत्**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

२०१-प्रकृतित्रयीरूपा कालत्रयी, एवं तदनुबन्धिनी कारणत्रयी का समन्वय—

अमृताक्षररूपा प्रकृति 'प्रकृति' ही है। अमृत-मृत्यु-रूप-आत्मक्षरलक्षणा प्रकृति अक्षरापेक्षया विकृति, एवं विकृत्यपेक्षया प्रकृति बनी रहती हुई '**प्रकृतिविकृति**' है। एवं मृत्युलक्षणा-विकारक्षररूपा प्रकृति आत्म-क्षरापेक्षया 'विकृति' है, तो वैकारिक कार्य्यभूतों की दृष्टि से यही प्रकृति भी है। अतएव इसे '**विकृति-प्रकृति**' कहा जा सकता है। **प्रकृतिलक्षणा प्रकृति, प्रकृतिविकृतिलक्षणा प्रकृति,** एवं **विकृतिप्रकृति-**

लक्षणा प्रकृति--ये तीन प्राकृत विवर्त्त ही क्रमशः 'अक्षर-आत्मक्षर-विकारक्षर' नामक तीन विवर्त्त हैं। और ये ही हैं तीनों विवर्त्त वैकारिक-कार्य्यजगत् के अधिष्ठान--निमित्त-एवं-उपादानकारण। अक्षर अधिष्ठानकारण है, आत्मक्षर निमित्तकारण है, एवं विकारक्षर उपादानकारण है। इन तीनों कारणों के सहसमन्वय से ही वैकारिक मर्त्य-कार्य्यजगत् का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इस कारणत्रयी को अवधानपूर्वक लक्ष्य-बना लेने के अनन्तर ही हम मन्त्र के-'काले'--'और 'कालेन' इन दोनों पदों का समन्वय कर सकेंगे। अतएव कालप्रकृति की इस कारणत्रयी का प्रसङ्ग यहाँ अनिवार्य्य बन गया है।

१-अमृतम्—विभूतिलक्षणा-प्रकृतिः-अक्षरः (प्रकृतिः)—अधिष्ठानकारणम् २-अमृतमृत्यू—योगलक्षणा-प्रकृतिः-आत्मक्षरः (प्रकृतिविकृतिः)—निमित्तकारणम्	१ अमृतविवर्त्तम्
——— ——— * * ——— ——— ———	
३-मृत्युः--बन्धलक्षणा-प्रकृतिः-विकारक्षरः (विकृतिप्रकृतिः)-उपादानकारणम्	२ मृत्युविवर्त्तम्
*-मर्त्यम्--बन्धनलक्षणम्-वैकारिकम्-कार्य्यजगत्	

२०२-'काले-कालेन-कालः-कालरूपेण परिणतो भवति' वाक्य का तात्त्विक समन्वय—

'काले कालेन कालः कालरूपेण परिणतो भवति', किंवा 'काले-एव, कालेनैव, काल एव, कालरूपेण परिणतो भवति', इस वाक्य का अर्थ होगा-"अक्षरे-आत्मक्षरेण-विकारक्षर एव वैकारिकजगद्-रूपेण परिणतो भवति" यह। सचमुच कालाधार पर काल से काल ही यों कालरूप में परिणत हो रहा है, 'इति नु काल एवेदं सर्वम्'। अक्षर ही वह स्थिति-गतिमत्-अनेजदेजत्-महान् अलातचक्र है, जिसके आधार पर विश्वरूप घट सम्भूत है-"तथाऽऽक्षरात् सम्भवतीह-विश्वम्। तक्षाऽऽक्षराद्विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति"। इस अक्षरात्मक कालचक्ररूप अधिष्ठानकारणलक्षण-आलम्बनकारण * के आधार पर प्रतिष्ठित आत्मक्षररूप निमित्तकारण के द्वारा विकारक्षररूप उपादानद्रव्य से वैकारिकक्षररूप कार्य्यजगत् अभिव्यक्त हुआ है।

२०३-कालानुबन्धी भूत-भवत्-भविष्यत्-भावों का अन्वेषण —

यों इस मर्त्य-कार्य्य-जगद्रूप वैकारिक-भूतसर्ग का उपादानकारण विकारक्षररूप मृत्युभाव बन रहा है, निमित्तकारण आत्मक्षररूप अमृतमृत्यु-भाव बन रहा है, एवं अधिष्ठानकारण अक्षररूप अमृतभाव बन रहा है। एक ही प्रकृतिकाल, उसी के [1]अमृताधिष्ठान-[2]अमृतमृत्युनिमित्त-[3]मृत्यु-उपादान-नामक

---

* एतदालम्बनं श्रेष्ठं, एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति, तस्य तत्॥
—कठोपनिषत्

[1]अक्षर–[2]आत्मक्षर–[3]विकाराक्षर-नामक तीन प्राकृत विवर्त्त, एवं इन तीनों के समन्वय से ही वैकारिक–कार्य्यजगत् की स्वरूपाभिव्यक्ति, जिसे कहा गया है इस त्रिमूर्त्ति कालप्रजापति की 'प्रजा'। कालात्मक प्रजापति (अक्षरात्मक्षरविकारक्षररूपा प्रकृति) ही इस प्रजा की (वैकारिक भूतप्रपञ्च की) जन्म–स्थिति–भङ्ग–रूपा अवस्थात्रयी का कारण प्रमाणित हो रहे हैं। और इसी दृष्टिबिन्दु के आधार पर अब हमें काल के भूत–भवत्–भविष्यत्–नामक तीनों लोकप्रसिद्ध भावों का समन्वय ढूँढ निकाल लेना है।

२०४–कालाक्षर से 'ब्रह्म' का आविर्भाव—

अक्षर एकभावापन्न है एकत्वनिबन्धन अमृताव्यय के सान्निध्य से। तभी तो इसे **'अमृतम्'–'अक्षरः'** इत्यादि कहना अन्वर्थ बनता है। एकत्वधर्म्मावच्छिन्न इस अमृताक्षर पर प्रतिष्ठित आत्मक्षर (अपराप्रकृति) अक्षरधिया जहाँ अमृत है, एक है,वहाँ क्षररूप बलानन्त्य से मृत्युभावात्मक बनता हुआ यह अनेक भावानुगत-**'बहु'** भाव में भी परिणत हो रहा है। **'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'** (गीता) इत्यादि वचन से गीता ने जिस 'ब्रह्म' को अक्षर से समुद्भूत बतलाया है, वह पारिभाषिक यहाँ का (गीता का) 'ब्रह्म' 'आत्मक्षर' ही है, जो कि बलनानात्व से **'बहुब्रह्म'** बन रहा है।

२०५–अव्यक्त–अमूर्त्तकाल का स्वरूप–दिग्दर्शन —

इस 'बहुब्रह्म' से युक्त एकाक्षर ही **'महदक्षर'** नाम से व्यवहृत हुआ है विज्ञानभाषा में। इस विवेचन से निवेदन हमें यही करना है कि, अमृतरूप अक्षर, तथा अमृत–मृत्युरूप–आत्मक्षर, इन दोनों की समन्वितावस्था को हम 'अमृतम्' ही कहेंगे, इसे ही 'महदक्षर' कहेंगे, यही **'अव्यक्ताक्षर'** कहलाएगा, एवं यही माना जायगा **'अव्यक्त–अमूर्त्तकाल'**। इस मान्यता का अर्थ यही होगा कि, अमृतरूप अक्षर की अधिष्ठानकारणता, तथा अमृत–मृत्यु–रूप–आत्मक्षर की निमित्तकारणता, इन दोनों कारणताओं का अब अक्षरनिबन्धना अधिष्ठानकारणता में हीं अन्तर्भाव मान लिया जायगा। एवं अब निमित्तकारण बनेगा मृत्युरूप वह तीसरा विकारक्षर, जिसे पूर्व में हमने उपादानकारण कहा है।

२०६–काल की दुर्बोध्यता, एवं 'मनसा पृच्छतेदु' का समन्वय—

इसीसे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि–जिस कार्य्यजगत् को हमने विकारक्षररूप उपादानकारण से उत्पन्न बतलाया था, उस कार्य्यजगत् से पूर्व के, तथा विकारक्षरात्मक गुणभूत से उत्तर के, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित–पञ्चीकृत **[1]विश्वसृट्–[2]पञ्चजन–[3]पुरञ्जन–नामक–[1]अणुभूत–[2]रेणुभूत–[3]महाभूत–इन** तीनों की समष्टि को ही अब कार्य्यजगत् का उपादानकारण माना जायगा। बलसम्बन्ध की दुर्बोध्यता से सुसूक्ष्म कारण प्रसङ्ग दुर्बोध्य अवश्य है। किन्तु काल की त्रैकालिकता के समन्वय के लिए इस दुर्बोध्यता की उपासना किए बिना काम नहीं चल सकता। लिपि के माध्यम से कदापि इस दुर्बोध्यता का यथावत् समन्वय सम्भव नहीं है। क्योंकि, लिपि तो प्रतीकमात्र है उस सूक्ष्मतत्त्व की। अतएव तत्समन्वय के लिए तो प्रज्ञाशीलों को अपने आभ्यन्तर प्रज्ञाजगत् की ही शरण में आना चाहिए–**'मनसा पृच्छतेदु–मनसा विब्रवीमि वः'**। अमृताक्षर, एवं अमृतमृत्युरूप–आत्मक्षर, दोनों अपनी सुसूक्ष्मा कारणता से अव्यक्त ही बने रहते हैं। अतएव दोनों की समष्टि का–**'अव्यक्त महदक्षर'** रूप से एकत्र संग्रह हो गया है। तीसरा विकारक्षर भी अपने गुणभूतात्मक

पञ्चतन्मात्रा–भाव से सुसूक्ष्म बनता हुआ अव्यक्त ही है । अतएव इसका भी अन्तर्भाव होना तो चाहिए था महदक्षर में हीं । तथापि भौतिक रूप–रसादि के माध्यम से अनुमानगम्य बना रहने वाला विकारक्षर व्यक्तकोटि में हीं सन्निविष्ट हो गया है । अतएव इसे व्यक्त मान लिया गया है । किन्तु 'उपादान' इसे इसलिए स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा गया कि, विकारों को उत्पन्न करता हुआ भी यह स्व मात्राभाव से अविकृत ही रहता है । विकृतावस्था तो उसकी होती है, जो कार्य्यरूप में परिणत होता है, जिसे कि–अणु–रेणु–गर्भित–महाभूत कहा गया है । अतएव उसे ही उपादान कहा गया है लोकव्यवहार में । सभी भूतपिण्ड पञ्चमहाभूतात्मक ही तो माने जा रहे हैं । इस दृष्टि से गुणभूतात्मक–विकारक्षर–अवश्य ही निमित्तकारण बन रहा है, जिस इस व्यक्तदृष्टि से पूर्वोपात्त वाक्यार्थ के स्थान में–**'काले कालेनैव काल एव कालरूपेण-परिणतो भवति'** वाक्य का समन्वय होगा इस रूप से कि–**अक्षराभिन्ने-आत्मक्षरे-विकारक्षरेण-अणुरेणुगर्भितं महाभूतमेव भूतभौतिकरूपेण परिणतं भवति''** । तालिकारूपेण लक्ष्य बनाइए इस दृष्टिकोण को, एवं तदनन्तर काल के भूत–भविष्यदादि विवर्त्तों की दुर्बोध्यता का समन्वय कीजिए ।

काले समाहिताः	१–अक्षरः (भूतेशः) २–आत्मक्षरः (भूतयोनिः)	}अक्षराभिन्नः आत्मक्षरः–(अधिष्ठानकारणम्-१)-काले]-अमृतम्	
कालेनैव	३–विकारक्षरः (गुणभूतम्)	}विकारक्षरः-(निमित्तकारणम्-२) । कालेन	–मृत्युः
	४–पञ्चजनम् (अणुभूतम्) ५–पुरञ्जनम् (रेणुभूतम्) ६–पुरम् (महाभूतम्)	}अणुरेणुगर्भितं-महाभूतम् (उपादानकारणम्-३) काल एव	
इमाः प्रजाः नदन्ति	७–वैकारिकं जगत्(भूतभौतिकम्)]-महाभूतात्मिका प्रजा(कार्य्यजगत्-४) । कालरूपेण परिणतः]-मर्त्यम्		

२०७–सत्य–ऋत–कालात्मक दोनों अव्यक्तकालों की महदक्षरकालात्मक अव्यक्तकाल से अभिन्नता का समन्वय—

प्रकृत सूक्त 'सम्वत्सर' रूप से ही कालतत्त्व की स्वरूपव्याख्या में प्रवृत्त है । अतएव उक्त कारणत्रयी को अब हमें सम्वत्सर के माध्यम से ही समन्वित कर लेना पड़ेगा, एवं तभी **काले, और कालेन,** का यथावत् समन्वय

सम्भव बन सकेगा। पूर्व में **सत्यसम्वत्सर**, एवं **ऋतसम्वत्सर**–भेद से दो सम्वत्सर–विवर्त्तों का स्वरूप समन्वित हुआ है। उन्हीं दोनों विवर्त्तों को लक्ष्य बनाइए। अव्यक्त–अमूर्त्त–सम्वत्सर को ही सत्यसम्वत्सर माना गया है, एवं व्यक्त–मूर्त्त–सम्वत्सर ही क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न ऋतसम्वत्सर माना गया है। **'ऋतं सत्येऽधायि'**--एवं--**'सत्यं ऋतेऽधायि'** नियमानुसार दोनों **'सामातिमान'**–नामक सुप्रसिद्ध सामसम्बन्ध से एक दूसरे के उपोद्वलक बने हुए हैं। सत्यसम्वत्सर प्रवर्ग्यरूप से ऋतसम्वत्सर के प्रति अनुधावन कर रहा है, एवं ऋतसम्वत्सर अपने प्रवर्ग्यभागों को सत्यसम्वत्सर में विलीन करता हुआ तत्प्रति अनुधावित है। सत्यसम्वत्सर का साक्षी **परमेष्ठी** है, तो ऋतसम्वत्सर का साक्षी **सूर्य्य** है। परमेष्ठी सूर्य्यातीत बनता हुआ **अव्यक्त** है, तो सूर्य्य अपने ज्योतिर्भाव से **व्यक्त** है। अव्यक्त परमेष्ठी से समन्वित सत्यसम्वत्सर भी अव्यक्त है, तो व्यक्त सूर्य्य से समन्वित क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न ऋतसम्वत्सर भी व्यक्त है। यों दोनों सम्वत्सर क्रमशः अक्षराभिन्न आत्मस्वरूप महदक्षर के, तथा तद्गर्भित विकारक्षर के ही संग्राहक प्रमाणित हो रहे हैं।

२०८–'भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि' मूलक महदक्षर का महिमा–विवर्त्त—

निवेदन किया गया है कि, अक्षराभिन्न आत्मक्षर का प्रतिनिधि परमेष्ठी है, जो सूर्य्य से ऊर्ध्व अवस्थित होता हुआ–**'अव्यक्त'** है। अतएव इसे पारमेष्ठ्य तत्त्व कह सकते हैं। यही महदक्षररूप। (बहुब्रह्मरूप क्षर, एवं अक्षररूप) वह अव्यक्ततत्त्व है, जिसे कालभाषा में **अव्यक्त-अमूर्त्तकाल** कहा जायगा, एवं यज्ञभाषा में **'सत्यसम्वत्सर'** माना जायगा। भूत, और भविष्यत्, दोनों हीं भाव आद्यन्त के अव्यक्तभाव ही बन रहे हैं। जो हो चुका, वह भी अव्यक्त ही है, जो होने वाला है–वह भी अव्यक्त ही है। इसप्रकार अतीत, तथा अनागत (भूत, और भविष्यत्) दोनों भाव अव्यक्तधर्म्मा ही बने हुए हैं। वस्तुतस्तु जो भूत है, वही भविष्यत् है, एवं जो भविष्यत् है, वही भूत है। मध्य के व्यक्त-भवल्लक्षण-वर्त्तमान के कारण हीं वह एक ही तत्त्व 'भूत-भविष्यत्' इन दो नाममात्रों से व्यवहृत होने लग पड़ा है। वस्तुगत्या अथ से इतिपर्य्यन्त, अवारपारीण अखण्ड धरातलात्मक उस एक ही तत्त्व का नाम वर्त्तमान के उपक्रमात्मक जन्मानुबन्ध से जहाँ 'भूत' है, वहाँ उसी का नाम उपसंहारात्मक निधनानुबन्ध से 'भविष्यत्' है। तभी तो अव्यक्त की भूतावस्था को पदार्थों के **जन्म** की, तथा अव्यक्त की भविष्यदवस्था को पदार्थों के **निधनात्मक 'भङ्ग'** की प्रवर्त्तिका मान लिया गया है, जबकि मध्यस्थ व्यक्त विकारक्षरात्मक वर्त्तमानकाल पदार्थों की **'स्थिति'** अवस्था का कारण बन रहा है। अक्षराभिन्न–आत्मक्षर, किंवा–आत्मक्षराभिन्न अक्षररूप पारमेष्ठ्य अव्यक्त–**'महदक्षर'** ही यों अवारपारीणरूप से भूत-भविष्यल्लक्षण बन रहा है, किंवा अवाररूपोपक्रम से भूतरूप, तथा पारीणरूपोपसंहार से भविष्यद्रूप प्रमाणित हो रहा है। और यही अव्यक्त–अमूर्त्त–सत्यसम्वत्सरकाल का स्वरूपेतिवृत्त है, जिस की महदक्षरात्मिका–बहुब्रह्मात्मिका (क्षरात्मिका) भूत–भविष्यत्ता को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि–

> **भूतं–भविष्यत्–प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरम्।**
> **महद्ब्रह्मैकमक्षरम् ॥**

२०९–पारमेष्ठ्यमण्डलानुगत भूत–भविष्यत्काल की स्वरूप–परिभाषा—

ऋतसत्यसूत्रात्मक अव्यक्त स्वयम्भू के ब्रह्मनिःश्वसित–अपौरुषेय–वेदतत्त्व का यजुर्म्मय वाग् भाग ही रात्रिरूप (अव्यक्तरूप) पारमेष्ठ्य–महदक्षररूप में परिणत हुआ है, जैसाकि–**'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्त-**

पसोऽध्यजायत–ततो रात्र्यजायत' इस मन्त्रभाग से स्पष्ट है। व्यक्त–विकारक्षरात्मक ऋतसम्वत्सर ही सौर-सम्वत्सर है, जो कि 'अहः' (पुण्याह) रूप बनता हुआ वर्त्तमानकालात्मक व्यक्त–सृष्टिकाल है। परमेष्ठीरूपा अव्यक्ता रात्रि से ही इस अहःरूप व्यक्त ऋतसम्वत्सर का व्यक्तीभावात्मक जन्म हुआ है, एवं दिव्यसहस्रयुग-चतुष्टयी के भोगानन्तर यह अहःरूप व्यक्त–वर्त्तमान काल उसी रात्रिरूप महदक्षरात्मक–पारमेष्ठ्य–रात्रिकालात्मक–अव्यक्तकाल में विलीन हो जायगा। व्यक्त के आविर्भाव की अपेक्षा से वही अव्यक्त–महदक्षरकाल 'भूतकाल' बन रहा है, एवं व्यक्त के विलयनभाव की अपेक्षा से वही अव्यक्त 'भविष्यत्काल' प्रमाणित है। वर्त्तमानकालात्मक सभी भूत अव्यक्तादि बनते हुए अन्ततोगत्त्वा अव्यक्तनिधन हीं तो हैं ; अतएव अवश्य ही उस सत्यसम्वत्सरात्मक महदक्षरात्मक क्षरमूर्त्ति–पारमेष्ठ्य रात्रिरूप काल को 'भूतभविष्यत्काल' कहा जासकता है, कहा गया है।

२१०–अहोरात्रनिबन्धना कालत्रयी, एवं तत्समर्थक श्रौत–सन्दर्भ —

प्रजापति ने अपनी सहजसिद्धा सर्वव्याप्ति के माध्यम से हमारे अहोरात्र में भी कालपुरुष के भूतादि तीनों विवर्त्तों को अहोरात्र (दिनरात) के माध्यम से समन्वय कर रक्खा है। रात्रि अव्यक्तकाल का प्रतिमान है, तो सौर प्रकाशात्मक अहः व्यक्त–वर्त्तमानकाल का प्रतिमान है। सौम्या रात्रि पारमेष्ठ्य अव्यक्त महद-क्षर का प्रतीक है, तो आग्नेय–सौर अहः सौर व्यक्त काल का प्रतीक है। जिसप्रकार पुण्याहरूप सौर अव्यक्त कालात्मक सृष्टिकाल अन्ततोगत्त्वा रात्रिरूप परमेष्ठी में विलीन हो जाता है, तथैव प्रति अहोरात्र में व्यक्त सूर्य्य अव्यक्ता रात्रि के गर्भ में लीन होजाता है। प्रातः पुनः नवीन सूर्य्य व्यक्त होता है। यह नित्यसर्ग, तथा नित्य-प्रलय–क्रम अनवरत प्रक्रान्त है। रात्रि भूतभविष्यत्काल है, तो अहः वर्त्तमानकाल है। इसी दैनंदिनीया अहोरात्रीया–कालत्रयी से उस महा अहोरात्रीया परमेष्ठि–सूर्य्यानुगता सत्य–ऋत–सम्वत्सरात्मिका महाकालत्रयी का भी मानवप्रज्ञा अंशतः अनुमान तो लगा ही सकती है, जिस इस आनुमानिकी दृष्टि का समर्थन करते हुए ही श्रुति ने कहा है—

सूर्य्यो ह वा ऽग्निहोत्रम्। अथ यदस्तमेति, तदग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशति। अथ यद्रात्रिः–तिर एवैतत् करोति। स यथा–अहिस्त्वचो निर्मुच्येत्, एवं रात्रेः पाप्मनो निर्मुच्यते। (शत० २।३।१।१, से ६ पर्य्यन्त)। **अथ यदस्तमेति–आदित्यः–एतामेव तद्रजतां कुशीमनु (रात्रिमनु) संविशति।** (तै० ब्रा० १।५।१०।७।)।

१११–आगतकाल से प्रजा की समृद्धि—

सौर व्यक्तकालात्मक-पुण्याहरूप-ऋतसम्वत्सर अपने ऋत अग्नि, एवं ऋत सोम के विस्रस्त-प्रवर्ग्य-भागों से ही प्रजा की स्थिति का कारण बन रहा है। अतएव इस वर्त्तमानकालात्मक ऋतसम्वत्सरकाल को ही हम प्रजा की समृद्धि का कारण मानेंगे, जबकि अव्यक्त सत्यसम्वत्सरकाल अपने भूत–भविष्यल्लक्षण महदक्षरात्मक आत्मक्षररूप से इन प्रजाओं के मनः–प्राणों का, तथा वाङ्मय नामविवर्त्तों का आधारमात्र ही बना रहता

*- **अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत।**
अव्यक्तानिधनान्येव तत्र का परिदेवना।
—गीता

है । भूतभविष्यद्रूप अव्यक्तकाल में प्रतिष्ठिता मनःप्राणवाङ्मयी प्रजा की समृद्धि का निमित्त तो ऋतसम्वत्सरात्मक–वर्त्तमानरूप-व्यक्तकाल ही बनता है । अव्यक्त–सत्य–अमूर्त्त काल के इसी अधिष्ठानात्मक प्रतिष्ठाभाव को, आधारत्त्व को लक्ष्य बना कर जहाँ ऋषि ने–**'काले मनः–काले प्राणः, काले नाम समाहितम्'** कहा है, वहाँ व्यक्त–ऋत–मूर्त्त–सम्वत्सरकाल के इसी निमित्तात्मक भाव को लक्ष्य बना कर ऋषि ने–**'कालेन-आगतेन इमाः–प्रजाः–नन्दन्ति'** यह कहा है । **'काले'** का अर्थ है-**'भूत-भविष्यल्लक्षणे अमूर्त्ते–अव्यक्त काले'**, तो **'कालेन'** का अर्थ है–**'वर्त्तमानलक्षणेन विकारक्षरात्मकेन निमित्तकारणभूतेन मूर्त्तेन-ऋतसम्वत्सरकालेन'** ।

२१२–कालानुगता समृद्धि का स्वरूप-समन्वय, एवं सप्तम-मन्त्रार्थसमन्वयोपराम—

'नन्दन्ति' क्रियापद उस **'नद्'** धातु से निष्पन्न हुआ है, जो **'समृद्धि'** का वाचक बन रहा है–**(टुनदि समृद्धौ)** । क्या अर्थ है **'समृद्धि'** का ?, इस प्रश्न की अपेक्षा को **'शान्ति'** शब्द ही गतार्थ बना रहा है । **पुरुषानुगत आनन्द जहाँ 'शान्ति' कहलाया है**, वहाँ प्रकृत्यनुबन्धी सुख **'समृद्धि'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है । कालातीत–अनन्त–अव्ययात्मानुगता वह शान्ति, जो वृक्षवत् स्तब्धभावापन्ना है, जिसमें यच्चयावत् कम्पन उपशान्त हैं, वही शान्तानन्द **'आत्मानन्द'** कहलाया है, जिस में न अहाहा है, न ओ हो हो है । किसी भी प्राकृतिक (बौद्धिक-मानसिक,एवं शारीरिक) उछाल से, भावभङ्गिमा से, मुद्राविशेषों से कोई की सम्बन्ध न रखने वाली आत्मप्रसादात्मिका स्वस्वरूपस्थितिलक्षणा स्वस्थता का नाम हीं **'शान्ति'** है, जिसके उदित होने पर मानव प्रकृतिस्थ बनता हुआ बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त कर लेता है । ठीक इसके विपरीत बाह्य वैकारिक–ऐन्द्रियकविषयों की भूतमात्राओं के आगमन से होने वाली पुष्टि का प्रवर्त्तक भूतसुख ही वह **समृद्धिभाव** है, जिसमें विकम्पन प्रकान्त रहता है । जो विकम्पन ही **'हर्ष'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें मानवप्रकृति का (बुद्धि-मनः-शरीर का) पर्व–पर्व, अङ्ग–प्रत्यङ्ग थिरकने लगता है । यह स्फुरण ही मानव की **प्रकृति** को प्रकृतिस्वरूप में सुरक्षित रखता है उस दशा में, जब की यह समृद्धिरूप स्फुरण उस शान्तिरूपा आत्मस्वस्थता से नियन्त्रित बना रहता है । तद्वञ्चिता यही समृद्धि, यही सुख, यही भूतागमन (मानवप्रकृति के तात्कालिक पोषण का कारण बनता हुआ भी) मानव की प्रकृति को अन्तन्तोगत्त्वा दुःखार्णव में हीं निमग्न कर दिया करता है । अतएव धर्म्मानुगता (आत्मधर्म्मानुगता–समदर्शनान्विता) भूतसमृद्धि ही यहाँ वास्तविक समृद्धि मानी गई है । **महदक्षरात्मक अमूर्त्त काल में (काले) समाहिता मनः-प्राण-नाम–मयी प्रजा ही आगत-कालात्मक-व्यक्तकाल से (कालेन) समृद्धि की अनुगामिनी बना करती है**, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है । **'काले'** की उपेक्षा करने वाली **'कालेन'** की समृद्धि तो समृद्धि न रह कर सर्वविनाश की ही जननी बन जाया करती है । प्राथम्य **'काले'** का है । तदन्तर **'कालेन'** समन्विता समृद्धि है । **अमूर्त्त के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला मूर्त्त ही समृद्धि का पात्र बना करता है** । स्वस्वरूपात्मक समदर्शन के आधार पर प्रतिष्ठित प्राकृतिक-भोग ही मानव की वैय्यक्तिकी-पारिवारिकी-सामाजिकी, तथा राष्ट्रीय-समृद्धि का कारण बनते हुए विश्व-समृद्धि के संग्राहक प्रमाणित होते रहते हैं । इसी सम्पूर्ण–कालतथ्य को लक्ष्य में रखते हुए मन्त्र का यह उत्तरार्द्ध भाग समन्वित हो रहा है कि–**'कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः'** ।

इति-सप्तममन्त्रार्थसमन्वयः

७

(८)–अष्टममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (अष्टममन्त्रार्थ)

८–काले तपः काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम् ॥
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥१॥
९–तेनेषितं, तेन जातं, तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम् ॥२॥
१०–कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम् ॥
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥३॥

२१३–अष्टम-नवम-दशम-मन्त्रार्थों के अक्षरार्थों का संस्मरण, एवं तदाधारेण अष्टम मन्त्रार्थोपक्रम—

"काल में तप प्रतिष्ठित है, काल में 'ज्येष्ठ' प्रतिष्ठित है, काल में ब्रह्म सम्यक् रूप से आहित–प्रतिष्ठित है। निश्चयेन (वह) काल सम्पूर्ण प्रपञ्च का ईश्वर (अधिपति) है, जो कि (सर्वेश्वर काल प्रजापति का (भी) पिता था (८)। उस (काल) से (ही यह सबकुछ) प्रेरित–प्रेषित-इच्छायुक्त है, उस काल से (ही यह सबकुछ) उत्पन्न हुआ है। निश्चयेन (उ) वह काल उस (काल) में (ही) प्रतिष्ठित है। काल ही 'ब्रह्म' रूप में परिणत होकर परमेष्ठी को धारण किए हुए है (९)। काल ने प्रजा उत्पन्न की हैं, काल ने (हीं) सर्वप्रथम प्रजापति को व्यक्त किया है। स्वयम्भू (और) कश्यप (भी) काल से ही उत्पन्न हैं। काल से (ही) तप उत्पन्न हुआ है" (१०)–इत्यक्षरार्थक इन तीनों (८–९–१०) मन्त्रों की समष्टि से कालपुरुष के अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–नामक तीनों विवर्त्तों का समष्टिरूप से ऋषि ने स्पष्टीकरण किया है। मन्त्रत्रयी में उद्धृत तप, ज्येष्ठ, ब्रह्म, पिता, प्रजापति, ब्रह्म, परमेष्ठी, प्रजा, स्वयम्भू, कश्यप, तप,' इन शब्दों की, तथा काले, कालः, कालेन (तेन), कालात्, इन सप्तम्यन्त–प्रथमान्त–तृतीयान्त,–एवं पञ्चम्यन्त कालभावों के तत्त्वानुगत चिरन्तन इतिवृत्त (वैज्ञानिक–उपपत्ति) की यथार्थता से प्रकृतिपाशाबद्धा हमारी मानस–प्रज्ञा सर्वथा ही पराःपरावता है। अतएव हम असमर्थ हैं इन इतिवृत्तों के समन्वय में। अतएव च जिसप्रकार अबतक के सात (७) मन्त्रों के अक्षरार्थसमन्वय में हमने एकमात्र अपने स्वाध्यायपथोपासन की तुष्टि के लिए जो कुछ निवेदन कर देने की धृष्टता कर डाली है, उसी स्वकण्डूशान्तिमात्र के लिए इस समष्ट्यात्मक सन्दर्भ के सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव निवेदन कर देने की धृष्टता करली जाती है।

२१४–वेदार्थानुबन्धिनी परिभाषाओं की कालव्यवच्छेदानुगता दुरधिगम्यता—

अत्यन्त ही दुरधिम्या बन चुकीं हैं सहस्राब्दियों के कालव्यवच्छेद से वेदशास्त्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका रहस्यपूर्णा परम्परानुगता परिभाषाएँ। अतएव वेदार्थ में प्रवृत्त मादृश प्राकृत–प्रज्ञाओंनें अपनी कल्पना के आधार पर ही इस ऋषिशास्त्र के सम्बन्ध में अपने कामभाव का नग्न परिचय दे डाला है। अतएव च सर्वथा रहस्यपूर्णा, प्रकृतिसिद्धा, नित्यविज्ञानतत्त्वों के कालानुगत, गणितशास्त्र के माध्यम से संसिद्धा इस

अपराविद्या (वेदविद्या) का ज्ञान-विज्ञानात्मक पारिभाषिक मौलिक स्वरूप तथाविध काममय व्याख्याताओं के निग्रहात्मक अनुग्रह से सर्वथा अन्तर्मुख ही प्रमाणित हो गया है ।

२१५–मतवादाभिनिविष्टा वेदव्याख्याओं से वेद के मौलिक स्वरूप की अन्तर्मुखता—

वैदिक-परिभाषाओं के समन्वय के माध्य से वेदशब्दों का जो अर्थसमन्वय हुआ है,वह तो उन काममयी व्याख्याओं से बन गया है गौण, एवं काल्पनिक वेदव्याख्याएँ बन गईं हैं प्रधान, उसीप्रकार, जैसे कि पुराण-पुरुषभगवान् व्यास के द्वारा निर्म्मित वेदान्तसूत्र, भगवान् जैमिनि-प्रणीत पूर्वमीमांसासूत्र, भगवान् कणाद-विरचित वैशेषिकसूत्र, आदि आदि आर्ष–सूत्रग्रन्थ तो अपनी सूत्रार्थमर्य्यादा से अन्तर्निहित हो गए हैं, एवं तत्स्थान में अपना अपना विभिन्न दृष्टिकोण रखने वाले, परस्पस्पर–अन्त्यन्त विरुद्ध–साम्प्रदायिक व्याख्याग्रन्थ ही आज बन गए हैं प्रधान । शङ्करभाष्य का नाम आज वेदान्त है, शाबरभाष्य ही आज पूर्वमीमांसा कहलाने लग पड़ा है । सूत्रोपस्कार, सूत्रविवृति,आदि ही वैशेषिकदर्शन की ख्याति प्राप्त कर बैठे हैं । और इसीप्रकार पारिभाषिक-वैज्ञानिक समन्वय से सर्वथा ही पराःपरावत सायणादि भाष्य ही आज वेदार्थ के महान् ? कोष प्रमाणित किए जा रहे हैं । ऐसी स्थिति में उन अभिनव वेदव्याख्याताओं की कथा तो दूर से ही हमारे लिए प्रणम्य ही बन जाती है, जिन्होंनें तो वेद जैसे ज्ञानविज्ञानशास्त्र को भी सर्वथा आपणव्यवसायानुगत बनाते हुए इसे आज लोकानुरञ्जक–क्रीड़ा–कौशल पर ही ला खड़ा किया है । न्यूनतम त्रिसहस्त्रवर्षावधि से प्रकान्ता इसप्रकार की व्यक्तित्वविमोहनमूला भ्रान्तियों की विद्यमानता में वर्त्तमान मानवप्रज्ञा वेदाथ के ज्ञान-विज्ञानात्मक समन्वय के लिए किस पथ का अनुगमन करे ?, इस प्रश्न का समाधान तो स्वयं वैदिकी परिभाषाओं का (वेदशब्दों के निर्वचन–माध्यम से) समन्वय ही माना जायगा । परम्परा के अभिभूत हो जाने से यह सम्भव ही नहीं, अपितु निश्चित है कि, पारिभाषिक–समन्वयात्मक इत्थंभूत अर्थदृष्टियों में भी स्खलन होगा ही, रहेगा ही ।

२१६–मतवादनिरपेक्षा-आस्था-श्रद्धात्मिका ऋजुता, एवं वेदार्थानुग्रह की मङ्गलकामना-

तदपि राष्ट्र के चिन्तनशील विद्वानों की श्रद्धा–आस्था–परिपूर्णा–स्वाध्यायनिष्ठा की चिरकालिक प्रक्रान्ति से कालान्तर में अवश्य ही विलुप्तप्राय उस ज्ञानविज्ञानात्मक रहस्य का पारम्परिक समन्वय सर्वात्मना सुसम्पन्न बन ही जायगा, जिसके माध्यम से भारतराष्ट्र अपनी आचारात्मिका उस कर्त्तव्यनिष्ठा को पुनः प्राप्त कर लेने में समर्थ बन जायगा, निश्चयेन समर्थ बन ही जायगा, जिस कर्त्तव्यनिष्ठा से ऐहलौकिक अभ्युदय (समृद्धि), एवं पारलौकिक निःश्रेयस् (शान्ति), दोनों लक्ष्य संसिद्ध हो जाया करते हैं । एकमात्र इसी कामना से किसी भी साम्प्रदायिक व्याख्या के व्यामोहन में न पड़ कर स्वयं वेद के अक्षरों को ही उपास्य मानकर, पारिभाषिक–निगमानुगमवचनों के माध्यम से ही यह समन्वय-धृष्टता उपक्रान्त हो पड़ी है, जिस इस अनधिकारचेष्टा के लिए तत्त्वज्ञ विद्वानों की दृष्टि में तो हम क्षम्य हीं बने रहेंगे ।

२१७–पारिभाषिक अनुगम-निगम-भावों का शब्दार्थ-समन्वय, एवं अष्टम मन्त्र का 'अनुगम-मन्त्रत्त्व'—

हाँ, तो समष्टिरूपा मन्त्रत्रयी के प्रथम मन्त्ररूप, तथा क्रमप्राप्त अष्टम मन्त्रस्थानीय–'काले तपः काले ज्येष्ठम्' इस मन्त्र को ही सर्वप्रथम लक्ष्य बनाइए । जैसा स्वरूप सप्तम मन्त्र का है, ठीक वैसा ही स्वरूप

इस अष्टम मन्त्र का है। सप्तम मन्त्र के **मनः–प्राणः–नाम**–इन तीन पदों के स्थान में यहाँ क्रमशः **तपः–ज्येष्ठं–ब्रह्म**–ये तीन पद समाविष्ट हैं। मन्त्र अनुगमभावापन्न है। जहाँ विशेषता व्यक्त नहीं की जाती, अपितु तत्समानधर्म्मा सभी विवर्त्त जहाँ संग्राह्य बने रहते हैं, वही श्रुतिवचन **'अनुगमवचन'** कहलाया है। एवं नियतार्थ के सूचक वचन ही **'निगमवचन'** कहलाए हैं। अग्नि–वरुण–इन्द्र–सविता–आदि शब्द नियत प्राणविशेषों से सम्बन्ध रखते हुए निगमशब्द माने जायँगे। एवं प्रजापति–विश्वकर्म्मा–ब्रह्म––तप–ज्येष्ठ–स्वयम्भू–आदि शब्द तच्छब्दवाच्य सम्पूर्ण अर्थों के संग्राहक बनते हुए अनुगमशब्द कहलाएँगे। **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** इसे अनुगमवचन कहा जायगा, तो **'अग्निः सर्वा देवताः'** को निगमवचन माना जायगा। तप–ज्येष्ठ–ब्रह्म–ये तीनों शब्द अनेक भावों के संग्राहक बनते हुए क्योंकि अनुगमशब्द हैं। अतएव इन शब्दों से समन्वित–**'काले तपः–काले ज्येष्ठं–काले ब्रह्म समाहितम्'** इत्यादि मन्त्र को अनुगममन्त्र ही माना जायगा। एवं इस अनुगमभावानुबन्धन से–**'चत्त्वारि वाक् परिमिता पदानि'**–**'चत्त्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः'**–**'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'** **'त्रिवृद्वा इदं सर्वम्'**–**'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** इत्यादि अनुगमवचनो की भाँति–प्रकृत मन्थार्थ का भी अनेक स्थलों में समन्वय होगा। जिन कतिपय स्थलविशेषों के साथ इस मन्त्रार्थ का अत्र हमें समन्वय करना है, उन स्थलविशेषों को लक्ष्यारूढ बनाने के लिए सर्वप्रथम हमें मन्त्र के अत्यन्त रहस्यपूर्ण–**'यः पितासीत् प्रजापतेः'** इस अन्तिम (चतुर्थ) चरण को ही अवधानपूर्वक उपास्य बनाना पड़ेगा।

२१८–प्रजापति के पिता 'काल' का संस्मरण, एवं मन्त्रार्थजिज्ञासा—

'जो काल प्रजापति का भी पिता है' इस वाक्य का **'प्रजापति'** कौन है ?, एवं इस 'प्रजापति' का पिता **'काल'** कौन है ?, जबतक इन प्रश्नों का समन्वय नहीं कर लिया जाता, तबतक **"काल में तप है, काल में ज्येष्ठ है, काल में ब्रह्म समाहित है, काल सम्पूर्ण प्रपञ्च का ईश्वर है"** इस शेषांश का कथमपि समन्वय सम्भव नहीं है।

२१९–ज्ञानविज्ञान-समन्वयमूर्त्ति प्रजापति, एवं ज्ञान-विज्ञान-शब्द-परिभाषा—

कालसीमा में 'प्रजापति' नामक तत्त्वविशेष से समुद्भूत यह स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्च **ज्ञानप्रजापति, एवं विज्ञानप्रजापति**, इन दो महिमाभावों में परिणत रहता है। प्रजापति से समुद्भूत 'प्रपञ्च' भी 'प्रजापति' ही है, और प्रपञ्चात्मक यह प्रजापति ज्ञान, विज्ञान–भेद से दो महिमाभावों में परिणत हो रहा है। **'ब्रह्म से ही यह सबकुछ बना है, अतएव यह सबकुछ ब्रह्म ही है'** इस वाक्य के द्वारा प्रजापति के ज्ञान–विज्ञानात्मक दोनों विवर्त्त परिगृहीत हैं। किसी एक तत्त्व का अनेक भावों में परिणत हो जाना हीं उस तत्त्व का **'विज्ञानत्त्व'** है। एवं अनेक भावों का एक तत्त्व में परिणत हो जाना हीं उस तत्त्व का **'ज्ञानत्त्व'** है। **'एकं ज्ञानं ज्ञानम्'**–**'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्'** हीं ज्ञान, तथा विज्ञान-शब्दों का पारिभाषिक समन्वय है। **'ब्रह्म से ही यह सबकुछ बना है'** वाक्यांश का अर्थ है–**'एक ही अनेकरूप में परिणत हो रहा है'**–**'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'**। यही उस का **'विज्ञानस्वरूप'** है। **'अतएव यह सबकुछ ब्रह्म ही है'** इस वाक्यांश का अर्थ है–**'ये सब अनेक भाव अन्ततोगत्त्वा एक ब्रह्म ही है'**। यही उस का **'ज्ञानस्वरूप'** है। प्रथमवाक्यांश में एकत्त्व उद्देश्य है, अनेकत्त्व विधेय है, तो द्वितीय वाक्यांश में अनेकत्त्व उद्देश्य है, एवं एकत्त्व विधेय है। क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही है कि, **'एक से अनेक बन जाना, अनेक से एक बन जाना'** वाक्य में **'विज्ञान'**, एवं **'ज्ञान'**, ये दोनों भाव समाविष्ट हैं।

२२०-वेदितव्या-विद्याद्वयी, एवं उस के पराविद्या, अपराविद्या-नामक दो विवर्त्त—

दार्शनिकी भावुकभाषा में यों कहा जा सकता है कि–'उस एक से अनेक भावापन्न विश्व कैसे उत्पन्न हुआ ?, इस प्रश्न का समाधान करने वाली विद्या का नाम हीं 'विज्ञानविद्या' है, एवं 'ये अनेक उस एक में कैसे परिणत हो जाते हैं ?' इस प्रश्न का समाधान करने वाली विद्या ही 'ज्ञानविद्या' है। ज्ञानविद्या ही प्रतिसञ्चरविद्या है, प्रतिसर्गविद्या है, प्रतिसृष्टिविद्या है, लयविद्या है, समवलयविद्या है, मुक्तिविद्या है, पराविद्या है, अक्षरविद्या है। एवं विज्ञानविद्या ही सञ्चरविद्या है, सर्गविद्या है, सृष्टिविद्या है, बन्धनविद्या है, अपराविद्या है, क्षरविद्या है। इन दोनों विद्याओं को ही ऋषि ने 'वेदितव्या–विद्या' कहा है *। मूल उदाहरणों से समन्वय कीजिए इन दोनों महिमा–विवर्त्तों का।

२२१–ज्ञानानुगता 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' श्रुति का, एवं विज्ञानानुगता 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' श्रुति का समन्वय, तथा 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्' का संस्मरण—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति यदि ज्ञानमहिमा का उदाहरण है, तो-'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' श्रुति विज्ञानमहिमा का उदाहरण है। सर्वं खल्विदं ब्रह्म' श्रुति 'सर्वं' (विश्व) को उद्देश्य मान रही है, एवं 'ब्रह्म' को विधेय। सर्वत्वोद्देश्येन ब्रह्म का विधान हो रहा है। सब को 'ब्रह्म' बतलाया जा रहा है, एवं यही ज्ञानोदाहरण है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' श्रुति 'ब्रह्म' को उद्देश्य मान रही है, एवं 'सर्वम्' को विधेय। ब्रह्मो-द्देश्येन सर्व का विधान हो रहा है। 'ब्रह्म' को 'सबकुछ, बतलाया जारहा है। और यही विज्ञानोदाहरण है। सृष्टिकामना से वही अपने मनःप्राणवाग्भावों से काम–तपः–श्रम–मय बनता हुआ विश्वभाव में परिणत हो रहा है, एवं मुक्तिकामना से वही अपने आनन्दविज्ञानमनोभावों से अप्राण–अमना-बनता हुआ ब्रह्मभाव में परिणत हो रहा है÷। वही यह बना है, और यही वह बन जाता है। किंवा वही यह है, और यही वह है। ज्ञान ही विज्ञान है सञ्चरावस्था में, एवं विज्ञान ही ज्ञान है प्रतिसञ्चरावस्था में। ब्रह्म ही विश्व है विज्ञान-धारापेक्षया, एवं विश्व ही ब्रह्म है ज्ञानधारापेक्षया। उधर से इधर आना हीं 'विज्ञान' है, एवं इधर से उधर जाना हीं ज्ञान है। ब्रह्म के 'उधर' और 'इधर' के इन ज्ञान-विज्ञानरूप दो महिमाभावों के अतिरिक्त और कुछ भी तो ज्ञातव्य नहीं बच रहता। इन दोनों की विज्ञता से ब्रह्म का सम्पूर्ण महिमा-स्वरूप ज्ञात (ज्ञानापेक्षया), तथा विज्ञात (विज्ञानापेक्षया) बन जाता है, जिस इस उभय–महिमाभाव को लक्ष्य बना कर ही भगवान्ने कहा है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

—गीता *

---

*–द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च (श्रुतिः)।

÷–अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः–अक्षरात्परतः परः। (श्रुतिः)।

*–विस्तार के लिए देखिए–'भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय' नामक स्वतन्त्र निबन्ध।

२२२–प्रजापतिमूलक ज्ञान-विज्ञान-भावों का समन्वय—

समन्वय हमें उस 'प्रजापति' शब्द का करना है, जिस का पिता 'कालपुरुष' बतलाया जा रहा है। ज्ञान–विज्ञान–भावों के प्रवर्त्तक उन दो वचनों को ही इस समन्वय के लिए लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जो वचन 'प्रजापति' अभिधा से सम्बन्ध रख रहे होंगे।। 'सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः' (शत० ५।१।१।४।) यह वचन जहाँ प्रजापति की ज्ञानमहिमा का संग्रह कर रहा है, वहाँ–'**प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्व-यदिदं किञ्च**' (शतपथ) यह वचन इसी की विज्ञानमहिमा का संग्राहक बन रहा है। '**यह सब कुछ नाना भाव वह** एक ही **प्रजापति है**, (**सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः**) के द्वारा अनेकत्वोद्देश्येन एकत्व विहित है। एवं–'**प्रजापति ही यह सब कुछ है**' (**प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वम्**) के द्वारा एकत्वोद्देश्येन अनेकत्व विहित है।

२२३–ज्ञानप्रधान प्रजापति का आत्मत्त्व, एवं विज्ञानप्रधान प्रजापति का विश्वत्त्व, तथा दोनों विवर्त्तों से अनुप्राणित आत्मन्वी प्रजापति---

ऐसा है वह प्रजापति, जो यों अपनी ज्ञान-विज्ञान-नाम की इन दो महिमाओं से विश्वात्मा (ज्ञानात्मा) भी बना हुआ है, एवं विश्व (विज्ञानात्मा) भी बन रहा है। वही ज्ञानभाव से एकरूपत्त्वेन **आत्मा** है, एवं वही विज्ञानभाव से अनेकरूपत्त्वेन '**विश्व**' है। आत्मा, और विश्व, दोनों की समन्वितावस्था का नाम हीं-**आत्मन्वी**' है। शरीरविशिष्ट आत्मा, किंवा आत्मविशिष्ट शरीर–तत्त्व का नाम हीं '**आत्मन्वी**' है। अतएव अवश्य ही 'प्रजापति' को आत्मन्वी कहा जासकता है, जैसाकि स्वयं इस के नाम से ही स्पष्ट है। '**प्रजापति**' शब्द में '**प्रजा**', और '**पति**' ये दो विवर्त्त हैं। विज्ञानात्मक विश्व ही '**प्रजा**' है, एवं ज्ञानात्मक 'आत्मा' ही इस प्रजास्थानीय विश्व का '**पति**' है। दोनों की समष्टि (प्रजा और पति की समष्टि) ही 'प्रजापति' है। ज्ञानविज्ञानमहिमामय आत्मन्वी प्रजापति की इसी सर्वव्याप्ति का उक्त दोनों ब्राह्मण–वचनों से स्पष्टीकरण हुआ है, जिस का निम्नलिखित मन्त्रश्रुति के द्वारा यों यशोगान हुआ है–

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" ॥

—यजुःसंहिता ८।३६।

प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

---यजुःसं० २३।६५।

२२४–त्रिज्योतिर्म्मय षोडशीप्रजापति का संस्मरण—

"सम्पूर्ण भुवनों में प्रविष्ट वह प्रजापति अपनी प्रजा से समन्वित रहता हुआ तीन ज्योतिर्विवर्त्तों से परिष्वक्त है अन्तर्य्यामसम्बन्ध से। अतएव वह 'षोडशी' (षोडश-कलात्मक) बन रहा है" इसप्रकार के अनुगमात्मक स्वरूप से समन्वित त्रिज्योतिर्म्मय षोडशीप्रजापति को उपास्य बना कर ही हमें–'यः पितासीत्--प्रजापतेः' का समन्वय करना चाहिए। जिस प्रजापति का स्वरूप–'**यस्मान्न**

जातः परो अन्यो अस्ति' के अनुसार सम्पूर्ण प्रपञ्च का संग्राहक बन रहा हो, उस सर्वस्वरूपात्मक सर्वात्मक प्रजापति का पिता कौन होगा ?, प्रश्न सचमुच ही कालगर्भिता प्रजा के लिए तो दुरधिगम्य ही प्रमाणित होगा। इस दुरधिगम्यता का एकमात्र आधारबिन्दु तो कालातीत वह **'परात्परब्रह्म'** ही माना जायगा, जिस के गर्भ में काल का वही स्वरूप है, जो कि स्वरूप अनन्त समुद्र में एक बुद्बुद (बुल बुले) का है।

२२५–अनन्त परात्परब्रह्म के यत्किञ्चिदंशरूप एकांश से अभिव्यक्त कालपुरुष, एवं 'पितासन्नभवत् पुत्र एषाम्' का अक्षरार्थ–समन्वय—

अनन्त परात्पर ही अपने उस एक बुद्बुद रूप कालबिन्दु से **कालपुरुष**, तथा **यज्ञपुरुष**- रूप, से दो महिमाभावों का प्रेरक बनता हुआ। दोनों में पिता-पुत्रीय-सम्बन्ध स्थापित कर देता है। बुद्बुदरूप कालपुरुष ही अपने बाह्य आकार से तो कालपुरुष बन जाता है, एवं आकार से आकारित आभ्यन्तर वस्तुरूप यज्ञपुरुष बन जाता है। उसी का बाह्याकाररूप कालपुरुष **'पिता'** है, एवं आभ्यन्तर वस्तुरूप **'प्रजापति'** है। यों वही अपने छन्दोमय आकाररूप से पिता बन रहा है, एवं छन्दितरूप से पुत्र बन रहा है, जैसाकि–"**पिता सन्नभवत् पुत्र एषां–तस्माद् वै नान्यद् परमस्ति तेजः**,' इत्यादि रूप से पूर्वमन्त्रार्थ–समन्वय में भी सङ्केत किया जा चुका है (देखिए चतुर्थ मन्त्रार्थ समन्वय प्रकरण)। पिता कालपुरुष है, पुत्र यज्ञपुरुष है, यही प्रजापति है। और ये दोनों पितापुत्र (काल, और प्रजापति) उस एक ही अनन्त–कालातीत–सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्पर परमेश्वर की एक बिन्दु के हीं प्रसून हैं, जो बिन्दु 'एकांश' कहलाई है उस अनन्त परात्पर की।

२२६–ब्रह्म की एकांशता का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय,–एवं मायामय मायी काल–यज्ञात्मक प्रजापति—

क्या स्वरूप है उस एकांशरूपा (यत्किञ्चिद्रूपा) बिन्दु का ?, प्रश्न का उत्तर है रसानुगता बलभावात्मिका **'माया'**। छन्दोरूप आकाररूप मायाबल से अमित भी मित बन जाता है, **अमायी** (परात्पर) भी अपने उस एकांशरूप मायाबल से तदवच्छिन्न रसबलरूपेण **मायी** बन जाता है। मायापुर से अतीत परात्पर भी अपने मायिक बिन्दुमात्रांश से **'पुरुष'** बन जाता है। मायापुर स्वयं **कालपुरुष** है, तो मायापुर से सीमित परात्परांश **'यज्ञपुरुष'** है। मायाबलात्मक–छन्दोभावात्मक, सीमाभावात्मक वही अचिन्त्य तत्त्व यदि कालपुरुषात्मक **'काल'** है, तो इस काल से सीमित, कालात्मक मायाबल के समन्वय से ही कृतरूप यज्ञपुरुष **'प्रजापति'** है, यही षोडशीपुरुष है, एवं यही षोडशकल आत्मन्वी ज्ञानविज्ञानात्मक **'प्रजापति'** है।

२२७–महतो महीयान्, एवं अणोरणीयान् मायावृत्त की अभिन्नता—

काल को अव्यक्त–अमूर्त–कहा गया है। एवं पूर्व–प्रकरणों में इसे महदक्षर कहा गया है। अक्षर को प्राणरूप माना गया है, इसी अक्षर को 'प्रकृति' कहा गया है। साथ ही में इस प्रकृतिरूप प्राणप्रधान अक्षर को हृद्य माना गया है। पूर्व में हृदयाक्षररूप प्रकृति को 'काल' बतलाना, एवं यहाँ सीमाभावप्रवर्त्तक सीमात्मक बाह्याकार को 'काल' बतलाना क्या परस्पर समन्वित है ?। अवश्य। महिमामण्डल ही महतोमहीयान् महाछन्द है, यही मायावृत्त है, एवं इस महिमामण्डल का सुसूक्ष्म केन्द्रीय अणुच्छन्द ही 'हृदयम्' (केन्द्र) है, जोकि अणोरणीयान् कहलाया है। अणोरणीयान् केन्द्रबिन्दु, तथा महतोमहीयान् महावृत्त, दोनों एक ही

वस्तुतत्त्व है विज्ञानजगत् में। केन्द्रस्थ केन्द्रात्मक हृद्याक्षरप्राण महिमामावृत्तात्मक अण्डवृत्तरूप में परिणत हो रहा है, किंवा महिमात्मक अण्डवृत्त का केन्द्रीय-स्वरूप ही हृदयाक्षर है। अतएव हृदयावच्छिन्ना हृदय-रूपा प्रकृति को, तथा महिमावच्छिन्ना अक्षरप्रकृति को, दोनों को सर्वथा अभिन्न ही माना जायगा।

२२८-मायारूपा प्रकृति, एवं मायी महेश्वर—

अतएव हृदयाक्षररूपा प्रकृति, तथा महिमाक्षररूपा **माया,** दोनों को 'मायां तु **प्रकृतिं** विद्यात्, मायिनं तु **महेश्वरम्'** (षोडशीपुरुषात्मकं **प्रजापतिं**) इत्यादि रूप से अभिन्न ही मान लिया गया है। महिमाण्डला-त्मिका माया का **अवाररूप** ही 'हृदय' **है, पारीणरूप** ही **'महिमा'** है। उपक्रमरूप ही 'हृदय' है, एवं उपसं-हाररूप ही 'महिमा' है। यों उपक्रमोसंहार से एक ही प्रकृत्यक्षर अवारपारीणभावानुबन्ध से मायारूप महाछन्द, एवं केन्द्ररूप सूक्ष्मछन्द बनता हुआ अभिन्न है। अतएव पूर्वपरिच्छेदों में हृदयावच्छिन्न महदक्षर को 'काल' कहना, और यहाँ महामहिमा-मण्डलरूप मायावृत्त को 'काल' कहना निर्विरोध समन्वित हो रहा है।

२२९-मायावृत्तानुगत जाया-धारा-आपः-अम्बम्-आदि-विभिन्न बलकोशों का संस्म-रण, एवं षोडशकलबलानुगता षोडशी माया, तथा तदभिन्न षोडशीपुरुष—

युक्तं चैतत्। असीम का कोई पुररूप मण्डलभाव नहीं। अतएव असीम-अमायी-अपुर का कोई नियत केन्द्र नहीं। मायातीत (कालातीत) परात्पर परमेश्वर असीम है। अतएव उसमें नियत केन्द्र का अभाव है। मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तर क्षण में हीं, मायापुर के अभिव्यक्त होते ही तदंशभूत मायासीमित परात्पर-पुरुष में केन्द्र का आविर्भाव होजाता है। मायावृत्त, और मायाकेन्द्र, दोनों एक ही छन्द के दो महिमास्वरूप हैं। अतएव वृत्तात्मक महिमाछन्द, एवं केन्द्रात्मक अणुच्छन्द, दोनों हीं एक वस्तुतत्त्व हैं। और यही 'काल' का, किंवा अक्षरप्रकृति का मौलिक-स्वरूप-समन्वय है, जिससे सीमित परात्पर ही 'प्रजापति' (यज्ञपुरुष) कहलाया है। परात्परांशभूत मायी प्रजापति इसी मायामय काल के गर्भ में मायाबलानुगत जाया-धारा-आपः-अम्ब-यक्ष-आदि आदि पञ्चदशविध कोशात्मक बलों से षोडशकल बन रहा है। मायासहित बलकोश सोलह हैं, ये ही इस मायारूप महाकाल की १६ बलकलाएँ हैं। इस बलकलाभाव से ही वह वृत्त कलनात् 'कालः' बन रहा है। बलकलावच्छेदेन कलनात् 'कालः' बने हुए उस अक्षरप्रकृतिरूप मायाबल के गर्भ में हीं आत्मबलानुगत १६ बलकोशों से ही कृतरूप मायी प्रजापतिपुरुष 'षोडशकल' बनता हुआ 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, जिसका-**'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'** इस अनुगमनवचन से स्पष्टीकरण हुआ है। यों काल पिता बन रहा है षोडशीप्रजापति का, जिसके अनुगमात्मक तीन ज्योतिर्विवर्त्तों का-**'त्रीणि ज्योतींषि-सचते स षोडशी'** से स्पष्टीकरण हुआ है।

२३०-षोडशीप्रजापति की तीन ज्योतियों का दिग्दर्शन-

कौनसी है प्रजापति की वे तीन ज्योतियाँ ?, प्रश्न का उत्तर प्रजापति के 'षोडशी' नाम में हीं गर्भित है। प्रजापति की १६ कलाओं का स्वरूपबोध ही इसके तीनों ज्योतिर्विवर्त्तों का आधारबिन्दु बन रहा है। पञ्चकल अव्ययपुरुष, पञ्चकल अक्षरपुरुष (पराप्रकृति), एवं पञ्चकल आत्मक्षरपुरुष (अपराप्रकृति), रूपेण तीनों पुरुषों की १५ पन्द्रह कलाएँ, एवं इनका पूरक अकलभावात्मक सोलहवाँ सर्वाधारभूत निराधार परात्पर, ये ही १६ कलाभाव हैं, जिनसे त्रिपुरुष-पुरुषात्मक प्रजापति षोडशकल बन रहे हैं।

२३१–त्रिपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति का सर्वाधारत्त्व, एवं विराट्प्रजापति, तथा अधिपुरुष का स्वरूप–समन्वय–

यह संस्मरणीय है कि, विश्वसर्ग का मूल जहाँ **सप्तपुरुषपुरुषात्मक** मृत्युभावात्मक चित्यप्रजापति है, वहाँ आत्मसर्ग की आधारभूमि सर्वत्र यह **त्रिपुरुषपुरुषात्मक अमृतभावापन्न चितेनिधेय प्रजापति** ही बनता है। त्रिपुरुषपुरुषात्मक अमृतभाव (आत्मभाव), एवं सप्तपुरुषपुरुषात्मक मर्त्यभाव (शरीरभाव), इन दोनों के, ३ और ७ के समन्वितरूप का (आत्मा और शरीर के समन्वितरूप का) ही नाम है **'विराट्–प्रजापति'**–**'ततो विराडजायत'** (यजुः)। **'विराजो अधि पूरुषः'**–इसी आधिदैविक विराट्प्रजापति से आध्यात्मिक पुरुष–(मानव)–प्रजापति का आविर्भाव हुआ है प्रतिमारूपेण। प्रजापति भगवान् हैं, तो यह पुरुष भगवान् की ही मूर्त्त–प्रतिमा है। इस मूर्त्ति (मानव) के माध्यम से ही उस अमूर्त्त भगवान् की उपासना व्यवस्थित हुई है। बिना मूर्त्ति के, प्रतिमा के अमूर्त्त की, प्रतिमाभाव-विरहित भगवान् की उपासना तो कथमपि सम्भव नहीं है। प्रतिमाछन्द ही उस अप्रतिम की उपासना का एकमात्र माध्यम है, जिसके आधार पर ही सनातनप्रजा की मूर्त्तिपूजा, तथा तदनुबन्धी भगवान् के मानुषावतार व्यवस्थित हुए हैं, जिस इस सूक्ष्मतम रहस्य का समन्वय करने में असमर्थ प्राकृत मानव हीं प्रतिमापूजनात्मक इस महान् वैज्ञानिकपथ से वञ्चित होते रहते हैं।

२३२ स्वज्योति-परज्योति-रूपज्योति--भाव, एवं ज्योतिषां ज्योतिः—

ज्ञानज्योति, कर्म्मज्योति, भूतज्योति, भेद से ज्योति के तीन विवर्त्त माने गए हैं, जो विज्ञान-भाषा में क्रमशः **स्वज्योति. परज्योति, रूपज्योति,** कहलाए हैं। पञ्चकल अव्ययपुरुष स्वज्योतिर्लक्षण ज्ञान–ज्योति है, पञ्चकल अक्षरपुरुष परज्योतिर्लक्षण कर्म्मज्योति है, एवं पञ्चकल आत्मक्षरपुरुष रूपज्योतिर्लक्षण भूतज्योति है। सर्वान्त का, किंवा सर्वादि का निष्कलकलात्मक परात्पर इन तीनों पुरुषज्योतियों का आधार बनता हुआ **"ज्योतिषां– (अव्ययाक्षरात्मक्षरपुरुषाणां) ज्योतिः (प्रकाशकः)"** है। अपनी ज्ञान–क्रिया–अर्थ-रूपा तीनों ज्योतियों से समन्वित तीनों पुरुषभावों की १५ कलाओं, तथा परात्परकला से षोडश–कल बने रहने वाले त्रिज्योतिर्म्मय षोडशीप्रजापति का यही स्वरूप-दिग्दर्शन है, जो मायारूप महाछन्दोमय काल में हीं प्रतिष्ठित है।

२३३–त्रिज्योतिर्म्मय षोडशीप्रजापति के तपः-ज्येष्ठं-ब्रह्म-नामक तीन महिमा-विवर्त्त, एवं-'काले तपः-काले ज्येष्ठं-काले ब्रह्म समाहितम्' का अक्षरार्थसमन्वय—

इस षोडशीप्रजापति का ज्ञानज्योतिर्म्मय अव्ययभाग ही **'तप'** * है, इसी का कर्म्मज्योतिर्म्मय अक्षरभाग ही ज्येष्ठं है, एवं भूतज्योतिर्म्मय आत्मक्षरभाग ही 'ब्रह्म' है। षोडशीप्रजापति के, विश्वात्मा के **तपः–ज्येष्ठ-ब्रह्म**-रूप **अव्यय, अक्षर, क्षर,** नामक तीनों प्राजापत्य विवर्त्त ही इस प्रजापति के क्रमशः **मनः–प्राण–वाङ्मय नाम**–ये तीन विवर्त्त हैं। अव्यय मनोविवर्त्त है, अक्षर प्राणविवर्त्त है, एवं क्षर वाग्विवर्त्तात्मक नामविवर्त्त है। मन, और प्राणरूप अव्ययाक्षर–नामक दोनों विवर्त्त असङ्ग हैं। अतएव ये छन्दोरूप असङ्गकाल के स्वरूप में हीं अन्तर्भूत मान लिए जाते हैं। तीसरा वाग्रूप नाम हीं दिग्देशानुबन्ध में परिणत होकर धामच्छद–सर्गों का उपादान बनता है। अतएव तद्रूप 'ब्रह्म' के साथ ही **'समाहितम्'** का सन्निवेश अन्वर्थ बनता है। जबकि मनः–प्राण–स्थानीय–अव्ययरूप **तप**, तथा अक्षररूप **ज्येष्ठम्** , इन

* **यस्य ज्ञानमयं तपः** । (उपनिषत्)।

दोनों तत्त्वों के साथ (इनकी अमूर्त्तभावप्रधानता से) कोई विशेषण समन्वित नहीं होसकता । अपितु इनके लिए तो–'**काले तपः–काले ज्येष्ठम्**' यही कह देना पर्य्याप्त होता है । पूर्व के सप्तम मन्त्रार्थ–समन्वय में स्पष्ट किया जाचुका है इन मनःप्राणभावों का असङ्गभाव । यही प्रस्तुत अनुगममन्त्र का अनुगमात्मक एक अर्थसमन्वय है, जैसाकि तालिका से स्पष्ट है ।

त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी—

अखण्डघनातलात्मकः–तुरीयः–निष्कलकलात्मकः–परात्परः–एकः

स एषस्त्रिपुरुषपुरुषात्मकः-प्रजापतिः पुत्रः —

कालपुरुषस्य

१–आनन्दः २–विज्ञानम् ३–मनः ४–प्राणः ५–वाक्	पञ्चकलोऽव्ययपुरुषः ज्ञानात्मा मनः	**काले-तपः(अव्ययः-इति यावत्)** पुरुषः (ज्ञानज्योतिः)-तपोमूर्त्तिः (१) –स्वज्योतिर्वा–
१–ब्रह्मा २–विष्णुः ३–इन्द्रः ४–सोमः ५–अग्निः	पञ्चकलोऽक्षरपुरुषः कर्म्मात्मा प्राणः	**काले ज्येष्ठं-(अक्षरः-इति यावत्)** पराप्रकृतिः (कर्म्मज्योतिः) ज्येष्ठमूर्त्तिः (२) –परज्योतिर्वा–
१–प्राणः २–आपः ३–वाक् ४–अन्नम् ५–अन्नादः	पञ्चकलः क्षरपुरुषः भूतात्मा वाक्	**काले ब्रह्म (क्षरः-इति यावत्)** अपराप्रकृतिः (भूतज्योतिः)ब्रह्ममूर्त्तिः (३) –रूपज्योतिर्वा–

कालपुरुषे–गर्भितः–त्रिपुरुषपुरुषात्मकः–यज्ञपुरुषः

महिमारूपेण–हृदयरूपेण च–अवारपारीणः–मायाहृत्तात्मकः–कालपुरुषः–सोऽयं काल एव पिता प्रजापतेः–

इति–

काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम् ।

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥

२३४–अव्ययमनोऽनुबन्धी 'तपः', अक्षरप्राणानुबन्धी 'ज्येष्ठम्', एवं–क्षरवागनुबन्धी–'ब्रह्म' का तात्त्विक–समन्वय—

ज्ञानशक्तिमय '**मन**' ही 'तपः' की स्वरूप-परिभाषा है, क्रियाशक्तिमय '**प्राण**' ही '**ज्येष्ठं**' का स्वरूप-परिचय है, एवं अर्थशक्तिमयी '**वाक्**' ही '**ब्रह्म**' की मौलिक-परिभाषा है । तीनों की समष्टि ही विश्वकारणभूत 'प्रजापति' की स्वरूप-परिभाषा है । ज्ञानशक्ति से समन्वित मनोमय वे ही प्रजापति सृष्टि के **अधिष्ठानात्मक कारण** (आलम्बनकारण) हैं, क्रियाशक्ति से समन्वित प्राणमय वे ही प्रजापति सृष्टि के '**निमित्तकारण**' (असमवायिकारण) हैं, एवं अर्थशक्ति से समन्वित वाङ्मय वे ही प्रजापति सृष्टि के '**आरम्भणकारण**' (समवायिकारणात्मक उपादानकारण) हैं । इस परिभाषा की दृष्टि से प्रजापति का मनोरूप (आत्मदृष्ट्या), किंवा मनोमय (विश्वदृष्ट्या) '**तपः**' ही सृष्टि का आलम्बनकारण है । प्रजापति का प्राणरूप, किंवा प्राणमय '**ज्येष्ठम्**' ही सृष्टि का निमित्तकारण है । एवं प्रजापति का वाग्रूप, किंवा वाङ्मय '**ब्रह्म**' ही सृष्टि का उपादान-कारण है । क्योंकि षोडशीप्रजापति के [1]**अव्यय**–[2]**अक्षर**–[3]**आत्मक्षर**–नामक तीनों ज्योतिर्विवर्त्त क्रमशः सृष्टि के [1]**आलम्बन**–[2]**निमित्त**–[3]**उपादान**–कारण हैं । साथ ही तीनों क्योंकि [1]**ज्ञान**-[2]**क्रिया**-[3]**अर्थ**-शक्तिरूप, किंवा शक्तिमय बनते हुए [1]**मनः**–[2]**प्राण**–[3]**वाग्रूप**, किंवा **मनःप्राणवाङ्मय** हैं । अतएव इन अव्ययादि को इस परिभाषा से अवश्य ही क्रमशः [1]**तपः**–[2]**ज्येष्ठम्**[3]–**ब्रह्म**-कहा जासकता है अनुगममर्य्यादानुबन्ध से ।

१–मनः–ज्ञानमयम्–तदेव तपः (आलम्बनम्)–तद्रूपोऽव्ययः–तप एव

२–प्राणः-क्रियामयः–तदेव ज्येष्ठम् (निमित्तम्)–तद्रूपोऽक्षरः–ज्येष्ठमेव

३–वाक्–अर्थमयी–तदेव ब्रह्म (उपादानम्)–तद्रूपः क्षरः—ब्रह्मैव

—*—

२३५–तप–ज्येष्ठ–ब्रह्म–शब्दों के परिभाषिक अर्थों का समन्वय—

'**कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्**' (ऋक् सं० १०।१२९।४)–'**तपसस्तन्महिना जायतैकम्**' (ऋक्० १०।१२९।३)–'**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत**' (ऋक्० १०।१९०।१)–इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार मनोमयी अध्यवसायनिष्ठा का ही नाम है–'**तप** 'अध्यात्मभाषा में, एवं मनोमय सत्यभावापन्न दृढतम सृष्टिसंकल्प का ही नाम है 'तप' अधिदैवतभाषा में । यों मानसिक–धर्म्म ही 'तप' प्रमाणित हो रहा है, जिस का सृष्टिधाराओं में शत–सहस्र–रूपेण वितान हो रहा है । प्राणात्मक यजुः ही पारिभाषिक '**ज्येष्ठंब्रह्म**' है * । एवं तदनुबन्ध से ही क्रियाशक्तिरूप 'प्राण' का यजुर्भावत्वेन 'ज्येष्ठ' भाव

***प्राण एव यजुः । तदेत्–ज्येष्ठं ब्रह्म । न ह्येतस्मात् किञ्चन ज्यायोऽस्ति** (शत० १०।–३।५।४। १०)–**यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति । प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च** (शत० १४।६।२।१।)।

प्रमाणित है । एवमेव बृहंणत्वात्-अर्थशक्तिमय वाक्तत्त्व ही 'ब्रह्म' है, जैसा कि-'सा या सा **वाक्- ब्रह्मै-व तत्**' (जै० उप० २।१३।२)-'**ब्रह्म वै वाचः परमं व्योम**' (तै० ब्रा० ३।६।५।५)-'**वागिति-एतदेषां नाम्नां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति**' (शत० १४।४।४।१)-'**वाग्वै ब्रह्म**'' (शत० २।१।४।-।१०।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है । अतएव प्रजापति का अर्थशक्तिमय वाग्भाग अवश्य ही 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । मनः-प्राण-वाक्-के इन्हीं विभूतिरूप तप, ज्येष्ठ, ब्रह्म-विवर्त्तों का प्रकृत अष्टम-मन्त्र में दिग्दर्शन हुआ है, जैसाकि एतत्पूर्व के-**काले मनः०**' इत्यादि सप्तम मन्त्र की अनुरूपता से भी प्रमाणित है । अध्यात्म की व्यक्तभाषा में जो **मनः**, **प्राण**, **नाम** भाव हैं, अधिदैवत की अव्यक्तभाषा में वे ही '**तपः-ज्येष्ठ-ब्रह्म** हैं । जो अर्थ यहाँ (अध्यात्म में) '**काले मनः**' का है, वही वहाँ (अधिदैवत में) '**काले-तपः**' का है । जो समन्वय यहाँ-'**काले प्राणः**' का है, वही समन्वय वहाँ '**काले ज्येष्ठम्**' का है । एवं जो समन्वय यहाँ-'**काले नाम समाहितम्**' का है, वही समन्वय वहाँ '**काले ब्रह्म समाहितम्**' का है. इति सर्वं सुस्थम् ।

१-काले मनः—इति (१)-काले तपः--सैषा मनोविभूतिः प्रजापतेः

२-काले प्राणः--इति (२)-काले ज्येष्ठम्-सैषा प्राणविभूतिः प्रजापतेः

३-काले नाम—इति (३)-काले ब्रह्म—सैषा वाग्विभूतिः प्रजापतेः

—*—

२३६-समष्ट्यात्मक प्रजापति के त्रिवृद्भावमूलक व्यष्टिरूप, एवं तदनुबन्धी 'तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म' भावों का संस्मरण—

सहस्रवल्शेश्वर-महामायावच्छिन्न-(महाकालावच्छिन्न) परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति षोडशीप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली मनःप्राणवाङ्मयी तपोज्येष्ठब्रह्मविभूतित्रयी का समष्ट्यात्मक दिग्दर्शन पूर्व की तालिका-माध्यम से कराया गया । अब इसी प्रजापति की व्यष्टियों के आधार पर व्यवस्थित अवान्तर ६ 'विभूतित्रयी' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जाता है, जिसका मूलाधार मनः-प्राण-वाग्-भावों का त्रिवृद्भाव ही बना हुआ है । मनः-प्राण-वाक्-तीनों प्राजापत्य तत्त्व-इस त्रिवृद्भावानुबन्ध से (प्रत्येक) मनः-प्राण-वाङ्-मय बने हुए हैं । फलतः-मनोमय अव्यय भी मनःप्राणवाङ्मय है, किन्तु ये तीनों हैं मनः-प्रधान हीं । प्राणमय अक्षर भी मनःप्राणवाङ्मय है, किन्तु हैं ये तीनों प्राणप्रधान हीं । तथैव वाङ्मय क्षर भी मनःप्राणवाङ्मय ही है, किन्तु हैं ये तीनों वाक्प्रधान हीं । अतएव त्र्यात्मक-त्र्यात्मक भी इन तीनों मनः-प्राणवाग्भावों को '**त्र्यात्मकत्वात्तु**' * न्याय से उसीप्रकार माना जायगा तीनों-त्रिवृद्रूपों को क्रमशः मनः-प्राण-वाग-विवर्त्त ही, जैसेकि शरीर के **तेजः-आपः-अग्नि**-रूप से त्रिवृद्भावापन्न रहते हुए भी अपां भूयस्त्वात् माना गया है शरीर को '**आपोमय**' ही, जैसाकि-'**इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति**' (छां० उप०) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है ।

*-त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् । ता एव ह्युपपत्तेः ।

—व्याससूत्र ३।१।२, ५, ।

२३७–त्रिवृन्मनोरूप अव्ययब्रह्म से अनुप्राणित 'तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी' का समन्वय—

हाँ, तो अब तथाकथित त्रिवृद्भाव के आधार पर ही षोड़शीप्रजापति के मनः-प्राण–वाग्रूप अव्यय-अक्षर–क्षर–के अवान्तर तीन–तीन त्र्यात्मक विवर्त्तों का समन्वय कीजिए अपनी आर्षप्रज्ञा के माध्यम से। सर्वप्रथम त्रिवृन्मनःप्रधान अव्यय को ही लक्ष्य बनाइए। **आनन्द**, एवं **विज्ञान**, इन दो अव्ययकलाओं का रस-चितिलक्षण–अन्तश्चितिरूप एक विभाग है, यही **मनोमय मन** है, यही **मानस तपः** है। मध्यस्थ **मन** नाम की अव्ययकला का एक विभाग है, जिसमें रसबल दोनों सम हैं–(उभयात्मकं मनः)। यही **मनोमय-प्राण** है, यही **प्राणानुबन्धी ज्येष्ठ** है। अन्त की प्राण, और वाक्, इन दो अव्ययकलाओं का बलचितिलक्षण-बहिश्चितिरूप एक विभाग है, यही मनोमयी वाक् है, यही **वाचिक ब्रह्म** है। इसप्रकार तपोरूप मनोमय केवल अव्यय में भी **आनन्दविज्ञानरूप मन, मनोरूप प्राण**, एवं **प्राणवाग्रूपा वाक्**-भेद से तपः–ज्येष्ठम्-ब्रह्म-ये तीनों विभूतियाँ समन्वित होजातीं हैं।

२३८–विभिन्नदृष्ट्या अव्ययब्रह्मानुगता–'तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी' का समन्वय—

अब इसी अव्ययसंस्थान में दूसरी दृष्टि से त्रिवृद्भाव का समन्वय जीजिए। **आनन्द–विज्ञान–मन**, इन तीन का एक विभाग माना जायगा, एवं **मनः-प्राण-वाक्**-का एक विभाग माना जायगा। आनन्दविज्ञानमनोमय वही अव्यय मुमुक्षा का अधिष्ठाता बनता हुआ बलग्रन्थिविमोक के माध्यम से जहाँ मुक्तिप्रवर्त्तक है, वहाँ वही अव्यय अपने मनःप्राणवाङ्मय भाग से सिसृक्षा का अधिष्ठाता बनता, हुआ बलग्रन्थिप्रवृत्ति के माध्यम से सृष्टिसाक्षी बना हुआ है। मुक्तिसाक्षी अव्यय भी त्र्यात्मक है, जिसका आनन्दभाग मन है, विज्ञानभाग प्राण है, मनोभाग (अन्तर्भाव) वाक् है, एवं ये ही क्रमशः तपः–ज्येष्ठम्-ब्रह्म हैं। तथैव सृष्टिसाक्षी अव्यय भी त्र्यात्मक है, जिसका मनोभाग (बहिर्म्मन) मन है, प्राणभाग प्राण है, वाक्-भाग वाक् है, एवं ये ही क्रमशः तपः-ज्येष्ठम्–ब्रह्म हैं। यों मनोमय केवल एक ही अव्यय–संस्थान में **समष्टि-अव्यय, मुक्तिसाक्षी अव्यय, सृष्टिसाक्षी अव्यय**, रूपेण तीन विवर्त्त होजाते हैं तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी के, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१—अव्ययानुगतसंस्थाविभागः—(३)—

(क)—समष्टिभावपरिलेखः—

(१)—
- १—आनन्दः (१) / २—विज्ञानम् (२) } (रसचितिः)—मनः—तदिदं तपः
- ———*
- १—मनः (३) } (उभयचितिः)—प्राणः—तदिदं ज्येष्ठम्
- ———*
- १—प्राणः (४) / २—वाक् (५) } (बलचितिः)—वाक्—तदिदं ब्रह्म

} मनोमये त्र्यात्मके-अव्यये-मनःप्राणवाचां भोगः—तदनुबन्धेनैव तपोज्येष्ठ-ब्रह्म-भावानां—समन्वयः

(ख)—व्यष्टिभावपरिलेखौ

(२)—
- १—आनन्दः—मनः—तपः
- २—विज्ञानम्—प्राणः—ज्येष्ठम्
- ३—अन्तर्म्मनः—वाक्—ब्रह्म

} मुक्तिसाक्षी—अव्ययः

(३)—
- १—बहिर्म्मनः—मनः—तपः
- २—प्राणः——प्राणः—ज्येष्ठम्
- ३—वाक्———वाक्—ब्रह्म

} सृष्टिसाक्षी-अव्ययः

२३९—त्रिवृत्प्राणरूप अक्षरब्रह्म से अनुप्राणिता 'तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी' का समन्वय—

अब क्रमप्राप्त अक्षर को लक्ष्य बनाइए। जो तीन संस्थान त्रिवृत्—मनोमय पञ्चकल अव्यय के हैं, ठीक वे ही तीन संस्थान त्रिवृत्प्राणमय पञ्चकल अक्षर के हैं। **ब्रह्मा**[1], एवं **विष्णु**[2], इन दो हृद्याक्षरों का एक विभाग है, यही प्राणात्मक मन है, यही है **तपः**। **इन्द्र**[3] का एक विभाग है, यही प्राणात्मक प्राण है, यही है **ज्येष्ठम्**। **सोम**[4], एवं **अग्नि**[5] का एक विभाग है, यही प्राणात्मिका वाक् है, यही है **ब्रह्म**। और यही है समष्ट्यात्मक पञ्चकल अक्षर से अनुप्राणिता, त्रिधृत्प्राणात्मिका मनःप्राणवाङ्मयी तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी का स्वरूपदिग्दर्शन। व्यष्टिदृष्टि से ब्रह्मा मनोमय **तप** है, विष्णु प्राणमय **ज्येष्ठ** है, एवं अमृतेन्द्र वाङ्मय **ब्रह्म** है, यही व्यष्ट्यात्मक प्रथम समन्वय है। बलेन्द्र मनोमय **तप** है, सोम प्राणमय **ज्येष्ठ** है, एवं अग्नि वाङ्मय **ब्रह्म** है। यही व्यष्ट्यात्मक द्वितीय समन्वय है। इसप्रकार मनोमय—त्रिवृन्मनोमूर्त्ति मनःप्राणवाङ्मय अव्यय की भाँति प्राणमय—त्रिवृत्प्राणमूर्त्ति मनःप्राणवाङ्मय अक्षर के भी एक समष्टि, तथा दो व्यष्टि—भेद से तीन संस्थान निष्पन्न हो जाते हैं, जैसाकि—परिलेख से स्पष्ट है।

२—अक्षरानुगतसंस्थाविभागाः-(३)—

(क)--समष्टिभावपरिलेखः---

(१)—

१—ब्रह्माक्षरः (१)
२—विष्णवक्षरः (२)
} मनः—तदिदं तपः

——— —*

१—इन्द्राक्षरः (३) } प्राणः—तदिदं ज्येष्ठम्

————*

१—सोमाक्षरः (४)
२—अग्न्यक्षरः (५)
} वाक्—तदिदं ब्रह्म

} प्राणमये त्र्यात्मके अक्षरे-मनः प्राण-वाचां भोगः। तदनुबन्धेनैव तपो-ज्येष्ठब्रह्मभावानां समन्वयः

(ख)--व्यष्टिभावपरिलेखौ----

(२)—

१—ब्रह्माक्षरः—मनः—तपः
२—विष्णवक्षरः—प्राणः—ज्येष्ठम्
३—अमृतेन्द्राक्षरः-वाक्—ब्रह्म

}-अन्तर्य्यामी-अक्षरः

(३)—

१—बलेन्द्राक्षरः—मनः—तपः
२—सोमाक्षरः—-प्राणः—ज्येष्ठम्
३—अग्न्यक्षरः—-वाक्—ब्रह्म

२४०-त्रिवृत्-वाग्रूप क्षरब्रह्म से अनुप्राणिता 'तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी' का समन्वय--

अब सर्वान्त के 'आत्मक्षर' नामक विवर्त्त की संस्थात्रयी का समन्वय कीजिए। प्राणः[1], एवं आपः[2], इन दो आत्मक्षरों का एक विभाग है, यही वागात्मक मन है, यही तपः है। वाक्[3] नामक आत्मक्षर का एक विभाग है, यही वागात्मक प्राण है, यही ज्येष्ठम् है। अन्नं[4] एवं अन्नादः[5], नामक इन दो आत्मक्षरों का एक विभाग है, यही वागात्मिका वाक् है, यही ब्रह्म है। और यही है समष्टयात्मक-पञ्चकल-त्रिवृत्-वाङ्मय क्षर के त्रिवृत्-वाङ्मय क्षर की त्रिधृद्भावापन्ना तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी का समन्वय। व्यष्टिदृष्टि से प्राण मनोमय तपः है, आपः प्राणमय ज्येष्ठ है, अमृतावाक् वाङ्मय ब्रह्म है, एवं यही व्यष्टयात्मक द्वितीय समन्वय है। मर्त्यावाक् मनोमय तपः है, अन्नं प्राणमय ज्येष्ठं है, अन्नादः वाङ्मय ब्रह्म है, एवं यही व्यष्टयात्मक तृतीय समन्वय है। तदित्थं-वाङ्मय त्रिवृत्-वाङ्मूर्त्ति मनःप्राणवाङ्मय आत्मक्षर के भी एक समष्टि, एवं दो व्यष्टि, रूप से तीन संस्थान बन जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

३–आत्मक्षरानुगतसंस्थाविभागाः

(क)–समष्टिभावपरिलेखः—

(१)–
- १–प्राणात्मक्षरः (१)
- २–आपः–आत्मक्षरः (२)

} –मनः–तदिदं तपः

- १–वागात्मक्षरः (३) } –प्राणः–तदिदं ज्येष्ठम्

- १–अन्नात्मक्षरः (४)
- २–अन्नादात्मक्षरः (५)

} –वाक्–तदिदं ब्रह्म

} –वाङ्मये त्र्यात्मके–आत्मक्षरे मनःप्राणवाचां भोगः । तदनुबन्धेनैव तपोज्येष्ठब्रह्मभावानां समन्वयः

(ख)–व्यष्ट्यात्मकपरिलेखौ—

(२)–
- १–प्राणः–मनः–तपः
- २–आपः–प्राणः–ज्येष्ठम्
- ३–वाक्–वाक्–ब्रह्म

} –पृष्ठ्यात्मा

(३)–
- १–वाक्–मनः–तपः
- २–अन्नम्–प्राणः–ज्येष्ठम्
- ३–अन्नादः–वाक्–ब्रह्म

} –भूतात्मा

—*—

२४१–तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भावानुबन्धी-दशविध-विलक्षण महिमाभाव, एवं तदभिन्न कालपुरुष की विलक्षणता—

परात्पराभिन्न अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर-रूप षोडशीप्रजापति का एक महान् संस्थाविभाग, एवं अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-भावों के प्रत्येक के समष्टि-व्यष्ट्यात्मक तीन तीन विभागानुपात से सम्भूय ६ विभाग, यों केवल प्रजापतिरूप विश्वात्मा के मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से १० दश संस्थाविभाग हो जाते हैं, जो दश-संख्या प्रजापति के दशाक्षर विराट्छन्द का ही समर्थन-संग्रह कर रही है। बड़ा ही विलक्षण है यह संस्थाविभाग, जिस के विभिन्न विभागों से सम्बद्ध मनः-प्राण-वाक्-पर्व, तथा तद्रूप तपः-ज्येष्ठ-ब्रह्म-पर्व नामतः एक से प्रतीत होते हुए भी विज्ञानदृष्ट्या सर्वथा पृथक् पृथक् तत्त्व ही प्रमाणित हो रहे हैं। इन सब तत्त्वों का [नामसाम्यभ्रम से परित्याग करते हुए ही] वैदिक-विज्ञान का पारिभाषिक समन्वय गतार्थ बन सकता है।

२४२–परमात्मनामभ्रान्तिमूलक शब्द-साम्य से पारिभाषिक वेदार्थ की अन्तर्मुखता—

'सब परमात्मा के नाम हैं' कहने सुनने मात्र से कभी इस तत्त्ववाद का समन्वय सम्भव नहीं है, जैसा कि परमात्मभक्त वेदभाष्यकारों ने काल, तप, ज्येष्ठ, ब्रह्म-आदि के पारिभाषिक-समन्वय को विस्मृत कर सबको 'परमात्मा' के वाचक मानते हुए वैदिक-सृष्टिविज्ञान को एकान्ततः अभिभूत ही कर दिया है। अवश्य ही सभी परमात्मा के नाम हैं, अतएव सभी परमात्मस्वरूप हैं। आत्मनिष्ठ कोई भी आस्तिक इस सर्वव्यापक-सर्वरूप-परमात्मभाव का विरोध नहीं करेगा। अवश्य ही आत्ममूलक समदर्शन से सभी आत्मरूप हैं, जैसाकि हमनें स्वयं 'ब्रह्म वेदं सर्वम्'-'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' रूप से पूर्व में स्वीकार किया है। किन्तु इसी समब्रह्मरूप परमात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित प्रकृतिमूलक विभिन्न तत्त्व जो परस्पर एक दूसरे से अभिन्न नहीं हैं। वही काल है, वही तप है, वही ज्येष्ठ है, वही ब्रह्म है, और यों वही सबकुछ है। किन्तु काल कदापि तप नहीं है, तप कदापि ज्येष्ठ नहीं है, ज्येष्ठ कदापि ब्रह्म नहीं है।

२४३–गुणभूतात्मक प्राकृतिक तत्त्वों के व्यवच्छेदाधार पर ही पारिभाषिक अर्थों का समन्वय, एवं तदाधारेणैव 'काले तपः' इत्यादि मन्त्रार्थ-स्वरूप-दिग्दर्शन—

इन गुणभूत पृथक् पृथक् प्राकृतिक-तत्त्वों के पारस्परिक पार्थक्य ही इनकी स्वरूप-व्याख्या है, जिसे न जान कर 'हारे का हरि नाम' न्यायमूला भावुकता से एक 'परमात्मा' का नाम लेकर समस्त तत्त्ववाद का निगरण कर जाना कदापि न्यायसङ्गत नहीं कहा जासकता। इस तत्त्वनिगरण से ही तो ज्ञानविज्ञानसिद्ध, ऐहिक-आमुष्मिक-सर्वार्थसाधक भी वेदशास्त्र आज केवल पारायणात्मक पुण्यपाठ का ही माध्यम बना रह गया है। यदि ये सब परमात्मा के ही नाम, किंवा पर्य्याय होते, तो फिर महान् वेदशास्त्र का आविर्भाव ही नहीं होता। फिर तो कालसूक्त की भी आवश्यकता न होती। क्या इन विभिन्न शब्दों-नामों से महर्षियोंनें आज के सङ्कीर्त्तन की भाँति'हरे राम हरेराम राधेश्याम सीताराम'की मणिमाला का ही पुनः पुनः आम्रेडन किया है ?. मुकुलितनयन बनकर स्वयं प्रज्ञाशीलों को ही इस वेदार्थसमस्या का समन्वय करना चाहिए। तदैव महती सम्भूतिः। अन्यथा, महती विनष्टिः तो तीन सहस्र वर्षों से प्रक्रान्ता है ही। जहाँ भाष्यकार 'परमात्मा' का

नामोच्चारण कर इन दुरधिगम्य वेदमन्त्रों का क्षणमात्र में समन्वय कर डालते हैं, वहाँ हमारी स्वल्पमति तो मन्त्र के एक एक शब्द से,एक एक अक्षर के पारिभाषिक समन्वय के अनुमानमात्र से विकम्पित हो पड़ती है। अत्यन्त ही भयत्रस्त बन जाते हैं हम वेदमन्त्रों को सम्मुख आया देखकर। और अन्ततोगत्वा ऋषिदृष्टि से एकान्ततः-पराङ्मुख इस प्राकृत मानव को तो इस अचिन्त्य–मन्त्रार्थ–समन्वय का वास्तविक उत्तरदायित्त्व मन्त्रद्रष्टा महर्षि की प्रज्ञा पर ही छोड़ देना पड़ता है नमः–परम–ऋषिभ्यः–का माङ्गलिक संस्मरण करते हुए ही। इसी संस्मरण के आधार पर अब पुनः तथोक्त दशविध समन्वय का समष्ट्यात्मक परिलेख के माध्यम से सन्दर्भ-सङ्गति के लिए संग्रह कर लिया जाता है, जिस इस संग्रह के माध्यम से प्रस्तुत मन्त्र का यही समन्वय गतार्थ बनता है कि––

माहामायात्मके–छन्दोमये–महावृत्तरूपे महाकाले एव––
तपोरूपः–मनोमयः–अव्ययः–प्रतिष्ठितः
ज्येष्ठरूपः-प्राणमयः–अक्षरः–प्रतिष्ठितः
ब्रह्मरूपः––वाङ्मयः-आत्मक्षरः–प्रतिष्ठितः।

सर्वप्रतिष्ठात्त्वेनैव स एष काल एव महामायामयः–त्रिपुरुषपुरुषात्मकस्य ईश्वरस्य–यज्ञप्रजापतेराविर्भावभूमिः। यश्चैष काल एव तस्यैतस्य षोडशी-प्रजापतेः पिता-उद्भवकर्त्ता। यतो हि महामायावृत्तात्मके–महाकाले–एव रसानुगत-बलचितिपरम्परया प्रजापतेः स्वरूप-निष्पत्तिरिति–अनुगमो भवति—

काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम्
कालो ह सर्वस्येश्वरः, यः पितासीत् प्रजापतेः।

—इति सर्वमेव सुस्थम्

परमे व्योमन् | * सर्वबलविशिष्टरसैकघनः-परात्परः-मायातीतः-कालातीतः-सर्वातीतः

* महामायात्मकं छन्दोवृत्तमेव–'कालः' तस्मिन्नेव सर्वं समाहितं——————.

	१	१	१–मनः–तपः—अव्ययः २–प्राणः-ज्येष्ठम्-अक्षरः ३–वाक्–ब्रह्म-—आत्मक्षरः	षोड़शीप्रजापतिः		स वा एष आत्मा वाङ्मयः–प्राणमयो–मनोमयः			त्रीणि ज्योतींषि
काले—मनः	१	२	१–मनः–तपः–आनन्दः–विज्ञानम् २–प्राणः-ज्येष्ठम्–अन्तर्म्मनः ३–वाक्–ब्रह्म—प्राणः—वाक्	सर्वमूर्त्तिरव्ययः	सर्वसाक्षी सर्वात्मा	मनः–प्राण–वाङ् मयोऽव्ययः–मनोऽनुगतः	इति-एतत्सर्वं–मन एव (मनः)	इत्येतत्सर्वं 'तप' एव	स्वज्योतिर्लक्षणं तदिदं ज्ञानज्योतिः
	२	३	१–मनः–तपः—आनन्दः २–प्राणः-ज्येष्ठम्-विज्ञानम् ३–वाक्–ब्रह्म—अन्तर्म्मनः	त्रिमूर्त्तिरव्ययः	मुक्तिसाक्षी ज्ञानात्मा				
	३	४	१–मनः–तपः–बहिर्म्मनः २–प्राणः-ज्येष्ठम्-प्राणः ३–वाक्–ब्रह्म—वाक्	त्रिमूर्त्तिरव्ययः	सृष्टिसाक्षी कर्म्मात्मा				
	१	५	१–मनः–तपः—ब्रह्मा–विष्णुः २–प्राणः-ज्येष्ठम्–अमृतेन्द्रः ३–वाक्–ब्रह्म—सोमः–अग्निः	त्रिमूर्त्तिरक्षरः	भूतभावनः	मनःप्राणवाङ् मयोऽक्षरः–प्राणानुगतः	इति-एतत्सर्वं प्राण एव (प्राणः)	इत्येतत्सर्वं–'ज्येष्ठ' मेव	परज्योतिर्लक्षणं तदिदं कर्म्मज्योतिः
काले प्राणः	२	६	१–मनः–तपः—ब्रह्मा २–प्राणः-ज्येष्ठम्–विष्णुः ३–वाक्–ब्रह्म—अमृतेन्द्रः	त्रिमूर्त्तिरक्षरः	अन्तर्यामी				
	३	७	१–मनः–तपः—बलेन्द्रः २–प्राणः-ज्येष्ठम्-सोमः ३–वाक्–ब्रह्म—अग्निः	त्रिमूर्त्तिरक्षरः	सूत्रात्मा				
	१	८	१–मनः–तपः–प्राणः–आपः २–प्राणः-ज्येष्ठम्-अमृतावाक् ३–वाक्–ब्रह्म—अन्नं–अन्नादः	त्रिमूर्त्तिरात्मक्षरः	भूतपतिः	मनःप्राणवाङ् मयः–आत्मक्षरः–वागनुगतः	इति-एतत्सर्वं वागेव (वाक्)	इत्येतत्सर्वं–ब्रह्मैव	रूपज्योतिर्लक्षणं तदिदं भूतज्योतिः
काले नाम समाहितम्	२	९	१–मनः–तपः—प्राणः २–प्राणः-ज्येष्ठम्-आपः ३–वाक्–ब्रह्म—अमृतावाक्	त्रिमूर्त्तिरात्मक्षरः	पृष्ठ्यात्मा				
	३	१०	१–मनः–तपः—मर्त्यावाक् २–प्राणः-ज्येष्ठम्-अन्नम् ३–वाक्–ब्रह्म—अन्नादः	त्रिमूर्त्तिरात्मक्षरः	भूतात्मा				

—काले तपः— | —काले ज्येष्ठं— | काले ब्रह्म समाहितम्

(सोऽयं प्रजापतिर्यज्ञपुरुषः–कालपुरुषे प्रतिष्ठितः)

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति, य आविवेश भुवनानि विश्वा
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोड़शी

२४४–सापेक्ष प्रजापति की सापेक्षता के पूरक विश्वभुवन, एवं- 'य आविवेश भुवनानि-विश्वा' का संस्मरण—

'य आविवेश भुवनानि विश्वा'–(जो षोडशी प्रजापति सम्पूर्ण भुवनों में प्रविष्ट हो रहा है), इस वाक्य से सम्बन्ध रखने वाले 'विश्वा भुवनानि' (सर्वाणि लोकानि) ही सापेक्ष प्रजापति के शरीरभाव के पूरक बने हुए हैं। प्रजापति, और प्रजापति के लोक, दोनों की समष्टि ही क्रमशः आत्मा–तथा शरीर की समष्टिरूप 'आत्मन्वीभाव' है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। पृष्ठ संख्या २३८ की समष्टि–तालिका से जिस तथ्य का स्वरूप व्यक्त हुआ है, वह तो प्रजापतिरूप 'आत्मभाव' ही है, जो लोकरूप शरीर में 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से प्रविष्ट माना गया है। तभी तो विश्वानुप्रविष्ट-भुवनप्रविष्ट प्रजापति विश्वचर, प्रविष्टब्रह्म, विश्वात्मा, विश्वेश्वर, विश्वकर्म्मा, विश्वपति, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं। 'तपः–ज्येष्ठम्–ब्रह्म'–नामक जिन १० संस्थान विभागों का अनुगमविधि से अबतक यशोगान हुआ है, वे दसों विवर्त्त तो विश्वानुप्रविष्ट 'प्रजापति' रूप 'आत्मा' से ही अनुप्राणित हैं।

२४५–विश्वभुवनानुगता तपो–ज्येष्ठ ब्रह्म त्रयी की दिग्दर्शन-जिज्ञासा—

अभी इस आत्मप्रजापति का शरीरस्थानीय भुवन तो शेष ही बन रहा है, जिसके सम्बन्ध से भी तपो–ज्येष्ट–ब्रह्म–भावों का समन्वय अपेक्षित ही माना जायगा। प्रविष्ट प्रजापति ही एकांश से सृष्टरूप में, विश्व–भुवनरूप में परिणत होता है। अतएव सृष्ट में प्रविष्ट के धर्म्मों का यथापूर्व समन्वय स्वतःसिद्ध बन जाता है। जबकि प्रविष्ट आत्मप्रजापति में तपोज्येष्ठब्रह्मभाव विद्यमान हैं मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भावानुबन्ध से, तो अवश्य ही इस प्रविष्ट के सृष्टरूप विश्वा भुवनानि में भी उसी त्रिवृद्भाव के कारण तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी का उपभोग होना ही चाहिए। दो शब्दों में क्रमप्राप्त विश्वानुबन्धी इन तीनों का दिग्दर्शन भी अनिवार्य्य बन जाता है।

२४६–षोडशी आत्मन्वी प्रजापति के विश्वभुवनों की पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शात्मकता का दिग्दर्शन—

परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर–समष्टिरूप चतुष्पात्–षोडशीप्रजापति ही वह 'अश्वत्थवृक्ष' है, जिसकी विश्वात्मिका सहस्र शाखाएँ मानी हुई हैं। हजार टहनियाँ ही इस अश्वत्थवृक्ष के हजार विश्व हैं, भुवन हैं, जिनसे प्रजापति 'सहस्रवल्शेश्वर' बने हुए हैं, जो कि सहस्रवल्शाएँ ही इनके–'सहस्राक्षः-भूरिरेताः' धर्म्मों की परिचायिकाएँ बन रहीं हैं। इनकी प्रत्येक शाखा अपने अपने पाँच पाँच पुण्डीरों–पर्वों–अवयवों–विभागों से–'पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शा' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिस इस प्रत्येक वल्शा में जहाँ 'पुण्डीर–लोक' पाँच हैं, वहाँ 'भुवनलोक' सात हैं। यों प्रत्येक शाखा पुण्डीरदृष्ट्या पञ्चपर्वा, तथा भुवनदृष्ट्या सप्त-पर्वा बन रही है। अतएव उसका प्रयेक शाखालोक पञ्चावयव भी है, सप्तावयव भी है। यज्ञानुबन्ध से उसका शरीर पञ्चावयव है, तो लोकानुबन्ध से वही 'सप्तवितस्तिकाय' है। ऐसे पञ्चपर्वा, किंवा सप्तपर्वा शाखाविभागों की साहस्री (पूर्णता) से ही उस अश्वत्थमूर्त्ति षोडशी–प्रजापति–आत्मा के शरीर का स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है।

२४७–पञ्चपर्वा प्रकृति के पञ्चविध विश्वपुरों का निदर्शन, एवं कालात्मक कारणब्रह्म का संस्मरण—

प्रजापति का परात्परामिन्न–अव्ययाक्षरगर्भित आत्मक्षर नाम नामक चतुर्थ–अन्तिम–पर्व ही प्राजापत्य विश्वभुवनों का उपादानात्मक आरम्भण बनता है, जिसकी **प्राणः–आपः–वाक्–अन्न–अन्नादः**–ये पाँच कलाएँ प्रसिद्ध हैं। ये पाँचों ही आत्मक्षरकलाएँ अपने मूल अव्यक्त–अविकृतरूप–(अव्याकृतरूप) से जहाँ अक्षरकलाए हैं (**ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्नि**-कलाए हैं), वहाँ ये ही व्यक्त–विकाररूप–[व्याकृतरूप] में आकर आत्मक्षररूपता के माध्यम से विकारक्षरात्मिका बन जातीं हैं, एवं इसी अवस्था में इनका नाम होता है **गुणभूत**, जो **'पञ्चतन्मात्रा'** नाम से प्रसिद्ध हैं। इन गुणभूतरूप विकारक्षरों की समष्टि का पारिभाषिक नाम है–**'विश्वसृट्'**। इनके पञ्चीकरण से अभिव्यक्त अणुभूतों का पारिभाषिक नाम है **'पञ्चजन'**, एवं इनके पञ्चीकरण से उत्पन्न रेणुभूतों का नाम है 'पुरञ्जन', जो क्रमशः **'वेदाः–लोकाः–देवाः–पशवः–भूतानि'** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। प्राणात्मक वेदपुरञ्जन ही **स्वयम्भूपुर** का, आपोमय लोकपुरञ्जन ही **परमेष्ठीपुर** का, वाङ्मय देवपुरञ्जन ही **सूर्य्यपुर** का, अन्नमय पशुपुरञ्जन ही **चन्द्रपुर** का, एवं अन्नादमय भूतपुरञ्जन ही **भूपुर** का स्वरूप–प्रवर्त्तक बनता है, जो ये पुर केवल आण्डवृत्तात्मक ही माने गए हैं, जिनमें बहुत आगे चलकर सम्वत्सरमूलक सर्ग में ही पिण्डात्मक सूर्य्यादि अभिव्यक्त होते हैं। यही पञ्चपर्वा विश्व का स्वरूप–दिगदर्शन है। निम्नलिखित **श्वेताश्वतरवचन** त्रिवृद्भावापन्न–मनःप्राणवाङ्मय–षोडशी–प्रजापति के परात्पराव्ययाक्षरगर्भित 'आत्मक्षर' रूप 'ब्रह्म' [उपादानकारण] के विवर्त्तभूत पञ्चपर्वा इसी प्राकृतिक विश्व का स्वरूप अभिव्यक्त कर रहे हैं, जिन इन वचनों का तात्त्विक समन्वय तो तदुपनिषद्विज्ञानभाष्य में हीं द्रष्टव्य है।

किं कारणं ब्रह्म (क्षरब्रह्म), कुतः स्म जाताः, जीवाम केन, क्व च सम्प्रतिष्ठाः ॥
अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥
'कालः'–'स्वभावो'-'नियति'-'यदृच्छा'-'भूतानि'-'योनिः'-'पुरुष' इति चिन्त्याः ॥
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥
तमेकनेमिं, त्रिवृतं, षोडशान्तं, शतार्द्धारं, विंशतिप्रत्यराभिः ॥
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥४॥
पञ्चस्रोतोऽम्बुं, पञ्चयोन्युग्रवक्रां, पञ्चप्राणोर्म्मिं, पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ॥
पञ्चावर्त्तां, पञ्चदुःखौघवेगां, पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥५॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् १ अ०।१ से ५ मन्त्र पर्य्यन्त।

सैव प्रकृतिः–पञ्चकलाव्ययानुबन्धेन—पञ्चस्रोतोऽम्बुलक्षणा।
सैव प्रकृतिः–पञ्चकलाक्षरानुबन्धेन—पञ्चयोन्युग्रवक्रलक्षणा।

सैव प्रकृतिः—पञ्चकलात्मक्षरानुबन्धेन—पञ्चप्राणोर्म्मिलक्षणा।
सैव प्रकृतिः—पञ्चकलपञ्चजनानुबन्धेन-पञ्चबुद्ध्यादिलक्षणा।
सैव प्रकृतिः—पञ्चकलपुरञ्जनानुबन्धेन—पञ्चावर्त्त लक्षणा।
सैव प्रकृतिः—पञ्चकलपुरानुबन्धेन——पञ्चदुःखौघलक्षणा।

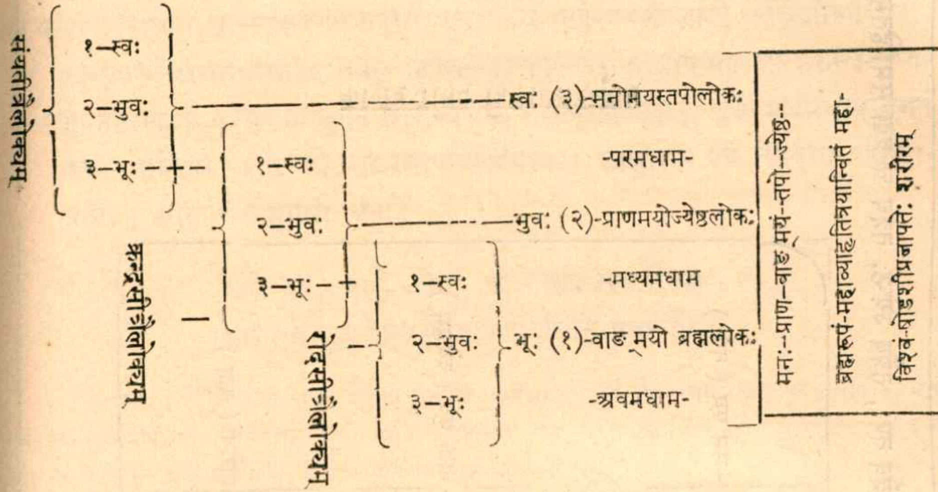
तामेतां—पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वां विश्वप्रकृतिमधीमः।

२४८—पञ्चपर्वात्मक—सप्तभुवनात्मक विश्व, एवं तन्निबन्धना तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी-का समन्वय—

ब्रह्मरूप आत्मक्षरात्मक एकांश से समद्भूत पञ्चपर्वा विश्व भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्-तपः-सत्यम्-रूप से सात भुवनों में परिणित हो रहा है, जैसा कि-पूर्वमन्त्रार्थ—समन्वय-प्रसङ्गों में यत्र तत्र, एवं विशेषतः पृष्ठ सं० १४१ से १४४ पर्य्यन्त के परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। सप्तभुवनात्मक पञ्चपर्वात्मक ऐसे सहस्र विश्व भुवनों में से हमारी इयत्ता की परिसमाप्ति केवल एक प्राजापत्या क्लशा से ही अनुप्राणिता है। अतएव ९९९ सप्तभुवनात्मक पञ्चपर्वात्मक विश्व हम से अतीत ही बन रहे हैं। अतएव च हम अपने त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप केवल एक विश्व के अनुबन्ध से ही ज्ञानगर्भित प्राकृतिक विज्ञानकाण्ड का समन्वय उपलब्ध कर सकेंगे। विश्वोपादनभूत क्षरब्रह्म, एवं पुरात्मक वैकारिक विश्व, इन दोनों के मध्य में पञ्चजन नामक अणुभूत, तथा पुरञ्जन नामक रेणुभूत, ये दो संस्थान और हैं। इन दोनों में से पञ्चजनात्मक अणुभूतों का तो गुणभूतात्मक आत्मक्षरब्रह्म हीं में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। एवं पुरञ्जनात्मक रेणुभूतों का महाभूतात्मक पुरभावों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव आत्मक्षर के अनन्तर स्वयम्भू—परमेष्ठी—आदि पञ्चपुरात्मक सप्तभुवनात्मक विश्व का ही स्थान शेष रह जाता **है**। एवं अब इस पञ्चपर्वा विश्व की दृष्टि से ही हमें तपः—ज्येष्ठ—ब्रह्म—रूप मनःप्राणवाग्भावों का समन्वय कर लेना है।

२४९—भूः—भुवः—स्वः—लक्षणा महाव्याहृतियों से अनुप्राणिता तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी का समन्वय—

स्मरण कीजिए पूर्व के—'**कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः**' इत्यादि प्रथम मन्त्रार्थ—समन्वय का, जिसमें भूः[1]—भुवः[2]—स्वः[3]—नाम की तीन महाव्याहृतियों से अनुप्राणित **रोदसी[1]—क्रन्दसी[2] संयती[3]**—इन तीन त्रैलोक्यों का दिग्दर्शन कराते हुए इनके सप्तव्याहृतिरूप सात लोकों (भुवनों) का स्पष्टीकरण हुआ था तत्रैव तालिका—रूपेण (देखिए पृ० सं० १४३ की तालिकाद्वयी)। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए उस तालिका को, जिसका लोकत्रयात्मक स्वर्लोक **ही** मनोमय '**तपोलोक**[1]' है, लोकत्रयात्मक भुवर्लोक ही प्राणमय '**ज्येष्ठलोक**[2]' है, एवं लोकत्रयात्मक भूलोक ही वाङ्मय '**ब्रह्मलोक**[3]' है। ये ही प्राजापत्य एक विश्व के **परम[1]—मध्यम[2]—अवम[3]** नामक तीन धाम है। (देखिए पृ० सं० १४२)। यही समष्ट्यात्मक प्रथम संस्थान विभाग है तपोज्येष्ठब्रह्म-भावों का, जिसका तालिकरूपेण यों समन्वय किया जा सकता है—



३५०-परम- मध्यम--अवम-रूप त्रिधामों से अनुप्राणिता तपो-ज्येष्ठ--ब्रह्म-त्रयी का समन्वय—

मनोमय स्वर्लोक, प्राणमय भुवर्लोक, एवं वाङ्मय भूलोक, महाव्याहृत्यात्मक ये तीनों हीं लोक मनः-प्राण-वाग्-भावों के त्रिवृत्करण से प्रत्येक तीन तीन व्याहृतियों में परिणत हो रहे हैं। अतएव महा-व्याहृत्यात्मक तीन महालोकों के ९ अवान्तर लोक होजाते हैं। फलतः तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भावों के भी नव (९) ही अवान्तर विवर्त्त सम्पन्न हो जाते हैं, जैसाकि नीचे लिखे परिलेख से स्पष्ट है—

परात्पराव्ययाक्षराक्षरमूर्त्तिः षोडशीप्रजापतिरेवात्र आधारत्वेन कालः-तत्रैव तपः, तत्रैव ज्येष्ठं, तत्रैव च ब्रह्म समाहितम्

कालवृत्तमिदं विश्वाधारभूतम्

स्वः—द्यौर्वा १	१—स्वः—द्यौः——स्वयम्भूः——मनोमयं—मनः—तपः २—भुवः अन्तरिक्षम्-सूत्रात्मा——मनोमयः-प्राणः-ज्येष्ठम् ३-भूः—पृथिवी—बृहस्पतिः——मनोमयी-वाक्—ब्रह्म	परमधाम	संयतीत्रिलोकी	—मन एव (तपः)
भुवः—अन्तरिक्षं वा २	१—स्वः—द्यौः——परमेष्ठी——प्राणमयं—मनः—तपः २—भुवः-अन्तरिक्षम्-ब्रह्मणस्पतिः-प्राणमयः-प्राणः-ज्येष्ठम् ३—भूः—पृथिवी—बृहस्पतिः——प्राणमयी—वाक्—ब्रह्म	मध्यमधाम	क्रन्दसीत्रिलोकी	प्राण एव (ज्येष्ठम्)
भूः—पृथिवी वा ३	१—स्वः—द्यौः——सूर्य्यः———वाङ्मयं—मनः—तपः २—भुवः-अन्तरिक्षम्-चन्द्रमाः——वाङ्मयः-प्राणः—ज्येष्ठम् ३—भूः—पृथिवी—भूपिण्डः——वाङ्मयी—वाक्—ब्रह्म	अवमधाम	रोदसीत्रिलोकी	वागेव (ब्रह्म)

कालवृत्तमिदं विश्वाधारभूतम्

कालमृत्तमिदं—विश्वाधारभूतम्

तथा च-परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षररूपे-महामायावच्छिन्ने-महेश्वरे-कालरूपे एव त्रैलोक्यत्रिलोकी-रूपस्य-परममध्यमावमधामलक्षणस्य--पञ्चपुण्डीर--प्राजापत्यवल्शात्मकस्य-सप्त-भुवनात्मकस्य परमधामानुगतं तपः, मध्यमधामानुगतं ज्येष्ठं, तथा अवमधामानुगतं ब्रह्म समाहितम्, इति षोडशी-प्रजापतिर्विश्वेश्वरः कालात्मा एव विश्वस्य प्रतिष्ठा-भूमिः। अातश्च-अनुगमो भवति—

काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः॥

यह अवधेय है कि, उत्तर–उत्तर के संस्थान की अपेक्षा पूर्व पूर्व के संस्थान सर्वत्र कालात्मक हैं, एवं पूर्व--पूर्व-संस्थानापेक्षया उत्तरोत्तरसंस्थान सर्वत्र तपो--ज्येष्ठ--ब्रह्म--भावात्मक हैं। अपने मानसजगत् में इसी अनुपात से प्रस्तुत अनुगममन्त्र का यथासंस्थान समन्वय कर लेना चाहिए।

२५१–प्राणमय स्वयम्भू--ब्रह्म का तपोभाव, एवं तप से सुब्रह्मरूप अथर्व परमेष्ठी का प्रादुर्भाव—

त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप, सप्तभुवनात्मक महाविश्व में समन्वित तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्म–भावों के अतिरिक्त अब इसी विश्व के पाँच पर्वों की दृष्टि से भी इन तीनों कालविभूतियों का समन्वय कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। वे पाँचों पर्व क्रमशः **स्वयम्भूः–परमेष्ठी–सूर्य्यः–चन्द्रमाः–भूः–इन** नामों से प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय वेदमूर्त्ति, सप्तर्षिप्राणसम्बन्ध से सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापतिरूप में परिणत स्वयम्भू **ही 'ब्रह्मा'** हैं, जो **'ज्ञानमय तप'** से सतत तपश्चर्य्या करते रहते हैं। इसी तप से स्वयम्भू के द्वारा परमेष्ठ्यादि इतर चारों भूतपर्व आविर्भूत हुए हैं। **'मैं अपने जैसा ही दूसरा प्रतिमान उत्पन्न करूँ'** इसी कामना से प्रेरित होकर स्वयम्भू ब्रह्म ने तप किया। इस तपन–सन्तपन से इस ब्रह्म के ललाट पर स्वेदकण (पसीना) आविर्भूत होगए। यह स्वेद ही इसका सलिलात्मक--**'सरित्-इरारस'** रूप-द्रुत-भाग 'आपोमय' सुब्रह्म कहलाया, यही वह **अथर्व** नामक चतुर्थ वेद कहलाया, जिसका–**'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्'** इत्यादिरूप से पूर्व के पारिभाषिक–परिच्छेदों में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। वेदमूर्त्ति स्वयम्भू का यजुर्म्मय वाग्भाग ही आपोमय परमेष्ठी के रूप में परिणत हुआ, यही तात्पर्य्य है। स्वेदवेदात्मक यही परमेष्ठी 'अथर्व' नामक 'सुवेद' है, 'सुब्रह्म' है, जो ब्रह्मस्वयम्भू का ज्येष्ठपुत्र बन रहा है। **'सोऽनया त्रय्या विद्यया सह आपः–प्राविशत्, तत आण्डं समवर्त्तत'** के अनुसार अथर्वसुब्रह्म को उत्पन्न कर त्रयीब्रह्म इसके गर्भ में प्रविष्ट होगया। इसी सत्याग्निगर्भ से यह अथर्वसुब्रह्म आपोमयाण्डरूप में परिणत होगया। और यों स्वयम्भूब्रह्म के, किंवा ब्रह्मा के इस ज्ञानमय तप से सर्वप्रथम आपोमय, अथर्वमूर्त्ति परमेष्ठी का ही आविर्भाव होगया, जिसका गोपथश्रुति में यों यशोगान हुआ है—

ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्-स्वयन्त्वेकमेव । तदैक्षत-हन्ताहं मदेव मन्मात्रं-द्वितीयं देवं निर्म्ममे--इति । तदभ्यतपत्, समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहो यदार्द्र्यमजायत, तेनानन्दत् । तदब्रवीत्--'सुवेदमविदामहे' इति, तस्मात् सुवेदो-ऽभवत् ।(गोपथब्रा० पू० १।१।)

२५२-ब्रह्म के तप से आविर्भूत सुब्रह्माथर्व की ज्येष्ठरूपता—

स्वयम्भूब्रह्म से आविर्भूत सुवेदमूर्त्ति * अथर्वब्रह्म ही क्योंकि भौतिक-सर्गधाराओं में सर्वप्रथम आविर्भूत हुआ । अतएव यह सौम्य-अथर्व-आपोमय-परमेष्ठी ही स्वयम्भू प्रजापति के-'ज्येष्ठपुत्र' कहलाए, जिन में तत्सृष्ट्वा न्याय से सर्वप्रतिष्ठारूपा स्वायम्भुवी त्रयीविद्या 'त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्' रूपेण गर्भीभूत होरही है । इसी प्राथमिक सृष्टिधाराक्रम को लक्ष्य बना कर उपनिषत् ने कहा है-

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।१।

२५३-अथर्वब्रह्म की 'ज्येष्ठ' उपाधि का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय—

आपोमय अथर्वपरमेष्ठी सोमप्रधान है। प्रजापति स्वयम्भू की परमेष्ठी, इन्द्र (सूर्य्य), सोम (चन्द्रमा), अग्नि (पृथवी) इन चारों सन्ततियों में सर्वज्येष्ठ है प्रथम आविर्भूत होने के कारण परमेष्ठी अथर्वा ही । अतएव अवश्य ही इस ब्राह्मणस्पत्य सोममूर्त्ति परमेष्ठी अथर्व को ज्येष्ठपुत्र कहा जासकता है । अतएव च मन्त्रवेदने अथर्वात्मक पारमेष्ठ्य सोम को यत्रतत्र 'ज्येष्ठम्' उपाधि ही से समन्वित किया है + । पारमेष्ठ्य सोमात्मक अथर्व-सुब्रह्म की महत्ता ही इसकी 'ज्येष्ठता' का बीज है । पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति ऋत परमेष्ठी ही चिदात्मा की गर्भग्रहणानुगता योनि बनता है । पारमेष्ठ्य महदक्षर ही भूतभविष्यल्लक्षण वह प्रकृतिभाव है, जिसे पूर्वपरिच्छेदों में हमने गुणत्रयात्मक, एवं आकृतिप्रकृतिअहङ्कृतिभावात्मक कहा है ।

---

*-अप एव ससर्जादो (मनुः) ।

+-तमु ज्येष्ठं नमसा हविर्भिः सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे ।
इन्द्रं श्लोको महि दैव्यः सिषक्तु यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा ॥
—ऋक्सं० ७।९७।३ ।

इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठं-अमर्त्यं-मदम् ।
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने ॥
इन्द्राय नूनमर्चतोक्थानि च ब्रवीतन ।
सुता अमत्सुरिन्दवो ज्येष्ठं नमस्यता सहः ॥
—ऋक्सं० १।८४। ४, ५,

२५४–ज्येष्ठ अथर्व की महत्ता, एवं श्रेष्ठता का समन्वय –

पञ्चपुण्डीरात्मकविश्व में सृष्टिदृष्टि से यद्यपि परमाकाशरूप स्वयम्भू से बड़ा कोई नहीं है। अतएव उसे ही वस्तुगत्या महान्, किंवा ज्येष्ठ कहना चाहिए था, कहा गया भी है सृष्टिदृष्ट्या। किन्तु स्थितिमूला सृष्टिविद्या की दृष्टि से तो यह परमेष्ठी ही स्वयम्भू की भी अपेक्षा भी 'महान्' बन रहा है। क्योंकि महतो–महीयान् भी त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म **'त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्'** रूप से इस मण्डल में गर्भीभूत है। विश्वाध्यक्ष स्वयं षोडशीपुरुष से तो अधिक महान् और कौन होगा ?। वह भी **'तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'** रूप से एकांश से इसी पारमेष्ठ्य सौम्य–वीध्र–तत्त्व में गर्भ धारण करता है–**'सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत'**!

२५५–'पिता सन्नभवत् पुत्र एषाम्' का समन्वय—

इन्हीं सब कारणों से 'महान्'–'ज्येष्ठ' जैसी उपाधियों का सम्मान स्वयम्भू के प्रथम पुत्ररूप इस परमेष्ठी को ही प्राप्त हो रहा है। पिता से उत्पन्न पुत्र पिता को गर्भ में लेकर स्वयं पिता का भी पिता बन रहा है, जैसाकि–**'यस्ता विजानात्–स पितुष्पितासत्'** (ऋक्सं० १।१६४।१६।)–**'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति'** (ऋक्सं० १।८९।९)–**'पितासन्नभवत् पुत्र एषाम्'** (अथर्वसं० १९।६।५३) **'यः पितासीत् प्रजापतेः'** इत्यादि वचनों से स्पष्ट है।

२५६–स्वायम्भुव तप से आविर्भूत अथर्व ज्येष्ठ के द्वारा तद्गर्भ में भृग्वङ्गिरोमय हिरण्मयाण्डवृत्त का आविर्भाव––

हाँ, तो स्वयम्भूब्रह्म के तप से ज्येष्ठ (महान्) रूप आपोमय–सोममूर्त्ति–**भृग्वङ्गिरोरूप**–अथर्व परमेष्ठी का आविर्भाव हुआ, जो कि अपनी इस प्रथमा आपोमयी-आण्डावस्था में सर्वथा ऋत ही था, घनतानुगत पिण्डभावों से असंस्पृष्ट ही था। उस प्रारम्भिक दशा में तो–**'सर्वमापोमयं जगत्'**–**'न तर्हि पृथिव्यास-न द्यौरास'–काल्वालीकृता हैव तर्हि पृथिव्यास'** यही स्थिति थी। द्रवभावापन्न इस इरात्मक ऋत रस के कारण ही यह आपोमय परमेष्ठी सूर्य्याविर्भाव से पहिले **'सरिर'** रूपेण–**'सलिल'** ही बना हुआ था। **'ऋतमेव परमेष्ठी'** ही उस दशा का मौलिक स्वरूप था, जिसका-**'आपो-वा इदमग्रे सलिलमेवास'** (शत० ११।१।६।१।) इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्टीकरण हुआ है। स्वयम्भू के तप से आविर्भूत सलिलमूर्त्ति ज्येष्ठभावात्मक इस आपोमयाण्ड के गर्भ में हीं इसी भृग्वङ्गिरोमय ऋततत्त्व की भृगुगर्भिता अङ्गिराचिति से एक नवीन अग्निमय अण्डवृत्त आविर्भूत हुआ, और वही **'हिरण्मयाण्ड'** कहलाया, जिसके कि गर्भ में सृष्टिधारानुपात से बहुत आगे चल कर प्रत्यक्षदृष्ट मूर्त्त सूर्य्यपिण्ड का स्वरूपाविर्भाव हुआ है अग्निचयन के द्वारा। इसी हिरण्मयाण्ड को लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

ताः (आपः) अकामयन्त–कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यन्, तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयाण्डं सम्बभूव। अजातो ह तर्हि सम्वत्सरः (सौरसंस्थानम्) आस। तदिदं हिरण्मयाण्डं यावत्सम्वत्सरस्य वेला, तावत्–पर्य्यप्लवत।

—शत० ११।६।१।१।

२५७-सरस्वान् समुद्र में हिरण्मयाण्ड का पर्य्यप्लवन, एवं हिरण्मयाण्डगर्भ में 'प्रथमजब्रह्म' नामक व्यक्त 'ब्रह्म' तत्त्व का आविर्भाव—

एक महासमुद्र में वायुगर्भित बुद्बुद जिसप्रकार इतस्ततः वत्तुलचङ्क्रमण के द्वारा लुढ़कता फिरता है, ठीक वही स्थिति आरम्भ में उस महान्--ज्येष्ठ--पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र में भृगुगर्भित अङ्गिरोमूर्त्ति उस हिरण्मयाण्ड की रही होगी। उसी का--'पर्य्यप्लवत्' से स्पष्टीकरण हुआ है। इसी हिरण्मयाण्ड के गर्भ में कालान्तर में-'यो गर्भोऽन्तरासीत्-तदग्निरभवत्' रूपेण अङ्गिरोऽग्नि की चिति हुई। यही चित्याग्निपिण्ड चिति की परिपक्वता में आते ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आलोक प्रदान करता हुआ अपनी प्राणदपानल्लक्षणा सहस्रधा--महिमानः--सहस्र--रूपा रश्मियों से अभिव्यक्त होपड़ा, जिसे मूर्त्त सूर्य्य (पिण्डसूर्य्य) कहा जा रहा है। इस पिण्डसूर्य्य का आधारभूत हिरण्मय प्राण ही वह अमृतसूर्य्य है, जिसके आधार पर ही इस मर्त्याग्नि की चिति हुई है। चितेनिधेयरूप हिरण्मय प्राण ही वह सत्यधर्म्म है, जिस के साक्षात्कार के लिए पार्थिव पूषाप्राण को मध्यस्थ बनाना पड़ता है, जैसाकि उपनिषदों की सुप्रसिद्धा 'चाक्षुषपुरषविद्या' में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। मूर्त्त सूर्य्यपिण्ड को स्वाधार पर प्रतिष्ठित रखने वाला हिरण्मयप्राणरूप अमृतसूर्य्य ही उस आपोमयाण्ड के गर्भ में, ज्येष्ठ अथर्व के गर्भ में आविर्भूत वह गायत्रीमात्रिक नामक वेदतत्त्व है, जिसे 'प्रथमजब्रह्म' कहा गया है। स्वयम्भू, और परमेष्ठी के दाम्पत्यभाव से सर्वप्रथम यही उभयात्मक विराट्--हिरण्यगर्भप्राणात्मक सूर्य्य आविर्भूत हुआ है। यही प्रथमा व्यक्तसन्तति है उस दम्पती की-'विराजमसृजत्प्रभुः'। 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' इत्यादि मन्त्रश्रुति इसी हिरण्यगर्भ का यशोगान कर रही है।

२५८-विराट्प्रजापतिरूप सौर ब्रह्म का व्यक्तजगदाधारत्व—

ब्रह्मनिःश्वसित-अपौरुषेय वेदमूर्त्ति तपोमय स्वयम्भू से ब्रह्मस्वेदवेदात्मक ज्येष्ठभावापन्न-(महद्भावापन्न) अथर्व-मूर्त्ति परमेष्ठी का आविर्भाव हुआ। इस आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में त्रयीवेदात्मक ही (गायत्रीमात्रिक पौरुषेयवेदात्मक ही) हिरण्मयाण्डानुगत सौरसंस्थान का आविर्भाव हुआ, और यही तीसरा विश्वपर्व 'ब्रह्म' कहलाया। 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' रूपेण व्यक्त-भूत-सर्ग का सर्ज्जक, उपादान अत्र क्योंकि यही सौरसंस्थान बनता है-जैसाकि-'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'-'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट है। उपादानकारण का ही पारिभाषिक नाम क्योंकि 'चरभावत्वेन' 'ब्रह्म' है। अतएव अवश्य ही तपोगर्भित (स्वयम्भुगर्भित), ज्येष्ठरूप आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में आविर्भूत अमृतप्राणात्मक मर्त्य चित्याग्निमय वेदात्मक सूर्य्य को 'ब्रह्म' उपाधि से विभूषित किया जा सकता है, किया है श्रुतिने निम्नलिखित रूप से—

सोऽकामयत-'आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेय' इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत। ततो 'ब्रह्म' एव प्रथमसृज्यत त्रय्येव विद्या। तस्मादादुः-'ब्रह्म' अस्य सर्वस्य (भूतसर्गस्य) प्रथमजम्। मुखं ह्येतदग्नेः-यत्-'ब्रह्म'।

-शत० ६।१।१।१०।

२५९-अमृतत्रयी-लक्षणा तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी—

षोडशी प्रजापति में जो स्थान तपोमूर्त्ति मनोमय अव्यय का है, इस पञ्चपर्वा विश्व में वही स्थान तपोमय, अतएव मनोमूर्त्ति स्वयम्भू का है। वहाँ जो स्थान ज्येष्ठमूर्त्ति प्राणमय अक्षर का है, यहाँ वही स्थान

ज्येष्ठपुत्ररूप प्राणमूर्त्ति (ऋतमूर्त्ति) महदक्षरात्मक–भूतभविष्दधिष्ठाता परमेष्ठी का है। एवं वहाँ जो स्थान ब्रह्ममूर्त्ति वाङ्मय क्षर का है, वही स्थान यहाँ त्रयीब्रह्मरूप–वाङ्मय सूर्य्य का है। उस के तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्म–रूप अव्यय–अक्षर–क्षरात्मक–मनः–प्राण–वाग्–भाव ही विश्व में क्रमशः **स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य** (अमृतहिरण्मयप्राणरूप सूर्य्य) इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

२६०--प्रतिमाप्रजापति–चतुष्टयी का स्वरूप--दिग्दर्शन, एवं पारमेष्ठ्य--प्राजापत्य–सर्ग-का समन्वय—

आगे चलिए। सौरसंस्थानात्मक हिरण्मयाण्ड ही आगे चल कर गर्भचिति से मर्त्यपिण्डात्मक व्यक्त–सूर्य्यरूप में परिणत होता है, जिस का आधारभूत हिरण्मयामृत–प्राण '**इन्द्र**' कहलाया है। इसी से आगे चल कर सम्वत्सरात्मक–रोदसी त्रैलोक्य का आविर्भाव होता है, जिस के गर्भ में मर्त्यसूर्य्य, चन्द्रपिण्ड, भूपिण्ड, ये तीनों विश्वपर्व प्रतिष्ठित हैं। सूर्य्यपर्व का तो उस ऊपर के अमृतेन्द्ररूप अमृत हिरण्यसूर्य्य में हीं अन्तर्भाव है। अतएव शेष रह जाते हैं मुख्यरूप से सोममय चन्द्रमा, तथा अग्निमय भूपिण्ड। सोममय चन्द्रमा सोमाथर्वरूप परमेष्ठी का प्रवर्ग्यरूप अथर्व ही है, जिस की वाक् इसी सुब्रह्माथर्व के सम्बन्ध से–'**सुब्रह्मण्या**' कहलाई है। एवं अग्निमय भूपिण्ड सौरसावित्राग्नि का ही, ब्रह्मरूप गायत्रीमात्रिक वेद का ही प्रवर्ग्यभाग है। यह संस्मरणीय है कि, परमेष्ठी का अत्रिप्राण प्रवर्ग्यरूप से सर्वप्रथम भूपिण्ड का ब्रह्मौदन बन कर इसे धामच्छदता प्रदान करता है। यही भौम (पारमेष्ठ्य) अत्रितत्त्व पुनः पार्थिव परिभ्रमण से प्रवर्ग्य बनता है। यही प्रवर्ग्य पारमेष्ठय अत्रिसोम चन्द्रमा-का जनक बनता है। अतएव चन्द्रमा पुराणशास्त्र में '**अत्रिपुत्र**' नाम से प्रसिद्ध है *। अतएव च पारमेष्ठय सोम का प्रवर्ग्य भी सौम्य–चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह बन रहा है, जबकि स्वयं पृथिवी (भूपिण्ड) सौर सावित्राग्नि के प्रवर्ग्य से विनिर्म्मिता होती हुई सूर्य्य का उपग्रह मानी गई है। तदित्थं वही स्वयम्भू अपने ज्ञानमय तप के प्रभाव से–'**मदेव मन्मात्रं–निर्म्ममे**' (मैं मेरे जैसा ही, मेरी स्वरूपमात्रा–इयत्ता के अनुरूप ही सन्तति उत्पन्न करूँ) इस कामना से क्रमशः परमेष्ठी–इन्द्र–[सूर्य्य]–सोम [चन्द्रमा]–अग्नि [भूपिण्ड], इन चार सन्ततियों का जन्मदाता

***–पिता सोमस्य वै विप्रा ! जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः ॥**
काष्ठकुड्यशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥१॥
'सुदुश्चरं' नाम तपो येन तप्तं महत्पुरा ॥
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति हि नः श्रुतम् ॥२॥
तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य ह ॥
सोमत्त्वं तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः (चन्द्रः) ॥३॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्त्वं भावितात्मनः ॥
नेत्राभ्यामस्रवत्सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥४॥
—इत्यादि–ब्रह्माण्डपुराणे

बन रहा है। जैसा स्वरूप स्वयम्भू का है, वैसा ही मण्डलात्मक, **आत्मा-पदं-पुनः पदं**-लक्षण स्वरूप इन चारों परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-नामक विश्वपर्वों का है। अतएव ये चारों प्राजापत्य सर्ग उस परमप्रजापति [स्वयम्भू] के **'प्रतिमाप्रजापतिसर्ग'** ही कहलाए हैं, जैसाकि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट है।

स ऐक्षत प्रजापतिः-(स्वयम्भूः)-'इमं वा ऽआत्मनः प्रतिमामसृक्षि--यत् सम्वत्सरममिति (मण्डलात्मकं वृत्तमिति)। ता वाऽएताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-अग्निः-इन्द्रः--सोमः--परमेष्ठी-प्राजापत्यः।

—शत० ११।१।६।१३,१,४,

२६१-दर्शपूर्णमासानुगत स्वायम्भुव 'कामप्र' यज्ञ, तन्मूलक 'सर्वहुत' यज्ञ, एवं स्वयम्भू-ब्रह्म की तपश्चर्य्या—

स्वयं स्वयम्भू, तज्ज्येष्ठपुत्र **परमेष्ठी**, तत्कनिष्ठ **सूर्य्य**, तत्कनिष्ठ **चन्द्रमा** (दृष्ट्यपेक्षया), सर्वकनिष्ठ **भूपिण्ड**, इन पाँचों ब्रह्मपुरों के क्रमशः प्राणः-आपः-वाक्-अन्नं-अन्नादः-ये पाँच क्षरभाव ही मूलाधार हैं, जैसाकि दर्शपूर्णमासरहस्यात्मक सुप्रसिद्ध-**'कामप्र'** नाम की यज्ञविद्या के-**"स प्राणोऽभवत्"** (स्वयम्भूः),-**स आपोऽभवत् (परमेष्ठी), स वागभवत् (सूर्य्यः)-"अन्नाद एवान्यतरोऽभवत् (भूपिण्डः), अन्नमन्यतरः (चन्द्रमाः)। ता वा एताः पञ्च देवता एतेन कामप्रेण यज्ञेन--अयजन्त"** (शत० ११।१।६ ब्राह्मण) इस महान् रहस्पूर्ण सन्दर्भ से स्पष्ट प्रमाणित है। यही 'कामप्र' (कामपूरक) यज्ञ अन्यत्र **'सर्वमेधयज्ञ'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जो कि **'विश्वदानियज्ञ'--'विश्वजिद्यज्ञ'-'सर्वहुतयज्ञ'** आदि नामों से भी उपवर्णित है। सुनते हैं-स्वयम्भू ब्रह्मने घोरघोरतमा तपश्चर्य्या की, तपश्चर्य्या के बल पर इन्होंनें अपने आप को प्राणादि पञ्चभावों में परिणत भी कर लिया।

२६२-तपोभाव से अनन्तभावकी अनुपलब्धि, एवं आनन्त्य की प्राप्ति के लिए स्वयम्भू का स्वसृष्टि में अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रवेश—

इस पञ्चावयवता से विश्वस्वरूप भी अभिव्यक्त हो गया। किन्तु इस तपोमात्र से स्वयम्भू प्रजापति को अनन्तभावात्मिका वह **'सर्वता'** उपलब्ध न होसकी, जिस सर्वता-पूर्णता के लिए इन्होंनें तपश्चर्य्या की थी। अतएव अन्ततोगत्वा प्रजापति इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, केवल तप से ही काम नहीं चल सकता। केवल तप ही तबतक आनन्त्यरूपा परिपूर्णता का कारण प्रमाणित नहीं हो सकता, जबतक कि तप से उत्पन्न पदार्थों के साथ स्वयं का, तथा स्वयं के साथ पदार्थों का अन्तर्य्यामसम्बन्ध नहीं हो जाता। तप से उत्पन्न वस्तु में उत्पादक के आत्मा का प्रवेश अनिवार्य्य है, तो उत्पन्न पदार्थों का प्रवेश उत्पादक में भी अनिवार्य्य है।

२६३-सृष्टि में प्रविष्ट हुए बिना स्रष्टा की अपूर्णता-रिक्तता, एवं-'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' का आचारात्मक समन्वय —

ऐसा पारस्परिक आदानविसर्गात्मक आहुति-आहुतिग्राहक-सम्बन्ध हुए बिना तपश्चर्य्या उसीप्रकार व्यर्थ ही चली जाती है, जैसे कि भावुक मानवों का श्रम-परिश्रम-तपः-अध्यवसाय-स्वाध्याय-अर्थोपार्ज्जन-आदि

आदि समस्त पौरुष तत्फलों-सर्गों से तटस्थ बन जाने मात्र से सर्वथा निरर्थक ही प्रमाणित होता रहता है। सृष्ट का स्रष्टा में, एवं स्रष्टा का सृष्ट में प्रवेश ही तप की परिपूर्णता है। इस पारस्परिक अन्तर्य्याम-समन्वय के अभाव से ही तो निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से श्रम–परिश्रम करने वाले भी तो भारतराष्ट्र के प्रवर्ग्यों का अन्य नैष्ठिक ही भोग करते चले जा रहे हैं, और यह स्वयं प्रवर्ग्य की आहुति से कल्पित–भावुकतापूर्ण–उदारता के आवेश में आकर, भावुकतापूर्ण आतिथ्यविमोहन में आकर 'परोपकारी' ही बनता आ रहा है।

२६४-सृष्टि से तटस्थ प्रजापति की शून्यता, एवं प्रजापति का उद्बोधन—

वही स्थिति आरम्भ में प्रजापति की हुई होगी। स्वयम्भू के महान् तप से आविर्भूत परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–उसीप्रकार स्वतन्त्र ही होंगे आरम्भावस्था में, जैसे कि आज के भारतीय भावुक हिन्दूमानव का स्वयम्भुस्थानीय अव्यक्तात्मा, स्वविभूतिरूप परमेष्ठिस्थानीय **महानात्मा (सत्त्व)**, सूर्य्यस्थानीय **विज्ञानात्मा (बुद्धि)**, चन्द्रस्थानीय **प्रज्ञानात्मा (मन)**, एवं भूस्थानीय **भूतात्मा (शरीर)**, चारों हीं इस की स्वदर्शनात्मिका आत्मनिष्ठा (स्वायम्भुवी निष्ठा) से पृथक् होकर परदर्शनमूलक बाह्य क्षेत्रों में हीं विभक्त–उपयुक्त हो रहे हैं। फलस्वरूप इस अपरिपूर्णता से तप–श्रम–परिश्रम करता हुआ भी भारतीय–भावुक हिन्दूमानव अपने इन प्रवर्ग्यभावों से सब का पालन–पोषण–भरण–सम्भरण करता हुआ भी स्वस्वरूप से उत्तरोत्तर हीन हीं प्रमाणित होता जा रहा है।

२६५-त्याग-तपस्या-बलिदान-भावों का आचारात्मक दृष्टिकोण—

स्वयम्भू प्रजापति की भी वही दशा हो जाती, यदि वे भी इस भ्रान्त भावुक भारतीय हिन्दूमानव की भाँति कोरे तप, त्याग–बलिदान के ही गुणगान करते रहते तो। किन्तु अपने तप–त्याग–बलिदानात्मक–प्रवर्ग्य भागों से परमेष्ठ्यादि विभूतियों को उत्पन्न करते ही प्रजापति तत्काल इस निर्णय पर पहुँच ही तो गए कि,–केवल इस तप से ही आनन्त्य, किंवा सर्वता–परिपूर्णता सम्भव नहीं है। तत्काल तप–त्याग–बलिदानादि का व्यामोहन समाप्त कर प्रजापति ने इन सबको अपनी आत्मसीमा में आहुत–प्रतिष्ठित कर लिया, एवं स्वयं इन के अणु अणु में अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से प्रविष्ट हो गए। यही प्रक्रिया सर्वहुतयज्ञात्मक **सर्वमेधयज्ञ** कहलाया। इसी से प्रजापति पाँच न रह कर एक ही विश्वमूर्त्ति परमप्रजापतिरूप में परिणत होगए। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

ब्रह्म वै स्वयम्भु–तपोऽतप्यत। तदैक्षत–'न वै तपस्यानन्त्यमस्ति'। हन्त–'अहं भूतेषु–आत्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि' इति। तत्सर्वेषु भूतेषु–आत्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि–सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं, स्वाराज्यं, आधिपत्यं–पर्य्यैत्। स वा एष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। दशाक्षरा वै विराट्। विराड् कृत्स्नमन्नम्।

—शत० १३।७।१।१,२,।

२६६–मर्त्या विश्वत्रयी, एवं तदनुप्राणिता-'तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्मत्रयी' का स्वरूप-समन्वय, तथा अष्टम मन्त्रार्थ का संस्मरण—

उक्त विवेचन के माध्यम से पञ्चपर्वा विश्व के सम्बन्ध में हमें तीन पृथक्–पृथक्-संस्था-विभागों की ओर स्वत: ही आकर्षित होजाना पड़ा, उसी प्रकार, जैसे कि षोडशीप्रजापति के पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, इन तीन विवर्त्तों में प्रत्येक में एक तो समष्ट्यात्मक संस्थाविभाग, एवं दो व्यष्ट्यात्मक संस्थाविभाग, यों सम्भूय तीन तीन अवान्तर संस्थाविभाग सम्पन्न होजाते हैं [देखिए पृ०सं० २४७ की तालिका]। [१]**स्वयम्भू**–और [२]**परमेष्ठी**, दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है, यही मनोमय अमृतलक्षण **'तप:'** है। मध्यस्थ अमृतमृत्युरूप [३]**सूर्य्य** का एक स्वतन्त्र विभाग है, यही प्राणमय **'ज्येष्ठ'** है। सर्वान्त के [४]**चन्द्रमा**, और [५]**भूपिण्ड**, इन दोनों का एक स्वतन्त्र मृत्युप्रधान विभाग है। यही वाङ्मय **'ब्रह्म'** है। इसप्रकार स्वयम्भू से आरम्भ कर भूपिण्ड पर्य्यन्त व्याप्त पञ्चपर्वा एक विश्व में समष्टिरूप से **तप:-ज्येष्ठ-ब्रह्म** नामक तीनों मन:-प्राण-वाग्-भावों का अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-प्रतीकत्त्वेन उपभोग हो रहा है। अब व्यष्ट्यात्मक दोनों संस्थाविभागों का समन्वय कीजिए। स्वयम्भू तप है, परमेष्ठी **ज्येष्ठ है**, अमृतप्राणरूप हिरण्यसूर्य्य [अमृत–सूर्य्य] ही **ब्रह्म है**, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। यही व्यष्ट्यात्मक दूसरा विभाग है। मर्त्यसूर्य्यपिण्ड अब **तप:** स्थानीय है, मर्त्यचन्द्रमा **ज्येष्ठ** स्थानीय है, एवं मर्त्यभूपिण्ड **ब्रह्म**-स्थानीय है। यही तीसरा विभाग है। इसप्रकार दृष्टिकोणभेद से पञ्चपर्वा एक ही विश्व में तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भावों के तीन विवर्त्त होजाते हैं। ये तीनों हीं विवर्त्त, एवं तीनों विवर्त्तों के तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भाव षोडशीप्रजापतिरूप महेश्वरात्मक काल में हीं प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षररूपः-षोडशीप्रजापतिर्म्महेश्वरो महाकालः-तत्रैव कालवृत्ते तपः-ज्येष्ठं-ब्रह्म-समाहितम्-

कालवृत्तमिदं विश्वाधारभूतम्

१	१–प्राणमयः स्वयम्भूः [ब्रह्मा] २–आपोमयः परमेष्ठी [प्राजापत्यः]	-मनः–तपः [अव्ययप्रतीकौ]	-समष्टिः [१]
२	३–वाङ्मयः सूर्य्यः [इन्द्रः]	-प्राणः-ज्येष्ठम् [अक्षरप्रतीकः]	
३	४–अन्नमयश्चन्द्रमाः [सोमः] ५–अन्नादमयो भूपिण्डः [अग्निः]	-वाक्–ब्रह्म [आत्मक्षरप्रतीकौ]	

१–स्वयम्भूः—मनः—तपः [अव्ययप्रतिनिधिः] २–परमेष्ठी—प्राणः–ज्येष्ठम् [अक्षरप्रतिनिधिः] ३–अमृतसूर्य्यः-वाक्–ब्रह्म [आत्मक्षरप्रतिनिधिः]	-व्यष्टिः [२]

१–मर्त्यसूर्य्यः—मनः—तपः [अव्ययप्रतिनिधिः] २–मर्त्यचन्द्रमाः-प्राणः-ज्येष्ठम् [अक्षरप्रतिनिधिः] ३–मर्त्यभूपिण्डः-वाक–ब्रह्म [आत्मक्षरप्रतिनिधिः]	-व्यष्टिः [३]

कालवृत्तमिदं विश्वाधारभूतम्

कालवृत्तमिदं विश्वाधारभूतम्

तदित्थं-त्रिपुरुषपुरुषात्मके-महाकाले प्रजापतौ-एव समष्टि-व्यष्टि-रूपेण-विश्वपर्वाण्य-धिष्ठितानि-प्रतिष्ठितानि-समाहितानि—तपः—ज्येष्ठं-ब्रह्म-रूपाणीति—अनुगमो भवति—

काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः ।
इति—साधु संगच्छते—

२६७—तपोज्येष्ठब्रह्म-समन्वित महामायी षोडशी-प्रजापति, एवं उसके काल-यज्ञ-रूप दो महिमा-विवर्त्त—

महामायावृत्तात्मक महाकाल से सीमित अव्ययाक्षरात्मक्षरात्मक मनःप्राणवाङ्मय-तपोज्येष्ठब्रह्म-समन्वित षोडशीप्रजापति मायी महेश्वर के ही पञ्चपर्वा विश्व से सम्बद्ध मनःप्राणवाङ्मय तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भावों का विचार प्रक्रान्त है । इस विश्व की दृष्टि से हमने षोडशीप्रजापति को ही 'काल' कहा है, जबकि स्वय इस षोडशीप्रजापति की दृष्टि से इसके सीमाबलात्मक महामायावृत्त को 'काल' कहा गया था । वहाँ यज्ञपुरुष यह षोडशीप्रजापति था, कालपुरुष महामायावृत्त था । अब यहाँ [विश्वदृष्ट्या] वहाँ का यज्ञपुरुषात्मक षोडशी-प्रजापति कालपुरुष है, तो स्वयं पञ्चपर्वा विश्व सर्वहुतयज्ञात्मक सर्वमेध नामक यज्ञपुरुष बन रहा है । इस दृष्टि से पूर्व पूर्व भाव कालपुरुष बनता जाता है, एवं उत्तरोत्तरभाव यज्ञपुरुष प्रमाणित होता जाता है । सर्वादिभूत महतोमहीयान् महामायावृत्तात्मक कालपुरुष, तथा सर्वान्तभूत हृदयरूप अणोरणीयान् महामायावृत्तात्मक कालपुरुष, इस आद्यन्त के अवारपारीण, महिमा-अणिमामय-महाकाल के गर्भ में प्रतिष्ठित सभी आत्म-विश्व-विवर्त्त पारस्परिक पूर्वोत्तरभावों के अनुबन्ध से काल भी हैं, यज्ञ भी हैं, जो कालात्मक, तथा यज्ञात्मक सभी वृत्तमध्यस्थ विवर्त्त आद्यन्त के महाकाल की दृष्टि से यज्ञात्मक ही बन रहे हैं ।

२६८—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' मूलक काल से काल की उत्पत्ति का समन्वय—

अतएव महाकालसीमा में भुक्त-प्रतिष्ठित बड़े-छोटे सभी सापेक्ष काल-यज्ञ-विवर्त्त यज्ञात्मक ही प्रमाणित होरहे हैं । इसी सापेक्षस्थिति का-**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्'** [यजुः-संहिता] इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है, जिसका अर्थसमन्वय यही है कि-**'महामायात्मके महाकाले प्रतिष्ठितेन पूर्वभावात्मककालेन उत्तरभावात्मकं यज्ञमेव अयजन्त देवाः'** । **'यज्ञेन'** काल है, एवं **'यज्ञं'** यज्ञ है, जोकि पूर्वकाल का व्यक्तोत्तररूप होने से तत्त्वतः काल के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है । अतएव **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त'** का इस कालव्याप्ति-दृष्टि से यह भी समन्वय सम्भव है कि-**'कालेन कालमयजन्त'**, जिसका अर्थसमन्वय होगा-**'आधारभूतेन पूर्वयज्ञेन आधेयभूतं-उत्तरयज्ञमयजन्त'** । इन उभयविध सापेक्षकालभावों, किंवा सापेक्ष यज्ञभावों [आत्मयज्ञ, तथा विश्वयज्ञभावों] का आधारभूत महतोमहीयान्-अणोरणीयान्-महामायावृत्तात्मक वह निरपेक्ष महाकाल तो अपनी इस निरपेक्षता से परात्परवत् कालातीत ही बना रहता है । कालातीतरूप महाकाल, और कालातीत परात्पर वस्तुतः एक ही वस्तुतत्त्व है, जिसका 'इदमित्थमेव' रूपेण समन्वय कर लेने में मानवप्रज्ञा को तो कुण्ठित ही माना जायगा । उस कालातीत-महामायामय-महाकाल में प्रतिष्ठित सापेक्षकाल [पूर्वभावात्मक आत्मभाव] को ही उत्पीड़ककाल कहा गया है, एवं उत्तर-

भावात्मक विश्वरूप-यज्ञ को उत्पीड़ित काल माना गया है। आत्मप्रेरणा से, मनःप्राणवाङ्मय आत्मप्रजापति से उत्पीड़ित चरात्मक विश्व ही संघर्षमूला स्वस्वरूपस्थिति का कारण बन रहा है।

२६९–'काल' से-'यज्ञ' का उत्पीड़न, एवं काल में प्रतिष्ठित तप-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भावों का स्वरूप-समन्वय–

राजर्षि मनु ने '**कालं कालेन पीड़यन्**' इत्यादि आर्षवचन का-'**यज्ञं कालेन पीड़यन्**'-किंवा-'**पूर्वयज्ञेन कालात्मकेनात्मरूपेण-उत्तरयज्ञं-कालात्मकं विश्वरूपं पीड़यन्**' यही अर्थसमन्वय है। **प्रेरककाल**, एवं **प्रेरितकाल**, दोनों यज्ञात्मक हैं, सापेक्षकालात्मक हैं, दोनों ही प्राकृतभाव हैं, विश्वानुबन्धी हैं, क्षोभमय हैं, जबकि इन सब सापेक्षभावों का आधारभूत निरपेक्ष कालातीत [अपेक्षातीत] महामायात्मक महाकाल परात्परवत् सर्वथा शान्त-अद्वय-संघर्ष-क्षोभरहित ही बना हुआ है–**तस्मै कालात्मने नमः, तदाधारप्रतिष्ठिताय सापेक्ष–कालपुरुषाय, यज्ञपुरुषाय च कालरूपायैव नमोनमः**। इति नु सर्वं काल एव। काले प्रतिष्ठितं तपः–ज्येष्ठं–ब्रह्म–सर्वमपि काल एव। काले एव एते कालभावाः प्रतिष्ठिताः, इति काल एव काल–प्रतिष्ठा, इति–'तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्'।

२७०–मायात्मक वृत्तभाव का स्वरूप–परिचय, तदनुबन्धी त्रिविध बलभाव, तदभिन्न लेखात्मक पुरभाव, एवं वृत्तों से आवृत 'विश्ववृत्त' का समन्वय—

उक्त निवेदन से प्रकृत में हमें यही कहना था कि, निरपेक्ष काल का पारिभाषिक नाम जहाँ '**महामाया**' है, वहाँ सर्ग–प्रतिसर्गानुबन्धी सापेक्ष–काल का पारिभाषिक नाम है–'**योगमाया**', जिसका– '**इन्द्रो मायाभिः पुररूप इयते**' (ऋक्संहिता) इत्यादि से यशोगान हुआ है। निरपेक्षकालात्मिका महामाया निरपेक्ष एकत्वमूला बनती हुई जहाँ एक ही है, अद्वितीय ही है, वहाँ सापेक्षकालात्मिका योगमाया अपेक्षानन्त्य से अनन्त असंख्य हैं। अतएव श्रुतिने '**मायाभिः**' कहा है इसके लिए। इसी सापेक्षा योगमाया से पुररूप आकृतिभावों का धारावाहिकरूप से उदय होता रहता है, जिस धारावाहिकता का मूल योगमायानुबन्धी '**धाराबल**' ही माना गया है, जो '**आपः–जायाः–धाराः**' रूप से गोपथारम्भ में हीं विस्तार से व्याख्यात है। '**लेखा हि पुरम्**' के अनुसार रेखात्मक वृत्त का नाम ही रेखा–लेखा–रूप पुरभाव (सीमाभाव) है, और यही लेखात्मक वृत्तपुर सापेक्षभावापन्ना योगमाया है, जो अपनी धाराबलानुगता परम्परा से अन्ततोगत्वा 'पुर' रूप में परिणत हो रही है। समष्टि–व्यष्ट्यात्मक पदार्थों का स्वरूप इस 'पुरभाव' से अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। जिसे लोक में आकृति–आकार–सीमा–कहा जाता है, वही छन्द है, वृत्त है, रेखा है, लेखा है। महावृत्त में छोटा वृत्त, तद्गर्भ में पुनः–छोटावृत्त, इसप्रकार कदलीस्तम्भात्मक पुर की भाँति–**ज्यों कदली के पात में पात, पात में पात**' रूपेण * धारावाहिक वृत्तपरम्पराओं, मायावृत्तपरम्पराओं से ही तो आकृतिमूलक वस्त्वाकार आविर्भूत है। यही वृत्तकाल है. जो पूर्वरूप से काल है, उत्तररूप से यज्ञ है। काल

***-ज्यों पण्डित की बात में बात, बात में बात। (व्यवच्छेदो हि पाण्डित्यम्, इति हि निष्कर्षः)।**

भी पुर (वृत्त) ही है, यज्ञ भी पुर ही है । 'वृत्तैर्वृत्तो वृतः सन्' ही विश्व पदार्थों की स्वरूप-परिभाषा है । यही काल की कालात्मिकानुबन्धिनी यज्ञशरीरात्मिका सर्वव्याप्ति है, जिसका साक्षी माना गया है केन्द्रावच्छिन्न महदक्षरप्राण, एवं मध्यस्थ इन्द्र । इसी को लक्ष्य बना कर-'इन्द्रो-मायाभिः पुररूप ईयते' का समन्वय हुआ है ।

२७१-महामायानुगता योगमाया, तदनुबन्धी मोह, एवं मोहाविष्ट महेश्वरात्मा—

हाँ, तो अनाद्यनन्तन महामायारूप कालातीत महाकाल से युक्त सापेक्ष अवान्तर-सीमित-वृत्त का नाम हीं **'योगमाया'** है, जिससे सीमित है, कृतरूप है सापेक्ष प्रजापति (विश्वविशिष्ट आत्मन्वी प्रजापति) ।- महामाया जहाँ सर्वेश्वर की सीमा है, वहाँ योगमाया विश्वेश्वर की सीमा बन रही है । सहस्रवल्शात्मक महाविश्व का अधिष्ठाता **महामायी महेश्वर** है, एवं एक वल्शात्मक एक विश्व का अधिष्ठाता **योगमायी विश्वेश्वर** है । सहजभाषा में-सहस्रवल्शात्मक महाविश्व का अधिष्ठाता महाषोडशी महामायी है, एवं एक वल्शात्मक पञ्च-पुण्डीर विश्व का अधिष्ठाता विश्वषोडशी योगमायी है । महामायी महेश्वर महामायात्मक महाकाल से अनुप्राणित रहता हुआ जहाँ कालात्मक है, वहाँ योगमायी स्वायम्भुव विश्वेश्वर योगमायात्मक यज्ञरूप काल से अनुप्राणित रहता हुआ यज्ञात्मक है । यज्ञ ही विष्णु है, यही 'हरि' तत्त्व है, यही योगमायामय है, जिस इस विष्णुमाया-हरिमायारूपा-योगमाया के उदित होने से ही यज्ञात्मक-साञ्जन-सावरण-परिग्रहात्मक विश्व का मूर्त्तरूप अभिव्यक्त हो पड़ता है, जो कि मूर्त्तभाव उस उमूर्त्त मसेश्वरात्मा का आवरक बनता हुआ **'मोह'** नाम से प्रसिद्ध है—

> **"योगमाया हरेश्चैतत्-तया संमोह्यते जगत् ।**
> **ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।**
> **बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति (योगमायारूपेणैव)"** ॥

२७२-महाकालात्मक महामायावृत्त, कालात्मक योगमायावृत्त, एवं तदनुगत कालिक विश्व—

निरपेक्षा महामाया के ही सापेक्ष विवर्त्त का नाम योगमाया है । अतएव मोहप्रवर्त्तिका योगमाया (विश्वमाया) को 'महामाया' भी कहा जा सकता है । **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** । सहस्रवल्शात्मक महाविश्व का महाकाल महामायावृत्त है, तो एक वल्शात्मक स्वायम्भुव विश्व का महाकाल योगमायावृत्त है । महामाया-वृत्त से सीमित महामायी-महेश्वर षोडशी है, तो योगमायावृत्त से सीमित विश्वेश्वर षोडशी है । वह महामायी महेश्वरषोडशी ही यहाँ आकर योगमायानुबन्ध से इस पञ्चपुण्डीर विश्व का आधार बन गया है, एतावता ही हमने 'षोडशीप्रजापति' को इस विश्व का आधारभूत 'काल' मान लिया है, जो मान्यता 'योगमाया' त्मक सापेक्षकालानुबन्ध से सर्वथा समन्वित है । उस महाषोडशी का आधार काल महामाया है, एवं इस विश्व का आधार काल उस महामायी षोडशी का ही योगमायात्मक स्वरूप है, इस सुसूक्ष्म समन्वय को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें विश्वानुबन्धी आधारकाल का समन्वय करना चाहिए अपने प्रज्ञाक्षेत्र में हीं ।

२७३- समष्ट्यात्मक कालिक विश्व के पञ्चधा विभक्त व्यष्टिभाव—

योगमायी कालात्मक विश्वेश्वर षोडशी उस महामायी महाकालात्मक (किन्तु तत्संस्था–दृष्टि से यज्ञात्मक ही) महेश्वर का ही एकांशरूप है। अतएव वही मनःप्राणवाङ्मय-अव्ययाक्षरात्मक्षरसंस्थान इस विश्वेश्वर षोडशी में यथावत् समन्वित है समष्टिरूप से। इसी समष्टि की **स्वयम्भूः-परमेष्ठी-सूर्य्यः-चन्द्रमाः-भूः-**रूप पाँच व्यष्टियाँ हैं। फलतः उस समष्टि के आगे चल कर ये पाँच व्यष्टिविवर्त्त होजाते हैं उसी क्रमानुपात से, जिस क्रमानुपात का **'मनोता'** रूप से वेदशास्त्र में समन्वय हुआ है। पूर्व में जिन तीन समष्टि–व्यष्टि भावों का (१ समष्टि, २ व्यष्टियों का) दिग्दर्शन कराया गया है [देखिए पृ० सं० २६१ की तालिका], उस से प्रस्तुत दिग्दर्शन सर्वथा विभिन्न दृष्टिकोण से ही अनुप्राणित माना जायगा। उसी का मनोतानुबन्ध से दो शब्दों में अत्र संस्मरण कर लिया जाता है।

२७४- ब्रह्ममाया–विष्णुमाया- शिवमाया–त्रयी का तात्त्विक स्वरूप-परिचय—

स्वयम्भू से आरम्भ कर भूपिण्डपर्य्यन्त योगमायावच्छिन्न एक विश्व है। इस दृष्टि से एक योगमाया है। इसी दृष्टि से एक ही योगमायी षोडशी विश्वेश्वर उपभुक्त है इस एक योगमायी विश्व में, जिसके स्वयम्भू–परमेष्ठी का एकयुग्म मनोमय-अव्यय से, सूर्य्य प्राणमय अक्षर से, एवं चन्द्र–भूपिण्ड–युग्म वाङ्मय क्षर से समन्वित है। इसी दृष्टि से दो व्यष्टिरूप भी समन्वित हैं स्वयम्भू (अव्यय –परमेष्ठी (अक्षर)–क्षर) रूपेण, एवं मर्त्यसूर्य्य (अव्यय), चन्द्रमा (अक्षर), भूपिण्ड (क्षर) रूप से। अमृतसूर्य्य (क्षर) रूपेण, एवं मर्त्यसूर्य्य (अव्यय), चन्द्रमा (अक्षर), भूपिण्ड (क्षर) रूप से। इन पूर्वप्रदर्शित तीन विवर्त्तों के अतिरिक्त दूसरे मनोता–दृष्टिकोण से एक ही योगमाया–विवर्त्त के अक्षरप्रकृति के पाँच अक्षरों के अनुबन्ध से पाँच योगमाया-विवर्त्त सम्पन्न हो रहे हैं, जो पाँचों प्रकृतिपर्व, किंवा एक ही प्रकृति के पाँच पर्व अपना अपना स्वतन्त्र संस्थान रख रहे हैं अपने अपने **आत्मा–पदं–पुनःपदम्–रूप** मनोताभावों से। ये पाँचों योगमायाएँ हीं क्रमशः **ब्रह्ममाया** (**स्वायम्भुवी योगमाया**), **विष्णुमाया**[2] (**पारमेष्ठ्या योगमाया**), **इन्द्रमाया**[3] (**सौरी योगमाया**), **सोममाया**[4] (**चान्द्री योगमाया**), **अग्निमाया**[5] (**पार्थिवी योगमाया**), इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन्द्र–सोम–अग्नि–तीनों की समष्टि का नाम हीं त्रिनेत्र (सूर्य्य–चन्द्र–अग्निरूप त्रिनेत्र) मूर्त्ति शिव है। अतएव पुराणने इन्द्र–सोम–अग्नि (सूर्य्य-चन्द्र–पृथिवी)–इन तीनों मायाओं की समष्टि को **'शिवमाया'** नाम से व्यवहृत कर लिया है। वैदिक पञ्चाक्षरमूलक पञ्चदेवतावाद, किंवा पञ्चमायावाद * ही पौराणिक त्रिदेवतावाद, किंवा त्रिशक्तिवाद है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१–स्वायम्भुवी—ब्रह्ममाया—ब्रह्माणी (ब्रह्माक्षरः) }—ब्रह्ममाया (१)

२–पारमेष्ठ्या—विष्णुमाया–वैष्णवी (विष्णवक्षरः) }—विष्णुमाया (२)

***–पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः** (श्वेताश्वतर)

३–सौरी———-इन्द्रमाया--इन्द्राणी	(इन्द्राक्षरः)	}	—शिवमाया (३)
४–चान्द्री——-सोममाया—हैमवती उमा	(सोमाक्षरः)	}	
५–पार्थिवी——-अग्निमाया–रुद्राणी	(अग्न्यक्षरः)	}	

२७५–मायात्रयी से अनुप्राणित पञ्चपर्वा विश्व के मनोता-विवर्त्त, एवं–'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि' इत्यादि छान्दोग्यश्रुति का तात्त्विक समन्वय—

उक्त पाँचों विश्वपर्व (प्रत्येक) मनोतानुबन्ध से त्र्यात्मक बनते हुए मनःप्राणवाङ्मय हैं। अतएव प्रत्येक पर्व मनःप्राणवाङ्मय षोडशीप्रजापति की महिमा से समन्वित होता हुआ तपो--ज्येष्ठ--ब्रह्म--रूप बन रहा है। प्रत्येक का आधारकाल योजमायात्मक छन्द है। और इसप्रकार इन पाँच व्यष्टियों की दृष्टि से पाँच संस्थान बन रहे हैं तपो--ज्येष्ठ--ब्रह्म--भावों के। **'तिस्रो वै देवानां मनोताः। तासु हि तेषां मनांस्योतानि'** [ऐतरेयब्रा० २।१०] के अनुसार जिन प्राणात्मक तत्त्वों के आधार पर जिन पदार्थों के मनस्तन्त्र [मनः-प्राणवाक्तन्त्र] परस्पर समन्वित रहते हैं, जिनके माध्यम से ही तत्पदार्थ के मनोभाव स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होते हैं, उन मनःप्राणवाग्भावों के अभिव्यञ्जक तत्त्वों को ही **'मनोता'** कहा गया है। मन त्रिवृत् है, अतएव मनःप्राणवाङ्मय है। मनोता भी मनः--प्राण--वाग्--भेद से तीन ही होजाते हैं। तीनों मनोता क्रमशः मनः--प्राण--वाङ्मय--बनते हुए तपो--ज्येष्ठ--ब्रह्मात्मक बने हुए हैं। तीनों का आधार स्व स्व पर्वानुगत योगमायात्मक--योगमायावच्छिन्न मनःप्राणवाङ्मय पर्वेश्वर षोडशी ही बन रहा है, जो इन पाँचों प्राकृतभावों के अनुबन्ध से क्रमशः स्वायम्भुव–**सत्यात्मा षोडशी**, पारमेष्ठ्य **ऋतात्मा षोडशी**, सौर **दैवात्मा षोडशी**, (**इन्द्रात्मा षोडशी**), चान्द्र–**दैवयोन्यात्मा षोडशी**, पार्थिव **भूतात्मा षोडशी**, इन नामों से व्यवहृत किए जासकते हैं। प्रकृत में केवल तालिका के माध्यम से इन पञ्चव्यष्टिविवर्त्तों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है, जिनके रहस्यात्मक समन्वय के लिए तो छान्दोग्यश्रुति के इस रहस्यपूर्ण वचन का ही चिन्तन--मनन करना चाहिए—

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।
यस्तद्वेद, स वेद सर्वं, सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति॥

—छन्दोग्य-उपनिषत् २।२१।४।

अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्तिः–**'सत्यात्मा'**–उपेश्वरषोडशी ब्रह्ममायी–कालः–तत्र तपो–ज्येष्ठं ब्रह्म च समाहितम्

इत्यौजाः	१–वेदाः	स्वायम्भुवी मनोतात्रयी	मनः––तपः—अव्ययानुगतम्	(सत्यात्मा-अधिदैवतम्)	रेतोधाः
	२–सूत्रम्		प्राणः––ज्येष्ठम्–अक्षरानुगतम्	स्वयम्भूः –ब्रह्मा(१)	
	३–नियतिः		वाक्—ब्रह्म—आत्मक्षरानुगतम्	(अव्यक्तात्मा-अध्यात्मम्)	

अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्तिः–'ऋतात्मा'–उपेश्वरषोडशी–विष्णुमायी–कालः–तत्र तपो ज्येष्ठं ब्रह्म च समाहितम्

दीर्घवृत्तात्मकम्

दीर्घवृत्तात्मकम्	१–भृगुः	पारमेष्ठ्या मनोतात्रयी	मनः—तपः—अव्ययानुगतम्	(ऋतात्मा–अधिदैवतम्)	रेतोऽण्डमिदम्
	२–अङ्गिरा		प्राणः—ज्येष्ठम्–अक्षरानुगतम्	परमेष्ठी | विष्णुः (२)	
	३–अत्रिः		वाक्—ब्रह्म—आत्मक्षरानुगतम्	(महानामा–अध्यात्मम्)	

कालवृत्तमिदं–योगमायात्मकम्

अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्तिः–'देवात्मा'–उपेश्वरषोडशी–इन्द्रमायी–कालः–तत्र तपो ज्येष्ठं–ब्रह्म च समाहितम्

दीर्घवृत्तात्मकम्	१–वायुः	सौरी मनोतात्रयी	मनः—तपः—अव्ययानुगतम्	(दैवात्मा–अधिदैवतम्)	यशोऽण्डमिदम्
	२–ज्योतिः		प्राणः—ज्येष्ठम्–अक्षरानुगतम्	सूर्य्यः | इन्द्रः (३)	
	३–गौः		वाक्—ब्रह्म—आत्मक्षरानुगतम्	(विज्ञानात्मा–अध्यात्मम्)	

कालवृत्तमिदं–योगमायात्मकम्

अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्तिः–'देवयोन्यात्मा'–उपेश्वरषोडशी–सोममायी–कालः–तत्र तपो–ज्यष्ठं–ब्रह्म च–समाहितम्

दीर्घवृत्तात्मकम्	१–श्रद्धा	चान्द्री मनोतात्रयी	मनः–तपः–अव्ययानुगतम्	[देवयोन्यात्मा–अधिदैवतम्]	पोषाण्डमिदम्
	२–यशः		प्राणः–ज्येष्ठम्–अक्षरानुगतम्	चन्द्रमाः– | सोमः [४]	
	३–रैस		वाक्–ब्रह्म–आत्मक्षरानुगतम्	[प्रज्ञानात्मा–अध्यात्मम्]	

कालवृत्तमिदं–योगमायात्मकम्

अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्तिः–'भूतात्मा'–उपेश्वरषोडशी–अग्निमायी–कालः–तत्र तपो–ज्येष्ठं–ब्रह्म च समहितम्

दीर्घवृत्तात्मकम्	१–द्यौः	पार्थिवी मनोतात्रयी	मनः–तपः–अव्ययानुगतम्	भूतात्मा–अधिदैवतम्	अस्त्वाण्डमिदम्
	२–गौः		प्राणः–ज्येष्ठम्–अक्षरानुगतम्	भूपिण्डः | अग्निः [५]	
	३–वाक्		वाक्–ब्रह्म–आत्मक्षरानुगतम्	[शरीरम्–अध्यात्मम्]	

कालवृत्तमिदं–योगमायात्मकम्

२७६—अष्टम मन्त्रानुगत तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी-रूप-विभिन्न विवर्त्तों का संस्मरण—

मन्त्रानुगता तत्त्वमीमांसा उपरत हुई व्यष्ट्यात्मक–पञ्चपर्वा–मनोतात्रयीरूप–पाँच संस्थानविभागों के दिग्दर्शन के साथ। अब उस आचारमीमांसा की ओर कालप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है, जिस आचार का 'वर्त्तमानकालात्मक 'आगतकाल' से ही सम्बन्ध माना गया है, जब कि तत्त्वमीमांसा के मुख्य आधारबिन्दु अतीतात्मक भूतकाल, तथा अनागतात्मक भविष्यत्काल ही बने रहते हे। महामाया से आरम्भ कर पञ्चयोगमाया-विवर्त्तों में से सर्वान्त के भूपिण्डात्मक विवर्त्त पर्य्यन्त काल के, तथा तत्र प्रतिष्ठित तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म–भावों के जितनें भी विवर्त्त यथाक्रम–यथास्थान अबतक समन्वित हुए हैं, वे सभी कालविवर्त्त हमारी (मानव की) आचरणात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से तटस्थ–परोक्ष बने रहते हुए केवल ज्ञातव्य ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिनका मानव की आचारात्मिका–वर्त्तमानकालानुगता–कर्त्तव्यनिष्ठा में साक्षात्–रूप से कोई उपयोग नहीं है। अतएव इस वर्त्तमान–आचारपद्धति की अपेक्षा तो अबतक निरूपित सभी कालविवर्त्त भूतकाल, अथवा तो भविष्यत्काल में हीं अन्तर्भूत हो रहे हैं।

२७७-पञ्चविध उपेश्वरकाल, तदनुगता तपो-ब्रह्म-ज्येष्ठ-त्रयी, एवं तत्सम्बन्ध में आचारात्मिका जिज्ञासा—

बात थोड़ी सूक्ष्म है, अतएव अवधानपूर्वक समझने जैसी। महामायावच्छिन्न-महामायी-सहस्रवल्शाधिष्ठाता महेश्वर से सम्बन्ध रखने वाला **महेश्वरकाल**, पञ्चपुण्डीरा एकप्राजापत्यावल्शा के अध्यक्ष–समष्टि योगमायावच्छिन्न योगमायी-एकवल्शाधिष्ठाता-विश्वेश्वर से सम्बन्ध रखने वाला **विश्वेश्वरकाल**, तथा एकवल्शेश्वर के एक योगमायावृत्त में समाविष्ट ब्रह्ममायादि पाँच व्यष्टिमायात्मिका योगमायाओं से अवच्छिन्न-पञ्चधा विभक्त–उपेश्वरों से सम्बन्ध रखने वाले **स्वयम्भूकाल–परमेष्ठीकाल–सूर्य्यकाल–चन्द्रकाल–भूकाल**, ये पाँच **उपेश्वरकाल**, इनमें से कोई सा भी काल, एवं कालावच्छिन्ना तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-विभूतियाँ मानवीय ऐहिक-वर्त्तमान जीवन का साक्षात्रूप से कोई उपकार-अपकार नहीं कर रहीं। अतएव आचारात्मक कर्त्तव्य की दृष्टि से तो अबतक के सभी कालविवर्त्त, तथा तदवच्छिन्न कालिक विवर्त्त सर्वथा भूत-भविष्यत्-काल ही प्रमाणित हो रहे हैं। मानव के वर्त्तमान जीवन की तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि, और समृद्धि का तो एकमात्र **'आगतकालात्मक वर्त्तमानकाल'** से ही सम्बन्ध है। वर्त्तमानकालात्मक आगतकाल से ही अस्मदादि पार्थिव-प्रजाएँ-**'नन्दन्ति'**, जैसा कि पूर्व के-"**कालेन सर्वा नन्दन्ति-आगतेन प्रजा इमाः**" इत्यादि सातवें मन्त्रार्थ-समन्वय-प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। सत्यं चैतत्।

२७८-अहोरात्र-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-वर्ष-भेदभिन्न 'समय' नामक आचारात्मक काल की उपयोगिता के माध्यम से तत्त्वात्मक तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी-रूप काल के सम्बन्ध में उपयोगितावादी मानव के ऊहापोह—

सत्यं चैतत्। जिसे हम अपनी सहज-व्यवहारभाषा में **'समय'** कहा करते हैं, जिस समय का परिग्रहण हम **'वर्ष'** (बरस) रूप से करते रहते हैं, जिस वर्ष के उत्तरायण-दक्षिणायन नामक दो अयन पर्व, वसन्तादि षड्ऋतुपर्व, चैत्र-वैशाखादि द्वादश मासपर्व, शुक्ल-कृष्णादि २४ पक्षपर्व, ३६० अहः पर्व, ३६० ही

रात्रिपर्व,प्रत्येक अहोरात्र में २४-२४ होरापर्व, मूहूर्त्त-घटिका-क्षण-निमेष आदि आदि पर्वव्यवस्थित-प्रतिष्ठित हैं, जो इत्थंभूत कालिक पर्व ही तिथि-नक्षत्र-वार-दिक्-देश-प्रदेश-आदि आदि सहयोगियों से समन्वित होकर भारतीय आस्तिक-आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठों की सांस्कृतिक-आचारपद्धतियों का, संस्कृतिक-आयोजनों का, संस्कार-धर्म्म-व्रत-यज्ञ-आदि शास्त्रीय कर्त्तव्यनिष्ठाओं का, तथा समाज-राजनीति- आदि लोकाचारों का नियामक-व्यवस्थापक बनता रहता है, अनेकपर्वात्मक सुप्रसिद्ध 'समय' नामक यह वर्षात्मक 'काल' ही हमारे लिए 'वर्त्तमानकाल' है, यही 'आगतकाल' है, एवं इसका यथाकाल उपयोग करके ही हम सुसमृद्ध बने रहते हैं, बने रह सकते हैं। जो इस वर्षात्मक ऋतुकाल की उपेक्षा कर केवल अनन्त-आत्मा, अनन्तकाल की घोषणाओं में, तत्-तत्त्वमीमांसाओं की आचारशून्या-दार्शनिक-मीमांसाओं में ही निमग्न बने रहते हैं, आगत-काल से वञ्चित ऐसे तत्त्वमीमांसक ब्रह्मवादी दार्शनिक मानव, तथा कालातिक्रम करते रहने वाले कालभ्रान्त, अतएव दिग्-देश-भ्रान्त दीर्घसूत्री कालद्वेषी लौकिक मानव, दोनों हीं वर्ग उभयतोभ्रष्ट ही प्रमाणित हैं।

२७६–तत्त्वकालात्मिका स्वस्थता, एवं आचारकालात्मिका-प्रकृतिस्थता के माध्यम से ऊहापोहों की काल्पनिकता का निराकरण-प्रयास—

वार्षिक-आगतकाल से व्यवस्थिता, नियमिता कालिक व्यवस्था ही मानव के आचारधर्म्म को, इसकी आत्मिक-लौकिक-कर्त्तव्यनिष्ठाओं को सुव्यवस्थित बनाती है। इस कालिक-कर्त्तव्यव्यवस्था से ही मानव की कालात्मिका प्रकृति स्वस्वरूप से स्थित बनती है, जिस 'प्रकृतिस्थिति' को ही '**प्रकृतिस्थता**' कहा गया है। यही कालिकी प्रकृतिस्थता मानव को कालान्तर में अनन्तात्ममूला '**स्वस्थता**' प्रदान कर देती है। यों एक-मात्र इस सम्वत्सरकाल की उपासना से, सम्वत्सरकाल की सदुपयोगिता से ही मानव प्रकृतिस्थ बनता हुआ स्वस्थ प्रमाणित हो जाता है, एवं यही इसका जन्मसाफल्य है। कालातीता अनन्तता का एकमात्र माध्यम यह सम्वत्सर काल ही है। जो इस आगतकाल की उपासना नियमपूर्वक करता रहता है,दूसरे शब्दों में जो समय पर समय से समयमर्य्यादया पूर्ण लाभ उठता रहता है, निश्चयेन वह लोकसमृद्धि से तो सुसमन्वित हो ही जाता है। साथ ही वह इसी कालानुबन्धिनी शास्त्रीया आचारनिष्ठा से परम्परया अलौकिक-शान्ति का भी दायादभोक्ता बन जाता है।

२८०–आचारशून्या दार्शनिकता से मानव का अभिभव, एवं तन्निरोधार्थ तपो-ब्रह्म–त्रयी–रूप तत्त्वात्मक काल के आचारपक्ष का समन्वयोपक्रम—

ठीक इसके विपरीत केवल अनन्तात्मचर्व्वणामें व्यामुग्ध बने रहने वाला जो दार्शनिक इस वर्त्तमान-कालात्मक सम्वत्सरकाल की, तद्रूप शास्त्रीय-वर्णाश्रमाचारसिद्ध स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्म की अवहेलना कर बैठता है, वैसा आचारशून्य-कर्म्मशून्य * दार्शनिक मानव, तथा सर्वसमृद्धिमूलभूत सम्वत्सरकाल को निद्रा तन्द्रा-भय-क्रोध-आलस्य-दीर्घसूत्रता-कलह-ईर्य्या-द्वेष-मान-मद-मोह-पिशुनता-आदि अविद्याभावों में ग्रहग्रस्त रहता हुआ उपेक्षित मानता रहता है, वैसा अकर्म्मण्य-भाग्यहीन-कर्म्महीन-भग्नकपाली (करमफूटा)

* राजस्थानी भाषा के अनुसार '**करमफूटा**'–'**हियाफूटा**' (कर्म्मशून्य, हृदयानुगत प्रेरणाबल से वञ्चित)।

प्राकृत मानव, दोनों ही मानवश्रेणियाँ अनन्तकालात्मिका महाप्रलयरूपा महाविनष्टि के ही समादरणीय, एवं सुसम्मानित अतिथि बन जाते हैं। अतएव केवल तत्त्वमीमांसात्मक महामायात्मक महाकाल से आरम्भ कर भूकालपर्य्यन्त के भूत-भविष्यल्लक्षण सभी कालविवर्त्त, तथा कालिक विवर्त्त हमारी कर्त्तव्यनिष्ठा की दृष्टि से तो केवल दूरतः प्रणम्य ही बने रहेंगे, बने ही रहते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि, हम अपने व्यावहारिक-उपयोगी सम्वत्सरकाल के माध्यम से ही व्यावहारिक ही, आचारात्मक ही काले प्रतिष्ठित-समाहित तपः-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भावों की उपासना में हीं प्रवृत्त रहें। इसी दृष्टि से दो शब्दों में काल के, तथा कालप्रतिष्ठित-समाहित तपोज्येष्ठब्रह्म--विभूतियों के व्यावहारिक-आचारात्मक स्वरूप का भी प्रासङ्गिक दिग्दर्शन अत्र उपस्थित कर दिया जाता है।

२८१–समदर्शनमूलक ऐकात्म्यवाद-सिद्धान्त, एवं तदाधार पर प्रतिष्ठित परमेश्वर-महेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर इन पाँच विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

परमेश्वर-महेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर–, ये पाँचों हीं शब्द आस्तिक जगत् में सुप्रसिद्ध हैं। एवं समदर्शनमूलक ऐकात्म्यवादसिद्धान्त की दृष्टि से ये सभी शब्द परस्पर एक दूसरे के पर्य्याय भी माने जा सकते है, माने गए हैं। किन्तु प्रकृतिमूलक-नानाभेदभिन्न-विभिन्न-वर्त्तन (व्यवहार-आचरण-कर्त्तव्य) की दृष्टि से परमेश्वर-महेश्वरादि किसी भी शब्द को किसी का भी पर्य्याय नहीं माना जा सकता। अपितु सभी शब्द स्व-स्व--प्राकृतिकी--परिभाषाओं के भेद से सर्वथा विभिन्न--विभिन्न भावों के वाच्यार्थों के ही वाचक बने हुए हैं। सर्वबलविशिष्ट रसैकघन--मायातीत--विश्वातीत--वाङ्मनस-पथातीत-लोकातीत-सर्वातीत तत्त्व का नाम ही **'परमेश्वर'** है, जिसकी न उपासना होती, न ज्ञान होता। फिर कर्म्म की तो चर्चा ही व्यर्थ है तत्सम्बन्ध में। सहस्रवल्शाधिष्ठाता-अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति-अमृतं-ब्रह्म-शुक्र-समष्टिरूप-सहस्रविश्वाधिष्ठाता-अश्वत्थवृक्षात्मा-महामायावच्छिन्न-महामायी तत्त्व ही **'महेश्वर'** है। इस महेश्वर के एक सहस्र विश्वों में से पञ्चपर्वा केवल एक विश्व के अवारपारीण अध्यक्ष, **'विश्वकर्म्मा–भौवन'** इस पारिभाषिक नाम से प्रसिद्ध, अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति-वल्शेश्वरात्मक-एकशाखात्मक-योगयायावच्छिन्न-योगमायी तत्त्व ही-**'विश्वेश्वर'** है। इस योगमायी-एकवल्शेश्वर-विश्वेश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित शाखात्मक एक विश्व के पाँच पुण्डीर (पोर–पर्व) भेद से पञ्चधा विभक्त-पञ्चब्रह्मपुरों के भेद से पञ्चविवर्त्तात्मक-व्यष्टिरूपा पाँच योगमायाओं से सीमित, अव्ययाक्षरात्मक क्षरमूर्ति, व्यष्टियोगमायावच्छिन्न, उस एकवल्शेश्वर से सन्निहित रहने से–'उप' (समीप) उपाधि से समलङ्कृत, क्रमशः **सत्यात्मा–ऋतात्मा–दैवात्मा-देवयोन्यात्मा–भूतात्मा**–इन नामों से अधिदैवत में प्रसिद्ध, तथा **अव्यक्तात्मा-महानात्मा-विज्ञानात्मा-(बुद्धि)–प्रज्ञानात्मा (मन)-शरीर**-इन नामों से अध्यात्म में सुप्रसिद्ध तत्त्व ही **'उपेश्वर'** है। परमेश्वर से आरम्भ कर पञ्चोपेश्वरविवत्त के सर्वान्त के 'भू' रूप उपेश्वर विवर्त्तान्त के कालविवर्त्तों का ही अबतक के संस्था-विभागों से समन्वय हुआ है। दूसरे शब्दों में-कालातीत परमेश्वर के आधार पर प्रतिष्ठित-महाकालात्मक-महामायी **महेश्वरकाल,** योगमायी **विश्वेश्वरकाल,** एवं पुण्डीरयोगमायी-**पञ्चोपेश्वरकाल,** इन तीन हीं भूत-भविष्यलक्षण कालविवर्त्तों का यशोगान हुआ है अबतक। अब केवल 'ईश्वर' नामक एक कालविवर्त्त ही शेष रह जाता है, जिसके अनन्तर ही जीवात्मक प्रजासर्ग उपक्रान्त हो जाता है, एवं जिस जीवाधारभूत उस पारिभाषिक ईश्वरकालात्मक वर्त्तमानकाल की दृष्टि से अबतक-**'काले तपः-काले ज्येष्ठं-काले ब्रह्म-समाहितम्'** इत्यादि मन्त्र का समन्वय नहीं हो पाया है। तदेव-श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

२८२–'त्रिः सत्या वै देवाः' मूलक आत्मसत्य--ब्रह्मसत्य–देवसत्य, तदनुबन्धी पुरुषसत्य–प्रकृतिसत्य--विकृतिसत्य, एवं 'सत्यस्य सत्यम्' रूप तुरीयब्रह्म—

वेदशास्त्र का एक प्रसिद्ध अनुगम है--'त्रिः **सत्या वै देवाः**', जिसका अक्षरार्थ है **'देवता तीन सत्य भावों से समन्वित रहा करते हैं'**। अनुगमभावानुबन्धी ये तीन सत्य अनेक (असंख्य) भावों में विभक्त हैं, जिनमें से प्रकृत में सर्वमूलभूत एक त्रिःसत्यविवर्त्त की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है प्रस्तुत कालमीमांसा--प्रसङ्ग में। **'आत्मसत्य--ब्रह्मसत्य--देवसत्य'** भेद से प्राजापत्य सत्य तीन विवर्त्त-भावों में परिणत हो रहा है, जिसे क्रमशः **पुरुषसत्य--प्रकृतिसत्य--विकृतिसत्य**--इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। पूर्वोक्त **परमेश्वर--महेश्वर–विश्वेश्वर--उपेश्वर--ईश्वर**--इन पाँचों विवर्त्तों को लक्ष्य बना कर इन तीनों सत्यों का समन्वय कीजिए। विश्वातीत परात्पर परमेश्वर सर्वातीत बनता हुआ सापेक्षा त्रित्व-मर्य्यादा से भी सर्वथैव असंस्पृष्ट है। अतएव उसे **'तुरीयब्रह्म'** ही कहा गया है। वह मायातीत--कालातीत--दिक्कालाद्यनवच्छिन्न-परमेश्वर क्योंकि इन सापेक्ष तीनों सत्यों का भी तटस्थ मूलाधार है। अतएव केवल समझने के लिए उस **'अनाम'** का भी नाम रख लिया जाता है–**'सत्यस्य सत्यम्** *'। अतएव त्रिसत्यसीमा से उस सत्यस्य सत्यमूर्त्ति कालातीत परात्पर परमेश्वर को तो हम पृथक् कर देते हैं। अब शेष रह जाते हैं--**'महेश्वर, विश्वेश्वर, उपेश्वर, ईश्वर'** नामक चार विवर्त्त। इनमें महेश्वर, तथा विश्वेश्वर, इन दोनों की समष्टि का नाम है-- **'आत्मसत्य'**, एवं पञ्चोपेश्वरात्मक उपेश्वर का नाम है **'ब्रह्मसत्य'**, एवं शेषभूत 'ईश्वर' का ही नाम है-**'देवसत्य'**। यदि परात्पर परमेश्वर अविज्ञेय होने से ज्ञानकर्म्मोपासना से अतीत है, तो-महेश्वर-विश्वेश्वरात्मक आत्मसत्य भी अपनी दुर्विज्ञेयता से अविज्ञेयवत् ही प्रमाणित होता हुआ ज्ञानकर्म्मोपास्तित्रयी से तटस्थवत् ही माना जायगा।

२८३–देवसत्यात्मक 'ईश्वर' विवर्त्त का कालिक-कर्त्तव्यनिष्ठाधारत्त्व—

अधिक से अधिक इस दुर्विज्ञेय के सम्बन्ध में तत्त्वमीमांसामात्र ही सम्भव बन सकेगी। आचारात्मक ज्ञान-कर्म्म-उपासना--काण्ड तो तटस्थ ही बने रहेंगे यहाँ भी परात्पर परमेश्वरवत्। दूसरा विवर्त्त है-ब्रह्मसत्यात्मक उपेश्वर का। अवश्य ही आत्मसत्यापेक्षया ब्रह्मसत्यात्मक उपेश्वर विवर्त्त विज्ञेय है। किन्तु इसकी विज्ञेयता भी केवल 'विज्ञेयता' पर ही परिसमाप्त है। भूतरूपा विकृति को मध्यस्थ बनाए बिना क्योंकि कर्त्तव्यात्मक ज्ञानकर्म्मोपास्ति-भावों का अनुगमन असम्भव है। इस विकृतिरूप भूत में क्योंकि यह विज्ञेय भी उपेश्वर तटस्थ है। अतएव इसे भी आत्मसत्यवत् ज्ञानकर्म्मोपासनात्मिका आचारनिष्ठा (कर्त्तव्यनिष्ठा) से पृथक् ही मान लिया जायगा। और अब शेष रह जायगी ईश्वरशरणागति, जिस 'ईश्वर' का नाम ही **'देवसत्य'** नामक तृतीय सत्य है, जिस के गर्भ में ब्रह्मसत्यानुगत आत्मसत्य भी सुप्रतिष्ठित है। यही देवसत्यात्मक 'ईश्वर' विवर्त्त हमारी कालिक--कर्त्तव्यनिष्टाओं का एकमात्र अवलम्ब है।

*** सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते–तत्र देवाः सर्व एकीभवन्ति।**

उपनिषत्॥

२८४–परात्परादि-उपेश्वरान्त प्रजापति विवर्त्त, एवं ईश्वरविवर्त्त के सम्बन्ध में जिज्ञासा–

कालातीत परात्पर से भारतीय तत्त्ववाद उपक्रान्त होता है, एवं पञ्च उपेश्वरों के सर्वान्त के भूपिण्ड नामक पाँचवें उपेश्वर पर वह तत्त्ववाद उपसंहृत होता * है। स्वयं परात्पर **परमेश्वर** विवर्त्त है, तदभिन्न महामायावच्छिन्न षोडशीप्रजापति **महेश्वरविवर्त्त** है, तदभिन्न योगमायावच्छिन्न एकवल्शेश्वराधिष्ठाता षोडशीप्रजापति **विश्वेश्वरविवर्त्त** है। तदाधारेण प्रतिष्ठित–व्यक्त **स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड**–नामक पाँचों उपेश्वरों की समष्टि **उपेश्वरविवर्त्त** है, जिसके पाँचवें 'भूपिण्ड' नामक उपेश्वर पर्व पर परात्परोपक्रान्ता सृष्टिधारा उपसंहृत है। नातोऽन्यत्किञ्चिदस्ति। इन चार विवर्त्तों के अतिरिक्त अत्र कोई पांचवाँ विवर्त्त शेष प्रतीत नहीं हो रहा इस सृष्टिस्वरूपमीमांसा की दृष्टि से। फिर **'ईश्वर'** नामक देवसत्यरूप पाँचवाँ विवर्त्त कहाँ से, कैसे, क्यों आ गया ?, यह प्रश्न मादृश स्थूलमति-मानवों के लिए तो एक असमाधेय प्रश्न ही प्रमाणित हो रहा है। अवारपारीण–सर्वत्र ढूँढने पर भी 'परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर' रूप परात्परादि भूपिण्डान्त ब्रह्मविवर्त्त से अतिरिक्त पाँचवाँ 'ईश्वर' अनुपलब्ध है प्राकृत दृष्टि के लिए। अतएव कहा, और माना जासकता है कि, **'पाँचवां 'ईश्वर' नामक विवर्त्त तो हमें ढूँढने से भी यहाँ नहीं मिल रहा"**। यदि सचमुच **नावेदीत्, तो महती विनष्टिः**।

२८५–पञ्चपर्वात्मक कालमहिमामण्डल में ही ईश्वरविवर्त्त के स्वरूपान्वेषण का प्रयास, एवं तत्सफलता से ही मानव–स्वरूप की सम्भूति—

कैसे आत्मत्राण करें इस महती विनष्टि से ?, समस्या का एकमात्र निदान है–**'इह चेदवेदीत्–अथ सत्यमस्ति'**। परन्तु कहाँ ?। कहाँ ढूँढें उसे ?। उत्तर वही सर्वान्त का उपेश्वरात्मक भौतिक भूपिण्ड होगा, उसके व्यष्ट्यात्मक भूत भौतिक पदार्थ होगें। इस भूतपिण्ड को, इसके व्यष्ट्यात्मक भूतों को माध्यम बना कर ही हम उस गुहानिहित, देवसत्यमूर्त्ति, जीवसर्ग के सर्वस्वभूत 'ईश्वर' नाम के पाँचवें विवर्त्त को ढूँढ निकालनें में सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो सफलता प्राप्त कर ही लेंगे। मर्त्य भूतपिण्ड ही हमें तदनुगत अमृत ईश्वर के दर्शन करादेंगे, निश्चयेन करादेंगे। यदि हम भूत पर भूतरूप से ही परिसमाप्त होगए, भूत के प्रत्यक्षदृष्ट–मर्त्य–क्षरभाव पर ही हमने विश्राम कर लिया, तो इस भूतपुर में प्रतिष्ठित देवभावात्मक अमृते-

* दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार चन्द्रमा का स्थान भूपिण्ड से ऊपर माना गया है। इसी दृष्टि से भूपिण्ड को पाँचवाँ पर्व (अन्तिम–समाप्ति–पर्व) मान लिया गया है। किन्तु, सृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार चन्द्रमा का स्थान भूपिण्ड के अन्त में हीं आता है। इस दृष्टि से (सृष्टिक्रम से) भूपिण्ड का चौथा स्थान, तथा चन्द्रमा का पाँचवाँ अन्तिम स्थान आता है। इस अन्तिम स्थान की अपेक्षा से ही चान्द्रसाम **'निधनसाम'** (अवसानात्मक अन्तिमसाम) कहलाया है। अतएव जैसे प्रथम पर्व के ब्रह्मा **'स्वयम्भू'** नाम से, द्वितीय पर्व के ब्रह्मा **'परमेष्ठी'** नाम से, तृतीय सूर्य्यपर्व के ब्रह्मा **'हिरण्यगर्भ'** नाम से, चतुर्थ पिण्ड के ब्रह्मा **'पद्मभू'** नाम से व्यवहृत हुए है, वैसे पञ्चम चन्द्रपर्व के ब्रह्मा **'निधन'** कहलाए हैं। सृष्टिक्रमानुसार सचमुच चन्द्रमा पर सृष्टिधारा का अवसान है। तभी तो चन्दमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। प्रकृत में हमने सृष्टिक्रम न मानकर दृष्टिक्रम की अपेक्षा से ही चन्द्रमा को चतुर्थ स्थानीय, एवं तदपेक्षया भूपिण्ड को सृष्टि का अन्तिम स्थान बतला दिया है।

श्वेर के सम्पर्क से असंस्पृष्ट रहते हुए स्वयं भी केवल जड़भूत ही बने रह जायँगे। और अपने सम्पूर्ण आत्माभिव्यक्तित्व को यों भूत पर ही परिसमाप्त कर बैठना तो मानव की 'जीवित–मृत्यु' ही कहलाएगी, जिस से परित्राण का उपाय बतलाते हुए ही श्रुतिने कहा है—

इह चेदवेदीत्--अथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीत्--महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

—केनोपनिषत् १।१३।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्॥

—उपनिषत्

२८६–'राई के ओट पहाड़' लोकसूक्ति का रहस्यात्मक समन्वय, एवं तन्माध्यम से ईश्वरस्वरूप-साक्षात्कारसाफल्य—

हाँ, तो अब आपको मानव के जीवभाव के सर्वस्वभूत उस 'ईश्वर' को इन्हीं भूतों में से ढूँढ निकाल लेना है, जो स्थूलदृष्ट्या, किंवा धारावाहिकी सृष्टिपरम्परा की दृष्टि से अभीतक अश्रुत–अदृष्ट ही बना हुआ है। उस 'ईश्वर' को खोज निकाल लेना है, जो जीव का निग्रह भी कर सकता है, एवं जीव पर अनुग्रह भी कर सकता है, जबकि परमेश्वरादि-उपेश्वरान्त ब्रह्मविवर्त्त निग्रहानुग्रह-भावों से सर्वथा ही तटस्थ बने रहते हैं। उस–'ईश्वर' का जीव को अन्वेषण कर ही लेना है, जिसका अनुध्यान करता हुआ जीव अपने ज्ञानात्मक आचरण (ज्ञानयोग) से अपनी ज्ञानमात्रा को 'वर्चतेजोमयी' बना सकता है, अपने उपासनात्मक आचरण (भक्तियोग) से अपनी प्राणमात्रा को 'भ्राजतेजोमयी' बना सकता है, एवं अपने कर्म्मात्मक आचरण से अपनी भूतमात्रा को 'सुम्नानुगत द्युम्नतेजोमयी' बना सकता है। अवश्य ही उस ईश्वर के साथ जीव को अविलम्ब सान्निध्य प्राप्त कर ही लेना है, जिसके सान्निध्य से जीव का बुद्धिविवर्त्त तपोमय बन जाता है, मनोविवर्त्त ज्येष्ठभावापन्न (महान्) बन जाता है, एवं शरीरविवर्त्त ब्रह्मभावापन्न (प्रजननशक्तियुत) बन जाता है। अनिवार्य्यरूपेण अपने सयुक्सखा उस ईश्वर का सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो बोध प्राप्त कर ही लेना है जीव को, जिसकी शक्तित्रयी के अनुग्रहात्मक प्रवाह से जीव की ज्ञान–क्रिया–अर्थ--शक्तियाँ सशक्त बनतीं हुई सुव्यवस्थित हो जातीं है। और 'राई के ओट पहाड़' सूक्ति को चरितार्थ करने वाला तथाविध ईश्वर है वह 'सम्वत्सरकाल', जिसका प्रस्तुत कालसूक्त में आरम्भ से ही अनेक दृष्टियों से यशोगान किया जा रहा है। वह सम्वत्सरकाल ही जीव का भाग्यविधाता, जीव के लिए कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ वह ईश्वर है, जो अपनी साम्वत्सरिकी ईशनियों * से जीव का शास्ता बनता हुआ सम्पूर्ण भूतविवर्त्त का वहन कर रहा

*** स एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।**
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

—श्वे० उप० ३।१

है, जैसाकि--'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मि:' इत्यादि प्रारम्भ के प्रतिज्ञासूत्र से ही प्रमाणित है। और यहीं पुनः बात कुछ सोचने--समझने जैसी उपस्थित हो पड़ी है।

२८७-सम्वत्सरकालात्मक--'समय', एवं तदनुबन्धी ईश्वर--स्वरूप का दिग्दर्शन—

सत्ता, और भाति-रूप से कालात्मक सम्वत्सर के दो विवर्त्त प्रसिद्ध हैं। दोनों भात्या जहाँ दो हैं, वहाँ सत्तया दोनों एक हीं हैं। 'यदि स्यात्--उपलभ्येत'--'अस्तीत्येवोपलब्धव्य:' इत्यादि के अनुसार जो 'है,' वही तो उपलब्ध होता है, प्राप्त होता है। प्रतीति ही तो प्राप्ति की परिचायिका है। प्रतीति का नाम हीं तो 'भाति' (भान) है, जो कि 'अस्ति' रूपा सत्ता का ही व्यक्तरूप है। जो होगा, रहेगा, है, रहता है, विद्यमान है, उसी की तो प्रतीति होती है। सूर्य्य--चन्द्रमा--भूः--ग्रह--नक्षत्रादि 'हैं,' सत्तासिद्ध पदार्थ हैं, तभी तो ये उपलब्ध हो रहे हैं। अतएव कहा जायगा, और माना जायगा कि, सत्ता ही उपलब्ध होकर 'भाति' कहलाने लगती है। अव्यक्ता सत्ता का व्यक्तरूप ही 'भाति' है। अतएव सत्तात्मक काल की अभिव्यक्ति का नाम हीं भात्यात्मक काल है। जिसे हम 'समय' कहते हैं, जिस के प्रातः--मध्याह्न--सायं--रात्रि--दिन--मास--अयन--पक्ष--वर्ष--युग--आदि--आदि--भेद माने जारहे हैं, जो आज--कल--परसों--आदि व्यवहारों से अभिनीयमान है, इन सब प्रतीतिभावों का नाम ही भातिसिद्ध काल है, जो एतन्नामक ही किसी सत्तासिद्ध कालतत्त्व की ही व्यक्ता अभिव्यक्तियाँ हैं। 'वर्ष' नामक सत्तासिद्ध काल का भोगकाल ही भातिसिद्ध वर्ष है। एवमेव अयन--ऋतु--मास--पक्ष--अहोरात्र--आदि नामक सत्तासिद्ध पदार्थों का भोगकालात्मक, अतएव एतन्नामों से से ही लोकव्यवहार में प्रसिद्ध 'समय' ही भातिसिद्ध काल है। गणनानुगत काल ही भातिसिद्धकाल है, एवं जिन सत्तासिद्ध पदार्थों का गणन--संख्यान-- होता है, वे सत्तासिद्ध पदार्थ ही सत्तासिद्ध काल हैं। 'काल है', यही सत्तासिद्धकाल का स्वरूप--परिचय है। 'काल की समय रूप से प्रतीति हो रही है'--यही भातिसिद्ध काल का स्वरूप-परिचय है। और दोनों विवर्तों की समष्टि का नाम हीं है--'सम्वत्सरकाल', एवं इसी का नाम है--पारिभाषिक 'ईश्वर'।

२८८-ईश्वर के मूलभाव के सम्बन्ध में एक धृष्टतापूर्ण प्रश्न, एवं द्रोणकलशानुगत उख्य-कलश का माङ्गलिक--संस्मरण—

एक धृष्टतापूर्ण प्रश्न। चान्द्र सम्वत्सरकालावधि में (दशमासात्मक चान्द्रकाल में) होने वाली अग्नि--चिति से स्व भौतिक-पिण्ड का स्वरूप सम्पन्न करने वाला कर्म्मफलभोक्ता औपपातिक जीवात्मा पूर्णगर्भ सम्पन्नानन्तर भूमिष्ठ बनता है, और यही मानव की उत्पत्ति,--जन्म कहलाया है। इस जन्मजात शिशु का ही नाम 'जीव' है, जिस का इत्थंभूत स्वरूप इस के माता पिता के दाम्पत्य से ही निष्पन्न हुआ है। पिता के शुक्र, तथा माता के शोणित-रूप वीर्य्य-रजोभावों के दाम्पत्य से ही गर्भ के द्वारा मानवजीव व्यक्त हुआ है भूतल पर। मानवजीव ही क्या, भूतल के जीवमात्र रयिः--प्राणात्मक--मातृ--पितृरूप दाम्पत्यभाव के आधार पर ही अभिव्यक्त हुए हैं। लोकभाषानुसार--प्रत्येक जीव की कोई न कोई 'मा' भी अवश्य है, और 'बाप' भी अवश्य है। धृष्टता के लिए पुनः पुनः--क्षमा-याञ्चा--ईश्वर भी तो उस महामायी महेश्वर के समतुलन में एक 'जीव' ही तो है, व्यक्त होने वाला वस्तुभाव ही तो है जीववत्। तो क्या 'ईश्वर' रूप इस 'महान् जीव' के सम्बन्ध में इस के 'माता--पिता' के स्वरूप--परिज्ञान की जिज्ञासा नहीं की जासकती ? । यदि हमारा मन उपासनाकाण्डानुगत

है, तो ऐसे प्रश्न का संस्मरण भी अक्षम्य अपराध है। किन्तु विज्ञानकाण्डानुगत उसी मन के लिए अवश्य ही ऐसे प्रश्न करने का सहज उत्तरदायित्व सुलभ ही मान लिया जायगा। **'जीवमात्र के मातृपितृ-स्थानीय ईश्वर के माता--पिता--कौन ?'** प्रश्न का उपासनात्मक उत्तर होगा--**'यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं, कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति'** यह । एवं इसी प्रश्न का वैज्ञानिक उत्तर होगा············ । ठहरिए। हमारे जैसा प्राकृत जीव कदापि अब इस से अधिक धृष्टता नहीं कर सकता 'ईश्वर' के मूलभाव के सम्बन्ध में। अतएव माङ्गलिक **'द्रोणकलशानुगत उख्यकलश** का संस्मरणमात्र कर के ही इस अक्षम्य-धृष्टता-प्रसङ्ग को उपरत किया जा रहा है।

२८९–पुण्डीरविद्यानुगता रोदसीत्रिलोकी, तदनुगता कूर्म्मत्रिलोकी, तदनुगत द्यावापृथिव्य दामपत्यभाव, एवं ईश्वर के मातृपितृयुग्म का माङ्गलिक–संस्मरण--

'पूर्णः कुम्भोऽधि काले–आहितः' इत्यादि तृतीय-मन्त्रार्थ-समन्वय-प्रकारण में हमने **द्रोणकलशात्मक सौम्यकलश** को गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले जिस **उख्यकलशात्मक आग्नेय कलश** का दिग्दर्शन कराया था, उसी का माङ्गलिक स्मरण कर लीजिए। अवश्य ही ईश्वरानुगता तज्जिज्ञासा स्वतः एव उपशान्त हो जायगी। **'कश्यपप्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध 'कूर्म्म' का ही नाम द्रोणानुगत उख्यकलश है, यही पूर्ण–कुम्भ है, जो अव्यक्तकालात्मक पारमेष्ठ्यकाल में आहित, समाहित है। इस कूर्म्म का स्वरूप भी तत्रैव तृतीय प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, जिस का निष्कषार्थ है**--सौरमण्डल'**। वह सौरमण्डल, जिस में सूर्य्यरूपा द्यौः, चन्द्ररूप अन्तरिक्ष, तथा भूपिण्डरूपा पृथिवी' ये तीन लोक प्रतिष्ठित हैं, जो कि सौरलोकत्रयी **'रोदसी-त्रिलोकी'-'कूर्म्मत्रिलोकी'–'उख्यत्रिलोकी'** आदि नामों से प्रसिद्ध है। पुण्डीरविद्यापेक्षया यों कहा जा सकता है कि, स्वयम्भूरादि भूपिण्डान्त पाँच उपेश्वरभावों में तृतीय--चतुर्थ--पञ्चम--स्थानीय सूर्य्य--चन्द्र--भूपिण्ड–नामक तीन उपेश्वरों की समष्टि का नाम हीं कूर्म्मत्रिलोकी है, यही पूर्णकुम्भात्मक 'कश्यपप्रजापति' है, जिस का प्रधान आधारस्तम्भ माना गया है सूर्य्य। अतएव इसे सौरत्रिलोकी कहना अन्वर्थ बन रहा है। सूर्य्य--रूपा द्यौः ही इस कूर्म्म का पितृभाव है, भूपिण्डरूपा पृथिवी ही इस कूर्म्म का मातृभाव है, एवं द्यौः--तथा पृथिवी (सूर्य्य, तथा भूपिण्ड) दोनों का मध्यस्थ चान्द्र अन्तरिक्ष ही **'आ'** भाव है, यही 'द्यावापृथिवी' रूप कूर्म्म का स्वरूप--परिचय है। **'द्यौष्पित.--पृथिविमातः'** इत्यादि मन्त्र इसी कूर्म्मत्रिलोकीरूप दाम्पत्य की ओर सङ्केत कर रहा है। और यही मातृपितृरूप (पृथिविसूर्य्यरूप) कूर्म्म (सौरसंस्थान) हमारे पारिभाषिक 'ईश्वर' के माता–पिता हैं। **ईश्वर का पिता है सूर्य्य, माता है भूपिण्ड**। सूर्य्य, एवं भूपिण्ड के दाम्पत्य से विस्रस्त कूर्म्मप्रजापतिरूप दाम्पत्य (शुक्र--शोणित) से ही 'ईश्वर' गर्भरूप में परिणत हुआ है। उसी कालिक--वार्षिक अवधि के अनन्तर वह गर्भस्थ ईश्वर जीववत्--अभिव्यक्त हुआ है। और इसी को हमने यहाँ सत्ता–भात्यात्मक–**'सम्वत्सरकाल'** कहा है। और यही है 'ईश्वर' के मूलभावों का माङ्गलिक–संस्मरणेतिवृत्त।

२६०- सत्तासिद्ध सम्वत्सरकाल से भातिसिद्ध वर्षात्मक 'समय' का आभिर्व, एवं सम्वत्सर-कालात्मक 'ईश्वर' का स्वरूप--समन्वय—

सूर्य्य को केन्द्र बना कर भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर घूमने लगा, घूम रहा है आज भी, जिस परि-- भ्रममाण भूपिण्ड के चारों ओर चन्द्रमा भी अपने दक्षवृत्त पर घूम रहा है * । इस परिभ्रमण से सौर सावित्राग्नितेज, तथा पार्थिव गायत्राग्नितेज, दोनों स्व स्व पिण्डों से विस्रस्त--स्खलित--च्युत--होकर दोनों पिण्डों के मध्याकाश में अपना स्वतन्त्र संस्थान--बना लेते हैं, जिस इस स्वतन्त्र संस्थान का नाम ही है--सत्ता--सिद्ध 'सम्वत्सरकाल', जिस की आगे चल कर 'समय' नामक भातिसिद्ध संवत्सरकालरूप में अभिव्यक्ति होती है । थोड़ा और ठहरिए । जीवसर्ग की सृष्टिप्रक्रिमा को विस्मृत न कीजिए । माता का प्रवृक्त शोणित (रज), तथा पिता का विस्रस्त शुक्र (वीर्य्य) क्या स्वतन्त्राकाश में सञ्चित हो कर जीवगर्भरूप में परिणत होता है ? । नेति होवाच । अपितु पिता का विस्रस्त शुक्र माता के गर्भाशयाकाश में हीं सिक्त होता है, एवं मातृसीमा-में हीं पिता के इस प्रवर्ग्यभूत सिक्त रेत, तथा माता के विस्रस्त रज के सम्मिश्रण से (मातृगर्भाकाश में हीं) गर्भचिति होती है, जो सम्वत्सरानन्तर व्यक्त हो कर भूमिष्ठ बना करती है । ठीक यही क्रम वहाँ समझिए । माता है पृथिवी, पिता है सूर्य्य । सौर सावित्राग्नितेज शुक्र है, पार्थिव गायत्राग्नितेज शोणित है । शोणितरूप गायत्रतेज माता पृथिवी के गर्भाशयाकाश में हीं रहता है , इसी में सौर प्रवर्ग्य शुक्रतेज आहुत होता है । मातृगर्भाकाशरूप पार्थिव मण्डल मे ही सौर पार्थिव--दोनों तेजों की चिति होती है । और इसी गर्भाशय में सम्वत्सरकालपुरुषात्मक 'ईश्वर' जन्म लेते हैं जीवजन्मक्रमवत् । इसी पार्थिवगर्भ को कहा गया है 'सम्व-त्सरकालात्मक-ईश्वर' ।

२६१--मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, एवं 'पितुर्म्माता गरीयसी' मूला मातृशरणागति के द्वारा तत्पुत्र ईश्वर--स्वरूप--समन्वय में साफल्य—

क्या स्थिति का सर्वात्मना समन्वय हो गया ? । अभी नहीं । तो फिर अब आप को 'मातृदेवो भव' इस आदेश का ही अनुगमन करना पड़ेगा । 'पितृदेवो भव' की अपेक्षा 'मातृदेवो-भव' का इसीलिए तो विशेष महत्त्व माना है भारतीय ऋषिप्रज्ञाने । 'पितुर्म्माता गरीयसी' ही यहाँ का आराध्य मन्त्र है । जिस माता के गर्भ में सौर--पार्थिव--तेजोभावों के सम्मिश्रण से (यागात्मक अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से) ईश्वर गर्भावस्था में आया है, गर्भावस्था में आकर व्यक्तरूप से जन्म लेकर भी जो ईश्वर उस मातृगर्भाकाश में हीं प्रतिष्ठित रहता है यावच्चन्द्रदिवाकरौ, उस मातृशक्ति का स्वरूप ही अब हमें ईश्वरात्मक सम्वत्सरकाल के, किंवा सम्व--त्सरकालात्मक ईश्वर के स्वरूप के दर्शन कराएगा, निश्चयेन कराएगा । मा को ही आपं समझना पड़ेगा,

---

* सोमः (चन्द्रमाः)--पूषा च (पृथिवी च) चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता । (सामसंहिता पू० २।२।) ।
कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को विवेद ।
विश्वं त्मना बिभ्रतो यद्ध नाम विवर्त्तेते अहनी चक्रियेव । (ऋक्संहिता १।१८५।१।) ।

मा को ही बेटा समझना पड़ेगा। और यों अपनी सारी समझ मातृचरणों में हीं अर्पित कर देनी पड़ेगी, तभी माता के लाडले 'ईश्वरपुत्र' के दर्शन उपलब्ध हो सकेंगे।

२६२--उपेश्वरान्तिम पर्वस्थानीय भूपिण्ड, एवं तदाधोरण वितायमाना 'अप्रथयत्' रूपा पृथिवी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

भूपिण्ड के केन्द्रानुगत विष्कम्भ (व्यास) को लक्ष्य बनाइए, एवं सूर्य्यपर दृष्टि डालिए इस मातृस्वरूप के समन्वय के लिए। भूपिण्डव्यास के दक्षिणोत्तर-बिन्दुओं का स्पर्श कराते हुए व्यास के उत्तरोत्तर-छोटे होते हुए मापदण्ड से ही सूर्य्य की ओर दो रेखाएँ ऊपर लेजाइए। व्यास के उत्तरोत्तर छोटे होते जाने से निश्चय ही व्यासपार्श्वद्वयानुगता दोनों रेखाएँ अन्ततोगत्वा मिल जायँगी। कहाँ मिल जायँगी ?, प्रश्न का उत्तर होगा-'**रथन्तरसाम**'। सूर्य्य ही 'देवरथ' कहलाया है-'**आदित्यो वै देवरथः**'। इस रथरूप सूर्य्य का भी तरण कर जाती है यह अन्तिम पार्श्वद्वयबिन्दु। अतएव इसे-'**रथन्तरसाम**' कहा गया है। भूपिण्ड के केन्द्रानुगत व्यास से संलग्ना पार्श्वद्वयरेखाएँ सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तरण करतीं हुई अन्ततोगत्वा पुनः बिन्दुरूप में परिणत हो रहीं हैं। यही मातापृथिवी का स्वरूप है, जो पृथिवीमाता सूर्य्यपिण्ड तथा, भूपिण्ड—दोनों से पृथक्, किन्तु दोनों के मध्य में दोनों के प्रवर्ग्यप्राणों से कृतरूपा है। रोदसी त्रिलो की (कूर्म्म त्रिलोकी) की पृथिवी 'भूपिण्ड' रूपा थी, और यह मातापृथिवी '**अप्रथयत्**' रूपा वह पृथिवी है, जिस का उभयप्राण (सौर-भौम प्राण) समन्वय से भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्य्य से ऊपर तक वितान हो रहा है। सौरत्रिलोकीरूप कूर्म्मसंस्थान का द्युलोक सूर्य्य है, पृथिवीलोक भूपिण्ड है, जबकि इस मातापृथिवी का स्वरूप इन दोनों द्यावापृथिवियों (सूर्य्य-भूपिण्डों) के मध्याकाश में स्वतन्त्ररूप से प्रतिष्ठित है। भूपिण्ड और पृथिवी के इस सर्वथा विभक्त स्वरूप का समन्वय कर के ही हमें 'ईश्वर' दर्शन में प्रवृत्त होना चाहिए। भूपिण्ड भूपिण्ड है, यह उपेश्वर का अन्तिम पर्वोपेश्वर है, जबकि पृथिवी भूमहिमा है, जोकि पिण्डात्मक उपेश्वर से सर्वथा पृथक् वस्तुतत्त्व है।

२६३-ज्योतिर्म्मयी देवमाता-अदितिपृथिवी, तमोमयी दैत्यमाता दितिपृथिवी, एवं तद्वृषादेवता कश्यपप्रजापति—

जिसप्रकार सूर्य्यसम्मुखीन पार्थिव प्राण सूर्य्य से कुछ ऊपर पर्य्यन्त व्याप्त है, ठीक उसी प्रकार उसी आकार की उसी व्यास के दक्षिणोत्तर पार्श्वबिन्दुओं का स्पर्श करतीं हुई दो रेखाएँ उसी अनुपात से सूर्य्यविरुद्धदिक् में अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाती हैं। दोनों हीं पृथिवियाँ हैं। किंवा एक ही पृथिवी के सूर्य्यानुगत, सूर्य्यप्रतिदिक् रूपेण दो विवर्त्त हैं। सूर्य्यसम्मुखा पृथिवी में जहाँ सौर ज्योतिर्म्मय प्राण अविच्छिन्नरूप से समाप्लुत है, वहाँ सूर्य्यविरुद्ध दिगनुगता पृथिवी में सौरतेज विच्छिन्न हो रहा है। अतएव सूर्य्यानुगता वही पृथिवी **ज्योतिर्म्मयी** है, एवं विरुद्धदिगनुगता वही पृथिवी **तमोमयी** है। प्रकाश की अविच्छिन्नता-अखण्डता से ही सूर्य्यानुगत पार्थिवमण्डल कहलाया है-'**अदितिपृथिवी**', एवं प्रकाशविच्छित्ति से सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत वही पार्थिवमण्डल कहलाया है-'**दितिपृथिवी**'। पृथिवी ही अदिति है, यही दिति है, किन्तु स्वरूपभेद से। अदितिपृथिवी सूर्य्यानुगता है, दितिपृथिवी विरुद्ध दिगनुगता है। अदितिपृथिवी **देवमाता है**, दितिपृथिवी **दैत्यमाता**, किंवा **असुरमाता** है। अदिति के गर्भ में त्रयस्त्रिंशत् (३३) देवप्राण-

समष्टिरूप 'ईश्वर' नामक 'देवसत्य' जन्म लेता है, एवं दिति के गर्भ में नवतीतंव (९९) असुरप्राणात्मक 'वृत्र' नामक 'असुरऋत' जन्म लेता है। दोनों हीं पार्थिव विवर्त्त अन्ततोगत्त्वा हैं कूर्म्मत्रिलोकीरूप कश्यपप्रजापति के ही नियन्त्रण में। अदिति, दिति, दोनों हीं कश्यप की पत्नियाँ है, जिन के साथ होने वाले दाम्पत्य से ही देवासुरविभूतियों का आविर्भाव हुआ है। इसी दैवासुरसर्गविज्ञान का पुराणशास्त्र के सुप्रसिद्ध 'कश्यपप्रजापति-चरित्र' के द्वारा विस्तार से यशोगान हुआ है।

२९४–भूपिण्ड के अन्तर्वेदि, बहिर्वेदि-रूप दो विवर्त्त, एवं तदनुगत भूपिण्ड, तथा भूमण्डल—

प्रकृत में लक्ष्य है सूर्य्यानुगता ज्योतिर्म्मयी अदितिपृथिवी। अतः इसी को लक्ष्य बनाकर हमें लक्षीभूत ईश्वरस्वरूप का अन्वेषण कर लेना है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्य्योर्ध्व-बिन्दु-पर्य्यन्त व्याप्त ज्योतिर्म्मय-पार्थिवप्राण-मण्डल का नाम हीं है-**'अदितिपृथिवी'**, जो प्राणात्मक महिमामण्डल के सम्बन्ध से ही-**'मही'** कहलाई है–**'इयं वा अदितिर्म्मही'** (यजुः सं० ११।५६–शत० ६।५।१।१०।)। इस में सौर सावित्राग्नि तेज भी प्रवर्ग्यरूपेण–शुक्रात्मना समाविष्ट है, तो भौम गायत्राग्नितेज भी प्रवर्ग्यरूपेण शोणितात्मना समाविष्ट है। अतएवं यह आदितिपृथिवी सावित्री भी कहलाई है, गायत्री भी कहलाई है, जैसाकि–**'पृथिवी सावित्री'** (गोपथ० पू० १।३३।)–**'या वै सा गायत्री-आसीत्-इयं वै सा पृथिवी'** (शत० १।४।१।३४।) इत्यादि से स्पष्ट है। **'इयं वै पृथिवी रथन्तरम्'** (ऐ० ब्रा० ८।१)–**'इयं वै देवी-अदिति-विश्वरूपी'** (तै० ब्रा० १।७।६।७।)–वचन भी इसी का यशोगान कर रहे हैं। भूपिण्ड को ही यज्ञपरिभाषा में कहा गया है **'अन्तर्वेदि'**, जो अपने परिमित-सिमित–धामच्छद भूतधर्म्म से परिमित–सीमित है, जबकि यज्ञपरिभाषा में–**'बहिर्वेदि'** नाम से प्रसिद्ध भूमण्डलरूपा अदिति–पृथिवी अपने अपरिमित–असीमित–अधामच्छद प्राणधर्म्म से अपरिमित–असीमित बन रही है। इन दोनों पिण्ड–अण्ड–रूप–भूः–पृथिवी–विवर्त्तों को लक्ष्य बनाकर ही श्रुतिने कहा है—

तस्याः पृथिव्या एतत् (भूपिण्डात्मकं) परिमितं रूपं–यदन्तर्वेदिः। अथ एष भूमाऽपरिमितः–यो बहिर्वेदिः। (ऐ० ब्रा० ८।५।)।

२९५–ईश्वर की जन्मभूमि अदितिरूपा स्तौम्यत्रिलोकी, एवं तत्र व्याप्त पार्थिव-आग्नेय प्राण—

हमने यह देखा, और समझा कि, सूर्य्योपेश्वर, तथा भूपिण्डोपेश्वर, दोनों के मध्याकाश में सौर सावित्र–भौम गायत्र–तेजों से कृतरूपा ज्योतिर्म्मयी पृथिवी ही वह अदिति है, जिस में सौर–भौम–अग्नि-समन्वयात्मक पार्थिव आग्नेय प्राण परिपूर्ण है, व्याप्त है। यही पार्थिव आग्नेय प्राण सुसूक्ष्मा पार्थिव-भूतमात्राओं की सुप्रसिद्धा घन-तरल-विरला-अवस्थाओं के भेद से इस अदितिमण्डल में क्रमशः अपने तीन संस्थान बनाता हुआ तीन पार्थिवलोकों का विभाजक प्रमाणित हो रहा है। यही सुप्रसिद्धा वह **'अदिति–त्रिलोकी'** है, जो स्तोमसम्बन्ध से–**'स्तौम्यत्रिलोकी'** कहलाई है। उपेश्वरात्मक–सूर्य्य–चन्द्र भूपिण्ड-रूपा सौरत्रिलोकी **रोदसी-त्रिलोकी** थी, यह स्तौम्यत्रिलोकी अदितित्रिलोकीरूपा केवल **पार्थिव-त्रिलोकी** है, जिसमें ईश्वर का जन्म होने वाला है।

२६६–त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–स्तोमावच्छिन्न पार्थिव तीन स्तौम्यलोक, तत्र प्रतिष्ठित अग्नि–वायु–आदित्य–प्राण, एवं तीनों प्राणदेवताओं का तानूनप्त्र—

अदिति के त्रिवृत्स्तोम का नाम पृथिवी है, पञ्चदशस्तोम का नाम अन्तरिक्ष है, एकविंशस्तोम का नाम द्युलोक है, जिन इन तीनों में क्रमशः घनावस्थापन्न अग्नि, तरलावस्थापन्न अग्नि, विरलावस्थापन्न अग्नि प्रतिष्ठित है एकविंशस्थ सूर्य्य पर्य्यन्त, किंवा इस से भी कुछ ऊपर तक, रथन्तरसाम पर्य्यन्त। एक ही पार्थिव प्राणाग्नि की उक्त तीनों घन–तरल–विरल–अवस्थाएँ क्रमशः अग्नि–वायु–इन्द्र नाम से प्रसिद्ध हुईं हैं। इन तीनों प्राणाग्नियों का आगे चल कर तानूनप्त्र होता है। तीनों का एक एक को आधार बना कर शेष दोनों का एक एक में अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से समाविष्ट होकर प्रत्येक को त्र्यात्मक–त्र्यात्मक–बना देने वाली वैज्ञानिक–प्रक्रिया का नाम हीं है–'तानूनप्त्र'।

२६७–प्राणदेवत्रयी के तानूनप्त्र से ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तिप्रधान सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–भावों का आविर्भाव, तीनों की त्र्यात्मकता, एवं अदितिमाता–अदिति–पिता से कृतरूप 'ईश्वरपुत्र' का स्वरूप–समन्वय—

इस से अग्निवाय्वेन्द्रात्मक ही अग्निप्रधान तत्त्व, अग्निवाय्वेन्द्रात्मक ही वायुप्रधान तत्त्व, तथा अग्निवाय्वेन्द्रात्मक ही आदित्यप्रधान तत्त्व, ये तीन सांयौगिक–यागात्मक–अपूर्व–भाव उत्पन्न हो जाते हैं। त्रिमूर्त्ति अग्निप्रधान तत्त्व का नाम है–**'विराट्'**, त्रिमूर्त्ति वायुप्रधान तत्त्व का नाम है-**'हिरण्यगर्भ'**, एवं त्रिमूर्त्ति इन्द्रप्रधान, किंवा आदित्य–प्रधान तत्त्व का नाम है–**'सर्वज्ञ'**। विराट् अग्नि, हिरण्यगर्भ वायु, इन्द्र सर्वज्ञ, तीनों क्रमशः त्रिवृत्–पृथिवी, पञ्चदश अन्तरिक्ष, एकविंश द्युलोक को अपना अपना प्रधान आधार बनाते हुए अपने अपने अग्नि–वायु–इन्द्रात्मक त्र्यात्मक–त्र्यात्मकरूपों से (प्रत्येक) तीनों पार्थिवत्रैलोक्य में व्याप्त होते हुए त्रिमूर्त्तिरूप एकमूर्त्ति ही बन रहे हैं–**'नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने'**। त्रिमूर्त्ति विराट्–अग्नि का लोक ही अदिति–पृथिवी का पृथिवीलोक है। इस अपने त्रिवृद्रूप से अदिति **'माता'** भी कही जासकती है। त्रिमूर्त्ति सर्वज्ञेन्द्र का लोक ही अदितिपृथिवी का द्युलोक है। इस अपने त्रिवृद्रूप से अदिति **'पिता'** भी कही जा सकती है। मध्यस्थ त्रिमूर्त्ति–हिरण्यगर्भ का मध्यस्थ लोक ही अन्तरिक्षलोक है। यही अदितिमाता, अदितिपिता के सम्मिश्रण से व्यक्त **अदितिपुत्र** कहा जा सकता है। जो कुछ पार्थिव सम्वत्सर में उत्पन्न हो चुका है, हो रहा है, होता रहेगा, सब अदिति ही अदिति है। इसी के प्रवर्ग्यरूपों से पार्थिवजगत् का सर्वस्व-स्वरूप अवस्थित है। माता अदिति की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य बना कर ऋषिने कहा है—

अदितिर्द्यावापृथिवी ऋतं महदिन्द्राविष्णू मरुतः स्वर्बृहत्।
देवाँ आदित्याँ अवसे हवामहे वसून्रुद्रान्त्सवितारं सुदंससम्॥

—ऋक्सं० १०।६६।४।

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव * ।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः । (सोमबन्धवः) ।
--ऋक्सं० १०।७२।५।

२९८-गायत्र वसुदेवता, त्रैष्टुभ रुद्रदेवता, जागत आदित्यदेवता, एवं अदिति के गर्भ में सम्भूत देवदेवताओं का स्वरूप-समन्वय—

'तां देवा अन्वजायन्त'-'विश्वेदेवा अदितिः' इत्यादि के अनुसार सुप्रसिद्ध त्रयस्त्रिंशत् (३३) यज्ञिय-देवता भी इसी अदितित्रिलोकी में समन्वित हैं। विराडग्नि की घनावस्थानुगता घनता-तारतम्यावस्थाएँ अष्टाक्षर गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से ८-आठ हैं, ये ही अग्निप्रमुख आठ पार्थिव **वसुदेवता हैं**। हिरण्यगर्भवायु की तरलावस्था-नुगता तरलता-तारतम्यावस्थाएँ एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द के सम्बन्ध से ११ हैं, ये ही वायुप्रमुख ग्यारह आन्त-रिक्ष्य **रुद्रदेवता** हैं। सर्वज्ञेन्द्र की विरलावस्थानुगता विरलता-तारम्यावस्थाएँ द्वादशाक्षर जगती-छन्द के सम्बन्ध से द्वादश हैं, ये ही इन्द्रप्रधान, किंवा आदित्यप्रधान बारह दिव्य **आदित्यदेवता** हैं। दो सान्ध्य नासत्य-दस्र-नामक अश्विनी प्राण हैं। सम्भूय तीन संस्थानों की ३३ प्राणदेवविभूतियाँ हो जातीं हैं, जिनका अग्नि-वायु-आदित्य-त्रयी में, एवं सर्वान्त में अग्नि में हीं अन्तर्भाव हो जाता है— **'अग्निः सर्वा देवताः'**- **"अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्'**। यों अदिति के गर्भ में हीं ये ३३ सों अग्निप्राणात्मक आग्नेय देव-देवता प्रतिष्ठित हैं। अन्तरिक्ष में व्याप्त द्रोणकलशस्थ अमृतसोम को अपना बन्धु बनाते हुए-**'भद्रा अमृत बन्धवः-देवाः-तां-अदितिं-अनु-अजायन्त'** इत्याद्यनुसार ये 'देवदेवता' अदितिगर्भ से ही सम्भूत हैं ×।

२९९-विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-मूर्त्ति-ईश्वरस्वरूप का दिग्दर्शन—

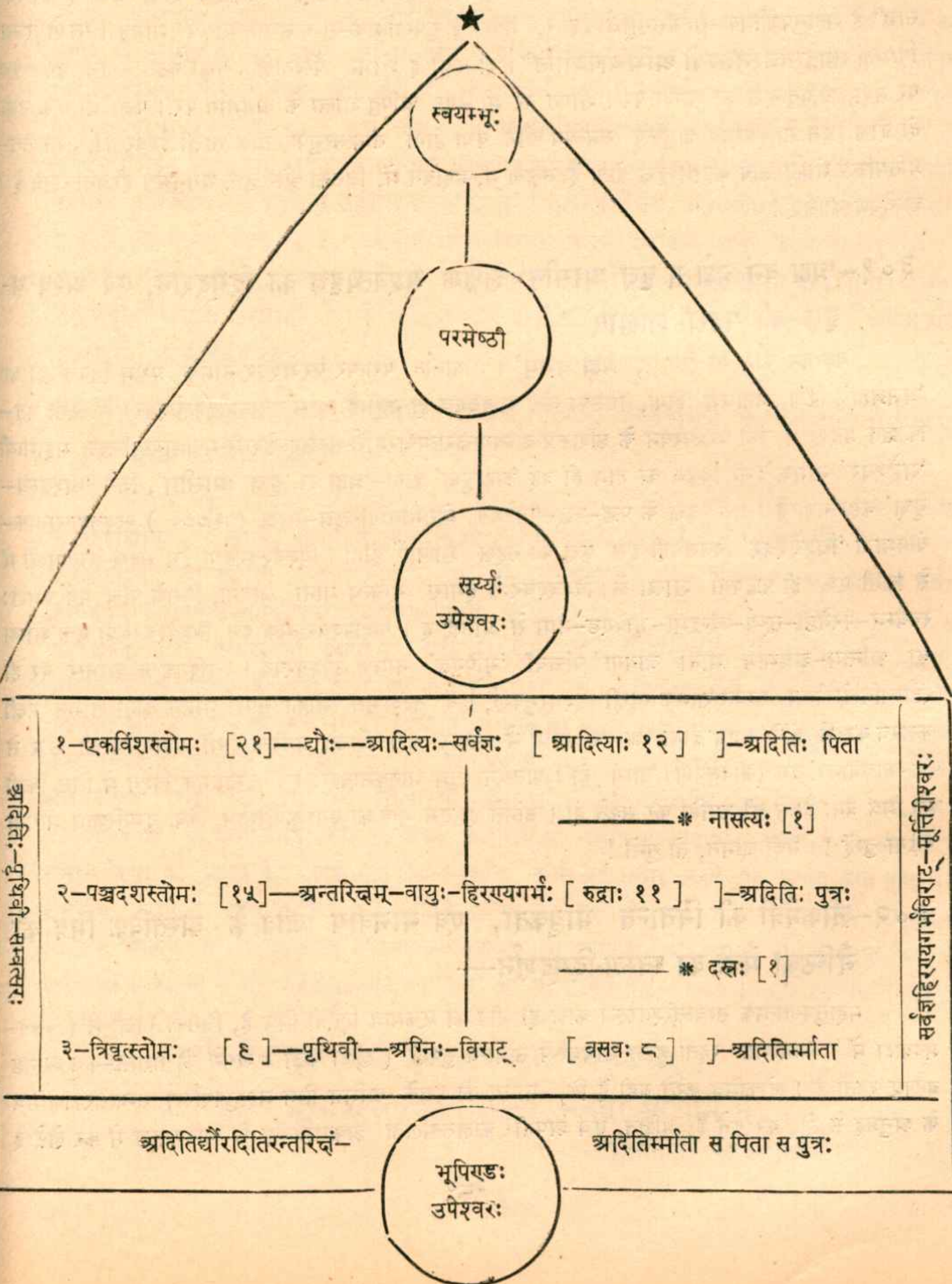
हाँ, तो अब वह सर्वात्मना प्रमाणित हो गया कि, सूर्य्यपिण्ड, तथा भूपिण्ड-नामक इन दोनों उपेश्वरों के मध्य में भूपिण्ड से-सूर्य्यपिण्ड-संलग्ना प्राणमयी महापृथिवी की व्याप्ति है, इसीका नाम **'अदितिपृथिवी'** **है**, इसी में ९-१५-२१-स्तोमभेद से पृ० अन्तः-द्यौः-नामक तीन लोक (पार्थिवलोक) प्रतिष्ठित हैं। तीनों के तीन **अग्नि-वायु-आदित्य**-नामक तीन शवसोनपात्-अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) देवता है। तीनों की त्र्यात्म-कता से त्र्यात्मक बने हुए **विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ**-नामक तीन तानूनप्त्रदेवता हैं। तीनों की विभूतियाँ गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-छन्दोऽनुगता अष्ट वसुगण, एकादश रुद्रगण, द्वादश अदित्यगण, द्वौ अश्विनौ-रूपेण त्रयस्त्रिंशत् यज्ञियदेवता हैं। इस सम्पूर्णविभूतिपुञ्ज का नाम **है** अदिति, तद्रूप ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमय-

---

* दक्षप्रजापति की कन्या अदिति से देवसृष्टि--कश्यप के द्वारा (पुराणसमन्वय)
अदितिर्द्यौ, रदितिरन्तरिक्षं, अदितिर्म्माता, स पिता, स पुत्रः।
विश्वेदेवाः अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
—ऋक्सं० १।८९। ०।

× अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ! ।
आदित्या (१२)-वसवो (८)-रुद्रा (११)-अश्विनौ च (२)-परन्तप ! ।
—वाल्मीकिरामायणे

मनःप्राणवाङ्मय-सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट् की समष्टिरूप पार्थिव-अदितिगर्भ का नाम ही है **पार्थिव सम्वत्सरकाल**, एवं यही है हमारा आराध्य पार्थिव–आदितेय–पारिभाषिक–**'ईश्वर'**, जिसका महासुपर्णात्मक–**'साक्षीसुपर्ण'** रूप से **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०'** इत्यादि मन्त्र के द्वारा यशोवर्णन हुआ है।



३००–पिप्पल-स्वादभोक्ता जीव, जीव का साक्षी ईश्वर, दोनों की सुपर्णता, एवं दोनों का समानवृक्षानुगतित्व—

जीव कर्म्मभोक्ता कहलाया है, ईश्वर को कर्म्मसाक्षी माना गया है। भोक्ता है जीव, साक्षी है–ईश्वर। साक्षी है महासुपर्णात्मक–सम्वत्सरमूर्त्ति ईश्वर, भोक्ता है सुपर्णात्मक–सम्वत्सरप्रतिमारूप मानव। 'तयोऽरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'। दो पक्षी हैं शोभन पँखवाले। पक्षी बैठते हैं वृक्ष पर। वृक्ष पर नहीं, अपितु वृक्ष की शाखा पर। शाखा पर भी नहीं, अपितु शाखा के अग्रभाग पर। पक्षी भी एक नहीं, दो दो। इस से अधिक अनुरूप समन्वय और क्या होगा सम्वत्सरसुपर्णात्मक साक्षी ईश्वर का, तथा तत्–प्रतिमारूप भोक्ता जीव का ?। वृक्ष होता है जङ्गल में, महावन में, जिसका ओर छोर अननुमेय ही बना रहता है। अन्वेषण कीजिए !

३०१–'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्' लक्षण अश्वत्थवृक्ष का दिग्दर्शन, एवं अश्वत्थ-वृक्ष की सहस्र शाखाएँ—

वह वन कौन सा होगा ?, '**ब्रह्म वनम्**'। मायातीत परात्पर **परमेश्वर** नामक प्रथम विवर्त्त ही वह '**वनब्रह्म**', किंवा '**ब्रह्मवन**' होगा, जिसका कोई मापदण्ड ही नहीं है। इस महावन (परमेश्वर) के किसी यत्–किञ्चित् प्रदेश में उसी परात्परवन के अंशरूप अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति-सहस्रवल्शेश्वर-महामायावच्छिन्न महामायी '**महेश्वर**' नामक दूसरे विवर्त्त का नाम हीं वह '**ब्रह्मवृक्ष**' होगा–'**ब्रह्म स वृक्ष आसीत्**', जिसे '**अश्वत्थ–वृक्ष**' कहा गया है। इस वृक्ष के पञ्च–पञ्च–पर्वात्मक, योगमायावच्छिन्न–सहस्र (१०००) वल्शेश्वरात्मक–योगमायी '**विश्वेश्वर**' विवर्त्त ही इस वृक्ष की सहस्र शाखाएँ होंगीं। विश्वेश्वररूपा इन सहस्र–शाखाओं में से किसी एक ही पञ्चपर्वा शाखा के विश्वेश्वर से हमारा सम्बन्ध माना जायगा, जिसके पाँच पर्व क्रमशः स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–नाम से प्रसिद्ध हैं। पञ्चोपेश्वरात्मक इस विश्वेश्वररूपा एक शाखा का अन्तिम–अग्रभाग माना जायगा पाँचवाँ 'भूपिण्ड' नामक उपेश्वरपर्व। भूपिण्ड के आधार पर ही सौम्यत्रिलोकीरूप सम्वत्सरात्मक साक्षी ईश्वरसुपर्ण, एवं तदंशभूत भोक्ता सुपर्ण नामक दोनों शोभन पक्षी कलरव कर रहे होंगे। इन दोनों अभिन्न मित्रों में परस्पर यही शिक्षा प्रक्रान्त होगी महासुपर्ण की ओर से कि–सावधान ! तुम (जीवसुपर्ण) सौम्य हो। अतएव तुम भावुकतावश इस द्वन्द्वात्मक विश्व में जिस किसी को मित्र बना बैठने की भ्रान्ति कर सकते हो। जानते हो इस भूल का क्या कुपरिणाम, किंवा दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा तुम्हें ?। नहीं जानते, तो सुनो !

३०२–लोकमैत्री की नितान्त भावुकता, एवं मानवीय जीव के वास्तविक मित्र की नैष्ठिकी मैत्री का स्वरूप-दिग्दर्शन—

महासुपर्णात्मक सम्वत्सरेश्वररूप काल ही जीव का एकमात्र हितैषी मित्र है, जिसकी साक्षी में (काल-मर्य्यादा में) व्यवस्थित रहता हुआ मानवरूप सामान्य सुपर्ण (छोटा पक्षी) अपने को सशक्त–कर्त्तव्यनिष्ठ बनाए रहता है। लोकमित्र करते यही हैं कि, मानव को इसके अभिन्न मित्र महासुपर्णरूप सम्वत्सरकालमित्र के अनुग्रह से तो कर देते हैं वञ्चित, एवं अपनी कालस्खलिता अकर्म्मण्यता के वारुणपाश में कर लेते हैं

भावुक मानव को आबद्ध। वैसे ईश्वरनिष्ठ सन्मित्र महत्सौभाग्य से ही उपलब्ध होते हैं मानव को, जो इसे कालमर्य्यादानुगामी बनाते हुए कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए ही प्रेरित करते रहते हैं। भूतासक्ति के आविष्कारक, असन्मित्रात्मक मित्राधमलक्षण मित्र, तत्त्वतः शत्रु ही ये साथी सङ्गी व्यसन–दुर्व्यसन–शिक्षक नराधम स्वयं तो उस कालमित्र से पराङ्मुख बने रहते हुए उत्पथानुगामी बने हीं रहते हैं। इसके साथ साथ ही ये अपने भावुक भोग्य-मित्र को भी उसके अभिन्न सखा सुपर्णकाल से पराङ्मुख कर देते हैं। लक्ष्यहीनभावानुगता मैत्री में कालक्षय के अतिरिक्त और कोई भी तो पुरुषार्थ नहीं है। निरर्थक गप्प मारते रहना, शरीरानुगत दुर्व्यसनों का सर्जन करते रहना, सदा सभी कार्य्यों में कालातिक्रम करते रहना हीं ऐसी मैत्री के प्रसून हैं। अतएव नैष्ठिक महापुरुषों का इस दिशा में यही उद्बोधन सूत्र है कि-**'भायला (मित्र) वहो, जो दोष सिखावे। अतएव भले आदमी भायला नहीं बनाया करते'**। महासुपर्णात्मक 'सम्वत्सरकाल' से बड़ा हितैषी मानव का और कोई दूसरा मित्र नहीं है, जो मानो सदा निरन्तर अपने इस अवर सखा मानव को सतर्क ही करता रहता है, चौकसी ही करता रहता है इसकी सुहृद्भाव से-**'अनश्नन्–अन्यः–अभिचाकशीति'**। अतएव **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** रूप से श्रुति ने इन दोनों की मैत्री का ही समर्थन किया है। **अन्या वाचो विमुञ्चथ। अमृतस्यैष सेतुः'**।

२०३–सहस्रशीर्षः-सहस्राक्षः-सहस्रपात्-लक्षण महान् ईश्वरमित्र के सहस्रात्मक-महिमा-भाव का यशोवर्णन—

कैसा है वह आदितेय सम्वत्सरेश्वर ?। वह अपने ज्ञानशक्तिमय-आदित्यप्रधान मनोमय सर्वज्ञरूप से **सहस्रशीर्षः** है। अपने क्रियाशक्तिमय–वायुप्रधान–प्राणमय–हिरण्यगर्भरूप से **सहस्राक्षः** है। एवं अपने अर्थशक्तिमय, अग्निप्रधान वाङ्मय–विराट्–रूप से–**सहस्रपात्** है। ऐसा यह सम्वत्सरकालात्मक सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराण्मूर्त्ति–पार्थिवेश्वर, अदितिगर्भजन्मा पुरुषप्रजापति भूपिण्ड पर विराट्मूलरूप पादभाग से खड़ा होता हुआ सूर्य्यपर्य्यन्त व्याप्त है। यही इस ईश्वरपुरुष के विराट्स्वरूप के तटस्थ दर्शन हैं, जिसके साक्षाद्दर्शन का महद्भाग्य प्राप्त हुआ था इसी के अनन्य सखा महाभाग्यशाली अर्जुन को आज से पाँच सहस्रवर्ष पूर्व, जिसके व्यक्त–मूर्त्त–रूप पर दृष्टिनिक्षेप करते ही भावुक अर्जुन विपकम्पित हो पड़े थे, एवं तत्–क्षण उनका भावुकतापूर्ण बुद्धिवादात्मक दम्भ विगलित हो पड़ा था। **नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमो नमः**। एवं **"नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः"** उस महाशक्ति अदिति माता के लिए, जिसने ऐसे विराट् को भी प्रादेशमित बना कर अपने गर्भाशय में बलात् सुरक्षित कर रक्खा है। तभी तो इस गर्भस्थ शिशु की भारत के भावुक भक्त **'बालमुकुन्द'** रूपसे आराधना करते हुए अपना सभी कुछ धन्य, कृतकृत्य प्रमाणित करते रहते हैं *। सुप्रसिद्ध पुष्टिमार्गीय शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय के आचार्य्योंनें तो भगवान् की, इस **'बालकृष्ण'–'शिशुकृष्ण'–'नन्दनन्दनकृष्ण'** की उपासना करते हुए ही परमपद प्राप्त किया है। एवं स्वयं मन्त्रश्रुति ने भी महतोमहीयान् भी इस सहस्रशीर्ष–सहस्राक्ष–सहस्रपात्–सर्वज्ञहिरण्यगर्भविराट्मूर्त्ति

*** करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।**
वटस्य पत्रस्य मुखे शयन्तं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥

—रहस्यपूर्णा–आर्षसूक्तिः

ईश्वर को 'सार्द्धदशाङ्गुलमित' (साढ़े दस अंगुलात्मक एक प्रादेशमित, जो गर्भस्थ शिशु का परिमाण माना गया है) ही माना है, जिस इस वेदसिद्ध विज्ञानस्वरूप के आधार पर ही भगवान् की बालमुकुन्दात्मिका उपासना प्रक्रान्त रही है इस ज्ञानविज्ञानसमन्वित, आचारनिष्ठ परमधन्य भारतराष्ट्र में—

सहस्रशीर्षः पुरुषः-सहस्राक्षः-सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा-अत्यतिष्ठशाङ्गुलम् ॥

—यजुसंहिताः

३०४–साक्षी ईश्वर से अभिन्न वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-मूर्त्ति मानव, मानव की आचार–निष्ठा, एवं तदाधारभूत ईश्वरीय-साम्वत्सरिक-कालपुरुष—

'अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव, यत्सम्वत्सरः' (शत० १२।२।३।७)–**'स एष सम्वत्सरप्रजा–पतिः षोडशकलः'**–(शत० १४।४।३।२२।)–**'सम्वत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः** (सर्वज्ञः इति यावत्–शत० १०।२।४।३।)–**'सम्वत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः** (विराट्–इति यावत्–शत० १।५।१।१६।)–**प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः'** (शत० ६।२।२।५।)–**'स वै सम्वत्सर एव प्रजापतिः'** (शत० १।६।३।३५)–**'यः स भूतानां पातः–सम्वत्सरः सः'** इत्यादि निगमानुगमवचन सम्वत्सरकालात्मक इसी ईश्वरप्रजापति के महासुपर्णात्मक–पारिभाषिक पार्थिव स्वरूप का संग्रह कर रहे हैं। जैसा स्वरूप इस सम्वत्सरा–त्मक ईश्वर का है, ठीक वैसा ही स्वरूप तत्प्रतिमारूप पुरुष [जीव, मानव] का है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि, सम्वत्सरमूर्त्ति महासुपर्णात्मक ईश्वर उस मूलभूत उपेश्वर–विश्वेश्वर, तन्मूलभूत महेश्वर, एवं सर्वमूलभूत परमेश्वर की अभिन्नसत्ता का ही व्यक्तभाव होता हुआ जहाँ क्लेश–कर्म्म–कर्मविपाक–आशयादि–पाप्माओं से असंस्पृष्ट है *, वहाँ मानवीय जीव प्रकृतिव्यामोहन से अपने उस अभिन्न सखा को विस्मृत करता हुआ इन सब क्लेशों–पाप्माओं से समन्वित हो पड़ता है। तत्परित्राण का एकमात्र उपाय है–वैश्वानर तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति–जीव का अपनीं इन तीनों निर्बल शक्तियों में उस सबल विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–ईश्वरपुरुष की शक्तियों का प्रवाह प्रक्रान्त कर देना, जिस प्रक्रान्ति के आचारसूत्र ही **कर्म्म–भक्ति–ज्ञान**–योग नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। अतएव परमेश्वरादि ईश्वरान्त पाँचों विवर्त्तों में एकमात्र पाँचवें सम्वत्सरात्मक ईश्वरविवर्त्त को ही हम मानवीय आचारनिष्ठा से अनुप्राणित मानेंगे। और इसी दृष्टि से एकमात्र यह ईश्वर ही, सम्व–त्सरकाल ही मानव की ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तियों का संरक्षक–प्रवर्त्तक–अभिवर्द्धक माना जायगा। एवं यही प्रस्तुत मन्त्र का आचारात्मक अन्तिम समन्वय होगा, जिसके लिए ही हमें ईश्वरस्वरूप के संस्मरण की धृष्टता कर लेनी पड़ी है।

---

* **क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष 'ईश्वरः'।**
—पातञ्जलयोगसूत्र

३८५–मानवीया आचारनिष्ठा के सर्वाधारभूत सम्वत्सरकालमूर्त्ति ईश्वरप्रजापति का माङ्गलिक स्वरूप-समन्वय, तदनुबन्धिनी तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी का संस्मरण, एवं अष्टम मन्त्रार्थ-समन्वयोपराम—

विराट्–हिरण्यगर्भ–गर्भित, सर्वज्ञमूर्त्ति, मनोमय, ज्ञानशक्तिघन, आदित्यप्रमुख, पार्थिव एकविंशस्तोमानुगत, द्युलोकानुगत, अव्ययप्रतीकभूत वही सम्वत्सरेश्वर मानव के उस ज्ञानयोग का आधार बन रहा है, जिस ज्ञानयोगात्मक आचार का केन्द्रबिन्दु वैश्वानर-तैजस-गर्भित, प्राज्ञमूर्त्ति, तथाविध-तथाभूत-सम्वत्सरप्रतिमात्मक वही साम्वत्सरिक जीव ही बना करता है। विराट्-सर्वज्ञ-गर्भित, हिरण्यगर्भमूर्त्ति, प्राणमय, क्रियाशक्तिघन, वायुप्रमुख, पार्थिव पञ्चदश स्तोमानुगत, अन्तरिक्षलोकानुगत, अक्षरप्रतीकभूत वही सम्वत्सरेश्वर मानव के उस भक्तियोग का आधार बन रहा हैं, जिस भक्तियोगात्मक आचरणबिन्दु का केन्द्रबिन्दु वैश्वानर–प्राज्ञ–गर्भित, तैजसमूर्त्ति, तथाविध-तथाभूत-सम्वत्सरप्रतिमात्मक वही साम्वत्सरिक जीव ही बना करता है। एवमेव सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भित, विराट-मूर्त्ति, वाङ्मय, अर्थशक्तिप्रधान, अग्निप्रमुख, पार्थिव त्रिवृत्स्तोमानुगत, पृथिवीलोकानुगत, आत्मक्षरप्रतीकभूत वही सम्वत्सरेश्वर मानव के उस कर्म्मयोग का आधार बन रहा है, जिस कर्म्मयोगात्मक आचरणबिन्दु का केन्द्रबिन्दु प्राज्ञ-तैजस-गर्भित, वैश्वानरमूर्त्ति, तथाविध तथाभूत-सम्वत्सर-प्रतिमात्मक वही साम्वत्सरिक-जीव ही बना करता है। तदित्थं वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-मूर्त्ति मानव [जीव] की प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर-पर्वानुगता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-रूपा यच्चयावत् आचारनिष्ठाओं का साक्षी, प्रेरक, नियन्ता विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति सम्वत्सरकालात्मक ईश्वरप्रजापति ही प्रमाणित हो रहा है। ईश्वरप्रजापति का सर्वज्ञात्मक कालविवर्त्त ही ईश्वर के ज्ञानमय **'तपः'** की प्रतिष्ठा है, उसका हिरण्यगर्भात्मक कालविवर्त्त ही ईश्वर के क्रियामय 'ज्येष्ठम्' की प्रतिष्ठा है, एवं उसके विराडात्मक कालविवर्त्त में हीं ईश्वर का अर्थमय **'ब्रह्म'** प्रतिष्ठित है। वही काल सर्वज्ञत्त्वेन तपोमूर्त्ति है, वही काल हिरण्यगर्भत्त्वेन 'ज्येष्ठम्' है, एवं वही काल विराट्त्वेन 'ब्रह्म' है। तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म भी कालात्मक ही है। अतएव कहा जा सकता है कि-सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट-काल में कालरूप ही तपो-ज्येष्ठं-ब्रह्म-विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। वही अपने में अपने रूप से ही प्रतिष्ठित समाहित है–**'तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्'**। यही प्रस्तुत मन्त्र का सुपर्णेश्वरानुगत, आचारभावानुबन्धी अन्तिम समन्वय है, जिसके साथ ही प्रक्रान्त अष्टम मन्त्रार्थसमन्वय उपरत हो रहा है। अत्यन्त अवधानपूर्वक ही मन्त्र के पारिभाषिक तथ्यों का अपने प्रज्ञाक्षेत्र में सदा ही चिन्तन करते रहना चाहिए, तभी इस ऋषि-दृष्टि का स्वल्पतम अनुग्रह प्राप्त हो सकेगा।

सर्वसमष्ट्यात्मकः-परिलेखः-नितान्तमवधेयः-स्वस्थप्रज्ञया—

१ परमेश्वरः

मायातीतः—सर्वबलविशिष्टरसैकघनः—परात्परः—परमेश्वरः—अत्यनपिनद्धः

---

२ महेश्वरः

—परात्पराभिन्नः-अव्यय—अक्षर—आत्मक्षर—मूर्त्तिर्महामायावच्छिन्नो महामायी षोडशीप्रजापतिरेव
सहस्रबलशेश्वरः—महेश्वरः

---

३ विश्वेश्वरः

महेश्वरस्यैकांशरूपः—योगमायावच्छिन्नः—योगमायी—षोडशीप्रजापतिरेव
एकबलशेश्वरः—विश्वेश्वरः

परोरजाः-वृत्तौजाः-परमाकाशरूपः
एकपुण्डीरेश्वरः— (उपेश्वरः) **—स्वयम्भूब्रह्मा**
स्वयम्भूः-विश्वकर्म्मा-आभूप्रजापतिः

रजःप्रवर्त्तकः-रेतोऽण्डभावानुगतः-महासमुद्ररूपः
एकपुण्डीरेश्वरः— (उपेश्वरः) **—परमेष्ठीविष्णु**
परमेष्ठी-विश्वस्रष्टा प्रतिमाप्रजापतिः

रजोमयः-यशोऽण्डभावानुगतः-हिरण्यरूपः
एकपुण्डीरेश्वरः— (उपेश्वरः) **—सूर्य्यः—इन्द्रः**
सूर्य्यः-विश्वद्रष्टा प्रतिमाप्रजापतिः

ईश्वरः—पार्थिवः

आदितिः पृथिवी सौम्यत्रिलोकीरूपा देवसत्यजननी			ईश्वरः
	१—आदित्यप्रधानः-सर्वज्ञः—सहस्रशीर्षः	मनोमयः-तपोमूर्त्तिः	**सम्वत्सरकालात्मकः-ईश्वरः** महासुपर्णः—साक्षी
	२—वायुप्रधानः-हिरण्यगर्भः-सहस्राक्षः	प्राणमयः-ज्येष्ठमूर्त्तिः	
	३—अग्निप्रधानः-विराट्—सहस्रपात्	वाङ्मयः-ब्रह्ममूर्त्तिः	

चन्द्रमाः

वृत्रमोमयः-पोषाण्डभावानुगतः-नक्षत्ररूपः (उपेश्वरः) चन्द्रमाः—सोमः
—एकपुण्डीरेश्वरः—

भूपिण्डः—

(उपेश्वरः)

भूताग्निमयः—अस्त्वण्डभावानुगतः-आम्दरूपः-एकपुण्डीरेश्वरः—भूपिण्डः-अग्निः

उ- पे- श्व- रा- :

तदिदमदितिमण्डलमेव--पार्थिवसम्वत्सरचक्रं--कालात्मकम्

सर्वज्ञमूर्त्तिरादित्यः–एव–'तपः'––तच्च काले–प्रतिष्ठितम्

हिरण्यगर्भमूर्त्तिर्वायुरेव––'ज्येष्ठम्'–तच्च काले–प्रतिष्ठितम्

विराट्––मूर्त्तिरग्निरेव––'ब्रह्म'––तच्च काले–समाहितम्

तत्रैव तपोज्येष्ठंब्रह्म--समाहितम्

तदिदं कालवृत्तमेव--सम्वत्सरात्मकं--महासुपर्णेश्वर--रूपम्

इत्येतदेवाभिप्रेत्य--अनुगमो भवति—

काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम्

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः–अदितिरूपेण

मातासीत् प्रजापतेः–अदितिरूपेण

पुत्र आसीत् प्रजापतेः–अदितिरूपेणेति—

अदितिर्म्माता, स पिता, स पुत्रः–इतिनु रहस्यम्

इति-अष्टममन्त्रार्थसमन्वयः—

८

——*——

(९)–नवममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (नवममन्त्रार्थ)

३०९– 'तेनेषितं, तेन जातम्' इत्यादि नवम मन्त्राक्षरार्थ-समन्वय, एवं ब्रह्म के ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्य–भावों का संस्मरण—

अब क्रमप्राप्त इस नवममन्त्र की ओर ही कालोपासकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है—

(९)-तेनेषितं, तेन जातं, तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम् ॥

"काल से (सबकुछ) इषित (कामित) है, काल से (सबकुछ) उत्पन्न है। निश्चयेन उस काल में वह काल (ही) प्रतिष्ठित है। काल ही 'ब्रह्म' रूप में परिणत हो परमेष्ठी को धारण

किए हुए है"–इत्यक्षरार्थक प्रस्तुत नवम मन्त्र के विस्तारक्रम की ओर न जाकर दो शब्दों में हीं हमें मन्त्रार्थ-समन्वय का प्रयासमात्र कर लेना है। जिस सम्वत्सरप्रजापति का पूर्व के अष्टम मन्त्रार्थ–समन्वय में दिग्दर्शन कराया गया है, उसकी मनोमयी तपोमूला **कामना** से, प्राणमय ज्येष्ठमूल **तप** से, एवं वाङ्मय ब्रह्ममूल **श्रम** से ही सम्पूर्ण साम्वत्सरिक पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, एवं सम्वत्सर से उत्पन्न वे सभी साम्वत्सरिक स्थावर--जङ्गम--(जड़--चेतन) पदार्थ सम्वत्सर में हीं प्रतिष्ठित रहते हैं। प्रजापति का विस्नस्त रूप 'प्रवर्ग्य' भाग (उच्छिष्ट) जहाँ प्रजाओं की उत्पत्ति का कारण है (**उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्**), वहाँ उसी प्रजापति का अविस्नस्तरूप ब्रह्मौदनभाग प्रजाओं की आवपनात्मिका प्रतिष्ठा--(आधार) बन रहा है।

३०७–प्रजापति से उत्पन्न प्रजा के जन्म-स्थिति--भङ्ग--भावों का धारावाहिक क्रम, एवं–'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' का समन्वय—

यों प्रजापति से ही प्रजाएँ उत्पन्न हैं, एवं प्रजापति में हीं प्रजाएँ प्रतिष्ठित हैं, साथ ही प्रजापति में ही इन प्रजाओं का अन्ततोगत्वा विलयन हो जाया करता है। यही प्रजापति क,ा एवं प्रजा के जन्म--स्थिति--भङ्ग--रूप धारावाहिक क्रम का चिरन्तन इतिवृत्त है, जो शाश्वतीभ्यः समाभ्यः–सदा सदा के लिए--'**धाता यथापूर्वकल्पयत्**' रूपेण यथावत् प्रक्रान्त है। इस क्रम का न कोई आदि है, न अन्त है। इसलिए इस क्रम का कोई आद्यन्त नहीं है कि, अपने क्रान्तिवृत्तात्मक सीमितभाव से आद्यन्तवत् प्रतीत होने वाला भी सम्वत्सरप्रजापति अपने मूलभूत, उपेश्वर विवर्त्त के सर्वान्त के भूपिण्ड से संलग्न महिमामय उस अनन्त प्राणमण्डलात्मक अदितिमण्डल में ही समर्पित है, जिसका प्राणधर्म्मत्वेन कोई ओरछोर है ही नहीं। यदि इस अदितिमण्डलात्मक पार्थिवमण्डल को भी सर्वज्ञ--हिरण्यगर्भ--विराट्--मूर्त्ति सम्वत्सर प्रजापति से अभिन्न मानते हुए उसे भी सादिसान्त मान लिया जाय, तो फिर अदितिमण्डल के पार्थिव त्रैलोक्य के मूलभूत उस अनन्त सौरब्रह्माण्ड की अनन्ता को लक्ष्य बना लेना पड़ेगा, जिस अनन्तभावापन्न सौरब्रह्माण्ड का कोई आद्यन्त प्रतीत नहीं हो रहा है। मानलेते हैं–अमुक मन्वन्तरकालानुगता दिव्यसहस्रयुगान्विता गणनकालसमन्विता परिगणना से सौरब्रह्माण्ड को भी थोड़ी देर के लिए सादिसान्त ही। तो फिर तन्मूलभूत, महासमुद्रात्मक, सरस्वान्-समुद्रात्मक आपोमय--भृग्वङ्गिरोरूप महदक्षरमूर्त्ति महान्--ज्येष्ठ--उस परमेष्ठी प्रजापति की अनन्तता को हमें लक्ष्य बना लेना पड़ेगा, जिस अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र में अनन्त सौरब्रह्माण्ड अपना वैसा ही सादि-सान्त-स्वरूप रख रहा है, जैसेकि निःसीमवत् प्रतीत पार्थिव समुद्र में सादिसान्त एक बुद्बुद अपनी इयत्ता रख रहा है। सुनते हैं--आपोमय अनन्त परमेष्ठी बुद्बुदाकाराकारित अपने गर्भस्थ सौरब्रह्माण्ड की अपेक्षा से अनाद्यनन्त बने रहते हुए भी 'सृष्टि'--भावनिबन्धना--'**अप एव ससर्जादौ**' लक्षणा उत्पत्ति--संयोग--आविर्भाव--आदि मर्य्यादाओं से समन्वित रहते हुए--'**संयोगा विप्रयोगान्ताः, पतनान्ताः समुच्छ्रयाः**' न्याय से सादिसान्त ही प्रमाणित हो रहे हैं अन्ततोगत्वा। तो इस अननुमेया सादिसान्तता को अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए मान कर हमें उस परमाकाशरूप स्वयम्भूब्रह्म की ओर लक्ष्य देना पड़ेगा, जिस परमाकाशात्मक नभस्वान् समुद्र के समतुलन में सरस्वान् अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र का भी वही (बुद्बुद्समतुलित) स्थान है, जो स्थान अनन्त परमेष्ठी में सूर्य्य का है, किंवा जो स्थान अनन्त सौरब्रह्माण्ड में अदितिमण्डलात्मक एक सम्वत्सर का है।

पाँचों पुण्डीरों में सर्वापेक्षया अनाद्यनन्त--असीम--भी प्रमाणित परमाकाशात्मक स्वयम्भू को भी यदि--'प्रादुरासीत्तमोनुदः'--'स एव स्वयमुद्बभौ'--'अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्'--इत्यादि रूप से किसी अचिन्त्या, सर्वथैव अगम्या सादि--सान्तता से समन्वित मान लेने की महती धृष्टता कर बैठेगी मानवप्रज्ञा, तो उसे हम उस पुण्डीराध्यक्ष योगमायामय--'विश्वेश्वर' के आनन्त्य की ओर ही आकर्षित कर लेंगे, जिस विश्वातीता विश्वस्वरूपाधिष्ठात्री विश्वेश्वरानन्तता से प्राजापत्य धारावाहिक क्रम की अनाद्यनन्तता का समर्थन सम्भव बन जायगा। यदि इस पर भी प्रज्ञाक्षोभ शान्त न होगा, तो फिर महामायामय सहस्रवल्शेश्वरमूर्त्ति महेश्वर की दुर्विज्ञेया अनन्तता की शरण में ले चलना पड़ेगा इस प्रज्ञा को। यदि अत्रापि यह मानवप्रज्ञा निरुपाधिक--निरपेक्ष अनन्तभाव में परिणत न हो सकी, तो अन्ततोगत्वा विश्वातीत--मायातीत--वनब्रह्मात्मक-निरपेक्ष-निरुपाधिक-माया-कला--गुण-विकार--अञ्जन--आवरणादि परिग्रहों से असंस्पृष्ट उस परात्पर-परमेश्वर पर ही प्रज्ञा का प्रज्ञात्त्व सदा सदा के लिए परिसमाप्त कर दिया जायगा, जिस परात्परानन्त्य के संस्मरण मात्र से भी यह मानवप्रज्ञा अपना सम्पूर्ण प्रज्ञात्त्व विस्मृत कर अन्ततोगत्वा अपने ये ही उद्गार अभिव्यक्त करने लग पड़ती है कि—

३०८–अनाद्यनन्त-महामहिमामय-प्रजापति के आनन्त्य से अभिभूता मानवप्रज्ञा के सहज-आर्ष-उद्गार, एवं 'न विजानामि यदि वेदमस्मि' इत्यादि मन्त्रों का संस्मरण–

"न विजानामि यदि वेदमस्मि, निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्-सोऽङ्ग वेद, यदि वा न वेद।
न तं विदाथ-य इमा जजान अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।
अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
माति प्राक्षीः। मूर्द्धा ते विपतिष्यति"--इत्युपनिषत्।

३०९–सम्वत्सरप्रजापति से समन्विता सृष्टिधारा की अनाद्यनन्तता, तन्मूलक असमाधेय प्रश्न, एवं मानवप्रज्ञा की कुण्ठितता —

धारावाहिकरूपेण प्रक्रान्ता, सम्वत्सरप्रजापति से समन्विता सृष्टिधारा की अनाद्यनन्तता का सोपान-परम्परया अन्वेषण करते करते मानवप्रज्ञा अन्ततोगत्वा विश्वातीत-सर्वातीत परात्पर-परमेश्वर की निरुपाधिका–निरपेक्षा–अनाद्यनन्तता के संस्मरणमात्र से सर्वात्मना विगलित तो अवश्य हो गई। अवश्य ही अपने प्रज्ञादम्भ के इस विगलन से प्रज्ञा को सृष्टिधाराक्रम की अनाद्यनन्तता पर आस्था भी कर लेनी पड़ी परात्परानन्तता से अभिभूत बन कर। किन्तु इसी अनन्तबिन्दु पर सहसा अनन्तभावानुगता इस प्रज्ञा में सर्वथा एक वैसा नवीन प्रश्न जागरूक हो ही तो पड़ा, जो प्रश्न भी सृष्टि के अन्यान्य दुरधिगम्य अनतिप्रश्नात्मक असमाधेय–प्रश्नों के समतुलन में अपना कम महत्त्व नहीं रख रहा।

३१०-प्रजापति के आनन्त्य की दुरधिगम्यता का स्पष्टीकरण, संसृष्टिरूपा सृष्टि, तदाधारभूता क्रिया, तन्मूलक सृष्टिकर्म्म, एवं-'क्रिया-कर्म्म' का समन्वय—

दुरधिगम्य प्रश्न का स्वरूप स्पष्ट है । **'मान लेना'**,-**'न मान लेना'**-**न मानते हुए भी मान लेना**,-**'मान कर भी कुछ नहीं समझना'**-'जान कर भी कुछ नहीं जानना' इसप्रकार के-**'नो न वेदेति वेद-च'**-**'यस्यामतं तस्य मतम्-मतं यस्य-न वेद सः'**-इत्यादि नीहारप्रावृतात्मिका स्थिति से अनुप्राणिता परात्पर-परमेश्वर की अनन्तता ने प्रश्न यही जागरूक कर दिया कि-यदि ब्रह्म अनाद्यनन्त है, सर्वपरिग्रहनिरपेक्ष है, असीम है, अत्यनपिनद्ध है, तो फिर ऐसे अनन्त-अखण्ड-असीम ब्रह्म से कदापि 'सृष्टिप्रवृत्ति' नहीं मानी जासकती । क्योंकि सृष्टि का स्वरूप है—**'संसृष्टि'** । 'संसृष्टि' का अर्थ है अनेक भावों-पदार्थों-वस्तुतत्त्वों का परस्पर एक बिन्दु पर अन्तर्य्यामात्मक यागसम्बन्ध से मिलकर अपूर्व स्वरूप में आजाना । यह यागसम्बन्ध एकप्रकार का वह **'सृष्टिकर्म्म'** है, जिससे संसृष्टिपूर्वक अपूर्व सृष्टिभाव आविर्भूत होते रहते हैं । 'कर्म्म' हीं 'क्रिया' का स्वरूप-परिचायक माना गया है । साध्यदशा में वही कर्म्म **'क्रिया'** है, सिद्धदशा में वही क्रिया **'कर्म्म'** है । इसी अभिन्नता के आधार पर-**'क्रिया-कर्म्म'** नामक एक अपूर्वशब्द व्यवस्थित हो गया है, जो कारणविशेष से प्रेतपितृकर्म्म में हीं निरूढ हो गया है । लोककर्म्म जहाँ केवल **'क्रिया'**, तथा केवल **'कर्म्म'** नाम से व्यवहृत होते हैं, वहाँ सूक्ष्मभूतानुबन्धी आतिवाहिक-प्राणशरीरानुबन्धी प्रेतपितृकर्म्म **'क्रियाकर्म्म'** नाम से ही लोकव्यवहार में प्रसिद्ध हो पड़ा है, जिसका अस्मत्प्रान्तीया भाषा में रूप है-**'किरिया-करम'** (क्रिया--कर्म्म) ।

३११-कामना-कृति--कर्म्म-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तन्मूलक-'कृतम्' भाव का समन्वय—

कर्म्म (सिद्धावस्थापन्न पदार्थस्वरूप कर्म्म) जिस क्रिया (साध्यावस्थापन्न कर्म्म) से सम्पन्न होता है, उसका मूल माना गया **है** कामना, इच्छा । बिना इच्छा, किंवा कामना के कदापि 'क्रिया' प्रवृत्त नहीं होती * । कामना हीं क्रिया का मूल है । एवं इस इच्छात्मिका कामना (जीवकामना), किंवा कामात्मिका इच्छा (ईश्वरेच्छा) का मूल है 'ज्ञान' । सापेक्ष-सोपाधिक सीमित काममय वह ज्ञान, जो कि ज्ञान काममय तप की आधारभूमि माना गया है । ज्ञान के द्वारा **इच्छा**, इच्छा के द्वारा प्राणव्यवहाररूपा (अन्तर्व्यापाररूपा) **'कृति'** (यत्न-चेष्टा) लक्षणा क्रिया, तद्द्वारा **'कर्म्म'** की स्वरूप--निष्पत्ति । एवं **इच्छा-कृति** (साध्य कर्म्मरूपा क्रिया), तथा **कर्म्म** [साध्यकर्म्मरूप कर्म्म], इन तीनों के एकत्र समन्वय से ही **'कृतम्'** रूप वस्तुभाव आविर्भूत होता है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।
कृतिजन्यं भवेत्कर्म्म, तदेतत्-'कृत' मुच्यते ॥

— प्रसिद्धसूक्तिः

***- अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् ।**
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्, तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥

—मनुः २।४।

३१२–मनःप्राणवाङ्मय इच्छा-तपः-श्रम-भावों का समन्वय—

ज्ञानशक्तिमय मन ही इच्छा का उक्थ है, मन से ही इच्छा का उदय माना गया है। क्रियाशक्तिमय प्राण हीं क्रिया का उक्थ है, प्राणव्यापार का नाम हीं 'कृति' रूपा क्रिया है। एवं अर्थशक्तिमयी वाक् ही कर्म्म का उक्थ है, वाग्व्यापार [भूतव्यापार] का नाम हीं 'कर्म्म' है। मनोमयी ज्ञानजन्या 'इच्छा' ही **'काम'** नाम से, प्राणमयी क्रिया ही **'तपः'** नाम से, एवं वाङ्मय कर्म्म ही **'श्रम'** नाम से व्यवहृत हुए हैं सृष्टिप्रतिपादक श्रौत सन्दर्भों में, जैसा कि–**"सोऽकामयत (मनसा), स तपोऽतप्यत**–(प्राणेन), **सोऽश्राम्यत् (वाचा)"**–इत्यादि से प्रमाणित है। काममय मन प्रतिष्ठित माना गया है–'हृदय' में (केन्द्र–गर्भ में)। **'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** (यजुःसंहिता) के अनुसार हृदयात्मक केन्द्र में हीं 'मन' नामक काममय तत्त्व प्रतिष्ठित माना गया है। केन्द्र होता है सीमितभाव में। सीमित वस्तु-मूर्त्ति में हीं केन्द्र-विष्कम्भ–परिणाह–आदि धर्म्म रहा करते हैं।

३१३–परात्परानुगता असीमा अनन्तता का समन्वय, एवं आनन्त्य-समन्वय की अविज्ञेयता, तथा–'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्' इत्यादि का संस्मरण—

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए हीं हमें असीम परात्पर परमेश्वर की अनन्तता को लक्ष्य बना लेना है। यदि परात्पर परमेश्वर निरपेक्षरूपेण अनन्त–असीम है, तो निश्चयेन उसका कोई केन्द्र नहीं हो सकता। क्योंकि केन्द्र सीमित सादिसान्त–मूर्त्ति में हीं अभिव्यक्त हुआ करता है। जब उस अनन्त का कोई केन्द्र ही नहीं, तो 'मन' का प्रश्न भी स्वतः ही निराकृत है। केन्द्राभाव में मन का अभाव, मन के अभाव में कामना का अभाव, कामना के अभाव में क्रिया की अनुपपति, क्रिया की अनुपपत्ति में कर्म्म का अभाव, एवं कर्म्म के अभाव में क्रिया-कर्म्म–मूला संसृष्टिलक्षणा सृष्टि का अभाव। यों असीम अनाद्यनन्त परात्पर परमेश्वर के सम्बन्ध में संसृष्टिमूला सृष्टि ही जब अनुपपन्न है, तो सृष्टिधारा की अनन्तता का अन्वेषण करते हुए सोपानपरम्परा के माध्यम से यदि मानव–प्रज्ञा अन्ततोगत्त्वा परात्परानन्तता पर पहुँच भी गई, तो एतावता ही प्रज्ञा ने कौनसा पुरुषार्थ प्राप्त कर लिया ?। प्रज्ञा गई थी सृष्टिधारा की अनन्तता की खोज करने, वह अनन्तता येनकेनरूपेण अनुमेया भी बनी परात्पर के माध्यम से। जिस सृष्टिधारा की अनन्तता के समर्थन करने के लिए अनन्तता खोजी गई थी, अनन्तता के लक्ष्य में आते ही उस निरपेक्षा अनन्तता ने सृष्टि-स्वरूप–प्रवृत्ति पर ही सहसा भयावह आक्रमण कर डाला। मानवप्रज्ञा की कौन कहे। स्वयं ऋषिप्रज्ञा भी इस अनन्त क्षेत्र में आकर इसी असमाधेया प्रश्नपरम्परा की अनुगामिनी बन जाती है, जैसा कि उसके इन दुरधिगम्य, किन्तु सहजरूपेण सर्वथैव सुगम उद्गारों से स्पष्ट है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे, यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

—ऋक्सं० १२९।६,७ मन्त्र

३१४–अप्राप्त की प्राप्ति से अनुप्राणित कामभाव, एवं अनन्तब्रह्म की अकामता, तथा तन्मूला निष्क्रियता का समन्वय—

युक्तं चैतत् । अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही कामना का उदय हुआ करता है । जो वस्तु हमें अप्राप्त है, अनुपलब्ध है, उसकी अभावपूर्त्ति के लिए ही तो इच्छा का उद्गम होता है । सीमित प्रज्ञा के लिए अनेक पदार्थ अनुपलब्ध हैं । अतएव सीमित प्रज्ञा उन अनुपलब्धों की उपलब्धि के लिए इच्छा किया करती है । किन्तु जो व्यापक है, असीम है, उसके लिए तो कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है । सबकुछ पहिले से ही वहाँ विद्यमान है, किंवा वह सबकुछ पहिले से ही बना रहता है । ऐसे आप्तकाम को तो **'अकाम'** ही माना जायगा । एवं राजर्षि के–**'अकामस्य क्रिया काचित्-दृश्यते नेह कर्हिचित्'** कथनानुसार ऐसे आप्तकाम-मूर्त्ति 'अकाम' अनन्त–असीम–परात्पर को कभी क्रियासाक्षी नहीं माना जायगा, जो कि काममयी क्रिया ही संसृष्टिमूला सृष्टि का आधार मानी गई है ।

३१५–'तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्' इत्यादि–मन्त्रभागार्थ–समन्वयप्रयास–

यदि परात्पर ससीम है काममय क्रियाभावानुबन्ध से, तो इस सादिसान्त सकाम–सक्रिय परात्पर से अभिव्यक्ता सृष्टिधारा अनाद्यनन्ता नहीं हो सकती । यदि परात्पर की अनाद्यनन्तता से सृष्टिधारा की अनाद्यनन्तता का समर्थन किया जाता है, तो अनन्त–अकाम–निष्क्रिय–परात्पर से काममूला–क्रियान्विता सृष्टि की प्रवृत्ति ही असम्भव प्रमाणित हो जाती है । **"सम्वत्सरप्रजापतिमूला सृष्टि अनाद्यनन्ता भी रहे, और इसकी सादिसान्तभावानुगता कामनाप्रवृत्ति का भी समन्वय सम्भव बन जाय,"** तभी सबकुछ व्यवस्थित बन सकता है । इसी व्यवस्थासूत्र का अपनी रहस्यपूर्णा संक्षिप्ततमा प्राणमयी अपौरुषेया पराभाषा में सङ्केत करते हुए ऋषिने कहा है–**'तेनेषितम्, तेन जातम् । तदु तस्मिन्प्रतिष्ठितम्'** ।

३१६–अनन्त-अचिन्त्य-ब्रह्म की अचिन्त्यता का समन्वय—

"परात्पर-परमेश्वर अनन्त है ?, अथवा सादिसान्त ? । अकाम है ?, अथवा सकाम ? । आप्तकाम है ?, अथवा लोककाम ?" इत्यादि प्रश्नविमर्शों का मानव की सादिसान्ता 'प्राकृतप्रज्ञा' से कोई सम्पर्क नहीं है । क्योंकि सम्वत्सरमूला मानवप्रज्ञा प्रकृति की सीमा में अन्तर्भुक्ता वैसी प्राकृत प्रज्ञा ही है, जो प्रकृति के परे के अप्राकृत भावों का चिन्तन कर ही नहीं सकती । अतएव प्रकृति से परे के अनाद्यनन्त अप्राकृत विवर्त्त 'अचिन्त्य' ही बने रहते हैं चिन्तनशीला, अतएव चिन्त्या मानव की प्राकृत प्रज्ञा के लिए–**'प्रकृतिभ्यः–परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्'** * । ऋषिप्रज्ञा भी प्रकृति से समन्विता प्रज्ञा ही तो है । अतएव उसके लिए भी,

---

***–अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।**
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥
—प्राचीनसूक्तिः

उसकी चिन्तनरूपा ÷ श्रुति के लिए भी जब वह अचिन्त्य है, अप्रतर्क्य है, अप्रज्ञात है, अलक्षण है, तो फिर अस्मदादि यथाजात प्राकृत मानवों की वैकारिकी प्रज्ञाभासरूपा प्रज्ञा की क्या कथा है उसके सम्बन्ध में ?।

३१७–'नत्वहं तेषु, ते मयि' का समन्वय, एवं ब्रह्म की अनन्तता—

ऋषिप्रज्ञा के द्वारा दृष्टा प्रकृतिरूपा शब्दश्रुति की बात भी छोड़िए । पञ्चपुण्डीरात्मक बल्शारूप विश्व की मूलप्रकृति, तत्त्वात्मक ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय वेदमूर्त्ति, परमाकाशात्मक अव्यक्त स्वयम्भू तो उस विश्वातीत अनन्त परात्पर के सन्निकटतम है । किन्तु स्वयम्भुरूपा यह परमाकाशात्मिका विश्वाध्यक्षा मूलप्रकृति भी तो उसके प्रकृत्यतीत आनन्त्य का मापदण्ड नहीं बन सकती । **ये उस में अवश्य हैं । किन्तु वह तो इन में (इन्हीं में) नहीं है** । व्याप्य ही व्यापक में रह सकता है, रहता है । किन्तु व्यापक को तो व्याप्य अपने में सीमित नहीं कर सकता–'नत्वहं तेषु, ते मयि' ।

३१८-परमाकाशात्मक स्वयम्भू ब्रह्म के द्वारा भी अविज्ञेय अनन्तब्रह्म—

अनन्त परात्पर के विदित नहीं किस अंश–प्रत्यंश–प्रत्यंशतर–प्रत्यंशतम–भाग में मूलप्रकृतिरूप अव्यक्त स्वयम्भू परमेव्योमन् विराजमान हैं । भला ये भी अपने उस अनन्त आधार की इयत्ता, स्वरूप का उपवर्णन कैसे कर सकते है ? । यह तो हमारी अपनी सीमिता प्रज्ञा की वैखरी भाषामात्र है । हमारे लिए तो मूलप्रकृतिरूप–अव्यक्त स्वयम्भुलक्षण परमेव्योमन् हीं जब अनन्त, अतएव अचिन्त्य ही बन रहा है, तो हम उसके लिए भी किस आधार पर यह कहने का साहस, किंवा दुःसाहस कर सकते हैं कि,-**'वह परमाकाशात्मिका स्वायम्भुवी मूलप्रकृति भी उस प्रकृत्यतीत अनन्त को नहीं जानती'** । संकोचपूर्वक डरते डरते अपनी उस मूलप्रकृति से इस धृष्टता के लिए क्षमा-याञ्चा करते हुए अधिक से अधिक हम नहीं, किन्तु ऋषि-प्रज्ञा भी केवल यही कह सकती है कि–**'जो इस पुण्डीर विश्व का परमाकाशात्मक स्वयम्भू नामक अव्यक्तलक्षण मूलप्रकृतिभाव है, कह नहीं सकते, वह भी उसे-जानता है, अथवा नहीं जानता– "योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सोऽङ्ग ! वेद, यदि वा न वेद"** ।

÷—सं विदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥
—श्रुतिः

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः–
पदे त्वर्वाचीने पतित न मनः कस्य न वचः ॥
—महिम्नस्तोत्रे

३१९–स्वायम्भुवी मूलप्रकृति का स्वारूपचिन्तन, प्रश्नपरम्परा की समाधानभूमि प्रकृति, एवं तन्माध्यम से ही दुरधिगम्या अचिन्त्यता के सम्बन्ध में प्रश्नोदय—

विश्वाध्यक्ष–परमाकाशरूप–अव्यक्त स्वयम्भू ही मूलप्रकृति है। यह उस प्रकृत्यतीत को जानता है, अथवा नहीं जानता ?, इस प्रश्न से तो हमारा (मानवप्रज्ञा का) कोई सम्बन्ध नहीं है। वह जाने तो ठीक है, न जाने तो ठीक है। किन्तु हमें जो कुछ जानना, और करना है, तत्सम्बन्ध की सम्पूर्ण समस्याओं की, प्रश्नपरम्पराओं की समाधानभूमि हमारे लिए तो यह परमाकाशात्मिका प्रकृतिदेवी अवश्य ही बन रही है। इसी की उपासना से हम उस दुरधिगम्य प्रश्न का भी तटस्थ समाधान तो प्राप्त कर ही सकते हैं, जिस तथोक्त प्रश्न का परात्पर की अनन्तता के प्रसङ्ग में सहसा गलग्रहरूपेण आविर्भाव हो पड़ा है।

३२०–असीम–व्यापक–अतएव अकेन्द्र अनन्तब्रह्म, एवं उसकी अमना–अप्राण–अवाक्-रूपता का दिग्दर्शन—

कल्पना कर सकते हैं कि, सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्पर परमेश्वर अनन्त है, असीम है, व्यापक है, दिग्देशकालानवच्छिन्न है, अतएव अकेन्द्र है, अतएव अमना है, अतएव अप्राण है, अतएव अवाक् है, अतएव सृष्टि के सामान्य अनुबन्धरूप काम–तपः–श्रम–धर्म्मों से असंस्पृष्ट है। अतएव रसैकघन ऐसे अकाम परात्पर से कदापि सृष्टिकामना का उदय नहीं हो सकता। और यह कहा भी किसने है कि, अनन्तरसैकघन परात्पर परमेश्वर से सृष्टि होती है ?।

३२१–सादि–सान्त सम्वत्सरप्रजापति, तन्मूला व्यक्तसृष्टि, एवं सृष्टिधारा का सादि-सान्तत्व—

हम तो सम्वत्सरप्रजापति से सृष्टिप्रवृत्ति बतला रहे हैं। सादिसान्त है सम्वत्सरप्रजापति, अतएव सादिसान्ता है सम्वत्सरप्रसूता सृष्टि। सादिसान्त सम्वत्सर के गर्भ में सम्वत्सर की विस्रस्ता प्रवर्ग्यमात्राओं से उत्पन्न–प्रसूत–जड़–चेतन–प्रजारूपा सृष्टि को कौन अनाद्यनन्त कह रहा है ?। सभी तो 'जायस्व–म्रियस्व' रूप से परिवर्त्तनशील हैं—'**जातस्य हि ध्रुवो–मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च**'। जो उत्पन्न हुआ है, वह अवश्य ही नष्ट होगा। अतएव न सम्वत्सर अनादि अनन्त है, नापि तत्प्रसूतिरूपा सृष्टि ही अनाद्यनन्ता है। हाँ–'सृष्टिधारा' अवश्य ही अनाद्यनन्ता है। क्योंकि सृष्टिधारा का मूलभूत सम्वत्सरचक्र अनाद्यनन्त ही है। सम्वत्सर, और सम्वत्सरचक्र, एवं सृष्टि, तथा सृष्टिधारा, इस द्वन्द्व का समन्वय कर लेने के अनन्तर सभी प्रश्न स्वतः ही निराकृत हो जाते हैं। सम्वत्सर, और सृष्टि, दोनों सादि–सान्त हैं। एवं सम्वत्सरचक्र, और सृष्टिधारा, दोनों अनाद्यनन्त हैं।

३२२–सम्वत्सरचक्र के 'चक्र' शब्द से, सृष्टिधारा के 'धारा' शब्द से आनन्त्योपलब्धि का प्रयास, एवं अनन्त बलों के माध्यम से अनन्त रस का संस्मरण—

नहीं समझे ?, कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ अभीतक प्रज्ञा को। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् !! 'चक्र' और 'धारा', इन दोनों शब्दों की सबला शक्ति से ही तो परिचय प्राप्त कर लेना है इस उपलब्धि के लिए।

और चक्रात्मिका इस 'धारा' की सबला शक्ति का परिचय प्राप्त करने के लिए हमें उस विश्वातीत अनन्त परात्पर की ही शरण में चले चलना है बिना संकोच के। 'सर्वबलविशिष्टरसैकघनता' ही परात्परता है, यही है इसकी अनन्तता, जिसमें **अनन्तबल,** और **अनन्तरस,** नामक दोनों आनन्त्य समन्वित हैं। बलों का आनन्त्य **संख्यानन्त्यानुगत** है, तो रस का आनन्त्य **दिग्देशकालानवच्छिन्नता-लक्षण आनन्त्य है।**

३२३–संख्यात्मक 'कलनभाव', एवं संख्यातीत निष्कलभाव—

असंख्य हैं बल, जिनकी गणना ही असम्भव है। अगणितगणन से समन्वित संख्यानन्त्य ही बलों की अनन्तता है, जबकि प्रत्येक बल स्वरूपतः दिग्देश–काल से सादिसान्त है। उधर एक ही–अद्वितीय ही–ब्रह्म रूप ही है वह रस *, जो गणनसंख्यापेक्षया निरपेक्ष एकत्व से समन्वित रहता हुआ, दिग्देशकालभावों से असंस्पृष्ट प्रमाणित होता हुआ स्वस्वरूपतः अनन्त है। अनन्तता **रस,** और **बल,** इन दोनों ही भावों में हैं–**अतएव सर्वमिदं परात्परविवर्त्त–अनन्तमेव।** हाँ, अनन्तता अवश्य ही दोनों की पृथक् पृथक् स्वरूप रख रही है। बलों की अनन्तता संख्यात्मक '**कलन**' भाव से अनुप्राणित है, तो रस की अनन्तता संख्यातीत 'अकलरूप'–'**निष्कल**' भाव से अनुप्राणिता है। एक '**सकल**' रूप से '**सम्पूर्ण**' है, तो एक '**निष्कल**' रूप से **परिपूर्ण** है।

३२४–व्यवहारभाषानुगत 'सकल' शब्द की पूर्णता, तदनुबन्धी सकल (खण्डात्मक–अपूर्ण) बल, एवं तदाधारभूत निष्कल–अनन्त रसब्रह्म—

अतएव व्यवहारभाषा में 'सकल' शब्द भी अनन्तता का संग्राहक बन गया है, जैसाकि–'**सकल**-ब्रह्माण्डाधिनायक'–आदि व्यवहारों से स्पष्ट है। सकल (कलनात्मिका कलाओं **से** युक्त) बलतत्त्व (प्रत्येक) अपने अपने स्वरूप से एक एक स्वतन्त्र केन्द्र है, अणोरणीयान् केन्द्रबिन्दुस्वरूप **है,** तो निष्कल रसतत्त्व का कोई नियत केन्द्र नहीं है। '**निष्कल रस**'-दृष्ट्या वही अनन्त परात्पर (दिग्देशकालानवच्छिन्न परात्पर) अकेन्द्र, अतएव अमनस्क, अतएव अकाम, अतएव निष्क्रिय, अतएव सृष्टधर्म्म से सर्वथा असंस्पृष्ट **है,** तो '**सकलबल**'–दृष्ट्या वही अनन्त परात्पर (कलनात्मक संख्यानन्त्य से–बलानन्त्य से अनन्तभावापन्न परात्पर) अपनी प्रत्येक बलबिन्दु से, बिन्दु बिन्दु से सकेन्द्र है, अतएव समनस्क है, अतएव सक्रिय है, अतएव च सृष्टधर्म्म से सर्वात्मना संस्पृष्ट है। परात्पर का कोई केन्द्र नहीं अनन्त-रसदृष्ट्या। अतएव परात्पर से कदापि सादिसान्ता सृष्टि की प्रवृत्ति सम्भव नहीं। साथ ही परात्पर की प्रत्येक बलबिन्दु केन्द्र ही केन्द्र है। अतएव परात्पर से ही, इसके विशेषबलात्मक धाराबल से ही **सृष्टि,** और अनाद्यनन्ता **सृष्टिधारा** की प्रवृत्ति सततरूपेण प्रक्रान्ता है।

३२५–कलनभावात्मक कलारूप काल, एवं तदनुबन्धी कालरूप बलभावों के कोशात्मक महिमा-विवर्त्तों का संस्मरण—

अनन्त–असंख्य–गणनात्मक–कलन–भावों के कारण हीं इस परात्परबल का पारिभाषिक नाम रक्खा जायगा–'कलनात्मकत्वेन–'**कालः**'। 'कल संख्याने, शब्दे च' रूपा धातुमर्य्यादा भी काल के इस गण–

***–एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। नेह नानास्ति किञ्चन।**

—श्रुतिः

नात्मक संख्यानभाव का ही समर्थन कर रही है, जैसा कि खण्डारम्भ में हीं स्पष्ट किया जा चुका है। कलनात्मक कालरूप यह परात्परबल गणनसंख्या से अनन्त (असंख्य) बनता हुआ भी अपनी कोशमर्य्यादा से १६ श्रेणिविभागों में हीं विभक्त माना गया है, जो १६ महान्बल **'षोडशबलकोश'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जिन का अन्य निबन्धों में यत्रतत्र यथाप्रसङ्ग संक्षेप, तथा विस्तार से स्पष्टीकरण हो चुका है। इन सोलह कोशबलों में भी १५ कोशबलों का एक विभाग है, सर्वादिभूत एक बलकोश का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं वही 'मायाबलकोश' कहलाया है, जिस की सीमा में शेष १५ हीं कोशबल प्रतिष्ठित हैं। यों 'मायाबलकोश' के ग्रहण से १६ हीं कोशबल परिगृहीत बन जाते हैं। इन सोलह बलकोशों में (प्रत्येक बलकोश में) अगणित असंख्य–अनन्त–बल गर्भीभूत हैं। इन अनन्त–असंख्य–अगणित बलों को स्व स्व कोशों में गर्भीभूत रखने वाले मायादि सोलह बलकोशों की समष्टि ही **'मायाकोश'** नामक एक ही महान् बलकोश है। और रससमुद्ररूप उस अनन्त परात्परधरातल पर ऐसे ऐसे षोडश–बलकोशात्मक 'मायाकोश' रूप बलकोश भी अगणित–असंख्य–अनन्त हीं हैं बुद्बुद्भावों से समतुलित। अनन्त असंख्य बलों से युक्त षोडशबलकोशात्मक अनन्त–असंख्य 'मायाकोश' नामक एक एक महाबल (अनन्तबल) 'मायी महेश्वर' नामक एक एक अश्वत्थब्रह्म की अभिव्यक्ति का कारण बन रहा है। और यों अनन्त है इस अनन्त परात्पर के अनन्तबलकोशात्मक महामायाबलकोशों का विस्तार, जो कि बलात्मक विस्तार बलकलानुबन्धी कलनात्मक 'कालविस्तार' ही माना गया है।

३२६–सुषुप्ति–जाग्रत–निर्गच्छत्–रूपा बलानुबन्धिनी अवस्थात्रयी, चक्रबलानुगत धाराबल, एवं ब्रह्म की कालातीतता का समन्वय—

यह सर्वात्मना अवधेय है कि, बल की **सुषुप्त्यवस्था, जाग्रदवस्था, निर्गच्छदवस्था,** रूपेण तीन अवस्थाएँ मानीं हैं वैज्ञानिकों नें। रस में अपीत बल सुषुप्त है, यही बल की 'अव्यक्तावस्था' है। रसाधारेण गतिशील बन जाने वाला बल ही जाग्रत है, यही बल की जाग्रदवस्था है। अन्ततोगत्त्वा व्यक्तबल पुनः रस में अन्तर्लीन हो जाता है, यही इस बल की निर्गच्छदवस्था है, एवं यही अव्यक्तावस्था है। उपक्रम में अव्यक्त, मध्य में व्यक्त, पुनः अन्त में अव्यक्त, यही वह धारावाहिक चङ्क्रमण है बलों का, जिस धारावाहिक चक्रबल का ही नाम है–**'धाराबल'**, जो मायाबल के अनन्तर मायासीमा में हीं जागरूक होता है। मायाबल की सुषुप्ति सम्पूर्ण बलों की सुषुप्ति है। यही बलमात्र की अव्यक्तावस्था है। ऐसी अवस्था में बलों का रहना न रहने के ही समान है। इस प्रथमावस्था का नाम हीं **है–"सर्वबलविशिष्टरसैकघनपरात्पर"**। **'रसैकघनता'** का अर्थ **है–'सर्वबलाव्यक्तावस्थात्मक रसैकघन परात्पर"**। अतएव कलनात्मक–बलकाल के (परात्पर में) विद्यमान रहने पर भी इन बलों की अव्यक्तावस्थारूपा सुषुप्ति के कारण परात्पर को शुद्ध रसरूप ही मान लिया गया है ÷। अतएव उसे (रसैकघनतानुबन्ध से ही) **'कालातीत'** कह दिया गया है, जब कि कालात्मक अव्यक्तबीज परात्पर में भी विद्यमान तो है ही।

÷ रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा–आनन्दी भवति।

–उपनिषत्

३२७–कालपुरुषानुगत काममय सृष्टिबीज का संस्मरण—

कलनात्मक–मायाबलरूप–उस अव्यक्तावस्थापन्न–कालबीज का व्यक्तीभाव हुआ तद्गर्भित धाराबल के द्वारा। यही व्यक्तबल 'माया' कहलाया। मायाबलात्मक कालबल का नाम हीं हुआ **'प्रकृति'** *। इस मायाप्रकृति की मायामयी व्यक्ता बलसीमा से सीमितवत् बन जाने वाला बिन्दुमात्र परात्परांश ही बलदृष्ट्या सीमित 'पुरुष' कहलाने लग पड़ा, एवं इसी का नाम हुआ **'मायी महेश्वर'**। मायावृत्तात्मक इस प्रकृतिरूप कालवृत्त (छन्दोवृत्त-सीमावृत्त) से ही मायामय परात्पर–पुरुष में केन्द्रभाव, अतएव मनोभाव अभिव्यक्त हो पड़ा, जिस की **'एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय'** रूपा कामना का नाम हीं हुआ **'सृष्टिबीज'**, जिस का निम्नलिखित मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

—ऋक् सं० १०।१२९।४।

३२८–कामरेत की स्वरूप–महिमा का अनन्त–विस्तार, तद्द्वारा सर्वप्रपञ्चोद्भव, तत्रैव सर्वं प्रतिष्ठितं, एवं नगम–मन्त्रार्थ संस्मरण—

महामायी षोडशीपुरुषात्मक सहस्रबल्शेश्वर का हृदयस्थ भाव ही काममय मन है, जिसका परात्पर के सद्भावरूप रस के आधार पर उसी के असद्भावरूप बल में ग्रन्थिबन्धन होता है हृत्प्रदेश में। एवं सदसत्-रसबलात्मक हृदयावच्छिन्न यह मनोमय 'काम' हीं सम्पूर्ण सृष्टियों का **'रेत'** (मूलबीज) बनता है भार्गवाङ्गिरसाग्नि-सोम-रूप कवियों की प्रज्ञा के माध्यम से (पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोरूप प्राणमूर्त्ति महदक्षर के माध्यम से क्षरसमन्वयपूर्वक)। महेश्वरप्रजापति की मूलकामना आगे चल कर एकबल्शेश्वरात्मक योगमायावच्छिन्न **विश्वेश्वर** में, तद्द्वारा **पञ्चोपेश्वरों** में, तद्द्वारा अदितिमण्डलात्मक सम्वत्सरचक्र में प्रतिष्ठित ईश्वर-प्रजापति (सम्वत्सरप्रजापति) में प्रतिष्ठित होती है। इसी मनोमयी कामना से तत्तद्विवर्त्तों के सूक्ष्मतम-सूक्ष्मतर-सूक्ष्म-स्थूल-स्थूलतर-स्थूलतम-प्राण-भूतादि पदार्थ अभिव्यक्त-उत्पन्न होते रहते हैं। ये सब **'इषित'**, और **'जात'** विवर्त्त, एवं इच्छापूर्वक उत्पन्न सृष्टियाँ यद्यपि **महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर**–नामक प्रजापतियों की ही इच्छाएँ, तथा सृष्टियाँ हैं। तथापि इन प्रजापतियों की इच्छा का मूलाधार तत्त्वतः सीमाभावात्मक वह 'मायाबल' ही है, जो कलनात् 'कालः' बन रहा है। उस मायावृत्तात्मक कालसीमावृत्त से ही केन्द्रभाव उदित है, तत्रैव मनोमयी इच्छा व्यक्त है। स्वयं वृत्त 'मायाबलात्मक काल है, तो तदनुगत हृदयबल भी बलत्त्वेन 'काल' ही है। तो तत्र प्रतिष्ठित **'बलचिति'** रूप मन भी कलात्मक बलानुबन्ध से काल ही है। तो मनोमयी इच्छा भी बलप्राणात्मिका बनती हुई कालरूपा ही है। तो इस इच्छा से उपादान बनने वाला क्षर भी व्यक्तबलात्मकत्त्वेन काल ही है। तो क्षरकाल से उत्पन्न सृष्ट पदार्थ भी बलों की संसृष्टिमात्र बनते हुए कलाधर्म्मत्त्वेन 'काल' ही तो हैं। इसप्रकार महाकालात्मक सर्वाधारभूत मायाकाल से आरम्भ कर तद्गर्भीभूत पञ्चकल अव्यय, उसका मन, मन की इच्छा, इच्छामय पञ्चकल अक्षर, तदभिन्न पञ्चकल क्षर, क्षर

---

* **मायां तु प्रकृतिं–विद्यात्, मायिनं तु महेश्वरम्।**

से उत्पन्न सम्पूर्ण सृष्टिविवर्त्त, सबकुछ कालात्मक ही (बलात्मक ही–प्रकृत्यात्मक ही) तो हैं। काल ही अपने मूलरूप से सीमावृत्त बनाता हुआ पुरुषस्वरूपमाध्यमेन इच्छा का प्रवर्त्तक है, तो यही इच्छारूप काल आगे जाकर बलचित्यात्मक क्षरकाल के रूप से–'क्षर: सर्वाणि भूतानि' न्यायेन सृष्ट–उत्पन्न–जात–भावों में परिणत हो रहा है। यों रसाधारेण चक्रधारारूपेण सनातन बना रहने वाला कालचक्र ही इच्छापूर्वक सबकुछ बना रहा है कालरूपात्मक ही। वही अपने वृत्तरूप से आधार है, तो वृत्त से वृत्त बलचितिरूप से वस्तुस्वरूप में परिणत होता हुआ आधेय भी प्रमाणित हो रहा है। वही छन्द:कालरूप से स्रष्टा है, एवं छन्दितकालरूप से सृष्टि है। वही 'वयोनाध'रूप से 'काल' है, तो वही 'वयो' रूप से कालिक पदार्थ है। वह (छन्दितवय) अपने रूप में (छन्दोरूप में) हीं प्रतिष्ठित है। और निश्चयेन वही, मूलभूता महामायारूपा मूलकालप्रकृति ही पार्थिव अदितिमण्डलात्मक सम्वत्सरचक्र में परिणत हो रही है, एवं वही सम्वत्सरमूला प्रजा के रूप में परिणत हो रही है। बलात्मक–प्रकृतिरूप–काल के इसी व्यष्टिगर्भित समष्टिरूप को लक्ष्य बनाते हुए ऋषि ने कहा है—

"तेनेषितं, तेन जातं, तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्"।

३२९–कालकामना से उत्पन्ना सृष्टि की स्वरूप-जिज्ञासा, एवं तत्समाधानाधारभूता रसात्मिका भावसृष्टि का स्वरूप-समन्वय—

कालप्रजापति से इषित, तथा जात सृष्टिविवर्त्त का क्या स्वरूप है?, अब इसी सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो जाता है। काल की इच्छा से जाता–उत्पन्ना–सृष्टि का क्या स्वरूप?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए ऋषि कहते हैं–'**कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम्**'। बलात्मिका, किंवा बलकोशात्मिका प्रकृति ही 'काल' की स्वरूप-व्याख्या है, जो प्रकृतिरूप काल अपने प्राणात्मक व्यक्त–मूलभूत महामायात्मक महाछन्दोरूप से सर्वप्रथम उस '**मायी महेश्वर**' विवर्त्तरूप में परिणत होता है, जो महेश्वर त्रिपुरुषपुरुषात्मक '**षोडशी प्रजापति**' नाम से प्रसिद्ध है। इसके परात्पराभिन्न पञ्चकल **अव्यय**, अव्ययाभिन्न पञ्चकल **अक्षर**, एवं अक्षराभिन्न पञ्चकल **आत्मक्षर**, नामक तीन मन:–प्राण–वाग्–रूप विवर्त्त सुप्रसिद्ध हैं। इन तीनों विवर्त्तों के द्वारा होने वाली बलात्मिका सृष्टियाँ हीं '**कालसृष्टि**' कहलाई हैं। अव्ययानुगता कालसृष्टि में बल गौण बना रहता है, एवं रस प्रधान। अतएव अव्ययात्मसृष्टिरूपा बलसृष्टि (कालसृष्टि) '[1] **रससृष्टि**' कहलाएगी। एवं बलत्त्वेन 'प्रकृतिसृष्टि' मानते हुए भी रसप्रधानतया कहा जायगा इसे '**पुरुषसृष्टि**' ही। यही प्रथमा सृष्टि अव्ययमनोरूपा '**भावसृष्टि**' कहलाई है, जिसमें दिग्देश का अभाव है।

३३०–कालप्रकृत्यनुबन्धिनी परा गुणसृष्टि, एवं अपरा विकारसृष्टि का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा तदनुबन्धिनी विभूति-योग-याग-भावत्रयी—

दूसरी अक्षरात्मसृष्टिरूपा बलात्मिका कालसृष्टि में रस–बल दोनों समभावापन्न हैं। अतएव इसे–[2]'**रसबलसृष्टि**' माना जायगा, इसे ही '**पराप्रकृतिसृष्टि**' कहा जायगा, एवं इसे ही '**गुणसृष्टि**' माना जायगा। तीसरी आत्मक्षरात्मिका बलसृष्टि बलप्रधाना सृष्टि है। अतएव इसे '[3]**बलसृष्टि**' माना जायगा, इसे

ही 'अपराप्रकृतिसृष्टि' कहा जायगा, एवं इसे ही 'विकारसृष्टि' माना जायगा। अव्ययानुगता **रससृष्टि**, अक्षरानुगता **रसबलसृष्टि**, एवं क्षरानुगता **बलसृष्टि**, तीनों एक ही बल के रस के साथ होने वाले **विभूति-योग-याग**-नामक तीन विभिन्न सम्बन्धों के हीं विभिन्न तीन परिणाम माने जायँगे।

३३१-सृष्टित्रयी से अनुप्राणित त्रयोदशविध (१३) त्रयी-(३)-विवर्त्तों का समन्वय-दिग्दर्शन—

विभूतिसम्बन्धावच्छिन्ना बलसृष्टि ही **'रससृष्टि'** होगी, योगसम्बन्धावच्छिन्ना सृष्टि ही **'रसबलसृष्टि'** होगी, एवं योगसम्बन्धावच्छिन्ना सृष्टि ही **'बलसृष्टि'** होगी। रससृष्टि दिग्देश से असंस्पृष्टा मानी जायगी, रसबलसृष्टि देश से असंस्पृष्टा कही जायगी, एवं बलसृष्टि को देशप्रदेशात्मिका सृष्टि कहा जायगा। तीनों को क्रमशः **मनःसृष्टि-प्राणसृष्टि-वाक्सृष्टि** भी कहा जासकेगा। तथैव ये ही तीनों **ज्ञानसर्ग-क्रियासर्ग-भूतसर्ग**, नाम से भी व्यवहृत होंगे। एवं दृष्टिकोणभेद से इन्हीं तीनों को **कालसर्ग-दिक्सर्ग-देशसर्ग**-भी कहा जासकेगा। ये ही तीनों सृष्टिविवर्त्त **पुरुषसर्ग-प्रकृतिसर्ग-विकृतिसर्ग** भी माने जासकेंगे। इन्हीं के **भावसर्ग-गुणसर्ग-विकारसर्ग**-ये नामान्तर भी हो सकेंगे। अन्ततोगत्त्वा इन्हीं तीनों को **ब्रह्मसृष्टि-यज्ञसृष्टि-मैथुनीसृष्टि**-भी कहा जासकेगा, जिनके व्यावहारिक नामविवर्त्त होंगे—**ऋषिसृष्टि-देवसृष्टि-पितृसृष्टि**, ये। तीनों में अव्ययसृष्टि के भावात्मक सभी विवर्त्त रसप्रधानतया विभूति-सम्बन्धत्त्वेन **'असृष्टिभाव'** ही कहे जायँगे। एवं इस दृष्टि से 'सृष्टि' शब्द की मर्य्यादा से केवल उत्तर की दोनों सृष्टियों को ही (गुणसृष्टि, विकारसृष्टिरूपा अक्षर-क्षरात्मिका प्रकृतिसृष्टियों को ही) 'सृष्टि' कहा जायगा, जिनमें अक्षरमूला गुणसृष्टि को कहा जायगा अमूर्त्त-अव्यक्त-काल की **अमूर्त्तसृष्टि**, एवं क्षरमूला विकारसृष्टि को कहा जायगा मूर्त्त-व्यक्त-काल की **'मूर्त्तसृष्टि'**। अमूर्त्तसृष्टि प्राणप्रधाना बनती हुई देशभावों से असंस्पृष्टा रहेगी, मूर्त्तसृष्टि धामच्छद-भूतप्रधाना बनती हुई दिग्देशकाल से संस्पृष्टा रहेगी। यों-**'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे-मूर्त्तं च, अमूर्त्तञ्च, सच्च-त्यच्च'** रूपेण सत्-त्यम्-रूप (सत्यंरूप) कालब्रह्म की अमूर्त्ता गुणसृष्टि, तथा मूर्त्ता विकारसृष्टि, ये दो सृष्टियाँ हीं-'सृष्टि' शब्द की मुख्यरूप से अधिकारिणीं मानलीं जायँगी, और यही कालसृष्टि का अथ से इतिपर्य्यन्त का संक्षिप्त इतिवृत्त होगा, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

(१) विभूतिसर्गः	(२) योगसर्गः	(३) यागसर्गः
रससृष्टिः	रसबलसृष्टिः	बलसृष्टिः
पुरुषसृष्टिः	पराप्रकृतिसृष्टिः	अपराप्रकृतिसृष्टिः
अव्ययसृष्टिः	अक्षरसृष्टिः	क्षरसृष्टिः
मनःसृष्टिः	प्राणसृष्टिः	वाक्सृष्टिः
ज्ञानसर्गः	क्रियासर्गः	भूतसर्गः
कालसर्गः	दिक्सर्गः	देशसर्गः
ब्रह्मसृष्टिः	यज्ञसृष्टिः	मैथुनीसृष्टिः
भावसर्गः	गुणसर्गः	विकारसर्गः
पुरुषसर्गः	प्रकृतिसर्गः	विकृतिसर्गः
ऋषिसर्गः	देवसर्गः	पितृसर्गः
तदेव कालब्रह्म–	सच्च	त्यञ्च
	अमूर्त्तञ्च	मूर्त्तञ्च
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे–मूर्त्तञ्च, अमूर्त्तञ्च		

अव्ययसृष्टिः—भावसर्गः—

महर्षः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक, इमाः प्रजाः ।। (गीता १०।६।) ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः (गीता० १०।५।) ।

अक्षराक्षरात्मिका प्रकृतिसृष्टिः गुण-विकार-सर्गौ

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।।
—गीता० १३।१९।

३३२–अमूर्त्त मूर्त्त–सृष्टियों के उपक्रम–स्थान की जिज्ञासा, तत्समाधान–परक 'ब्रह्म', तथा 'परमेष्ठी' भाव की स्वरूप–महिमा का यशोवर्णन, एवं नवम मन्त्रार्थ–समन्वयोपराम—

अत्र काल के विश्वसर्ग में हमें यह अन्वेषण करना है कि, काल की प्रकृतिमूला (अक्षर–क्षरमूला) अमूर्त्त–मूर्त्त–सृष्टियों का उपक्रम–स्थान कौनसा है ? । जहाँतक अव्ययात्मिका भावसृष्टि-मानसीसृष्टि का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में तो अन्वेषण व्यर्थ है, उसीप्रकार, जैसेकि दिक्–देश से पृथग्भूत, अव्यक्तावस्था में परिणत अमूर्त्त काल के सम्बन्ध में अन्वेषणात्मक प्रश्न सर्वथा व्यर्थ ही प्रमाणित हो जाता है । अतएव अन्वेष्टव्यकोटि में अब **अमूर्त्ता गुणसृष्टि**, तथा **मूर्त्ता विकारसृष्टि**, ये दो विवर्त्त ही शेष रह जाते हैं, जिन के महान् प्रतीक ही नहीं, अपितु महान् प्रतिमाभाव ऋषिप्राणमूर्त्ति **अव्यक्त स्वयम्भू**, तथा व्यक्ताव्यक्त **आपोमय परमेष्ठी** ही बन रहे हैं । आकाशात्मा स्वयम्भू ही पञ्चतन्मात्रारूप गुणभूतों का मूलप्रवर्त्तक है, तथा वाय्वात्मा परमेष्ठी ही पञ्चमहा–भूतात्मक विकारभूतों का मूलप्रवर्त्तक है । 'ब्रह्म' नामक ÷ स्वयम्भू, तथा 'सुब्रह्म' नामक परमेष्ठी ही विश्व की यच्चयावत् अमूर्त्त–मूर्त्त–रूप–गुण–विकार–सृष्टियों के सर्वस्व बने हुए हैं । योगमायावच्छिन्न योगमायारूप कालवृत्त ही '**बलयोगसम्बन्ध**' से सर्वप्रथम ब्रह्मस्वयम्भूरूप में परिणत होता हुआ गुणसर्गात्मिका अमूर्त्तसृष्टि का प्रवर्त्तक बन रहा है, एवं वही कालवृत्त '**बलयागसम्बन्ध**' से सुब्रह्म परमेष्ठीरूप में परिणत होता हुआ विकारसर्गात्मिका मूर्त्तसृष्टि का प्रवर्त्तक बन रहा है । यों भावसर्गात्मक, छन्दःपुरुषरूप*–अव्यय–पुरुषात्मक वृत्तात्मक–मायाबललक्षण कालपुरुष ही ब्रह्मरूप से (स्वयम्भुरूप से) गुणात्मक अमूर्त्तसर्गरूप **दिक्सर्ग**,

---

÷ ब्रह्म वै स्वयम्भू–अभ्यानर्षत् ।

* छन्दःपुरुषमिति यमवोचामः–(ऐतरेय आरण्यक) ।

तथा परमेष्ठीरूप से विकारात्मक मूर्त्तसर्गरूप देशसर्ग–रूप में परिणत हो रहा है । दोनों में अमूर्त्त गुणसर्गात्मक स्वयम्भू ब्रह्म ही क्योंकि अपने यजुर्मय वाग्भाग से द्रुत होकर आपोमय परमेष्ठीरूप में परिणत हुआ है। परमेष्ठी को अपने वाग्भाग से उत्पन्न कर–'त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्-तत आण्डं समवर्त्तत' रूपेण प्रतिष्ठारूप से यही ब्रह्मस्वयम्भु परमेष्ठी की आधाररूपा प्रतिष्ठा बन रहा है । सहजभाषानुसार–'ब्रह्म वै प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।७।) रूपेण ब्रह्म स्वयम्भूरूप अमूर्त्तभाव ही परमेष्ठीरूप मूर्त्त को धारण किए हुए है। अतएव इसी उभयविध कालसर्ग को (गुण–विकार–सर्ग को, अमूर्त्त–मूर्त्तसर्ग को), लक्ष्य बना कर ऋषिने कहा है—

कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम् ॥

इति--नवममन्त्रार्थसमन्वयः

६

—※—

(१०)–दशममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण [दशममन्त्रार्थ]

३३३-'कालः प्रजा असृजत' इत्यादि दशम मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय—

(१०) कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयम्भूः, कश्यपः कालात्, तपः कालादजायत ॥

"कालने प्रजा उत्पन्न की । सर्वप्रथम काल ने हीं प्रजापति को उत्पन्न किया। काल से ही स्वयम्भु अभिव्यक्त हुए, काल से ही कश्यप व्यक्त हुए, (एवं) काल से ही तप उत्पन्न हुआ"– इत्यक्षरार्थक प्रस्तुत दशम मन्त्र के द्वारा काल के विविध अमूर्त्त–मूर्त्त–स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य उन अव्यक्ताव्यक्त (गुण–विकार) सर्गों का ही समष्टिरूप से संस्मरण किया है महर्षिने अपनी स्वयंसिद्धा सहजा रहस्यपूर्णा परावाक् के माध्यम से, जिसका दो शब्दों में संस्मरण कर हम भी अपनी वैखरी वाणी को सत्यभावानुगता बनाने की अक्षम्या धृष्टता कर लेते हैं ।

३३४–छन्दोमूर्त्ति महाकालपुरुष के दो प्रमुख सर्ग, एवं तदनुगत प्रजापति, और प्रजा–शब्दद्वयी का संस्मरण—

नवम मन्त्रार्थ–समन्वयोपसंहार करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, महामायाबलात्मक छन्दोमूर्त्ति महाकालपुरुष के **स्वयम्भू,** और **परमेष्ठी** नामक दो ही प्रमुख सर्ग हैं, जिन्हें क्रमशः अमूर्त्त–मूर्त्त-सर्ग कहा गया है । स्वयम्भू , और परमेष्ठी, ये दोनों हीं शब्द लोकसामान्यजगत् के लिए आरम्भ में थोड़े नवीन से, अतएव दुर्बोध्य से बने रहते हैं । अतएव उन्हीं के स्थान में ऋषि लोकप्रचलित प्रजापति, और प्रजा, इन दो व्यावहारिक शब्दों के माध्यम से काल के अमूर्त्त–मूर्त्त–सर्गों को व्यक्त कर रहे हैं ।

३३५--मनःप्राणवाङ्मय आत्मप्रजापति, रूपकर्म्मनाममयी शरीरप्रजा, एवं अमृत-मृत्यु--भावों का समन्वय—

'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' के अनुसार जो कुछ भी हमें प्रतीत हो रहा है, समष्ट्या–व्यष्ट्या–वह सब 'प्रजापति' ही है, जिसके **'आत्मा'**, और **'शरीर'** नामक पर्व सुप्रसिद्ध हैं। शरीर से समन्वित

आत्मा का नाम हीं **आत्मा** है, एवं आत्मविशिष्ट शरीर का नाम हीं **'शरीर'** है। आत्मा (शरीर से समन्वित–आत्मन्वीरूप आत्मा) हीं **'प्रजापति'** है, जो **मनःप्राणवाङ्मय** है, यही **'अमृतम्'** है। एवं शरीर (आत्मविशिष्ट आत्मन्वीरूप शरीर) ही **'प्रजा'** है, जो **रूपकर्म्मनाममयी** है, यही 'मर्त्यम्' है। अमृत-प्रजापति अक्षर–प्रधान है, मर्त्या प्रजा क्षर–प्रधाना है। अमृताक्षररूप प्रजापति ही उस काल की प्रथमा (अग्रे) अमृतासृष्टि है, यही गुणात्मिका (सगुणात्मलक्षणा) अमूर्त्तसृष्टि है। एवं मर्त्यक्षररूपा प्रजा ही उस काल की द्वितीया मर्त्यासृष्टि है, यही विकारात्मिका मूर्त्तसृष्टि है। प्रजापतिरूप अमृताक्षरात्मा, तथा प्रजा-रूप मर्त्यक्षरशरीर, दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही है–**'अहम्'** नामक (मूर्त्तामूर्त्त–समन्वित) सर्ग, जैसाकि–**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !'** इत्यादि से स्पष्ट है।

३३६–'काल· प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्' मन्त्रपूर्वार्द्ध का संस्मरण–समन्वय–

हम (मानव) अपनी अध्यात्मसंस्था के लिए जिस–**'अहमस्मि'** (**'मैं हूँ'**) इस प्रत्यभिज्ञा का अनुगमन करते रहते हैं, इस एक ही 'अहम्' में **आत्मा** और **शरीर**, **अमृत** और **मर्त्य**, **अमूर्त्त** और **मूर्त्त**, **गुण**–और **विकार**, एवं **प्रजापति**, तथा **प्रजा** दोनों हीं समाविष्ट हैं। प्रजापति (आत्मा) भी प्रजा (शरीर) से समन्वित है, एवं प्रजा (शरीर) भी प्रजापति (आत्मा) से समन्वित है। मनःप्राणवाङ्मय **आत्म–प्रजापति**, एवं नामरूपकर्म्ममयी–**शरीरप्रजा**, दोनों हीं क्रमशः **अव्यक्त स्वायम्भुवसर्ग**, तथा **व्यक्त पारमेष्ठ्यसर्ग** हैं, जिनका मन्त्रपूर्वार्द्ध में महर्षि ने **'प्रजापति'**, और **'प्रजा'**, इन दो व्यावहारिक–लोकप्रचलित शब्दों के माध्यम से ही संग्रह करलिया है। और–**'कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्'** का यही अक्षरार्थ–समन्वय है।

३३७–प्रजापति से आविर्भूता चतुर्विधा प्रजा का नाम–स्मरण—

अभी स्थिति का तत्त्वदृष्ट्या सर्वात्मना समन्वय नहीं हुआ। अतएव ऋषि को आगे चलकर कहना पड़ा कि–**"स्वयम्भूः, कश्यपः कालात्,-तपः कालादजायत'**। समन्वय कीजिए इस मन्त्रार्द्ध का भी अपनी सहजा आस्थाश्रद्धापरिपूर्णा सत्त्वप्रज्ञा से ही। मनःप्राणवाङ्मय अव्यक्त स्वयम्भू ही प्रकृत मन्त्र का वह **'प्रजा-पति'** नामक अव्यक्त तत्त्व है, जिस की प्रजा **परमेष्ठी**, **इन्द्रात्मक सूर्य्य**, **सोमात्मक चन्द्रमा**, तथा **अग्न्यात्मक भूपिण्ड**, ये चार मानीं गई हैं। अतएव ये चारों अव्यक्त स्वयम्भू प्रजापति के **'अधिदेवता'** (**महिमामयसर्ग**) माने गए हैं, जैसाकि–**अग्निः** (**पृथिवी**), **इन्द्रः** (**सूर्य्यः**)–**सोमः** (**चन्द्रमाः**), **परमेष्ठी प्राजापत्यः'** (शत० कामप्रब्राह्मणश्रुति० ११।१।६।१३–१४ कण्डिकाएँ) इत्यादि कामप्रयज्ञश्रुति से स्पष्ट है।

३३८–प्रजाचतुष्टयी का सौर सम्वत्सरात्मक कूर्म्मप्रजापति के स्वरूप में अन्तर्भाव, एवं सौर सम्वत्सरात्मक कश्यप के द्वारा परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्र–भू–नामक चतुर्विध स्वायम्भुव अधिदेवताओं का संग्रह—

इन चारों प्रजाओं का सौरसंस्थानरूप उस 'कूर्म्मप्रजापति' में अन्तर्भाव माना जा सकता है, जिसका पूर्व के–**'पूर्णः कुम्भोऽधि काले आहितः'** इत्यादि तृतीय मन्त्रार्थ–समन्वय–प्रकरण में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। **'अवका अधस्तात्, अवका उपरिष्टात्। आपो वा अवकाः (आपः परमेष्ठी सलिलमेव)'**

इत्यादि कूर्म्मचितिब्राह्मणश्रुत्यनुसार कूर्म्मस्वरूप में आपोमय परमेष्ठी तत्त्वरूप आसमन्तात् व्याप्त 'अवका:[1]', तथा इस अवकारूप पारमेष्ठ्य समुद्र से परितः समाप्लुत सूर्य्य[2]-चन्द्र[3]-भूपिण्ड[4] रूप द्यौः-अन्तरिक्ष-पृथिवी रूप त्रैलोक्य, इन चार सत्त्वों की समन्वितावस्था का नाम हीं है सौरसम्वत्सरात्मक-उख्यात्रिलोकीरूप 'कूर्म्मप्रजापति', जिसे सर्वपश्यकत्त्वेन 'कश्यप' भी कहा गया है, जैसाकि तत्रैव तृतीय प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। यों सौरसम्वत्सरात्मक कश्यप परमेष्ठी[1]-सूर्य्य[2] (इन्द्र)-चन्द्र[3] (सोम)-भूपिण्ड[4] (अग्नि) इन चारों स्वायम्भुव अधिदेवताओं का संग्राहक बन रहे हैं।

३३९-अव्यक्त स्वयम्भू प्रजापति, व्यक्त कश्यप प्रजापति, एवं अव्यक्ताधार पर प्रतिष्ठित व्यक्त प्रजापति की दधि-घृत-मधु-अमृत-रूपता का तात्त्विक-प्राणात्मक-समन्वय—

दधि, घृत, मधु, अमृत, इन चार रसों की समन्वितावस्था का नाम ही कश्यपात्मक 'कूर्म्मप्रजापति' है। भूपिण्डानुगत घनाग्निरस ही **'दधि'** है-**'दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्'**। चान्द्र-अन्तरिक्षानुगत तरल-वायुरस ही 'घृत' है-**'घृतमन्तरिक्षस्य'**। सूर्य्यानुगत विरलादित्यरस ही **'मधु'** है-**'मध्वमुष्य'**। एवं **'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः'** के अनुसार आपोलोक (भृग्वङ्गिरोमय सोमलोक) नाम से प्रसिद्ध परमेष्ठ्यनुगत ब्राह्मणस्पत्य सोमरस ही **'अमृतम्'** है। इन चारों रसों से ही, **सोम-आदित्य-वायु-अग्नि**-रसात्मक-चारों लोकों से ही क्योंकि 'कूर्म्म' रूप कश्यप का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, अतएव कश्यप को रसात्मक भी मान लिया है श्रुति ने, जैसाकि-**"तां संक्लिश्य-अप्सु प्राविध्यत्। तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्-स कूर्म्मोऽभवत्'** (शत० ६।१।१।१२)-**'रसो वै कूर्म्मः। यो वै स एषां लोकानां-अप्सु प्रविद्धानां पराङ्-रसोऽत्यक्षरत, स एष कूर्म्मः। दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्। घृतमन्तरिक्षस्य। मध्वमुष्य'** (शत० ७।५।१।१ से ७ पर्य्यन्त) इत्यादि ब्राह्मणश्रुतियों से स्पष्ट है। चतुर्लोकात्मक (परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-भू-लोकात्मक) इस व्यक्त कूर्म्म का महान् प्रतीक व्यक्त सूर्य्य ही बन रहा है। अतएव श्रुतिने-**'स यः स कूर्म्मः-असौ स आदित्यः'** इत्यादिरूप से आदित्य-प्राणघन सूर्य्यरूप से ही 'कश्यप' का स्वरूप संग्रह कर लिया है। यों व्यक्तसूर्य्य ही परमेष्ठी-इन्द्र-सोम-अग्नि, इन चारों अधिदेवताओं का संग्राहक बन रहा है। यही 'कश्यप' का समष्ट्यात्मक अर्थ है, जिस से अतिरिक्त अत्र विश्व में केवल **'स्वयम्भू'** ही शेष रहजाते हैं। स्वयम्भू अव्यक्त भावों के प्रतिनिधि हैं, तो कश्यप व्यक्तभावों के प्रतिनिधि हैं। अव्यक्त स्वयम्भू **'प्रजापति'** हैं, तो व्यक्त कश्यप उस प्रजापति की **'प्रजा'** है।

३४०-आपोमय समुद्रगर्भ में प्रतिष्ठित कश्यप-प्रजापति, एवं प्रजामूलक कश्यप के 'सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' वचन का समन्वय—

दधिरूप भूलोक, घृतरूप चान्द्रान्तरिक्षलोक, मधुरूप सौर-द्युलोक, इन तीन लोकों से ही वस्तुतः कश्यप का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, जो तीनों लोक सौरसंस्थान में ही अन्तर्भुक्त माने गए हैं। चौथा आपोमय परष्ठी भी 'अपां गम्भन्त्सीद' के अनुसार यद्यपि कश्यपसंस्था का अनुगामी बन रहा है। तथापि तत्त्वतः परमेष्ठी तो स्वायम्भुव ब्रह्म से समन्वित हो कर इस कश्यप का उत्पादक ही बन रहा है। अतएव परमेष्ठी प्राजापत्य का तो स्वयम्भू विवर्त्त में हीं अन्तर्भाव हो जाता है। स्वयम्भूब्रह्म, परमेष्ठी-सुब्रह्म, इन दोनों के

दाम्पत्य से ही तो त्रिलोकी–लक्षण विराट् सूर्य्य का आविर्भाव हुआ है, जिसे ही यहाँ 'कश्यप' कहा गया है। अतएव 'प्रजा' शब्द का प्रमुख अधिकारी उस सौर–कश्यप संस्थान को ही माना जायगा, जिसमें सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड–ये तीन पर्व ही प्रमुख बन रहे हैं। अतएव 'सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' निगम प्रसिद्ध हुआ है।

३४१–देव–पितर–मानव–प्रजात्रयी का 'सौरसम्वत्सरप्रजा' में अन्तर्भाव, एवं काल की अभिव्यक्तिरूप स्वयम्भू, तथा कश्यप का स्वरूप–समन्वय—

सौरप्राणात्मिका प्रजा ही 'देवाः' है, चान्द्रप्राणात्मिका प्रजा ही 'पितरः' है, एवं पार्थिव-प्राणात्मिका प्रजा ही 'मानवाः' है। अतएव भूलोक 'मनुष्यलोक' कहलाया है, चन्द्रलोक 'पितरलोक' कहलाया है, एवं सूर्य्यलोक 'देवलोक' कहलाया है। ये तीनों हीं उस स्वयम्भू-परमेष्ठी-समन्वितरूप प्रजापति की प्रजा हैं, जो प्रजापति के ('ब्रह्मरूप स्वयम्भू पति, तथा सुब्रह्मरूप परमेष्ठी पत्नी, इन दोनों के) दाम्पत्यरूप से आविर्भूत व्यक्त कश्यप प्रजापति के माध्यम से ही प्रसूत हैं। तदित्थं-अत्र अव्यक्तभाव में स्वयम्भू-परमेष्ठी, इन दो का संग्रह, तथा व्यक्तभाव में कश्यपावयवरूप सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–इन तीन का संग्रह स्वतः ही संसिद्ध बन जाता है। उन दोनों का संग्रह 'स्वयम्भू' नाम से अन्वर्थ है, तो इन तीनों का संग्रह 'कश्यप' नाम से अन्वर्थ है। यों अमूर्त्त–मूर्त्त–भावापन्न पाँच विश्वसर्गों के दो अमूर्त्त, तीन मूर्त्त–भावों के अन्ततोगत्वा दो ही प्रमुख विवर्त्त शेष रह जाते हैं, जिन्हें अवश्य ही स्वयम्भूः, कश्यपः नामों से व्यवहृत किया जा सकता है।

३४२–अव्यक्त स्वयम्भू का प्रजापतित्त्व, व्यक्त कश्यप का प्रजात्त्व, एवं दोनों स्वरूपों का कालानुगतत्त्व—

स्वयम्भू आत्मरूप प्रजापति है, तो कश्यप शरीररूप प्रजा है। इसप्रकार मन्त्रपूर्वार्द्ध में जिस अव्यक्त आत्मविवर्त्त, तथा व्यक्त शरीरविवर्त्त के लिए ऋषिने 'कालः प्रजा–असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्' यह कहा है, इन्हीं दोनों भावों के लिए मन्त्रोद्धरार्द्ध में-'स्वयम्भूः, कश्यपः कालात्' यह कहा गया है। स्वयम्भू प्रजापतिरूप आत्मा है, तो कश्यप प्रजारूप शरीर है। आत्मा मनःप्राणवाङ्मय अमूर्त्त–भाव है, एवं शरीर नामरूपकर्म्ममय मूर्त्तभाव है। अमूर्त्तभाव का उपक्रमबिन्दु ब्रह्मस्वयम्भू है, एवं मूर्त्तभाव का उपक्रमबिन्दु सुब्रह्म परमेष्ठी है। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि छान्दोग्यश्रुति के अनुसार अप्तत्त्व ही प्रजारूप शरीर की उपक्रमबिन्दु बनता है। शरीर पारमेष्ठ्य–आपोमय है, यह मूर्त्त है, तो आत्मा प्राणमय है, यह अमूर्त्त है। अमूर्त्तप्राण का प्रतिनिधि ब्रह्म (स्वयम्भू) है, तो मूर्त्त आपः का प्रतिनिधि परमेष्ठी है। 'कालो ह ब्रह्म भूत्वा विभर्त्ति परमेष्ठिनम्' इत्यादिरूप से नवम मन्त्र से ब्रह्म, और परमेष्ठी–रूप से जिस अमूर्त्त–मूर्त्त–सर्ग का ऋषिने सङ्केत किया है, प्रस्तुत दशम मन्त्र उसी सङ्केत की प्रजापति, प्रजा रूप से, एवं स्वयम्भू–कश्यप–रूप से व्याख्यामात्र ही है। वहाँ का ब्रह्म यहाँ का 'प्रजापति' है, वहाँ का परमेष्ठी यहाँ की प्रजा है। वहाँ का ब्रह्म यहाँ का स्वयम्भू है, वहाँ का परमेष्ठी यहाँ का कश्यप है। ब्रह्म–प्रजापति–स्वयम्भू–तीनों शब्द अमूर्त्त का संग्रह कर रहे हैं, आत्मभाव का समर्थन कर रहे हैं, तो परमेष्ठी–प्रजा–कश्यप–ये तीनों शब्द मूर्त्त का संग्रह कर रहे हैं, शरीरभाव का समर्थन कर रहे हैं।

३४३-शरीरत्रयी से समन्वित शरीरभाव, एवं आत्मत्रयी से समन्वित आत्मभाव, तथा तदनुबन्धी प्राजापत्य-संस्थानों का समन्वय—

'शरीर' के **कारण-सूक्ष्म-स्थूल**-नामक तीन विवर्त्त प्रसिद्ध हैं, जैसे कि आत्मा के भी मनः-प्राण-वाक्-रूप तीन विवर्त्त प्रसिद्ध हैं। त्रिपर्वा आत्मा क्योंकि अव्यक्त है, अमूर्त्त है, अतएव इसका साक्षात्कार नहीं हो रहा। किन्तु त्रिपर्वा शरीर तो क्योंकि व्यक्त है, मूर्त्त है। अतएव ब्रह्माण्डाधिष्ठाता प्रजापति की शरीरत्रयी का तो हम सबको साक्षात्कार हो ही रहा है। सौरसंस्थान ही उसका कारणशरीर है, जिसका सूर्य्यप्रतीकरूपेण साक्षात्कार हो रहा है। चान्द्रसंस्थान ही उसका सूक्ष्मशरीर है, जिसका चन्द्रप्रतीक-रूपेण दर्शन कर रहे हैं। भौमसंस्थान ही उसका स्थूलशरीर है, जो तो हमारा आधार ही बन रहा है। प्रजापति के उस अव्यक्त स्वायम्भुवरूप (स्वयम्भू-परमेष्ठ्युभयरूप) से मानव के अव्यक्त-मनःप्राणवाङ्मय आत्मभाव का सम्बन्ध है, जो अव्यक्तत्वेन दृष्टिका विषय नहीं बनता। प्रजापति के व्यक्त सूर्य्यरूप कारण-शरीर से मानव की बुद्धि का, व्यक्त चन्द्रमारूप सूक्ष्मशरीर से मानव के मन का, तथा व्यक्त भूपिण्डरूप स्थूलशरीर से मानव के शरीर का निर्म्माण हुआ है। तीनों हीं व्यक्त हैं। पार्थिव शरीर स्थूलशरीर है, चान्द्र मन सूक्ष्मशरीर है, सौरी बुद्धि कारणशरीर है। एवं तीनों शरीरों-प्रजाओं का आधारभूत अव्यक्त आत्मा ही चौथा स्वायम्भुव तत्त्व है। जैसा स्वरूप उस विश्वेश्वर का है, वैसा ही स्वरूप इसका है। **'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'**। सचमुच पुरुष (मानव) प्रजापति के समीपतम ही बना हुआ है। **'अमूर्त्त स्वयम्भू प्रजापति, तथा मूर्त्त कश्यपप्रजा,** इन दोनों की समन्वितावस्था का नाम हीं अमूर्त्त-मूर्त्त-सर्ग है, जिनका प्रवर्त्तक कालपुरुष ही बन रहा है। **'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः'** इस प्रतिज्ञासूत्र से उपक्रान्त कालपुरुष का स्वरूप यों अमूर्त्त-मूर्त्त-सर्ग-द्वयी पर ही उपसंहृत हो रहा है-**'स्वयम्भूः-कश्यपः कालात्'** इस सूक्त वाक्यान्त से।

३४४-अव्यक्त-व्यक्त-भावों की सर्वव्याप्ति, तन्निबन्धन प्राकृत-कालवैभव, एवं स्वयम्भू-कश्यप-तपः भावों का संस्मरण—

सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रजापतिरूप अव्यक्तभाव (आत्मभाव), एवं प्रजारूप व्यक्तभाव (शरीरभाव), इन दो ही विवर्त्तों से समन्वित है, जो दोनों हीं विवर्त्त कालात्मक माने गए हैं। काल के अव्यक्तरूप का ही नाम अव्यक्ता-अक्षरप्रकृति है, जिस से आत्मसर्ग उपक्रान्त है। एवं काल के व्यक्तरूप का ही नाम व्यक्ता क्षरप्रकृति (विकृति) है, जिससे शरीरसर्ग उपक्रान्त है। सम्पूर्ण सर्ग प्राकृत हैं, कालात्मक हैं। और व्यक्त-अव्यक्त से अतीत, अतएव कालातीत अव्यय तो केवल भावात्मक ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिनको आधार बना कर ही तो ऋषिप्रज्ञा से कालसूक्त स्वतः ही अभिव्यक्त हुआ है। भावात्मक, कालातीत-पुरुषाव्यय से नित्यसंश्लिष्टा अक्षर-क्षरप्रकृति ही 'काल' की स्वरूप-व्याख्या है। एवं अव्यक्त **स्वयम्भू**, व्यक्त **कश्यप**, तथा इन से अभिव्यक्त व्यक्तभावों को भूतभौतिकसर्ग के प्रति अभिमुख बनाने वाला प्राणव्यापारात्मक **तप**, इन तीनों कालिक विवर्त्तों की समष्टि से ही सम्पूर्ण कालिक पदार्थ स्व स्व स्वरूप से व्यवस्थित हैं।

३४५–मन्त्रोपात्त 'तपः' का स्वरूप–समन्वय. एवं दशम-मन्त्रार्थ-समन्वयोपराम—

सृष्टि का आधार, सृष्टिनिर्म्माता, सृष्टिनिर्म्माण के साधन, इन तीनों के एकत्र समन्वय से ही 'सृष्टि' का प्रवाह धारावाहिकरूपेण शाश्वतीभ्यः समाभ्यः प्रक्रान्त रहता है। स्वयम्भू ही सृष्टि के आधार हैं, कश्यप-ही सृष्टिनिर्म्माता हैं, एवं प्राणदपानल्लक्षण सौर कश्यप का आभ्यन्तर व्यापार ही 'तप' है। अव्यक्त स्वयम्भुरूपा प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित व्यक्त कश्यपरूप सूर्य्यनारायण हीं अपने प्राणदपानल्लक्षण महान् 'तप' से सम्वत्सर की मूर्त्तामूर्त्त-सृष्टियों के सर्वस्व–प्रमाणित हो रहे हैं। उस महाकाल का प्रत्यक्ष निदर्शन यही कालात्मक, स्वयम्भुगर्भित–तपोमूर्त्ति–सौरसंस्थान है, जिसके माध्यम से ही मन्वन्तरानुगता अनन्तकालव्यवस्था व्यवस्थित हुई है। 'तप' शब्द तपन लक्षण, 'तपति' रूप काल के महान् प्रतीकरूप भगवान् सूर्य्यनारायण के माङ्गलिक संस्मरण–दर्शन का ही संग्राहक बन रहा है। एवं 'तपः कालादजायत' इत्यादिरूपेण इसी व्यक्त-कालात्मक तपोमूर्त्ति सूर्य्य पर 'कालो अश्वो वहति' इस प्रतिज्ञासूत्र को महर्षि विश्रान्त कर रहे हैं।

इति-दशममन्त्रार्थसमन्वयः

—— १० ——

३४६–अथर्ववेदीय १९ काण्डान्तर्गत-षष्ठानुवाकानुगत-कालस्वरूपसूक्तात्मक 'कालसूक्त' से अनुप्राणित १० मन्त्रों के तात्त्विक–प्रकरण–विभागों का समन्वय—

अथर्वसंहिता के एकोनविंश (१९) काण्ड के षष्ठ अनुवाक का अष्टम सूक्त, तथा नवम सूक्त, इन दो सूक्तों के द्वारा मन्त्रद्रष्टा महर्षि ने काल की जो स्वरूप–व्याख्या की है, उसी का यहाँ संस्मरणमात्र हुआ है, जिन इन दोनों सूक्तों की समष्टि को हम एक ही 'कालसूक्त' मानलेते हैं। क्योंकि दोनों में 'कालो अश्वो वहति' इस 'अथ' से–'कालेयमथर्वाङ्गिरादेवः' इस 'इति' पर्य्यन्त काल की ही स्वरूप–व्याख्या हुई है। अथ से इति पर्य्यन्त एकमात्र काल के ही स्वरूप-व्याख्याता दोनों सूक्तों का एक सूक्त अभिव्यक्त न कर ऋषि ने दो विभिन्न सूक्त क्यों अभिव्यक्त किए ?, प्रश्न का यही समन्वय प्रतीत होरहा है कि, ऋषिप्रज्ञा ने काल, और काल-महिमा रूप से काल को दो विभक्त दृष्टियों से समन्वित करना अनुरूप मान लिया है। काल, और कालसर्ग, दोनों विवर्त्तों को पृथक् पृथक् रूप से अभिव्यक्त करने के लिए ही इन अष्टम–नवम–सूक्तों का आविर्भाव हुआ है। महामायावृत्तात्मक अव्यक्त महाकाल से आरम्भ कर तपोमूर्त्ति व्यक्तभावापन्न सौरकाल पर्य्यन्त–सम्पूर्ण विवर्त्त ही काल की स्वरूप-व्याख्या है। अष्टम सूक्त में उस अव्यक्त महाकाल से आरम्भ कर व्यक्त तपोकाल–सूर्य्यात्मक कश्यप पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले काल के तात्त्विक स्वरूप का समष्टि-व्यष्टि-रूप से दिग्दर्शन कराया गया है। एवं नवम सूक्त में इस सूर्य्यकाल के माध्यम से सौरसम्वत्सरकाल की सीमा में अभिव्यक्त होने वाले कालात्मक महिमाभावों का ही स्वरूप–विश्लेषण हुआ है। दूसरे शब्दों में–अष्टम सूक्त ने काल के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है, एवं नवम सूक्त ने काल से महिमारूपेण अभिव्यक्त होतीं रहने वालीं कालसृष्टियों का स्वरूप अभिव्यक्त किया है। अतएव इन दोनों सूक्तों का हम क्रमशः कालसूक्त, कालमहिमासूक्त, यह नामकरण कर सकते हैं, जिन इन दोनों सूक्तों में से अबतक दश (१०)मन्त्र--समष्टिरूप 'कालसूक्त' की ही आराधना का प्रयास हुआ है, जिसका समन्वय विषय–विभाग–मर्य्यादा से ही अन्वेष्टव्य है। यहाँ एक तालिका उद्धृत कर दी जाती है, जिसके माध्यम से दश-मन्त्रात्मक कालसूक्त के अक्षरार्थ-समन्वय का राजपथ अमुक सीमापर्य्यन्त प्रशस्त बन सकता है। यह कह देने, और मान लेने में तो हमें यत्किञ्चित् भी संकोच नहीं करना चाहिए

कि, पारम्परिक-परिभाषाबोध के विलुप्तप्राय हो जाने से आज हमारी लोकप्रज्ञा इस ऋषिवाणी के तात्त्विक-समन्वय में सर्वथा कुण्ठित ही प्रमाणित हो चुकी है। अतएव 'इदमित्थमेव' रूपेण कहने सुनने जैसी कोई भी धारणा वेदार्थ के सम्बन्ध में आज कोई भी महत्त्व नहीं रख रही। यह सबकुछ सर्वात्मना अनुभव करते हुए भी, **'इर निरपवादः परिकरः'** न्याय से ही ऐसा साहस, किंवा दुस्साहस हो पड़ा है, जिसके बल पर ही दिग्देश-कालमीमांसात्मक प्रस्तुत प्रकरण में कालसूक्तों के अक्षरार्थसमन्वयमात्र की धृष्टता हो पड़ी है, जिस का निम्न-लिखित तालिका के माध्यम से ही समन्वय करना चाहिए।

कालसूक्तमिदम्

१	१–कालो अश्वो वहति० (प्रथममन्त्र) (१)	—कालपुरुषानुगतं प्रतिज्ञासूत्रं सत्यसम्वत्सरात्मकम्
२	२–सप्त चक्रान् वहति काल एष० (१) ३–पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितः० (२)	—ऋतसम्वत्सरात्मककालस्वरूपनिरूपणम्
३	४–स एव सं भुवनान्याभरत्० (१)	—आधिभौतिककालस्वरूपनिरूपणम्
४	५–कालोमूं दिवमजनयत्० (१) ६–कालो भूतिमसृजत० (२)	—आधिदैविककालस्वरूपनिरूपणम्
५	७–काले मनः, काले प्राणः० (१)	—आध्यात्मिककालस्वरूपनिरूपणम्
६	८–काले तपः, काले ज्येष्ठम्० (१) ९–तेनेषितं, तेन जातम्० (२) १०–कालः प्रजा असृजत० (३)	—समष्ट्यात्मककालस्वरूपनिरूपणम्

इति–षट्–प्रकरणात्मकं–दशमन्त्रानुगतं–कालस्वरूपनिरूपणात्मकं
अष्टम–कालसूक्तम्

——*——

श्रीः

अथ–कालमहिमात्मक–कालसूक्त (नवम) पञ्च–मन्त्रात्मक
(१)–नवमसूक्तानुगत–प्रथममन्त्रार्थसमन्वय-प्रकरण (प्रथममन्त्रार्थ)

(पूर्वतोऽनुवृत्त ११ वाँ मन्त्र)

१–(११)–

—*—

३४७–'कालादापः समभवन्' इत्यादि प्रथम मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय, एवं काल. तथा कालिक पदार्थों का संस्मरण—

[११]–* १–कालादापः समभवन्, कालाद् ब्रह्म, तपो, दिशः।
कालेनोदेति सूर्य्यः काले नि विशते पुनः ॥ *

"काल से आपः उत्पन्न हुए है, काल से ब्रह्म उत्पन्न हुआ है, काल से तप उत्पन्न हुआ है, काल से दिशाएँ उत्पन्न हुई हैं, काल से ही सूर्य्य उदित हुआ है, काल में ही सूर्य्य पुनः प्रवेश

---

*–खण्डचतुष्टयात्मक उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध का यह चतुर्थखण्ड प्रक्रान्त है, जिसमें चार स्तम्भों का समावेश संकल्पित है। इन चारों स्तम्भों में पहिला यह **'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'** नामक प्रथम (एवं पूर्व क्रमप्राप्त एकादश–ग्यारहवाँ)–स्तम्भ ही प्रक्रान्त है। अभी शेष तीन स्तम्भ प्रतीक्षानुगामी बन रहे हैं, जब कि प्रासङ्गिक अष्टमकालसूक्त ही बहुविस्तृत होगया है अपनी दुर्बोध्या–परिभाषाओं के कारण। अतएव अब इस स्तम्भ को अविलम्ब उपरत कर देना हीं श्रेयःपन्था प्रतीत हो रहा है। प्रसङ्ग–सम्बन्धेन समुपस्थित–**'कालादापः समभवन्'**० इत्यादि कालमहिमात्मक नवमसूक्त में समाविष्ट **"आपः–ब्रह्म–तपः–दिशः–वातः–पृथिवी–द्यौः–भूतं–भव्यं–पुत्रः–ऋचः–यजुः-यज्ञं–गन्धर्वाप्सरसः–अथर्वाङ्गिरा–इमंच–लोकं–परमंच लोकं–पुण्यांश्च लोकान्–विधृतीश्च पुण्याः"**–इत्यादि सभी शब्द अपने अपने रहस्यपूर्ण, विभिन्न सृष्ट्यनुबन्धी ज्ञानविज्ञानात्मक–समन्वयों से अनुप्राणित हैं, जिनका पारिभाषिक बोध के अभाव में तो अक्षरार्थ भी सम्भव नहीं है। प्रत्येक शब्द अपने पारिभाषिक समन्वय के लिए विस्तृत शब्देतिहास की अपेक्षा रख रहा है, जिस का आंशिक अनुमान पाठकों को पूर्वोपात्त अष्टम सूक्त के समन्वय से होगया होगा। प्रस्तुत नवम सूक्त के पारिभाषिक शब्दों में से अनेक शब्दों का पारिभाषिक समन्वय अष्टम सूक्त-समन्वय से गतार्थ बन रहा है, जिस गतार्थता का अनुरूप समन्वय–भार अब विस्तारभिया हम पाठकों की सत्वप्रज्ञा पर ही छोड़ देते हैं। यहाँ केवल–**'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः'** न्याय से अक्षरार्थाभासमात्र ही इस नवम सूक्त का व्यक्त कर दिया जाता है। आशा है ग्रन्थमर्य्यादानुगता हमारी इस विवशता के लिए पाठक क्षमा करेंगे।

कर जाता है," यह है इस प्रथम मन्त्र का अक्षरार्थ, जिसके अर्थसमन्वय का उत्तरदायित्व ग्रन्थविस्तारभिया हम कालप्रेमी पाठकों की सत्त्वप्रज्ञा पर ही छोड़ते हुए प्रसङ्ग--समन्वय--मात्रापेक्षया यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त समझ रहे हैं कि, प्रस्तुत सूक्त का उपक्रमस्थान परमाकाशरूप स्वयम्भू ही है, जिसे हमने महामायावृत्तात्मक महाकाल का अमूर्त्तसर्ग बतलाया है अष्टम सूक्त के दशम मन्त्रार्थ--समन्वय में । एवं उपसंहारस्थान भूपिण्ड ही है, जिसे पञ्चपर्वा विश्व का अन्तिम पुण्डीर माना गया है । स्वयम्भू से आरम्भ कर भूपिण्ड पर्य्यन्त व्याप्ता पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा ही षोडशीप्रजापति–स्वरूपसमर्पक महामायावृत्तरूप उस महाछन्द का विभूति–महिमारूप विवर्त्त है, जो अपने अव्यक्तभाव से **काल**, तथा व्यक्तभाव से **कालिक पदार्थ**, इन दो महिमाभावों में परिणत हो रहा है ।

३४८–अथर्ववेदीय नवम सूक्तार्थ के सम्बन्ध में कतिपय पारिभाषिक सङ्केत

स्वायम्भुव–परमाकाशात्मक काल **योगमायावृत्तात्मक** है, जो पञ्चपुण्डीराध्यक्ष योगमायी विश्वेश्वर की सीमा बना हुआ है, जब कि महामायावृत्तात्मक महाकाल सहस्रपुण्डीराध्यक्ष–अश्वत्थवृक्षमूर्त्ति महामायी महेश्वर की सीमा माना गया है । अष्टम (आठवें) कालासूक्त में जहाँ महामायावृत्तात्मक महाकाल से आरम्भ कर सर्वान्त के अदितिमण्डलात्मक पार्थिवसम्वत्सरचक्रकाल--पर्य्यन्त के दच्चयावत् अध्यात्म–अधिभूत–अधिदैवतादि कालविवर्त्तों का समष्टि, और व्यष्टिरूप से 'कालत्त्वेन' निरूपण हुआ है, वहाँ प्रस्तुत नवम कालसूक्त में केवल योगमायात्मक उस एकवल्शेश्वरकालात्मक (एकशाखात्मक) एक विश्वकाल का ही महिमारूप से संग्रह हुआ है, जिसका उपक्रमस्थान तो अव्यक्त अमूर्त्त स्वयम्भूकाल है, एवं उपसंहारस्थान पार्थिव सम्वत्सरकाल है, जो क्रान्तिवृत्तरूप से सभी के लिए अपनी वर्ष–अयन–ऋतु–मास–पक्ष–अहोरात्र–मुहूर्त्त–घटिका–क्षण–पल–निमेष–आदि कलाओं से व्यक्त (व्यावहारिक) बना हुआ है । इस दृष्टिकोण को अवधानपूर्वक लक्ष्य बना कर ही हमें प्रस्तुत नवम सूक्त का अक्षरार्थ–समन्वय करना चाहिए ।

३४६–महामायात्मक 'प्राणकाल' के आधार पर प्रतिष्ठित योगमायात्मक 'भौतिककाल', दोनों कालों की अक्षर-क्षर-निबन्धना अमृत-मृत्यु-रूपता, एवं उभयात्मक प्रजापति—

योगमायात्मक **'विश्वकाल' 'भूतकाल' है,** जबकि महामायात्मक सर्वकाल **'प्राणकाल'** माना गया है । 'प्राण' 'अक्षर' का स्वरूपधर्म्म है, प्रकृति का सहजधर्म्म है, जबकि 'भूत' क्षर का स्वरूपधर्म्म माना गया है, सहजधर्म्म माना गया हैं । दोनों में दोनों समाविष्ट हैं । अतएव प्राणात्मक अक्षरकाल भी भूतकालगर्भित है, एवं भूतात्मक क्षरकाल भी प्राणकालगर्भित है । क्योंकि उसी प्रकृति का रसानुबन्धी अमृतभाव प्राणात्मक अक्षर कहलाया है, एवं उसी प्रकृति का बलानुबन्धी मृत्युभाव भूतात्मक क्षर कहलाया है । **'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'--'अन्तरं मृत्योरमृतं, मृत्यावमृतमाहितम्'--'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'** इत्यादि के अनुसार वही प्राणापेक्षया अक्षर है, एवं वही भूतापेक्षया क्षर है ।

३५०–प्राणकालनिबन्धन अमूर्त्त-पदार्थोंकी केवल कालरूपता, तथा दिग्देशातीतता, एवं भूतकालनिबन्धन मूर्त-पदार्थों की दिग्देशकालरूपता—

अक्षरकाल महामायावृत्तात्मक **महाकाल** है, यही भूतकालगर्भित प्राणकाल है। क्षरकाल योगमाया-वृत्तात्मक **योगकाल** है, यही प्राणकालगर्भित भूतकाल है। महामायावृत्तात्मक प्राणरूप महाकाल प्राणविभूति का प्रवर्त्तक माना गया है, देवविभूति का संग्राहक माना गया है। एवं योगमायावृत्तात्मक भूतरूप योगकाल भूतप्रपञ्च का प्रवर्त्तक माना गया है, भूतसर्गों का संग्राहक माना गया है। महाकालात्मक अक्षररूप प्राणकाल की प्राणात्मिका देवविभूतियाँ केवल कालानुबन्धिनीं बनती हुई जहाँ अमूर्त्ता हैं, दिग्-देश-प्रदेशादि मूर्त्तभावों से असंस्पृष्टा हैं, वहाँ क्षररूप भूतकाल की भूतात्मिका भूतसृष्टियाँ काल के साथ साथ दिग्देशप्रदेशानुबन्धिनीं बनतीं हुई मूर्त्ता हैं।

३५१–अक्षरप्राण-प्रधान अमूर्त्तकाल की दिव्यकालता, क्षरभूतप्रधान मूर्त्तकाल की मानुषकालता, एवं भूत–भविष्यद्रूप दिव्यकाल, तथा वर्त्तमानरूप मानुषकाल–

अक्षरप्राणप्रधान महाकाल **दिव्यकाल** है, क्षरभूतप्रधान योगकाल **मानुषकाल** है। दिव्यकाल प्रजापतिकाल है, मानुषकाल '**प्रजाकाल**' है। प्रजापतिकाल अपने महदक्षररूप से **भूतभविष्यत्काल** है, प्रजाकाल अपने भूतक्षररूप से **भवत्काल** (**वर्त्तमानकाल**) है। भूतभविष्यत्कालात्मक महदक्षररूप प्राणप्रधान महाकाल ही–'काल' रूप '**काल**' है, एवं भवदात्मक-भूतक्षररूप–भूतप्रधान योगकाल--ही 'महिमा' रूप--'**महिमाकाल**' है। अष्टम सूक्त का मुख्य लक्ष्य जहाँ कालरूप '**काल**' (महामायावच्छिन्न अक्षरात्मक प्राणकाल) था, वहाँ इस नवम सूक्त का मुख्य लक्ष्य विभूतिरूप '**महिमाकाल**' है, जिन इन कतिपय पारिभाषिक दृष्टि--कोणों को लक्ष्याधार बना कर ही हमें नवम कालसूक्त के समन्वय में प्रवृत्त होना चाहिए।

३५२–दिव्यकालगर्भित–मूर्त–भूतकाल के महिमात्मक–प्रजापति–परमेष्ठी–इन्द्र–सोम-अग्नि–नामक पाँच अधिदैवत विवर्त्त, तन्निबन्धन पञ्चपुर, तदनुगत पञ्च महाभूत, एवं सर्वरसमयी पृथिवी—

महिमाकालात्मक भूतकाल (व्यक्त–विश्वकाल) के पुण्डीरात्मक पाँच विवर्त्त-'**ता वा एताः पञ्च–प्रजापतेरधिदेवताः**' (शत० ११।१।६।१४।) के अनुसार क्रमशः **प्रजापति, परमेष्ठी, इन्द्र, सोम, अग्नि**,' इन तात्त्विक नामों से प्रसिद्ध हैं, जिन के पुण्डीरात्मक–पुरात्मक रूप **स्वयम्भू (प्रजापति), परमेष्ठी** (प्राजापत्य), **सूर्य्य (इन्द्र), चन्द्रमा** (सोम), **पृथिवी** (अग्नि) इन नामों से प्रसिद्ध हैं। भूतदृष्ट्या ये ही पाँचों पुर क्रमशः **आकाश–वायु–तेज–जल–मृत्**–इन नामों से व्यवहारजगत् में प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों भूतों का आदिभूत (प्रथमभूत) स्वयम्भू प्रजापतिरूप 'आकाशभूत' है, एवं अन्तभूत भूपिण्डरूप 'पृथिवीभूत' (मृद्–भूत) है। अतएव इसे **सर्वभूतरसमयी** मान लिया गया है। इन पाँचों भूतों को ही हम '**महिमाकाल**', किंवा '**कालमहिमा**' कहेंगे, जिस का उपक्रमात्मक सर्वादि–भूतकाल '**स्वयम्भूकाल**' (आकाशकाल) ही प्रमाणित हो रहा है।

३५३-कालात्-कालेन-काले-कालः- इत्यादि 'काल' शब्दों का आकाशभूतमय स्वयम्भू-प्रजापति पर पर्य्यवसान—

प्रस्तुत सूक्त में प्रयुक्त कालात्-कालेन-काले-कालः-इत्यादि जितने भी 'काल' शब्द प्रयुक्त हैं, सब का पर्य्यवसान एकमात्र आकाशभूतमय स्वयम्भू प्रजापति पर ही माना जायगा। क्योंकि व्यक्तभावापन्न पञ्चपर्वा विश्व में यही स्वयम्भूकाल प्रथमा 'अभिव्यक्ति' है, जो विश्वाभावरूप 'अनुपाख्यतम' को छिन्न भिन्न करता हुआ स्वयं ही अपनी आकाशमहिमा से अभिव्यक्त हुआ है, जैसाकि निम्नलिखित स्मार्त्तवचन से प्रमाणित है—

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ॥
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥१॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥२॥
—मनुः १।६।७,।

३५४-महाभूतादि-वृत्तौजा-ब्रह्माण्डाध्यक्ष-सर्वतः पाणिपाद-सर्वतोऽक्षिशिरोमुख-'प्रजापति' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, अतएव अग्राह्य, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय, अचिन्त्य वह महामायावृत्तात्मक महाकाल ही स्वयं ही (अपनी सहजेच्छारूपा कामना से ही) योगमायारूपेण अभिव्यक्त हो पड़ा इस सम्पूर्ण विश्व को व्यक्तभाव में परिणत करता हुआ। यही अपने आकाशरूप से महाभूतों का आदि बनता हुआ—'महाभूतादिः' कहलाया। साथ ही अपने प्रातिस्विकरूप से—दीर्घवृत्तात्मक (त्रिकेन्द्रात्मक अण्डवृत्तात्मक) भाव से पृथक् रहता हुआ एककेन्द्रात्मक ही बना रहा। अतएव यह सर्वतः समानशक्ति-प्रसार का आधार बनता हुआ 'वृत्तौजाः' ही कहलाया, जब कि इस वृत्त की सीमा में प्रतिष्ठित अन्य सभी वृत्त त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त-भाव में परिणत रहते हुए आण्डवृत्त ही प्रमाणित हैं। यह स्वयं अण्ड नहीं है (दीर्घवृत्त नहीं है), अपितु ब्रह्माण्डों का अध्यक्ष है, वृत्तौजाः है, अतएव 'सर्वतः पाणिपादं तत्-सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' ही है। दीर्घवृत्त में जहाँ शक्तिप्रसार असमभावापन्न बना रहता है, वहाँ वर्त्तुलता में केन्द्रशक्ति सर्वथा समानरूप से ही परिधिवृत्त-पर्य्यन्त व्याप्त रहती है। और यही-'सर्वतः पाणिपादादि' मूलक 'वृत्तौजाः' का तात्त्विक समन्वय है। इसी सर्वता के कारण यह विश्व का एक अवयव (पुण्डीर) बना रहता हुआ भी 'प्रजापति' प्रमाणित हो रहा है, जब कि तद्गर्भीभूत शेष चारों इस की प्रजाकोटि में हीं प्रविष्ट हैं।

३५५-'भूतादि' की प्राणात्मकता, स्वयंगतिशील प्राण, एवं-'स्वयमुद्बभौ' वाक्य का समन्वय—

अवश्य ही स्वयम्भू प्रजापति आकाशात्मा बनते हुए भूतात्मा हैं। तभी तो इन की भूतादिः अभिधा अन्वर्थ बनती है। तदपि इन का अपना प्रातिस्विक-मौलिक-शेष चतुर्भूतनिरपेक्ष स्वरूप तो प्राणात्मक ही माना

जायगा। एवं इस प्राणवत्ता से ही इन्हें 'काल' कहा जायगा। अपने प्राणधर्म्म से ही स्वयम्भू विश्वाभि-व्यक्ति के प्रवर्त्तक बनते हुए भी स्वस्वरूपेण 'अव्यक्त' ही माने जायँगे, एवं इस प्राणमयी अव्यक्तता से ही इन के सम्बन्ध में-'अव्यक्तो-व्यञ्जयन्निदम्' कहना अन्वर्थ बनेगा। तभी इन का-'स्वयमुद्बभौ' मूलक-'स्वयं भवतीति' निर्वचनात्मक 'स्वयम्भूः' नाम चरितार्थ होसकेगा। क्योंकि अन्य प्रेरणा से तो भूत ही अभिव्यक्त होता है। भूत स्वयं गतिशील नहीं है। प्राण की प्रेरणा से ही, प्राणसञ्चरण से ही भूतसञ्च-रण-भूतोद्भव हुआ करता है। अतः चरात्मक भूत ही-'परतः उद्भूत' तत्त्व है। यदि स्वयम्भूरूप आकाश-भूत ऐसा चरभूत ही होता, तो कदापि इस में 'स्वयं भवति'-स्वयमुद्बभौ' रूपा स्वप्रेरणात्मिका गति होती ही नहीं।

३५६--स्वायम्भुव प्राण का ऋषित्व, ऋक्सामगर्भित यजुःपुरुष, अपौरुषेय त्रयीवेदतत्त्व, सप्तचितिपुरुष, एवं उस की कालरूपता का समन्वय—

अतएव इस भूतादि को प्राणमूर्त्ति ही माना जायगा, जो कि स्वायम्भुव प्राण ही 'ऋषि' कहलाया है, जिस ऋषिप्राण से ही सप्तर्षिप्राणात्मक सप्तपुरुषपुरुषप्रजापति का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। यही मनो-वाग्गर्भित वह प्राणपुरुष है, जो ऋक्सामगर्भित यजुःपुरुष कहलाया है, जिसे ही ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय-वेद कहा है, जिस वेदतत्त्व का पूर्व के परिच्छेदों में विस्तार से यशोगान हो चुका है। सप्तपुरुषपुरुषात्मक इस स्वयम्भू-प्रजापतिरूप काल का प्रथम महिमाविवर्त्त यही 'अपौरुषेयत्रयीवेदतत्त्व' है। यही इस की महि-मारूपा वह स्वप्रतिष्ठा है, जिस पर प्रतिष्ठित हो कर स्वयम्भूकाल व्यक्तभावों के सर्ज्जक बनने वाले हैं। त्रयी-वेदमूर्त्ति-प्राणात्मक-सप्तचितिरूप-महाभूतादि-वृतौजा -सर्वप्रतिष्ठारूप-इत्थंभूत स्वयम्भूप्रजापति ही वह 'काल' है, जिस का मन्त्र के-'कालात्' से संग्रह हुआ है, एवं जिस इस योगमायात्मक स्वयम्भूकाल का निम्नलिखित शब्दों में यशोगान हुआ है—

"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत-भूयान्त्स्यां, प्रजायेय, इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठा-ऽभवत्। प्रतिष्ठा ह्येषा-यद् ब्रह्म [स्वयम्भूर्वेदात्मा]।

—शत० ६।१।१।८।

३५७-ब्रह्मनिःश्वसित-अपौरुषेय-वेदतत्त्वमूर्ति-स्वयम्भूकाल, और उस के ऋक्सामापीत आकाश-वायुरूप-वाक्-प्राणात्मक जू-यत्-भाव, तथा काल का यजुर्भाव—

प्रतिष्ठाब्रह्म--(ब्रह्मनिःश्वसितवेद)-मूर्त्ति स्वयम्भूकाल की 'भूयान्त्स्यां प्रजायेय' इस कामना से सर्व-प्रथम क्या उत्पन्न हुआ ?, किंवा क्या अभिव्यक्त हुआ ?, प्रश्न का उत्तर इस के त्रयीवेद के ऋक्सामावच्छिन्न 'यजुःप्राण' पर ही अवलम्बित है। यह अवधेय है कि, यजुः का यत् भाग प्राण है, एवं जू भाग वाक् है, अर्थात् भूत है। 'यत्' रूप प्राणभाग से स्वयम्भू प्राणात्मा है, तो 'जू' रूप वाग्भाग से यही भूतात्मा-भूतादि है। 'जू' ही भूताकाश है। तभी तो स्वयम्भू को पञ्चमहाभूतश्रेणि में समाविष्ट मान लेना अन्वर्थ बनता है।

३५८--स्वयम्भूरूप काल की तपश्चर्य्या, एवं तपोमूर्ति कालपुरुष से आपोरूप परमेष्ठी का आविर्भाव, तथा 'कालादापः समभवन्' मन्त्राक्षरार्थ का समन्वय—

प्राणमय वही स्वयम्भू तपोमूर्त्ति है, वाङ्मय (जूराकाशमय) वही स्वयम्भू अपने इस प्राणतप का प्रयोगक्षेत्र है। यों प्राणव्यापाररूप तप से ही यह वाग्रूप जू-लक्षण भूताकाश द्रुत हो पड़ता है। इसी द्रुता वाक् का नाम (जूरूपा यजुर्वाक् का नाम) है-'आपः'। यों उस प्राणमूर्त्ति (यजुःप्राणमूर्त्ति) स्वयम्भूकाल से इसी के भूतमूर्त्ति (यजुर्वाङ्मूर्त्ति) स्वयम्भूवागाकाशद्रव्योपादन से सर्वप्रथम जो 'द्रव' तत्त्व (ऋततत्त्व) प्रादुर्भूत होता है, उसी का नाम है-'आपः', जिस इस प्रथमा स्वायम्भुवी कालसृष्टि को लक्ष्य बना कर ही ऋषिने कहा है--'कालादापः समभवन्' (स्वयम्भुप्रजापतेः--प्राणात्मकस्य वाग्भागेन सर्वप्रथममाप एव समभवन्)। निम्नलिखित श्रुति-स्मृति-वचन इस प्रथमा आपःसृष्टिरूपा कालमहिमा का ही यशोवर्णन कर रहे हैं-

'तस्यां-वेद-प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत-स्वयम्भूः। सोऽपोसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य सा-असृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्-यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्, तस्मादापः। यदवृणोत्-तस्माद्वाः (वारि)।

—शत० ६।१।१।६। (३१३ वें पृष्ठ की श्रुति की अग्रिम श्रुति)।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
'अप' एव ससर्जादौ ....॥

—मनुः १।८।

३५६—स्वयम्भू प्रजापति के तपः–सन्तपन से तल्ललाट से स्वेदधाराओं का प्रादुर्भाव, एवं गोपथश्रुतिवचन का समन्वय—

प्राणप्रकृति स्वयम्भू से दूसरी अप्प्रकृति का ही आविर्भाव हुआ। यही आपोमण्डल 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध हुआ (देखिए–शत० ११।१।६।१४)। स्यम्भू प्रजापति की प्रथम सन्तान होने से ही यह 'प्राजापत्य' कहलाया, जैसाकि–'परमेष्ठी प्राजापत्यः' इत्यादि से तत्रैव स्पष्ट है। स्वयम्भू जहाँ सत्यरूप (सकेन्द्र) होने से एकरूप था, वहाँ यह परमेष्ठी अपने ऋतरूप से (अहृदयभावात्मक–सरिरलक्षण–सलिलभाव से–आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास–शतपथ० ६।१।१।६।१।) नानाभावात्मक ही बन गया। इस नानात्व से ही इसे 'अप्' न कह कर ऋषिने 'आपः' कहा है, 'समभवत्' न कह कर 'समभवन्' कहा है, जिस इस बहुत्वरूप ऋतधर्म्म का गोपथब्राह्मण में "तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्-आभिर्वा इदं सर्वं धारयिष्यामि, जनयिष्यामि, आप्स्यामि, इति धाराः–जायाः–अभवन्' (गो० पू० १।२) इत्यादिरूप से समर्थन हुआ है *।

* सत्याग्निप्रधान पुरुष स्वयम्भू की प्रतिमा है, एवं ऋतसोमप्रधाना स्त्री परमेष्ठी की प्रतिमा है। अतएव ऋतप्रधाना ऋतरूपा नारी 'अनृता' कहलाई है। इस आपोरूप–सोमरूप–ऋतधर्म्म से ही यह गर्भ धारण करती हुई पारमेष्ठ्य धाराधर्म्म से, सन्तानप्रजनत्वेन जायाधर्म्म से, एवं वंशाप्तिधर्म्मत्वेन-'आपोधर्म्म' से

३६०-पारमेष्ठ्य 'अप्' तत्त्व की आपः रूपता का समन्वय, एवं आपोमय 'परमेष्ठी' का नामनिर्वचन—

ऋतात्मक बहुत्त्व (नानात्त्व) के अतिरिक्त एक अन्य कारण से भी यह पारमेष्ठ्य 'अप्' तत्त्व–'आपः' का अधिकारी बन रहा है। पारमेष्ठ्य आपः सौरमण्डल में भुक्त होकर अग्निप्रकृतिक बन जाता है, चन्द्रमण्डल में आकर यही स्नेहगुणक बन जाता है, एवं भूमण्डल में आकर यही मूर्च्छित–पेय–पानी के रूप में परिणत हो जाता है। यों एक ही अप्तत्त्व **परमेष्ठी--सूर्य्य--चन्द्र--भूः--** इन चार संस्थानों के भेद से चार स्वरूप धारण कर लेता है, जो कि चारों अब्विवर्त्त क्रमशः **अम्भः–मरीचिः–श्रद्धाः–मरः**–इन नामों से प्रसिद्ध हैं--(देखिए-ऐतरेयोपनिषत् १।१।) । लोक, लोकगर्भस्था प्रजा, इन सब प्रजननभावों के मूलोपादान ये ही चतुर्विध--'आपः' हैं, जैसाकि–'**सर्वमापोमयं जगत्**' से स्पष्ट है ÷। इसी सर्वव्याप्ति के आधार पर आपोमय परमेष्ठी ही '**पितर**' नाम से प्रसिद्ध होगए हैं। सर्वरूपत्वात् ही यह 'आपः' है, एवं सूर्य्यादपि परमस्थान में आविर्भूत–प्रतिष्ठित--रहने के कारण–परमेष्ठी है, जैसाकि--'**अहमेवेदं सर्वं--स्याम्--इति--स आपोऽभवत (कालः स्वयम्भूः) । आपो वा इदं सर्वम् । ता यत्परमे स्थाने तिष्ठन्ति, तस्मात् 'परमेष्ठी'** नाम" (शत० ११।१।६।१६।) इत्यादि से प्रमाणित है।

३६१-स्वयम्भूकाल से अप्तत्त्व के द्वारा क्रमशः 'ब्रह्म-तपः-दिशः-तत्त्वों का आविर्भाव-

कालस्वयम्भू के प्राणमय तप से वागाकाशरूप उपादानद्रव्य के द्वारा सर्वप्रथम आविर्भूत पारमेष्ठ्य–'**आपः**' के अनन्तर क्या हुआ ?, क्या आविर्भूत हुआ ?, यह क्रमिक प्रश्न उपस्थित हुआ, जिसका समाधान करते हुए ही आगे चलकर ऋषि कहते हैं—'**कालाद् ब्रह्म, तपो, दिशः**'। '**आपः**' के अनन्तर इस आपोद्रव्योपादन के माध्यम से उसी आपोमय स्वयम्भूकाल से क्रमशः **ब्रह्म–तपः–दिशः–**रूप तीन महिमाभाव आविर्भूत हुए।

समन्विता बनी रहती है। तभी तो पुत्रजन्मानन्तर राजपत्तनप्रान्त में पुत्रजननी जाया को पितृप्राणप्रतीकभूत पीतवस्त्र (पीले) से सम्मानित कर इस के द्वारा आपःपरमेष्ठी के साक्षात् प्रतीकभूत पितृप्राणमय कूप का पूजन कराया जाता है, जो कि कर्म्म प्रान्तीयभाषा में-'**जलवापूजन**' (**जलपूजन**-पितृपूजन-आपः **परमेष्ठी का पूजन**) कहलाया है। आपःरूप यह प्रजननधर्म्म क्योंकि 'बहुत्त्व' धर्म्म से समन्वित है। अतएव परमसांस्कृतिक परमधन्य राजस्थानप्रान्त पुत्रवती इस कुलवधु को इस आपोमूलक '**बहुत्त्व**' धर्म्मानुबन्ध से--'**बहु**' जैसे आर्ष सम्बोधन से ही व्यवहृत करता है। स्वयं प्रजापति स्वयम्भू इस '**बहु**' भाव को कामना में प्रतिष्ठित कर के ही–**बहु स्याम्--प्रजायेय**' रूपेण--'बहु' (परमेष्ठी) बन कर ही प्रजा की जननी बन रहे हैं।

÷—**अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ।**
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ॥
—**महाभारते**

३६२–यजुर्म्मयी प्राणगति से तेजोमय आङ्गिरस तत्त्व का, तथा यजुर्म्मयी वाक्स्थिति से स्नेहमय भार्गवतत्त्व का आविर्भाव, उभयधर्म्मात्मक आपोमय परमेष्ठी, एवं मूर्त्त जगत् की प्राथमिक-स्थिति का समन्वय —

ब्रह्मनिःश्वसित–अपौरुषेयवेदमूर्त्ति कालात्मक स्वयम्भू प्रजापति के गतिप्रकृतिक यजुःप्राण (यत्) से, स्थितिप्रकृतिक यजुर्भूत (जूराकाश) रूप उपादान के माध्यम से 'आपः' रूप जो ऋततत्त्व प्रादुर्भूत हुआ, उसमें भी उत्पादक स्वयम्भू के गतिशील प्राण, तथा स्थितिशील भूत,ये दोनों धर्म्म समाविष्ट हो गए, जो दोनों धर्म्म हीं क्रमशः तेजः-स्नेह कहलाए। यजुःप्राणगति का व्यक्तीभाव ही तेजोमयीं-आपः बना, एवं यजुर्वाक्स्थिति का व्यक्तीभाव ही स्नेहमयीं आपः बना। ये ही दोनों ऋत–आपः क्रमशः अङ्गिराधारा, भृगुधारा, नाम से प्रसिद्ध हुईं। तेजोगुणक अङ्गिरा, स्नेहगुणक भृगु, भेद से यों 'आपः' परमेष्ठी भी यत्-जूः (गति-स्थिति) मूर्त्ति स्वयम्भू की भाँति उभयधर्म्मात्मक बन गए। एवंरूप आपः को उत्पन्न कर वे स्वयम्भू प्रजापति अपनी त्रयीविद्या के साथ इस भृग्वङ्गिरोरूप आपः में प्रविष्ट हो गए। इस सत्य के प्रवेश से वे ऋत आपः अण्ड-वृत्तरूप में परिणत हो गए। यही पहिला 'पारमेष्ठ्यब्रह्माण्ड' (स्वयम्भू ब्रह्म का परमेष्ठीरूप अण्ड) कहलाया। इसी प्राथमिक स्थिति को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने कहा है—

> आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम् ।
> सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम् ।
> अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः ॥
> —गोपथब्रा० पू० ।३९। ।

३६३–ऋत भृगु के आधार पर ऋत अङ्गिरा की सञ्चिति, एवं सञ्चिति के द्वारा आपः परमेष्ठी से ऋत-सत्य का आविर्भाव—

आपोमय भृग्वङ्गिरोरूप (स्नेहतेजोधर्म्मा) परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित स्वायम्भुव वेदमूर्त्ति अपौरुषेय ब्रह्मवेद की कामना से, इसके तपः–श्रम से भृगुरूप सौम्य आपः के आधार पर अङ्गिरारूप आग्नेय-आपः की चिति हुई। ऋत भृगु के आधार पर ऋत अङ्गिरा सञ्चित हुआ। इस सञ्चिति से घनताभाव का उदय हुआ। भृग्वङ्गिरोरूप आपः इस चिति से भृगुगर्भित अङ्गिरामय बन गया एकांश से। भृग्वङ्गिरोरूप आपः ऋत बना रहा, एवं भृग्वङ्गिरोमय–सञ्चित आपः (भृगुगर्भित अङ्गिरोन्वितरूप आपः) 'सत्यं' बन गया स्वयम्भुवत्।

३६४–भृग्वङ्गिरोमय सत्यबीज की 'ब्रह्म'–रूपता, एवं गायत्रीमात्रिक पौरुषेय-वेदात्मक 'प्रथमजब्रह्म'—

यही भृग्वङ्गिरोमय सत्यबीज 'ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका आविर्भाव भृगु–अङ्गिरोरूप आपः–परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित ब्रह्मनिःश्वसित–अपौरुषेयवेदमूर्त्ति–स्वयम्भू-पुरुष की कामना से, एव तपः–श्रम से

भृग्वङ्गिरोमयरूपा अग्निचिति से ही हुआ है। स्वयम्भू-पुरुष से भृग्वङ्गिरोमय चितिभाव से बीजरूपेण आविर्भूत होने से ही यह अपूर्व बीजभावात्मक 'ब्रह्म'--'पौरुषेयवेद' कहलाया, जिसका पारिभाषिक नाम है 'गायत्रीमात्रिक-पौरुषेय-वेद'। स्मरण रहे, स्वायम्भुव वेद भी 'ब्रह्म' था, और परमेष्ठी के गर्भ में उत्पन्न यह भृग्वङ्गिरोऽन्वितरूप पारमेष्ठ्य वेद भी 'ब्रह्म' है। किन्तु वह 'प्रतिष्ठाब्रह्म' था, और यह 'प्रथमजब्रह्म' है।

३६५–ब्रह्मनिःश्वसित स्वायम्भुव अपौरुषेय कालवेद, गायत्रीमात्रिक पौरुषेय-कालिकवेद, एवं दोनों वेदों का त्रयीवेदत्व—

वह अपौरुषेय ब्रह्मनिःश्वसित स्थितिगतिप्रकृतिक वेद था, यह पौरुषेय गायत्रीमात्रिक-स्नेहतेजः-प्रकृतिक वेद है। दोनों के स्वरूप में महान् मौलिक भेद है। वह अव्यक्त वेदात्मक **कालवेद है**, यह व्यक्तवेदात्मक **कालिकवेद** है। 'त्रयीविद्यात्व' दोनों में समानधर्म्म है। किन्तु स्वरूपतः दोनों सर्वथा विभिन्न तत्त्व हैं। प्रतिष्ठावेदात्मक त्रयीवेद पिता है परमेष्ठी का, जब कि यह प्रथमजवेदात्मक त्रयीवेद परमेष्ठी का पुत्र है, अर्थात् स्वयम्भू का पौत्र है।

३६६-बीजात्मक प्रथमजब्रह्म का संस्मरण—

यही वह पारमेष्ठ्य बीज है, जो आगे चलकर चितिकर्म्म की परिसमाप्ति पर हिरण्मयाण्डगर्भ में 'सूर्य्य' रूप में परिणत होता है। **'अप एव ससर्जादौ, तासु बीजमवासृजत्'** इस शेष वाक्य (देखिए पृष्ठसं॰ ३१४ का मनुवचन , का बीज यही भृग्वङ्गिरोमय गायत्रीमात्रिक-**'त्रयीब्रह्म'** (**प्रथमजब्रह्म**) है।

३६७–हिरण्यगर्भमूर्त्ति-गायत्रीमात्रिक-वेदात्मक सूर्य्यनारायण, एवं 'कं स्विद् गर्भं दध्र आपः' का समन्वय—

भृग्वङ्गिरोरूप आपः के गर्भ में प्रविष्ट होकर इस आपः को आण्डरूप में परिणत कर इसके प्रवर्ग्यरूप भृग्वङ्गिरोमय आपः को चितिरूप में परिणत कर देने वाला स्वयम्भूकाल ही इस बीजभावात्मक प्रथमज-त्रयीब्रह्म का उत्पादक बन रहा है। निर्म्माण-साधन (उपादान) भृग्वङ्गिरोमयीं–आपः हैं, निर्म्माता भृगु-अङ्गिरोरूप आपः–के गर्भ में प्रविष्ट स्वयम्भूकाल है। यही 'आपः' के अनन्तर होने वाला दूसरा काल-महिमाविवर्त्त है, जिसे ब्राह्मणश्रुति ने–**'प्रथमजब्रह्म'** कहा है, मनु ने 'बीज' कहा है, एवं ऋक्संहिता ने–**'कं स्विद्गर्भं दध्र आपः'** इत्यादिरूप से–'**गर्भ**' कहा है। गर्भावस्था का यही बीजात्मक डिम्भ तो आगे चलकर सूर्य्यरूप से अभिव्यक्त होता है। 'ब्रह्म' नाम की इसी कालमहिमा को, काल के इसी द्वितीय महिमा-विवर्त्त को लक्ष्य बनाकर परम्परानुगता वही श्रुति कहती है—

सः (कालात्मकः स्वयम्भूः)-अकामयत-आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति। सोऽनया (प्रतिष्ठात्मिकया) त्रय्या विद्यया सह-आपः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत। तदभ्यमृशत्–अस्तु इति। भूयोऽस्तु–इत्येव तदब्रवीत्। ततो 'ब्रह्म' एव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या। अपि हि पुरुषात् (स्वयम्भुपुरुषात्) ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत। तदस्य तन्मुखमेव।

—शत॰ ६।१।१।१० (३१४ वें पृष्ठ की श्रुति की अग्रिम-श्रुति)।

३६८–हैमाण्डमूर्त्ति 'ब्रह्म' का स्वरूप-समन्वय, एवं 'कालाद्ब्रह्म' मन्त्रभागार्थ-समन्वय–

'तदभ्यमृशत्–अस्तु इति' वचन यही स्पष्ट कर रहा है कि, यह 'ब्रह्म' उत्पन्न हुआ है–आपोद्रव्य से ही। भृगङ्गिरोरूप आपः के प्रवर्ग्यरूप भृग्वङ्गिरोमय सञ्चितिभावापन्न सत्यधर्म्मा आपः से ही इस बीजात्मक 'ब्रह्म' का स्वरूप-निम्मणि हुआ है। आमोमय अण्ड के गर्भ में साक्षीरूप से प्रतिष्ठित स्वयम्भू-कालात्मक प्रतिष्ठा-ब्रह्म तो इसका स्पर्शमात्र ही किए रहता है। यह भी यथार्थ है कि, बिना इसके स्पर्श के यह कालिक हिरण्मयाण्ड परिपक्व भी नहीं हो सकता। अतएव माना जायगा इसे कालमहिमात्मक ही-भृग्वङ्गिरोमयी आपः के माध्यम से। अतएव ऋषि ने पहिले **'कालादापः समभवन्'** कहा, एवं तदनन्तर ही–**'कालाद्ब्रह्म'**, यह कहा। हिरण्मयाण्ड के गर्भ में प्रतिष्ठित प्रत्यक्षदृष्ट व्यक्त सूर्य्यनारायण का प्राथमिक–मूलरूप–बीजरूप ही यह 'ब्रह्म' है, जो परमेष्ठी के गर्भ में भृग्वङ्गिरा के प्रवर्ग्यरूप से सम्पन्न हुआ है, एवं जिस भृग्वङ्गिरोमय बीज की व्यक्तावस्था का नाम हीं आगे चल कर 'सूर्य्य' होने वाला है। भृगुगर्भित इसी आङ्गिरस अग्निमय हिरण्मयाण्डरूप पारमेष्ठ्य 'बीजब्रह्म' को लक्ष्य बनाकर राजर्षि आगे चलकर कहते हैं—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ॥
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥१॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ॥
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन 'नारायणः' स्मृतः ॥२॥

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ॥३॥
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके–ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥

—मनुः १।६,१०,११,।

३६९–भृग्वङ्गिरोमय ब्रह्म के तपः, और दिशः का स्वरूप-दिग्दर्शन—

स्थिति–गति–प्रकृतिक, यजुर्म्मूर्त्ति–कालात्मक–स्वयम्भू के संस्पर्श–प्रतिष्ठान–से नित्यसमन्वित, भृग्वङ्गिरोरूप-आपः परमेष्ठी के गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित, भृग्वङ्गिरोमयी–आपः से कृतरूप हिरण्मयाण्ड-लक्षण, सदसदात्मक वह 'ब्रह्म' ही आगे की सम्पूर्ण व्यक्त-सृष्टियों का सूर्य्यमाध्यमेन सर्जक बनने वाला है–स्वयम्भूकाल की साक्षी में। उन व्यक्तसृष्टिपरम्पराओं के अगणित विभिन्न कार्य्य–कारण–भावों के आधार-भूत दो ही कारण प्रमुख माने हैं ऋषिने, जो क्रमशः तपः, और दिशः नाम से प्रसिद्ध हैं। सृष्टरूप देश प्रदेशात्मक हैं, कार्य्यरूप हैं। इन देशात्मक कार्य्यरूप सृष्ट–पदार्थों का मूल दिक्, और तप ही बनता है, जिन इन दोनों मूलकारणों का उक्थबीजात्मक–भृग्वङ्गिरोमयीं आपः की चितिरूप 'ब्रह्म' ही बन रहा है। दूसरे शब्दों में–ब्रह्म की प्रथमा महिमा का नाम हीं 'तपः' है, और द्वितीया महिमा का नाम हीं 'दिशः' है।

३७०–भृगुगर्भिता आङ्गिराचिति से प्रादुर्भूत आङ्गिरस-व्यापारलक्षण तपः का प्रादुर्भाव, एवं 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' श्रुति का समन्वय—

बीजात्मक हिरण्मय–'ब्रह्म' का स्वरूप है–'**भृगुगर्भिता अङ्गिरा-चिति**'। दाह्य भार्गव सोम से समन्वित दाहक आङ्गिरस अग्निपुञ्ज का नाम ही है–'ब्रह्म', जो अपने दुर्द्धर्ष–प्रचण्डतम–उग्रतम–ओज से तपोमूर्ति बन रहा है। भृगुगर्भित अङ्गिराप्राण का अर्चन्–चरति-लक्षण प्राणव्यापार ही–'तपः' की स्वरूप-परिभाषा है। स्वयम्भू भी तपस्वी हैं। किन्तु उनका तप ज्ञानमय है–'**यस्य ज्ञानमयं तपः**', जिस में सृष्टि-निबन्धना उग्रता नहीं है। यह उग्रता तो भृगुसमन्वित अङ्गिरा में ही अभिव्यक्त होती है। गायत्रीमात्रिक-पौरुषेयवेदमूर्ति–भृग्वङ्गिरोमय ब्रह्म '**गायत्री**' रूप है, जो गायत्रीतत्त्व–'**एति च प्रेति च**' रूप से प्रचण्ड संघर्ष का अनुगमन करती हुई पारमेष्ठ्य सोम का अपहरण करने में समर्थ बन रही है। '**परमया जूत्या बल्बलीति**' लक्षण भृगुगर्भित यह आङ्गिरस–गायत्रतेज ही 'तपः' है, जिस तप को श्रुति ने–'**तेजिष्ठतेज**' कहा है, जैसाकि–"**भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्। एतद्वै तेजिष्ठं तेजः–यद् भृग्वङ्गिरसाम्**" (शत० १।२।१।१३।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

३७१–सूर्य्योत्पत्ति से पूर्वा स्थिति का दिगदर्शन, एवं सौरब्रह्माण्डनिर्म्माता 'आङ्गिरस-तप' की प्रचण्डतमा उग्रता का यशोवर्णन*—

सृष्टिप्रक्रिया की उस स्थिति को लक्ष्य बनाइए, जबकि सूर्य्य तो उत्पन्न नहीं हुआ था, किन्तु सूर्य्य के उपादानद्रव्य आपोमय परमेष्ठी-समुद्र में प्रचण्डतम–लम्बलम्बायमान भृगुसोमसमन्वित–दाह्यद्रव्यसमन्वित–अङ्गिराग्निपुञ्ज–दाहकद्रव्यपुञ्ज–प्रचण्डरूप से प्राणदपादनत्–व्यापार करते हुए, परस्पर संघर्ष करते हुए, इसी संघर्ष से परस्पर चित–संचित–होते हुए **परमया जूत्या** (प्रचण्डवेग से) बल्बलीति-धोधूयमान-बंभ्रम्य-माणावृत्ति से इतस्ततः सञ्चरण कर रहे थे। कैसा होगा प्रजापति का वह प्रचण्ड तप, जिसके प्रत्यंश से, यत्-

*–आपः–वायुः–सोम–रूपा भृगुत्रयी, अग्निः–यमः–आदित्यः–रूपा अङ्गिरात्रयी, अनुष्णाशीत–धामच्छद–अत्रि, इन तीनों **भृगु–अङ्गिरा–अत्रि**–नामक आपोमय पारमेष्ठ्य–ब्रह्माण्डानुगत प्राणों के विभूति, योग, तथा याग–सम्बन्ध–तारतम्य से अनुप्राणिता सलिलरूपा शान्ततमा **भार्गवीसृष्टि**, प्रचण्डतमा **आङ्गिरसीसृष्टि**, एवं धामच्छदा **आत्रेयीसृष्टि**–विवर्त्तों का जो वैज्ञानिक स्वरूप वेदशास्त्र में उपवर्णित है, जिसका अत्र संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जारहा है, उसी श्रौत–सृष्टिविज्ञान का वेदशास्त्रोपबृंहक इतिहास–पुराणशास्त्र में ज्यों का त्यों स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि निम्न लिखित कतिपय महाभारतीय–वचनों से स्पष्ट प्रमाणित है—

भारद्वाज उवाच–कथं सलिलमुत्पन्नं कथं चैवाग्निमारुतौ ॥
कथं वा मेदिनी सृष्टेत्यत्र मे संशयो महान् ॥१॥
भृगुरुवाच——ब्रह्मकल्पे पुरा ब्रह्मन्! ब्रह्मर्षीणां समागमे ॥
लोकसम्भवसन्देहः समुत्पन्नो महात्मनाम् ॥२॥

किञ्चिदंश से प्रवर्ग्यरूपेण अभिव्यक्त हो पड़ने वाला तपोमूर्त्ति सूर्य्य भी हमारे लिए असह्य बन रहा है ? ।
क्षणमात्र भी जिस तपोमूर्त्ति सूर्य्य पर दृष्टिनिक्षेप सम्भव नहीं है, ऐसा प्रचण्डसूर्य्य जिस महान् हिरण्मयाण्ड-

---

तेऽतिष्ठन् ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थाय निश्चलाः ॥
त्यक्ताहाराः पवनपा दिव्यं वर्षशतं द्विजाः ॥३॥
तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागतम् ॥
दिव्या सरस्वती तत्र सम्बभूव नभस्तलात् ॥४॥
पुरा स्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम् ॥
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ ॥५॥
ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः ॥
तस्माच्च सलिलोत्पीड़ादुदतिष्ठत मारुतः ॥६॥
यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते ॥
तच्चाम्भसा पूर्य्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥७॥
तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे ॥
भित्त्वार्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥८॥
स एष चरते वायुरर्णवोत्पीड़सम्भवः ॥
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥९॥
तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः ॥
प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः ॥१०॥
अग्निः पवनसंयुक्तः खं समाक्षिपते जलम् ॥
सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥११॥
तस्याकाशे निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः ॥
स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥१२॥
रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा ॥
भूमिर्योनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥१२॥

—महाभारत-शान्तिपर्व-मोक्षधर्म्मपर्व-भृगु-भारद्वाजसंवाद-
१८३ अध्याय।

रूप महान् तेजःपुञ्ज का एक यत्किञ्चित् अंश ही होगा, स्वयं वह कैसा प्रचण्ड तपोमूर्त्ति होगा ?, प्रश्न तो हमारे लिए दुरधिगम्य ही माना जायगा । तभी तो उस लोक की संज्ञा ही–'तपोलोक' होगई है, जो स्वयम्भूरूप सत्यलोक, तथा परमेष्ठीरूप जनल्लोक, दोनों के मध्य का लोक माना गया है । यह मध्यस्थ तपोलोक सचमुच स्वयम्भू, तथा आपः–परमेष्ठी–दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित हिरण्यमूर्त्ति–भृग्वङ्गिरोमय–ब्रह्म का ही प्राणदपानत्–व्यापारलक्षण स्वरूप है । अतएव इसे ब्रह्म के अनन्तर ही अभिव्यक्त माना है स्वयम्भू-काल से ऋषि ने ।

महर्षि भारद्वाज ब्रह्मर्षिप्रवर भृगु से प्रश्न करते हैं कि–सरित्–इरा–रस–रूप **'सरिर'**, जिसका प्रत्यक्ष व्यावहारिकरूप 'सलिल' है, कैसे उत्पन्न हुआ ?। अर्थात्–**'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास'** (शतपथ११।१।६।१।) इत्यादि शातपथीश्रुति के द्वारा उपवर्णित स्थूल पानियों का मौलिक तत्त्वरूप पारमेष्ठ्य सलिलतत्त्व कैसे प्रादुर्भूत हुआ ?। उसी पारमेष्ठ्य–ऋतसमुद्रात्मक–सलिल के गर्भ में (अङ्गिरारूप) अग्नि, तथा वायु (मरुत्वान् नामक वराहवायु) कैसे उत्पन्न हुआ ?। एवं (धामच्छद-स्थानावरोधक-अत्रि-प्राणात्मक–घनताप्रवर्त्तक) मेदिनीतत्त्व कैसे प्रादुर्भूत हुआ ?। महान् संशय है इस मूलसर्ग के सम्बन्ध में । तात्पर्य्य–सलिलरूप स्नेहगुणक **भृगु**, अग्निरूप तेजोगुणक **अङ्गिरा**, पिण्डस्वरूपसम्पादक **'मातरिश्वा'** नामक **'वराह'** प्राणवायु, एवं घनताप्रवर्त्तक अत्रिप्राणात्मक अनुष्णाशीत **मेदिनीतत्त्व** कैसे, कहाँ प्रादुर्भूत हुआ ? ॥ १ ॥

महर्षि भरद्वाज के तथोक्त प्रश्न करने पर ब्रह्मर्षि भृगु समाधान करते हैं कि,–हे ब्रह्मन् । ब्राह्मणश्रेष्ठ भरद्वाज !) दिव्ययुगात्मक ब्रह्मकल्पात्मक अनन्तकाल की साक्षी में पुरा (सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्डादि इस वर्त्तमाना-व्यक्ता–मूर्त्ता–भूतभौतिककी सृष्टि से पूर्व) ब्रह्मर्षियों के समागमकाल में लोकोत्पत्ति के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होगया । इस सन्देह की निवृत्ति के लिए वे ब्रह्मर्षिगण ध्यानावस्थित ही बन गए सौ (१००) दिव्यवर्ष–पर्य्यन्त । स्वायम्भुव ऋषिप्राण हीं स्वयम्भूब्रह्मानुबन्ध से 'ब्रह्मर्षिगण' हैं । इन्हीं ऋषिप्राणों की समन्वित-अवस्था का नाम है ब्रह्मनिःश्वसित–अपौरुषेयवेदात्मक मौलिक–तत्त्ववेद, जिसका प्रस्तुत कालखण्ड में अनेकधा संस्मरण हो चुका है । ये ही स्वायम्भुव ब्रह्मर्षिप्राण सलिल–अग्नि–वाय्वादि–रूप आप्य-पारमेष्ठ्य–मूर्त्तसर्ग के मूलप्रवर्त्तक बनते हैं । २–३–श्लोकद्वयी से इसी स्वायम्भुव–तत्त्व की ओर पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है ॥ २, ३, ॥

ब्रह्मर्षियोंनें ध्यानावस्था में (कालपरिकानन्तर) अपने कानों में ब्रह्ममयी वह वाणी सुनी, जो दिव्या सरस्वती (वाणी) नभोमण्डल से अभिव्यक्त हुई (थी) । तात्पर्य्य–आकाशात्मा स्वयम्भू ब्रह्म के यत्–रूप प्राणव्यापार से जूरूप वाग्भाग ही द्रुत होकर आपोमय–भृग्वङ्गिरोरूप परमेष्ठी-रूप में अभिव्यक्त हुआ, जिसकी भृगुगर्भिता अङ्गिराधारा ही **'सरस्वतीवाक्'** कहलाई, एवं अङ्गिरागर्भिता भृगुधारा ही **'आम्भृणीवाक्'** कहलाई, जैसाकि निबन्ध में यत्र तत्र अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है । **'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्'** के अनुसार ब्रह्मर्षिप्राणमूर्त्ति स्वयम्भू अपने यजुर्मय 'जू' भाग से आपोमय परमेष्ठी को उत्पन्न कर तद्-गर्भ में प्रविष्ट होगए । स्वयं अव्यक्त स्वयम्भू ब्रह्म जहाँ **'कालात्मक'** थे, वहाँ तदुत्पन्न सौम्य परमेष्ठी ही 'दिगात्मक' हैं । **'दिशः श्रोत्रे'** के अनुसार यही विश्वेश्वर का श्रोत्रस्थान है । अत्रैव, श्रोत्रात्मक-(दिक्सोमात्मक)

३७२–भृग्वङ्गिरोमय ब्रह्म का प्रचण्ड तपोरूप से महान् सरस्वान् समुद्र में प्रचण्डवेग से परिभ्रमण, परिभ्रममाण अग्निपुञ्ज से तद्गर्भ में अङ्गिराचिति की घनता का उदय, व्यक्त सूर्य्य का आविर्भाव, एवं तन्मूलक 'दिशः' भाव—

स्वायम्भुवी कालप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित बीजात्मक भृग्वङ्गिरोमय 'ब्रह्म' ने तप को अग्रणी बना कर स्वजन्मक्षेत्र भृग्वङ्गिरोरूप आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र में तपोबल से प्रचण्डरूपेण इतस्ततः अनुधावन करना आरम्भ कर दिया। इस तपोऽनुष्ठान का अन्ततोगत्वा परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिए था। भृगु की

परमेष्ठी में ही भार्गवी सरस्वती वाक् अभिव्यक्त हुई है। इसी सहज तात्त्विक स्थिति को लक्ष्य में रख कर– **'तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत्'** इत्यादि कहा गया है ॥४॥

क्या स्वरूप था नभोवाणीरूपा उस सरस्वतीवाक् का ?, पञ्चम श्लोक इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। जिस अनन्त–स्वायम्भुव–ब्रह्माकाश में आज सूर्य्य–चन्द्र–ग्रह–नक्षत्रादि अगणित मूर्त्त-व्यक्त-भाव अभिव्यक्त हैं, पारमेष्ठ्य–सर्गावस्था में ऐसा कुछ भी नहीं था। अपितु एतत्पूर्वावस्था में तो सम्पूर्ण आकाशमण्डल निश्चल–अविकम्पित–अचल ही था। सुषुप्ति में जो स्थिति मानवचेतना की रहती है, वैसी सी ही स्थिति थी पुरा ॥५॥ जिस प्रारम्भिक स्थिति का राजर्षि मनु ने निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

—मनुः

(तथाविधा नभोवाणीरूपा–स्वायम्भुवी–सरस्वती–वाक् से ही–मानो) सलिलरूप परमेष्ठी अभिव्यक्त **हुए, जो तम के गर्भ में दूसरे तम ही थे।** इस पारमेष्ठ्य सलिल के उत्पीड़न से ही, संघर्ष से ही आण्ड-वृत्तसम्पादक 'मातरिश्वा' नामक वराह वायु अभिव्यक्त हुआ। स्वयम्भू **'अनुपाख्यतमो'** रूप थे, एवं सलिलमूर्त्ति पारमेष्ठी **'अनिरुक्ततमो'** रूप हैं। अनुपाख्यतम के गर्भ में ही अनिरुक्ततम अभिव्यक्त हुआ, जिस इस अनिरुक्ततमने उस अनुपाख्यतम को मानो अपने में **'गूल्ह'** (प्रच्छन्न) ही कर लिया, जैसाकि **"तम आसीत् (अनुपाख्यतम आसीत्) तमसा (अनिरुक्तेन पारमेष्ठ्यतमसा) गूल्हमग्रे'** (ऋक्-**संहिता**)" इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है, जिसका प्रत्यक्षानुवाद ही किया है भगवान् व्यासने–**'तमसीवापरं तमः'** इस वाक्य से ॥६॥

निदर्शनमात्र है। शेष श्लोकों की सङ्गति प्रज्ञाशीलों को स्वप्रज्ञाक्षेत्र में ही समन्वित कर लेनी चाहिए। इस महाभारतीय-निदर्शन से स्पष्ट है कि, इतिहासपुराणशास्त्र सचमुच ही सुसूक्ष्म वैदिक तत्त्वों की विस्तृत-व्याख्या ही है, जिसे पारिभाषिक बोधाभाव से विस्मृत कर इस **'आर्य्यसर्वस्व–शास्त्र'** (**इतिहासपुराणशास्त्र**) की बुद्धिवादी अभिनिविष्ट विद्वानोंनें उपेक्षा कर अपना, और अपने साथ साथ भावुक–प्रजा का सांस्कृतिक अधः-पतन ही करा लिया है।

अङ्गिरा में ज्यों ज्यों आहुति होती गई, त्यों त्यों अङ्गिरा अधिकाधिक प्रदीप्त बनता गया। अङ्गिरा ज्यों ज्यों अधिकाधिक प्रदीप्त होता गया, त्यों त्यों अग्निपुञ्ज उत्तरोत्तर घन बनता गया। अग्निपुञ्ज ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर घन बनता गया, त्यों त्यों तद्गर्भीभूत भृगुतत्त्व इस अग्निपुञ्ज की सीमा बनता गया। यों अङ्गिराचिति वस्तुभाव में परिणत होती गई, तो तदाधारभूत भृगुभाव इस वस्तुभाव का छन्द (आकार–आकृति–सीमा) बनता गया। भृगुरूपेण वही आपः आकारसीमारूप परिश्रित(घेरा) बनता गया, एवं अङ्गिरारूपेण वही आपः आकारित वस्तुरूप कालिक पदार्थ बनता गया। पदार्थ कहलाया व्यक्तसूर्य्य, एवं पदार्थ की सीमा कहलाईं– 'दिशाएँ'।

३७३–दिक् के द्वारा व्यक्त देश का परिग्रहण, भार्गव आपः की परिश्रितता, परिश्रित-भाव की छन्दोरूपता, तद्रूप दिग्भाव, एवं 'ब्रह्म–तपो–दिशः' का समष्ट्यात्मक समन्वय—

सूर्य्य गौण है, अतएव उसका नामोल्लेख व्यर्थ है। प्रमुख तो दिग्भाव ही है, जिसके द्वारा व्यक्त देशभाव स्वतः ही परिगृहीत है। भृगुरूप आपः ही परिश्रित है, यही वस्तु का छन्द बनता है। छन्द का ही नाम सीमा है, एवं सीमा का ही नाम 'दिशः' है। भृगुभावात्मिका आपः दिशः है, तो अङ्गिराभावात्मिका आपः-'तपः' है। तपोरूप अङ्गिरा तेजोभावानुबन्ध से गतिप्रकृतिक है, जबकि दिग्रूप भृगु स्नेहभावानुबन्ध से स्थिति-प्रकृतिक है। अतएव दोनों में प्राथम्य तपोरूप अङ्गिरा का ही माना जायगा। आङ्गिरस तप से ही भार्गव दिग्भाव का आविर्भाव होता है। दिग्भावानन्तर ही आङ्गिरस तप पिण्डरूप में परिणत होकर सूर्य्यरूप–देश (पदार्थ) रूप में परिणत होता है। तदित्थं-गायत्रीमात्रिक वेदरूप 'ब्रह्म' के माध्यम से ही कालप्रजापति अङ्गिरारूपेण तपोरूप में, तथा भृगुरूपेण दिग्रूप में परिणत हो रहे हैं। ब्रह्म भृग्वङ्गिरोमय है, तप भृगुगर्भित-अङ्गिरामय है, दिक् अङ्गिरा–गर्भित–भृगुमय है। एक ही पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोरूपा–आपः के आधार पर प्रतिष्ठित भृग्वङ्गिरोमयी आपः यों तीन महिमाभावों में परिणत हो रहा है। वही आपः भृग्वङ्गिरोरूपता से– 'आपः' है। वही आपः भृग्वङ्गिरोमयता से 'ब्रह्म' है। वही आपः भृगुगर्भित–अङ्गिरात्वेन 'तपः' है। एवं वही आपः अङ्गिरागर्भित भृगुत्वेन 'दिशः' है। और सर्वान्त में आपः–ब्रह्म–तपः-दिशः–ये चारों ही योगमायात्मक विवर्त्त स्वयम्भूकाल के ही महिमात्मक विवर्त्त हैं।

३७४–'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशः' रूपा लोकचतुष्टयी का समन्वय—

लोकविद्याप्रसङ्ग में 'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशः' रूप से चार लोक माने गए हैं। भूलोक पृथिवी है, चन्द्रलोक अन्तरिक्ष है, सूर्य्यलोक द्यौः है, एवं सूर्य्यलोक को भी अपनी सीमा में रखने वाला चतुर्थ लोक ही दिक्–लोक माना गया है। 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' के अनुसार दिग्लोकात्मक चतुर्थ लोक ही 'आपोलोक' कहलाया है। यह 'आपः' पारमेष्ठ्य वह भृगु–(सोम) तत्त्व ही है, जिसका गायत्री के द्वारा अपहरण होता रहता है। पारमेष्ठ्य भार्गव आपः तो बनता रहता है दिशः, एवं पारमेष्ठ्य आङ्गिरस आपः बनता है चितिरूपेण सौरसम्वत्सर, जिसमें सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड–रूप तीनों लोक प्रतिष्ठित हैं।

३७५–चतुर्थलोकीय दिक्सोम, तदभिन्न श्रोत्रेन्द्रिय, एवं 'ता इमा दिशोऽभवन्' का समन्वय—

दिक् के सम्बन्ध से ही इस पारमेष्ठ्य सोम को–'दिक्सोम' कहा गया है, जबकि चान्द्रसोम भास्वरसोम नाम से प्रसिद्ध है। सायतन-पिण्डात्मक-सोम हीं भास्वरसोम है, जिस से मानव के इन्द्रियमन का निर्म्माण होता है। एवं निरायतन-ऋतात्मक-पारमेष्ठ्य सोम का नाम हीं दिक्सोम है, जिस से मानव की श्रोत्रेन्द्रिय का विकास हुआ है, जैसाकि–'मनश्चन्द्रेण लीयते',–एवं–'दिशो मे श्रोत्रे स्थिता' इत्यादि से स्पष्ट है। मानवसंस्थान में जो स्थान श्रोत्र का है, उस अधिदैवत विराट्संस्थान में वही स्थान पारमेष्ठ्य ऋतसोम का है। अतएव उसे हम उस का 'श्रोत्र' कह सकते हैं। उस का वह श्रोत्र (ऋतसोम-ब्रह्मणस्पतिसोम) ही दिग्रूप में (वस्तुपिण्ड की सीमारूप में) परिणत होता है, जैसाकि–'अथ यत्–तत्–श्रोत्रमासीत्–ता इमा दिशोऽभवन्' (जै० उप० २।२।४) इत्यादि से स्पष्ट है।

३७६–'दिशो वै परिभूश्छन्दः' लक्षणा छन्दोमयी दिक्—

प्रत्येक वस्तुपिण्ड लोकत्रयात्मक है। एवं इस का सीमात्मक परिणाह ही इस का छन्द है, जिससे छन्दित होकर वस्तु का स्वरूप सुरक्षित है। सीमात्मक छन्द दिक्सोममय ही है। अतएव छन्द को ही दिक् मान लिया गया है, किंवा दिक् ही छन्द बन रहा है। छन्दोरूप दिग्भाव से सीमित–छन्दित पदार्थ ही 'देश' है। 'छन्दांसि–वै दिशः' (शत० ८।३।१।१२)–दिशो वै परिभूश्छन्दः' (यजुःसं० १५।४।) 'दिशः परिधयः' (तै० ब्रा० २।१।५।२।)–'आपो वै परिश्रितः' (शत० ६।४।३।६) इत्यादि वचन परिश्रितरूप–छन्दोमय–दिक्सोमात्मक–इसी दिग्भाव का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

३७७–अन्तर्गर्भमूर्त्ति 'पूर्वब्रह्म', उस का प्रचण्ड 'तप', एवं–'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्' इत्यादि शातपथीश्रुति का तात्त्विक-समन्वय—

'तस्मात्–पुरुषात्–ब्रह्म–एव पूर्वमसृज्यत' इत्यादि श्रुति से अनुप्राणित 'ब्रह्म' भृग्वङ्गिरोमय तत्त्व है, यह स्पष्ट किया जाचुका है। इस ब्रह्म के गर्भ, और अन्तर्गर्भ, रूप से दो विवर्त्त बन रहे हैं। ब्रह्म का स्नेहगुणक भृगुभाग 'गर्भब्रह्म' है, एवं तेजोगुणक अङ्गिराभाग 'अन्तर्गर्भब्रह्म' है। अन्तर्गर्भब्रह्मरूप अङ्गिरा-मूर्त्तिब्रह्म की अभिव्यक्ति का नाम हीं अग्रभावापन्न 'प्राणन' है, जो अपानभावात्मक भृगु से समन्वित है। प्राणनरूप अग्रभाव ही इस का तपोरूप स्वरूपधर्म्म है. जो अपने इस प्राणनात्मक अग्रधर्म्म से–'अग्निः' कहलाया है। अन्तर्गर्भरूप अङ्गिराब्रह्म की प्राणनावस्था का नाम हीं–'तपः' है, जो कि अग्रभावात्मक तप 'अग्रि' भाव से–'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध होगया है। अग्रिरूप अग्नि प्राणव्यापारवस्था ही है उस अन्तर्गर्भरूप अङ्गिराब्रह्म की। इसी आग्नेय प्राणव्यापार को यहाँ 'तपः' कहा गया है। अतएव 'तपो वा अग्निः' (शत० ३।४।३।२।)–'तपो मे, तेजो मे, अन्नं मे, वाङ्मे। तन्मे त्वयि–अग्नौ'–(जै० उप० ३।२०।१६।)–'तेजोऽसि तपसि श्रितम्, समुद्रस्य प्रतिष्ठा' (तै० ब्रा० ३।११।१।३।)–'ब्रह्म तपसि प्राणाग्नौ–प्रतिष्ठितम्' (ऐ० ब्रा० ३।६।) इत्यादिरूप से तेजोगुणक अङ्गिराग्नि को ही 'तपो' मूर्त्ति

प्रमाणित किया गया है । शतपथ ने पूर्वोक्त क्रमधारानुपात से ब्रह्म के द्वारा जिस प्राणाग्नि का आविर्भाव बतलाया है, उसी को अथर्वमन्त्रने–'तप' कहा है । यहाँ का 'तप', और शातपथीश्रुति का अग्रभावात्मक प्राणाग्नि, दोनों अभिन्नार्थक हैं । तपोरूप इसी अन्तर्गर्भरूप प्राणाग्नि को लक्ष्य बना कर भगवान् याज्ञवल्क्य कह रहे हैं—

अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् (अङ्गिरात्मकस्तेजोभाव आसीत्), सोऽग्निरसृज्यत । स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत–तस्मादग्निः । अग्निर्ह वै तं–'अग्नि' इत्याचक्षते–परोक्षम्– (तपो वा अग्निः–शत० ३।४।३।२)

—शत० ६।१।१।११–(३१७ वें पृष्ठ की श्रुति की अग्रिम–श्रुति) ।

३७८–स्नेहगुणक भृगु की अश्रुरूपता, उस की 'अश्वरूपता', एवं–'अथ यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत् ,–स कूर्म्मोऽभवत्' इत्यादि वाजिश्रुति का समन्वय–

इस तपोरूप–आङ्गिरस–प्राणाग्निरूप अन्तर्गर्भ के प्रचण्डरूप से उद्दीप्त हो जाने पर गर्भरूप स्नेहगुणक भृगुभाव 'अश्रु' रूप में परिणत हो जाता है, जो अश्रुरूप ही परोक्षभाषा में–'अश्व' कहलाया है । सौर-सम्वत्सर के सीमावृत्त का नाम ही 'अश्व' है, जिसके सम्बन्ध से छन्दोरूप वृत्तात्मक काल भी 'अश्व' कहलाने लग गया है, जैसाकि–'कालो अश्वो वहति' इत्यादि मन्त्रार्थसमन्वय–प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है । तपोरूप अग्नि के चारों ओर सम्वत्सरवेलारूप से परिव्याप्त दिक्सोमात्मक–आपोमय परिश्रितमण्डल का नाम ही संक्षरित–'अश्रु' रूप (पारमेष्ठ्य आपः रूप) 'अश्व' है । शतपथ का **'अश्रु'** रूप अश्व ही अथर्व का 'दिशः' तत्त्व है, जिस का उसी पारम्परिक क्रमधारा से इन शब्दों में विश्लेषण हुआ है कि,–**"अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्–सोऽश्रुरभवत् । अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते–परोक्षम्"** । (शत० ६।१।१।११) । यह वही अश्रुरसात्मक आपोमय–दिङ्मय अश्वरस है, जिस से तपोमूर्त्ति आङ्गिरस–अग्नि अन्तर्गर्भ बन रहा है । यही अन्तर्गर्भरूप प्राणाग्निरस इस अश्रुरस से सीमित बनता हुआ आगे चल कर उस कूर्म्मत्रिलोकीरूप में परिणत होता है, जिसका उसी क्रमानुपात से श्रुति ने–**"अथ यः पराङ्रसोऽत्यक्षरत्–स कूर्म्मोऽभवत्"** (शत० ६।१।१।१२) इत्यादिरूप से स्पष्टीकरण किया है ।

३७९–कालप्रजापति से आविर्भूत आपः-ब्रह्म-तपः-दिशः-रूप चार तत्त्व, एवं इन का तात्त्विक–समन्वय–

यों 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (६।१।१।१) से आरम्भ कर १२ वीं कण्डिका पर्य्यन्त के श्रौत-सन्दर्भ के द्वारा प्रतिपादित त्रयीवेदात्मक सप्तपुरुषपुरुषात्मक **प्रजापति (कालात्मक स्वयम्भू)**, इस के वाग्भाग से उत्पन्न **आपोमय परमेष्ठी**, आपोमय परमेष्ठी के भृगु–अङ्गिरोमय गायत्रीमात्रिकवेदात्मक 'ब्रह्म', अङ्गिरोऽग्नि–भृगुसोमरूप **अश्व**, इन चारों क्रमिक कालधाराओं का ही प्रस्तुत मन्त्र में **कालः–आपः–ब्रह्म–तपः–दिशः**–रूप से उपवर्णन हुआ है । मन्त्र का **'कालात्'** स्वयम्भूरूप सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है । मन्त्र का 'आपः' वाग्भाग से उत्पन्न आपोमय परमेष्ठी है । मन्त्र का **'ब्रह्म'** भृग्वङ्गिरोमय पौरुषेय त्रयीवेद है, मन्त्र का

'तपः' भृगुगर्भित अङ्गिराप्राणाग्नि है, एवं मन्त्र का 'दिशः' अङ्गिरागर्भित--अश्‍रु रूप 'अश्व' है। तथा-मन्त्रोत्तरार्द्ध का 'सूर्य्य' शातपथीश्रुति का रसात्मक 'कूर्म्म' है, जिस इस मन्त्रवर्णन का तद्व्याख्याभूत ब्राह्मणसन्दर्भ के आधार पर ही क्रमिक समन्वय गतार्थ बन रहा है। मन्त्रव्याख्यारूप ब्राह्मणसन्दर्भ के पारिभाषिक समन्वय के बिना तो मन्त्र के कालात्[1]–आपः[2]–ब्रह्म[3]–तपः[4]–दिशः[5]–सूर्य्यः[6] (स्वयम्भू[1]–परमेष्ठी[2]–भृग्वङ्गिरा[3]–अङ्गिरोऽग्नि[4]–भृग्वश्व[5]–कूर्म्म[6]) ये पारिभाषिक शब्द सर्वथा पूजार्ह ही बने रह जाते हैं, जिनके पारायणानुगत पौनःपुन्य से भी पुण्यसंस्कार तो विगत तीन सहस्रवर्षों से प्रक्रान्त है ही, जिस उपक्रान्ति का महान् श्रेय पारायण–महत्त्वप्रतिपादकमात्र सायणभाष्यादि को ही कृतज्ञता–पूर्वक ससम्मान समर्पित है।

३८०–कालमूला सृष्टिधारा की अनाद्यनन्तता, एवं प्रथम–(१–१२)–मन्त्रार्थ–समन्वयोपराम—

काल से आपः का प्रादुर्भाव हुआ, आपोगर्भ में आपोद्रव्य से ब्रह्म आविर्भूत हुआ, तप आविर्भूत हुआ, दिशाएँ प्रादुर्भूत हुईं। यों परम्परया आपः–ब्रह्म–तपः–दिशः–भावानन्तर सर्वान्त में वही ब्रह्म तपोरूपेण दिङ्मण्डलवेला में कालान्तर में चिति की परिपूर्णता से–व्यक्तसूर्य्यपिण्डरूप में आविर्भूत होगया। अमुक कालावधिपर्य्यन्त यह व्यक्तसूर्य्य उसी अव्यक्त स्वायम्भुव काल में व्यक्तरूप से प्रतिष्ठित रहेगा अपने वर्त्तमानकालात्मक–सहस्रदिव्ययुगात्मक पुण्याहकाल में। अन्ततोगत्वा बलग्रन्थिमूला चिति के शिथिल हो जाने पर यह पुनः अपने उसी अव्यक्तभाव में आता हुआ उसी अव्यक्त स्वयम्भू–काल में विलीन हो जाता है। इसके विलयन के साथ साथ ही उसी तपोमूर्त्ति अग्नि–पुञ्ज से नवीन सूर्य्य आविर्भूत हो जाता है। और यों उस सनातन–कालचक्र का यह सनातन–आविर्भाव–तिरोभावात्मक–क्रम सदा सदा के लिए यों हीं प्रक्रान्त होता रहेगा, प्रक्रान्त है ही, जिस इस सनातन उदयास्तक्रम (सूर्य्योत्पत्ति-सूर्य्यविलयन–क्रम) को लक्ष्य बना कर ही ऋषि ने कहा है—'कालेनोदेति-सूर्य्यः, काले निविशते पुनः'। इसी मन्त्रवर्णन के आधार पर निम्नलिखित स्मार्त्त वचन प्रतिष्ठित हैं—

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं, मां चाचिन्त्यपराक्रमः ॥
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीड़यन् ॥१॥
यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् ॥
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥२॥
एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ॥
संजीवयति चाजस्रं, प्रमाणयति चाव्ययः ॥३॥
मन्वन्तराण्यसंख्यानि, सर्गः–संहार एव च ॥४॥
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥४॥

—मनुः १ अध्याये

कालात्— सप्तर्षिप्राणात्मक-सप्तपुरुषपुरुषात्मक-स्वयम्भुप्रजापतेः।
आपः——भृग्वङ्गिरोरूपाः-आपः समभवन्।
ब्रह्म——गायत्रीमात्रिकवेदमूर्त्तिः-भृग्वङ्गिरोमयं ब्रह्म।
तपः——भृगुगर्भितः-अङ्गिराप्राणाग्निः-चितिरूपः।
दिशः——अङ्गिरागर्भितः-भृगुसोमः-अश्रुरूपोऽश्वरूपो वा।
सूर्य्यः—त्रैलोक्यव्याप्तः-प्राणाग्निरसरूपः-व्याक्तपिण्डः।

इति-प्रथममन्त्रार्थसमन्वयः

१-(११)

---

(१२)-(२)-द्वितीय-मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (द्वितीयमन्त्रार्थ)

३८१-'कालेन वातः पवते' इत्यादि द्वितीय (१२)-(२)मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय, एवं कालात्मिका सौर-त्रैलोक्यविभूति का संस्मरण—

(१२)-(२)-कालेन वातः पवते, कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता ॥

"काल से (ही) वायु बह रहा है, काल से (ही) पृथिवी मही चल रही है। काल में (हीं) मही द्यौ प्रतिष्ठिता है" इत्यक्षरार्थक द्वितीय मन्त्र सौरत्रिलोकीरूपा कालविभूति की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। काल से आपोमय परमेष्ठी का आविर्भाव हुआ। पारमेष्ठ्य आपः के भृग्वङ्गिरोमय-भावों से कालसाक्षी में हीं गायत्रीमात्रिक वेदरूप ब्रह्म का आविर्भाव हुआ, इसी आपः के भृगुगर्भित अङ्गिरा से अग्निप्राणरूप तपः का आविर्भाव हुआ, इसी आपः के अङ्गिरागर्भित भृगु से सौम्यभावरूप छन्दोमय दिग्भाव का आविर्भाव हुआ। ब्रह्म-तपः-दिक्-की समन्वितावस्थारूप भृग्वङ्गिरोमय आपः ही चितिभाव में आकर अन्ततोगत्वा सूर्य्यरूप में परिणत होगया। और यों स्वयम्भूकाल से आरम्भ कर सूर्य्य पर्य्यन्त 'स्वयम्भूः-आपः-ब्रह्म-तपः-दिशः-सूर्य्यः-इन ६ कालमहिमाओं का आविर्भाव होगया। अब आगे जो भी मूर्त्तभाव उत्पन्न होंगे, उन सबका मूलप्रवर्त्तक काल-स्वयम्भु-आपः-ब्रह्म-तपो-दिशः-गर्भित सौरकाल ही बनेगा, जिसे 'व्यक्तकाल' कहा गया है, एवं जो सौरकाल ही सम्वत्सरकाल में परिणत होता हुआ साम्वत्सरिक-प्रजासर्ग का उत्पादक बनता है। 'कालेन वातः पवते' इत्यादि द्वितीय मन्त्र सौरकाल के लोकत्रयात्मक-पृथिव्यन्तरिक्ष-द्यौः-रूप सम्वत्सरस्वरूप का ही स्पष्टीकरण कर रहा है, जिस इस सौरसम्वत्सर में समहिम सूर्य्य, समहिम चन्द्रमा, समहिम भूपिण्ड, नक्षत्र, ग्रह, आदि सभी साम्वत्सरिक पर्व यथास्थान यथाकाल प्रतिष्ठित हैं। प्रथम मन्त्र के 'कालात्' का अर्थ-'स्वयम्भूकालात्' था, प्रथम मन्त्र के 'कालेनोदेति सूर्य्यः' के 'कालेन' का अर्थ-'परमेष्ठिकालेन' था, 'काले' का अर्थ भी 'परमेष्ठिकाले' ही था। किन्तु इस द्वितीय मन्त्र के 'कालेन-काले'-का अर्थ 'सौरकालेन', 'सौरकाले' ही होगा। क्योंकि व्यक्त सौरकाल ही सम्वत्सर-त्रिलोकीरूपा उस रोदसी-त्रिलोकी का जनक बन रहा है, जिस रोदसी-त्रिलोकी में सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-ग्रह-नक्षत्रादि प्रतिष्ठित हैं। इस व्यवच्छेद-दृष्टि को आधार बना कर ही हमें द्वितीय मन्त्र का अर्थसमन्वय करना चाहिए।

३८२–सृष्टि, तथा दृष्टिमूला सृष्टिविद्याओं का पार्थक्य, अव्यक्तभावानुगता सृष्टिमूला सृष्टिविद्या का, एवं व्यक्तभावानुगता दृष्टिमूला सृष्टिविद्या का पारिभाषिक विपर्य्यय—

सम्वत्सरमूला सृष्टिविद्या का समन्वय हुआ है दृष्टिमूला-सृष्टिविद्या के माध्यम से, जिसमें पृथिवी[1]–अन्तरिक्षं[2]–द्यौः[3]–दिशः[4] यह क्रम है, जबकि सृष्टिमूला सृष्टिविद्या में दिशः[1]–द्यौः[2]–अन्तरिक्षं[3]–पृथिवी[4] यह क्रम माना गया है। कालात् आपः, ब्रह्म–तपः–दिशः–यह क्रम सृष्टिमूलक ही माना जायगा, जिसका मन्त्रश्रुति में दिग्दर्शन कराया गया है। अव्यक्तभावात्मिका अव्यक्तसृष्टियों में जहाँ सृष्टिमूला सृष्टिविद्या को प्रधानता दी जाती है, वहाँ व्यक्तमूला व्यक्तसृष्टियों में दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के माध्यम से ही सर्गधाराएँ व्यवस्थित कीं जातीं हैं।

३८३–अव्यक्त–स्वायम्भुव जगत् का–'दिशः–द्यौः–अन्तरिक्षं–पृथिवी'–रूप सृष्टिमूलक समन्वय, एवं व्यक्त सौरजगत् का 'पृथिवी–अन्तरिक्षं–द्यौः–दिशः' रूप दृष्टिमूलक समन्वय—

कारण स्पष्ट है। व्यक्तजगत् में पहिले स्थूल पर ही दृष्टि जाती है, तदनन्तर तन्माध्यम से सूक्ष्मभावों की ओर। किन्तु अव्यक्त में तो मूल अव्यक्त ही उपक्रम बना रहता है। अतएव अव्यक्त स्वयम्भूकाल से आरम्भ कर दिशः पर्य्यन्त तो सृष्टिमूलक अव्यक्तादि–अव्यक्तान्त ही क्रम रहा। किन्तु व्यक्त सूर्य्य पर आते ही वह क्रम बदल गया। अर्थात् सूर्य्यरूप व्यक्तभाव के व्यक्तसर्गों के समन्वय में प्रवृत्त होते ही भूपिण्ड उपक्रम बन जायगा, एवं दिशः–उपसंहार बन जायगा। फलतः–दिशः–के आगे सृष्टिमूलक सूर्य्य–अन्तरिक्ष–पृथिवी–यह क्रम न होकर पृथिवी–अन्तरिक्षं–द्यौः–दिशः–यह क्रम हो जायगा। भगवान् याज्ञवल्क्य ने इसीलिए साम्वत्सरिक–व्यक्तसर्गविद्याप्रकरणात्मक चयनयज्ञप्रकरण में इस दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के माध्यम से ही अस्त्व–ण्डादि चारों भावों का समन्वय किया है, जिस समन्वय के लिए तो अत्यन्त गहना–गभीरा–रहस्यात्मिका उस **'अग्निरहस्यविद्या'** का ही स्वाध्याय करना चाहिए, जिसमें हमारा तो चञ्चुप्रवेश भी नहीं है। श्रुत्यक्षरश्रवण-मात्रमाध्यम से तत्सम्बन्ध में हम तो में यही निवेदन कर सकते हैं कि—

३८४–दृष्टिविद्यामूलक पार्थिव अस्त्वण्ड, आन्तरिक्ष्य पोषाण्ड, सौर यशोऽण्ड, पारमेष्ठ्य रेतोऽण्ड, नामक चतुर्विध आण्डों का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं द्वितीय (१२) मन्त्रार्थ समन्वयोपराम—

व्यक्तजगत् में सर्वप्रथम उस भूपिण्ड पर ही हमारी दृष्टि जाती है, जिसे स्वयम्भूकालप्रजापति का **'अस्त्वण्ड'** माना गया है, एवं जिसका स्वरूपनिर्म्माण **'मरः'** नामक क्षारभावापन्न–अर्णवसमुद्र से ही हुआ है। अप्–वायु–सौर–तेज इन तीनों के अन्तर्य्यामात्मक यागसम्बन्ध से 'मरः' नामक आपः ही क्रमशः **आपः** (घन-**आपः**)–फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य-रूपेण अष्टावयव बनता हुआ भूपिण्डरूप में परिणत **होता है**। यही अग्निलोक है, जिसका महिमालोक ही अदितिपृथिवी कहलाई है, जोकि पृथिवी 'अप्रथयत्'-रूप से

महिमान्विता बनती हुई–"**मही**" नाम से प्रसिद्ध हुई है। '**अद्भ्यः पृथिवी**' के अनुसार 'मर' नामक आपः से उत्पन्न भूपिण्ड के केन्द्र में गायत्राग्नि ही प्रतिष्ठित है, जिसके सम्बन्ध से ही यह पृथिवी '**गायत्री**' कहलाई है। इस मही पृथिवी के महिमा-विवर्त्त **अग्निः–अश्वः–अजः–पृथिवी–अस्त्वण्डम्**, इन पाँच भावों में परिणत हैं। तदनन्तर अन्तरिक्ष का स्थान आता है दृष्टिविद्या के अनुसार। इसके महिमाविवर्त्त क्रमशः **वायुः-वयांसि-मरीचयः–अन्तरिक्षं–पोषाण्डम्** इन पाँच भावों में परिणत हैं। तदनन्तर द्यु लोक का स्थान आता है, जिसके पाँच महिमा-विवर्त्त क्रमशः **आदित्यः–अश्मापृश्निः, रश्मयः–द्यौः–यशोऽण्डम्**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवं सर्वान्त में दिग्लोक का स्थान आता है, जिसके पाँच महिमा-विवर्त्त क्रमशः **चन्द्रमा***, **नक्षत्राणि, अवान्तरदिशः, दिशः,** रेतोऽण्डम्' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इसप्रकार **महीपृथिवी**, महिमामय **उक्त अन्तरिक्ष (चन्द्रपिण्ड सहित), महिमामयी मही द्यौः**, एवं **आपोमयी दिक्**, इन चारों साम्वत्सरिक कालाण्डभावों की समष्टि का नाम ही है-'**सौरब्रह्माण्ड**', जिसका ऋषि ने यहाँ **महीपृथिवी-महीद्यौः**-वातः-इन तीन लोकों से संग्रह कर लिया है। व्यक्त सौरब्रह्माण्ड की दृष्टि से ये तीन लोक हीं व्यक्त हैं, जबकि चौथा दिग्लोक अव्यक्त ही बन रहा है। अतएव उसका ऋषि ने प्रथम मन्त्र के–'**कालाद् ब्रह्म–तपो-दिशः**' इत्यादि वाक्य से ग्रहण कर लिया है। अब व्यक्त सौरब्रह्माण्ड में तीन लोक ही शेष रह जाते हैं। अतः प्रकृत द्वितीय मन्त्र ने इसी त्रैलोक्य-महिमा को अपना लक्ष्य बनाया है। शतपथब्राह्मण–षष्ठकाण्ड के १ अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में तथाकथित चारों सौरब्रह्माण्डविभूतिरूप इन सम्वत्सरमहिमाओं का क्रमशः विस्तार से निरूपण हुआ है, जिसके आधार पर ही यहाँ आगे की तालिका उद्धृत हो रही है।

---

*–भास्वरसोमात्मक पिण्डरूप चन्द्रमा सूर्य्य तथा भूपिण्ड के मध्य में हैं, जबकि दिक्सोमात्मक आप्य–चन्द्रमा का स्थान सूर्य्य से ऊपर ही माना गया है। सोम का सामान्य नाम '**इन्दु**' भी **है**, जो दाहक अग्नि के सम्बन्ध से चन्द्रिकामय बनता हुआ (प्रज्ज्वलित होता हुआ ज्योतिर्म्मय बन जाता **है**। इसी ज्योतिर्म्मय-भाव से सोम का सामान्य नाम '**चन्द्रमा**' भी होगया है। दृष्टिक्रमधारा में प्रत्यक्षदृष्ट 'चन्द्रमा' जहाँ सूर्य्य–भूपिण्ड–दोनों के अन्तरालवर्ती अन्तरिक्षलोक में अन्तर्भूत है, वहाँ सूर्य्य से परस्थानरूप तृतीय–द्युलोक में प्रतिष्ठित दिक्सोमात्मक पारमेष्ठ्य–आपोमय–'ब्रह्मणस्पति' नामक चन्द्रमा दृष्टिपथ से अतीत है। आण्डसृष्टिक्रम में दिक्सोमरूप इसी चन्द्रमा का ग्रहण हुआ है, जैसाकि तदनुगत श्रौतसन्दर्भ से प्रमाणित **है**। नक्षत्राधिपति चन्द्रमा यही पारमेष्ठ्य चन्द्रमा है, जोकि सूर्य्य से ऊपर है। अतएव वही '**उडुपति**' कहलाया है, जिसका पारमेष्ठ्य कृष्णतत्त्व से सम्बन्ध है, जोकि महारास के अनुगामी बने हुए हैं। सूर्य्य से अत्यन्त विदूर है **नक्षत्र** कक्षाएँ, जिनका आधिपत्य पारमेष्ठ्य चन्द्र ही कर सकते हैं, न कि भूपिण्ड का उपग्रहभूत प्रत्यक्षदृष्ट **चन्द्रमा**। वेदशास्त्र का सर्वात्मना अनुसरण करने वाले पुराणशास्त्रने भी इसी वैदिक-सृष्टिक्रम को माना है। अतएव पुराण ने भी 'चन्द्रमा' का स्थान सूर्य्य से ऊपर ही बतलाया है। वेदशास्त्र के अक्षरमात्र पर दृष्टिनिक्षेप करने से भी पराङ्मुख जो अर्वाचीन वेदभक्त वेदोद्धारक स्वामिपथानुगामी महाशय पुराण की इत्थंभूता जनश्रुतियों के आधार पर पुराण को गप्प–मानने मनवाने का महान् पातक करते हुए लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनत-शिरष्क नहीं बन जाते, उन '**महाशय**'–महानुभावों से प्रार्थना की जायगी कि, अपनी भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए उन्हें एकबार वेदाक्षरों पर तो दृष्टिपातानुग्रह कर ही लेना चाहिए।

दृष्टिपथानुगतं-सौरब्रह्माण्डम्—

(१) १–अस्त्वण्डम्	२–पोषाण्डम्	३–यशोऽण्डम्	४–रेतोऽण्डम्
(२) १–अग्निः	२–वायुः	३–आदित्यः	४–चन्द्रमाः
(३) १–अश्वः	२–वयांसि	३–अश्मापृश्निः	४–नक्षत्राणि
(४) १–अजः	२–मरीचयः	३–रश्मयः	४–अवान्तरदिशः
(५) १–पृथिवी	२–अन्तरिक्षम्	३–द्यौः	४–दिशः

सौरब्रह्माण्डात्मके–व्यक्तसौरकाले–सम्वत्सरे–एव—

पृथिवी, अन्तरिक्षं, द्यौः-दिशः-प्रतिष्ठिताः-आहिताः।

अग्निः-वायुः-आदित्यः-चन्द्रमाः-वा ।

अश्वः-वयांसि-अश्मापृश्निः-नक्षत्राणि वा ।

अजः-मरीचयः-रश्मयः-अवान्तरदिशो वा ।

इत्यभिप्रेत्यैवाह महर्षिः—

कालेन—-वातः पवते-सौरव्यक्तकालेन-अन्तरिक्षलोकानुगतो वातः पवते ।

कालेन—-पृथिवी-मही सौरव्यक्तकालाधारेण-पृथिवी-परिभ्रमति ।

द्यौर्म्मही-काले-आहिता-सौरकाले एव कालात्मिका द्यौर्म्मही आहिता ।

इति—द्वितीयमन्त्रार्थसमन्वयः

२

—*—

(१३)–(३)–अथ तृतीय–मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (तृतीयमन्त्रार्थ)

३८५–'कालो ह भूतं–भव्यं च' इत्यादि तृतीय (१३) मन्त्राक्षरार्थसमन्वय, एवं 'पार्थिव सम्वत्सर' का संस्मरण—

(१३)–(३)–कालो ह भूतं, भव्यं च, पुत्रो अजनयत्पुरा।
कालादृचः समभवन्, यजुः कालादजायत ॥

"(भूत–भौतिकी–पार्थिवी सृष्टि से) पहिले (पुरा) कालात्मक पुत्रने भूत, और भविष्यत् उत्पन्न किया। काल से (ही) ऋचाएँ उत्पन्न हुईं, (एवं) काल से (ही) यजुः उत्पन्न हुआ"–इत्यक्षरार्थक अनुगममन्त्र उस 'पार्थिवसम्वत्सर' का ही स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है, जिसका केवल 'भूपिण्ड' से सम्बन्ध है, एवं जिस पार्थिव सम्वत्सर का अष्टम सूक्त के–'काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम्' इत्यादि अष्टम मन्त्र के सर्वान्त के अदितिमण्डलात्मक पार्थिव विवर्त्त के विश्लेषण-प्रसङ्ग में स्पष्टीकरण किया जा चुका है (देखिए पृ० सं० २८६ की समष्ट्यात्मिका तालिका)।

३८६–स्वयम्भू-काल से आविर्भूत दशकल-विराट्काल का स्वरूप-समन्वय, एवं दोनों कालों का 'आत्मा वै जायते पुत्रः' मूलक पिता-पुत्रीय-सम्बन्ध—

सौरसम्वत्सरकाल ही उस स्वयम्भू–परमेष्ठी–रूप दम्पती की प्रथमा सन्तति है, जिसे 'विराट्पुत्र' कहा गया है। सुब्रह्मसोमात्मक परमेष्ठी 'पत्नी' (बहु) है, ब्रह्माग्निरूप स्वयम्भू पति है। ब्रह्माग्नि ऋक्–यत्–जू–साम–रूप से चतुष्कल है, सुब्रह्मसोम आपः वायुः–सोमः–अग्निः–यमः–आदित्यः-भेद से षट्कल है। इन चार, तथा छह की समष्टि ही दशकल वह मूलप्रजापति (दम्पती-पतिपत्नी) है, जिससे दशावयव (अग्नीषोमात्मक) विराट् सूर्य्यनारायण का आविर्भाव हुआ है, जो यह विराट्पुत्र उस प्रजापति का आत्मप्रतिमान ही बन रहा है–'आत्मा वै जायते पुत्रः'–'पिता वै जायते पुत्रः के अनुसार। स्वायम्भुव प्राजापत्य हृदय की प्रतिमूर्त्ति इस पञ्चपर्वात्मक–पञ्चपुण्डीर विश्व में सूर्य्य ही है, जिसके उस ओर परमेष्ठी–स्वयम्भू है, इस ओर चन्द्रमा–भूपिण्ड हैं। विश्वमध्यस्थता ही इसकी केन्द्रता है, जैसाकि–'आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्'–'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'–'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति'–'नैवोदेता नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता'–'विमान एष दिवो मध्य आस्ते आ पप्रिवान् रोदसी०'–इत्यादि वचनों से स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित है।

३८७–'पिता सन्नभवत्-पुत्र एषाम्' का रहस्यात्मक समन्वय, एवं विराट्पुरुष का संस्मरण—

तथाविधा प्राजापत्य–केन्द्रता ही इस विराट्सूर्य्य की 'पुत्रता' है। पिता का पुत्र पिता का हृदय ही है, आत्मा ही है। अतएव 'हृदय', और 'पुत्र' परस्पर अभिन्नार्थक बन गए हैं। इसी आधार पर–'पुत्रो वै हृदयम्' (तै० ब्रा० २।२।७।४) इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित है। सूर्य्यनारायण तत्त्वतः पुत्र भी हैं उस

स्वयम्भूकाल के, एवं स्थितिभाव से 'हृदय' भी हैं विश्व के। अतएव इनका तत्पुत्रत्त्व, एवं स्वस्थित्यनुगत हृदयत्त्व, दोनों धर्म्म अन्वर्थ हैं। स्वयम्भुगर्भित परमेष्ठी ही महदक्षररूप वह अव्यक्तकालप्रजापति है, जिसके गर्भ में हीं-**'कं स्विद्गर्भं दध्र आपः'-'तासु बीजमवासृजत्'**-इत्यादिरूप से गर्भरूप (हृदयरूप) सूर्य्यनारायण अभिव्यक्त हुए हैं। अतएव अवश्य ही इसे उस अव्यक्तकालपिता का **व्यक्तपुत्रकाल** कह सकते हैं। अमूर्त्त-अव्यक्त-स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-**'महदक्षरकाल'** यदि पिता है, तो यह मूर्त्त-व्यक्त-सौर-**'क्षरकाल'** पुत्र है। **'पितासन्नभवत्-पुत्र एषाम्-भुवनानां-सौरलोकानाम्'** इत्यादि अष्टम-सूक्तीय चतुर्थ मन्त्रार्थ-समन्वय में स्पष्ट ही उस काल के पुत्रभाव का सर्वात्मना समर्थन हो रहा है। पिता ही पुत्र बना है, अव्यक्त ही व्यक्तावस्था में आया है। स्वायम्भुव पितृकाल ही सौरपुत्रकाल में परिणत हुआ है, जिसका स्वरूप रोदसीत्रैलोक्यात्मक सौरसम्वत्सरात्मक-माना गया है, जिसका कि प्रक्रान्त नवम सूक्त के-**"कालेन वातः पवते, कालेन पृथिवी मही०'** इत्यादि द्वितीय मन्त्रार्थ-समन्वयप्रकरण में स्पष्टीकरण किया जाचुका है।

३८८-पुत्रकालात्मक व्यक्त सौरकाल के पौरुष-स्वरूप की जिज्ञासा, एवं-'अश्वो न देववाहनः' श्रुति का संस्मरण—

पितृकालात्मक-अव्यक्त-स्वायम्भुवपारमेष्ठ्य-काल से पुत्ररूपेण आविर्भूत इस पुत्रकालात्मक व्यक्त-सौरकाल ने किया क्या ?,-**'कालो ह भूतं भव्यं च'०** इत्यादि तृतीय मन्त्र इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। राजस्थान में एक महत्त्वपूर्ण लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि-**"मातपिता-सुत घोड़ो, घणों नहीं तो थोड़ो थोड़ो'**। माता, और पिता के दाम्पत्य से उत्पन्न पुत्र मातापिता के महान गार्हस्थ्य-उत्तरदायित्त्व का वहन करने वाला वैसा वाहन [अश्व-घोड़ा] ही है, जो सर्वात्मना नहीं, तो अमुक सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही उस भार का अश्ववत् वहन करता रहता **है-'अश्वो न देववाहनः'**।

३८९-लोकसूक्ति का समन्वय, एवं पिता स्वयम्भू के धर्म्मों से समतुलित पुत्र सौर-काल का संस्मरण—

यही उक्त सूक्ति का अर्थसमन्वय है, जो-**'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः'** का ही अक्षरशः अनुवदन है। मातृपितृगता सप्तपुरुषात्मिका सपिण्डता का प्रतिमान पुत्राश्व भी इस सप्तावयवा सपिण्डता के भार का वहन करने वाला व्यक्तकालाश्व ही है। तथैव सप्तरश्मिमूर्त्ति उस अव्यक्तकाल का पुत्ररूप यह व्यक्त सौर-अश्वकाल भी सप्ताहोरात्रवृत्तों से सप्तरश्मि ही बन रहा है। जैसा स्वरूप उस पिता का है, वैसा ही स्वरूप इस पुत्र का है। वह कालपिता [महदक्षररूप अव्यक्तब्रह्म] यदि-**'भूतं-भविष्यत्प्रस्तौमि महद्-ब्रह्मैकमक्षरम्, बहु ब्रह्मैकमक्षरम्'** रूप से भूत, और भव्य का अधिष्ठाता है, तो तत्पुत्रस्थानीय यह सौर व्यक्तकाल भी उसी भूत-भव्य-धर्म्म का जनयिता बन रहा है। महिमामण्डलात्मक वृत्तसीमा के परिमाण में अन्तर हो सकता है दृष्टि-अपेक्षामात्र से। वह कालमण्डल बड़ा हो सकता है, यह तदपेक्षया छोटा प्रतीत हो सकता है [यद्यपि छोटा है नहीं]। किन्तु स्वरूपतः जैसा वह है, वैसा ही यह है-**'घणों नहीं, तो थोड़ो-थोड़ो'**।

३६०–त्रिकालात्मिका सृष्टिकालव्यवस्था का दिग्दर्शन—

कालपिता-महदक्षररूप स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य से अनुप्राणित **'भूतम्'** का अर्थ है-**'अतीतम्'**, एवं **'भविष्यत्'** का अर्थ है-**'अनागतम्'**, जिस तथाविध भूत-भविष्यदात्मक कालपिता का वर्त्तमानरूप **'आगतम्' (भवत्)** रूप पुत्रकालात्मक सूर्य्य ही बन रहा है, जिसे वर्त्तमानकालात्मक 'पुण्याहकाल' कहा गया है, एवं जिसके माध्यम से ही मन्वन्तरानुगता गणनात्मिका 'सृष्टिकालव्यवस्था' समन्वित हुई है।

३६१–भवल्लक्षण वर्त्तमानकाल का भूत–भविष्यल्लक्षण अतीत–अनागत–कालों में अन्तर्भाव—

उस भूत-भविष्यत्-काल से [स्वयम्भुगर्भित पारमेष्ठ्य महदक्षरमूर्त्ति अव्यक्तकालपिता से] ही इस वर्त्तमानकालात्मक-कालपुत्ररूप-व्यक्त-सूर्य्य का आविर्भाव हुआ है। अवश्य ही इस व्यक्त-बाह्य-धर्म्म से पुत्रसूर्य्य वर्त्तमानकालात्मक ही बन रहा है। किन्तु इसके मूल में तो बीजरूप से कालपिता के भूत-भविष्यत्-दोनों भाव ही प्रमुख बने हुए हैं। अतएव व्यक्तदृष्ट्या वर्त्तमानकालात्मक प्रतीत होता हुआ भी सूर्य्य अव्यक्तदृष्ट्या तो भूत-भविष्यत्-भावमय ही प्रमाणित है, किंवा त्रिकालात्मक ही प्रमाणित है। वस्तुगत्या तो 'वर्त्तमान' नामक भवत्काल भूत, और भविष्यत् में हीं अन्तर्भूत है। क्षण क्षण में धारावाहिकरूप से प्रक्रान्त **अव्यक्त (भूत)--व्यक्त (वर्त्तमान)--अव्यक्त (भविष्यत्)**--के चक्र में मध्यस्थ क्षणात्मक व्यक्त कभी भी तो अङ्गुलि-निर्द्देश की प्रतीक्षा नहीं करता।

३६२–वर्त्तमानकाल की भूत–भव्यता, एवं–'कालो ह भूतं भव्यश्च' मन्त्रभाग का संस्मरण—

'यह वर्त्तमान है' कहने के साथ ही तो **'यह'** वाला वर्त्तमान विदित नहीं, किस भूताव्यक्तक्षण में परिणत होगया। अतएव वस्तुगत्या मध्यस्थ व्यक्तभावापन्न वर्त्तमान क्षण भी-'तन्मध्य' न्याय से भूत, अथवा तो भविष्यत्, दोनों अव्यक्तक्षणों में से किसी न किसी एक क्षण में अवश्य ही लीन रहता है। तभी तो काल के मौलिक स्वरूप–प्रसङ्ग में-'भूतं भविष्यत्प्रस्तौमि' यही कहा गया है। और तभी तो प्रस्तुत मन्त्र में भी-**'कालो ह भूतं, भव्यंच'** रूपेण भूत, और भव्य का ही संग्रह हुआ है। मन्त्रोपात्त **'च'** [चकार] कदापि वर्त्तमान का संग्राहक नहीं है, जैसाकि महाभाग भाष्यकारोंनें माना है। अपितु यह चकार तो 'और' भाव का ही संग्राहक है। **'भूत और भव्य'** के लिए ही **'भूतं--भव्यं च'** प्रयुक्त है। **'भूतं भविष्यत्प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्'** में चकार नहीं है, तो क्या यहाँ 'वर्त्तमान' उपेक्षित है ?। नहीं अपितु 'वर्त्तमान तो इन दोनों की सीमा में हीं अन्तर्भुक्त है, जिसके लिए किसी भी च, किंवा नच-नुच-की कोई आवश्यकता नहीं है।

३६३–'भूतं'–और 'भव्यं' शब्दों के तात्त्विक वाच्यार्थों का समन्वय—

और फिर वस्तुस्थिति तो वास्तव में ऐसी है कि, यहाँ का **भूतं**, और **भव्यं** शब्द भातिसिद्ध कालभावों से साक्षात् सम्बन्ध रख भी नहीं रहा। **कल–आज–कल**–आदि लक्षण भातिकाल-भावों के लिए ही –भूत–

वर्त्तमान–भविष्यत्–शब्द प्रयुक्त हुए हैं। न तो महदक्षरकालात्मक कालपिता के भूतं–भविष्यत्–का यह अर्थ है, न क्षरकालात्मक कालपुत्र के–"भूतं'–भव्यं च' का ही यह अर्थ। अपितु इन दोनों हीं शब्दों का सत्ताकालात्मक पारिभाषिक अर्थ है– 'द्यावापृथिवी'। पृथिवीलोक का पारिभाषिक नाम है–'भूतम्', एवं द्युलोक का पारिभाषिक नाम है-'भव्यम्', जो कि दोनों हीं आग्नेय-आदित्य-प्राणघनलोक सत्तासिद्ध लोक हैं, जिनका कल–आज वाले भातिभावों से कोई सम्पर्क नहीं है। ससीम–परिमित–धामच्छद–भूततत्त्व का नाम है-'भूतम्', एवं असीम-अपरिमित-अधामच्छद प्राणतत्त्व का नाम है-'भव्यम्'। 'भूतम्' रूप परिमित भूत से जहाँ वस्तु के मूर्त्तपिण्ड का निर्म्माण होता है, वहाँ 'भव्यम्' रूप अपरिमित प्राण वस्तु के अपरिमित–प्राणमण्ड–लात्मक महिमामण्डल का स्वरूप-व्यवस्थापक बनता है। 'भूतम्' ही 'भूतपिण्डः' है, एवं 'भव्यम्' ही 'प्राण-मण्डलम्' है। यही यहाँ के 'भूतं–भव्यं च' का सत्तासिद्ध समन्वय है, जहाँ 'च' कार के मर्द्दनोपपर्द्दन की कोई भी आवश्यकता शेष नही रह जाती भातिसिद्धकालप्रेमी व्याख्याताओं की भाँति।

३६४–भूतम्,–और लक्ष्मीभाव, भव्यम्,–और श्रीभाव, तथा भूत-भव्यात्मक–पारमेष्ठ्यविष्णुरूप महदक्षरकाल की श्री–लक्ष्मी–नाम की दो पत्नियाँ––

न केवल शास्त्रीय–तत्त्वमर्य्यादा में ही, अपितु तदनुगता, तदाधारेणैव सुप्रतिष्ठिता भारतीया सांस्कृतिकी लोकमर्य्यादा (लोकव्यवहार) में भी भूतं–भव्यं–शब्दों का सत्तासिद्ध समन्वय ही सर्वप्रसिद्ध है। **'भव्यानुगतं भूतमेव भव्यम्', 'भव्यशून्यं–केवल-भूतं–तु–भूतमेव–गतमेव'** इस लौकिक वाक्य का समन्वय कीजिए। प्राणशक्ति का नाम हीं 'भव्यम्' है, जिसका देवनाम है–'श्रीः'। स्थूलभूत का नाम हीं 'भूतम्' है, जिसका देवनाम है–'लक्ष्मीः'। 'लक्ष्मीः' 'भूतम्' है, 'श्रीः' 'भव्यम्' है। **'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ॰'** इत्यादि के अनुसार दोनों हीं पारमेष्ठ्य विष्णु की पत्नियाँ हैं। स्वयम्भुगर्भित–पारमेष्ठतत्त्व का नाम हीं तो 'विष्णु' है, और यही तो 'भूतं भविष्यत्प्रस्तौमि' लक्षण महदक्षरात्मक सत्तासिद्ध काल है। गर्भीभूत स्वायम्भुवप्राण 'भव्यम्' रूप 'भविष्यत्' है, एवं गर्भधारक आपोमय पारमेष्ठ्य 'भूतम्' रूप 'भूतम्' है। स्वायम्भुव प्राण (भव्य), और पारमेष्ठ्यभूत (भूतापः), दोनों की समष्टि ही 'महदक्षरविष्णु' है, जिसका प्राणभाग 'भव्य-श्रीभाव' है, एवं 'भूतभाव भूतलक्ष्मीभाव' है।

३६५–प्राणश्री, तथा भूतलक्ष्मी का स्वरूप–दिग्दर्शन, तदनुगत भूत–भव्य–भाव, एवं भव्य–भूतायोजनात्मक लोकव्यवहार का समन्वय—

भूत जबतक प्राणवान् रहता है, तभीतक वह भूत स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। प्राण से समन्वित भूत ही 'भूतसत्ता' का प्रतीक है। जब भूत इस प्राणबन्धन से पृथक् होजाता है, भव्यभाव हट जाता है भूत से, तो ऐसा निष्प्राण अभव्यभूत नष्ट होकर 'अतीत' रूप भूतभाव में हीं परिणत होजाता है। प्राण ही श्री है, भूत ही लक्ष्मी है। अतएव भव्यं ही श्री है, भूतं ही लक्ष्मी है। भूतलक्ष्मी तभीतक भव्या बनी रहती है, जबतक कि इसके साथ भव्या श्रीः समन्वित रहती है। श्रीविहीना–(भव्यविहीना) लक्ष्मी (भूत) तो सचमुच भूत-प्रेतवत्–भयावहा ही बन जाती है। अतएव प्राणश्रीविहीन–निष्प्राण-लौकिक–आयोजन–परिग्रहों–के लिए-लोकव्यवहार में–'भूतों का सा डेरा' (**भूतप्रेतों की आवासभूमि**) यह वाक्य प्रचालित है। वे ही

आयोजन **'भव्य आयोजन'** कहलाए हैं, जिनके भतपरिग्रह प्राणवान् रहते हैं। इसप्रकार भव्यभूतायोजनात्मक लोकव्यवहार भी स्पष्ट ही भव्यं, तथा भूतं—के सत्तासिद्धरूपों को ही लक्ष्य बना रहा है।

३६६—'कालो ह भूतं भव्यं च' मन्त्रभाग का तात्विक—समन्वय—

सर्वथा प्रस्तुत मन्त्र का 'भूतं' भूतपिण्डात्मक **'भूलोक'** का संग्राहक है, एवं 'भव्यं' प्राणमहिमात्मक **'भूमहिमा'** का संग्राहक है। भूलोकात्मक 'भूतं' परिमित है, सीमित है, मर्त्य है विपरिणामी है, एवं भूमहिमात्मक 'भव्यं' अपरिमित है, अमृत है, अविपरिणामी है। मर्त्य—भूतात्मक 'भूतं' से व्यक्तकालपुत्र (सौरकाल) अदितिपृथिवी को अभिव्यक्त करते हैं, एवं अमृत—प्राणात्मक 'भव्यं' से ये ही अदिति के द्युलोक को अभिव्यक्त करते हैं। इसप्रकार सौर व्यक्तकाल के भूतं—भव्यं—रूप भूत, और प्राण से भूतं-भव्यं—रूपा द्यावापृथिवी का ही आविर्भाव हो जाता है, जिस इस तथ्य को लक्ष्य बना कर ही ऋषिने कहा है—**'कालो ह भूतं, भव्यं च पुत्रोऽजनयत्पुरा'**। 'भूतं' रूप भूत, तथा 'भव्यं' रूप प्राण, दोनों तो सौरकालपुत्र में तत्पितारूप परमेष्ठिकाल से ही समागत हैं।

३६७—पृथिवीलोक की भूतता, एवं द्युलोक की भविष्यत्ता का स्वरूप—समन्वय —

अतएव सौरकालस्वरूपसमर्पक भूतं—भव्यं—लक्षण-भूत—प्राण के उत्पादन का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ये दोनों स्वरूप-निर्म्मापक तो स्वयं 'कालपुत्र' शब्द से ही गतार्थ बन रहे हैं। भूत-प्राणात्मक, किंवा भूत—भव्यात्मक यह कालपुत्र जिन भूत—भव्य—नामक—अन्य अपूर्व दो भावों को उत्पन्न करता है, वे तो सौर—काल से अतिरिक्त ही भूत—भव्य होने चाहिएँ। वे ही अदितिपृथिवी के द्यावापृथिवी हैं, जो सूर्य्य, और भूपिण्ड, दोनों के गर्भ में सर्वथा नवीनरूप से जन्म लेते हैं, जिस भूता पृथिवी, तथा भव्या द्यौः में देवसत्यात्मक ईश्वरविवर्त्त आविर्भूत होता है (देखिए २८६ वाँ पृष्ठ)। पृथिवी 'भूतं' है, द्यौः—'भव्यम्' है। एव ये दोनों परिमित—अपरिमित—भावों के संग्राहक हैं, इस तथ्य की प्रामाणिकता का समन्वय हमें वेदशास्त्र के पारिभाषिक-तत्त्वानुशीलन के द्वारा ही कर लेना चाहिए। **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। "परिमितं वै भूतम्, अपरिमितं भव्यम्"**—(ऐत० ब्रा० ४।६।)—**"अयं वै--पृथिवी-लोको--भूतम्"** । (तै० ब्रा० ३।८।१८।५।)—**"असौ--द्युलोक: -भविष्यत्"** (तै० ब्रा० ३।८।१८।६।) इत्यादि वचन ही तथाविध पारिभाषिक अनुशीलन के आधार बन सकेंगे *।

३६८—'सत्यं वा ऋतम्, ऋतमिति सत्यम्' मूलक ऋत-सत्य-भावों का संस्मरण—

सम्वत्सरकालात्मक सौरमण्डल **'सत्यमण्डल'** है, जैसाकि—'तद्यत्--तत्सत्यं-,असो स आदित्यः। **सत्यमेष--य एष तपति'** (शत० १४।१।२।२२।) इत्यादि से प्रमाणित है। **'कालो ह भूतं--भव्यं च'** इत्यादि

---

*--श्रीसायणाचार्य्यने **'कालः'** का **'कालेन'** अर्थ करते हुए जो विलक्षण अर्थसमन्वय किया है, सचमुच वह परिभाषा की दृष्टि से तो प्रणम्य ही माना जायगा। जिस सूक्त में अपेक्षित--कालः--कालेन--कालात्--काले-आदि सभी विभक्तियाँ प्रयुक्त हैं, वह यहाँ **'कालेन'** के अर्थ में--**'कालः'** क्यों कह रहा है ?, प्रश्न का उत्तर उन्हीं भाष्यकारों से पूँछना चाहिए।

मन्त्र का 'कालः' यही सत्यसूर्य्यकालात्मक **'सौरसम्वत्सर'** है, जिसका प्रवर्ग्य भूत-प्राणात्मक भूत-भव्य-भाग ही 'ऋत' कहलाया है। ब्रह्मौदनमूर्त्ति सत्यकाल ही प्रवर्ग्यरूप ऋतकालरूप में परिणत हुआ है। अतएव सत्य को इस ऋतप्रजननधर्म्मानुबन्ध से 'ऋत' भी कह दिया जाता है–**"सत्यं वा ऋतम्"** (शत० ७।३।१।२३।)–'ऋतमिति–(यजुः सं० १२।१४।)–सत्यमित्येतत्' (शत० ६।७।३।११)।

३९९–सत्य-ऋतानुगत–सत्य–ऋत–सम्वत्सर, एवं दोनों सम्वत्सरों के गायत्रीमात्रिक, तथा यज्ञमात्रिक नामक दो तत्त्ववेद—

सत्यसम्वत्सर ही तो प्रवर्ग्यरूप से ऋतसम्वत्सररूप में परिणत हुआ है। सत्यसम्वत्सर ही सौरसम्वत्सर है, ऋतसम्वत्सर ही पार्थिवसम्वत्सर है। सत्यसम्वत्सर का सत्यवेद 'गायत्रीमात्रिक–पौरुषेय' वह वेदतत्त्व **है,** जिसके–'मण्डल–अर्चि–पुरुष' (शत० १०।५।२।१) ये तीन विवर्त्त माने गए हैं। एवं ऋतसम्वत्सर का ऋतवेद **'यज्ञमात्रिक'** नामक वह वेद है, जिस ऋतात्मक (किन्तु सत्यगर्भित) यज्ञमात्रिकवेद से ही उस सत्यवेद की महिमा का वितान हुआ है, जैसाकि–**ते देवा अब्रुवन्–'यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै'** इत्यादि से प्रमाणित है।

४००–सौर-पार्थिव-तत्त्ववेदों का सुसूक्ष्म-स्वरूपभेद, एवं तन्निबन्धन सौर-पार्थिव-त्रैलोक्य–

सौर सम्वत्सर के भूतं–भव्यं–रूप भूत–प्राणों–के प्रवर्ग्य–भागों से क्रमशः पार्थिव सम्वत्सररूप पृथिवी–
भूतं, द्यौः भव्यं–का आविर्भाव हुआ, एवं सौरसम्वत्सर के गायत्रीमात्रिक–सत्यवेद के प्रवर्ग्यभागों से पार्थिवसम्व-
त्सर के यज्ञमात्रिकवेद का आविर्भाव हुआ। अन्तर दोनों वेदों में यही रहा कि, पार्थिव-त्रिलोकी के त्रिवृत्स्तोम-
स्थानीय पृथिवीलोक में ऋग्वेद प्रतिष्ठित हुआ, पञ्चदशस्तोम-स्थानीय अन्तरिक्षलोक में यजुर्वेद प्रतिष्ठित
हुआ। किन्तु एकविंशस्तोम-स्थानीय पार्थिव-द्युलोक, तथा २१ वें अहर्गण पर ही स्थित सामात्मक सूर्य्य,
दोनों अभिन्न बन गए *। सामात्मक सूर्य्य ही तो भूत–भव्यात्मक वह काल है, जिसके प्रवर्ग्य भूतं–भव्य–
भावों से ऋतसम्वत्सर का, तथा ऋतसम्वत्सरात्मिका वेदत्रयी का स्वरूपाविर्भाव हुआ है।

४०१–'कालादृचः समभवन्, यजुः कालादजायत' का संस्मरण—

वेदत्रयी का नहीं, अपितु 'वेदद्वयी' का, ऋग्यजुर्मात्र का। क्योंकि तीसरा यहाँ का साम तो उस एक-
विंशस्थ सत्यसूर्य्यात्मक साम से अभिन्न ही प्रमाणित है। इसी साम–साम्यदृष्टि से ऋषिने सौरसम्वत्सरमूर्त्ति
कालपुत्र से केवल ऋक्, तथा यजुः की ही उत्पत्ति–बतलाई है, जैसाकि–"कालादृचः समभवन्, यजुः काला-
दजायत' इत्यादि से स्पष्ट है। **'सामात्मकात् सौरकालात्–भूतपृथिविमाध्यमेन ऋचः समभवन्, भूत–
भव्यान्तर्गतान्तरिक्षमाध्यमेन यजुरजायत। भव्यद्युलोकात्मकं साम तु कालात्मकमेवेति"**–ही उक्त
वाक्य का तात्त्विक समन्वय है।

***–एकविंशो वा इत आदित्यः-सूर्य्यः (शत ५।५।३।४)। भूपिण्डतः २१ अहर्गणे एव सूर्य्यः प्रतिष्ठितः-इति यावत्।**

४०२–'कालो ह भूतं–भव्यं च' इत्यादि तृतीय मन्त्रार्थ समन्वयोपराम—

ऋतसम्वत्सरात्मक पार्थिव त्रैलोक्य ही 'अदिति–त्रिलोकी' है, जिसे पूर्वसूक्त के दशम मन्त्र में 'कूर्म्म–त्रिलोकी' कहा है (देखिए पृ० सं० ३०३ से ३०५ पर्य्यन्त)। यह वही उख्या पार्थिव-त्रिलोकी है, जिस का –'**अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्म्माता स पिता स पुत्रः**' इत्यादि रूप से अष्टम–मन्त्रार्थ-समन्वय में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। सौर-सत्यसम्वत्सर-त्रिलोकी का स्वरूप प्रक्रान्त सूक्त के–'**कालेन वातः पवते**' इत्यादि द्वितीय मन्त्र से स्पष्ट हुआ है। एवं पार्थिव–सम्वत्सर–त्रिलोकी–रूपा अदिति–त्रिलोकी का, एवं दनु–गता यज्ञमात्रिक–वेदत्रयी के (वेदद्वयी के) स्वरूप का प्रकृत–"**कालो ह भूतं भव्यं च०**" इत्यादि तृतीय मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। निम्नलिखित तालिका से प्रस्तुत सूक्त के तीनों मन्त्रों से स्वयम्भू से आरम्भ कर पृथिवी-पर्य्यन्त के सम्पूर्ण कालमहिमा-विवर्त्तों का स्पष्टीकरण गतार्थ बन रहा है। प्रथम मन्त्र स्वायम्भुव काल का, द्वितीय मन्त्र सौर–सम्वत्सरकाल का, तथा तृतीय मन्त्र पार्थिव-सम्वत्सरकाल का ही निरूपण कर रहा है।

१–स्वयम्भुकालः ————'कालादापः समभवन्०' (प्रथममन्त्र)		
२–सौरसत्यसम्वत्सरकालः–––'कालेन वातः पवते०' (द्वितीयमन्त्र)		-**कालमहिमात्रयी**
३–पार्थिवऋतसम्वत्सरकालः–'कालो ह भूतं भव्यं च०' (तृतीयमन्त्र)		

———*———

सत्यस्य-सत्यम्

- कालात्-इति स्वयम्भूः — संयती
- आपः—इति परमेष्ठी
- ब्रह्म—इति वेदत्रयी
- तपः—इति अङ्गिरोऽग्निः
- दिशः—इति भृगुः सोमः — क्रन्दसीत्रिलोकी

—स्वयम्भूः (सत्यस्यसत्यकालमहिमा)

—**"कालादापः-समभवन्"-** १

सत्यम्

- कालेन—इति सौरप्राणः
- वातः—इति अन्तरिक्षम्
- पृथिवी—इति पृथिवी
- द्यौः—इति द्यौः — रोदसीत्रिलोकी

—सूर्य्यः (सौरसम्वत्सरः-सत्यकालमहिमा)

—**"कालेन वातः पवते"-** २

ऋतम्

- कालः—इति पार्थिवसम्वत्सरः
- भूतं—इति त्रिवृत्पृथिवी
- भव्यं—इति एकविंश-द्यौः
- ऋचः—इति त्रिवृत्-ऋक्
- यजुः—इति पञ्चदश-यजुः — कूर्म्मत्रिलोकी

—पृथिवी-(पार्थिवसम्वत्सरः-ऋतकालमहिमा)—

—**"कालो ह भूतं भव्यं च"** ३

त्रिविधोऽयम्——कालमहिमैव

इति—तृतीयमन्त्रार्थसमन्वयः

३

(१४)–(४)—अथ–चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (चतुर्थमन्त्रार्थ]

४०३–ऋत-चान्द्र-सोमानुबन्धी ऋतुसम्वत्सरात्मक यज्ञ, एवं चान्द्रसम्वत्सरयज्ञ से चतुर्दशविध भूतसर्ग का प्रादुर्भाव—

(१४)–(४)--कालो यज्ञं समैरयत्, देवेभ्यो भागमक्षितम् ।
काले गन्धर्वाप्सरसः, काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥

दश–मन्त्रात्मक अष्टम कालसूक्त में, तथा पञ्चमन्त्रात्मक प्रक्रान्त प्रस्तुत नवम कालसूक्त में प्रतिपादित तृतीय मन्त्रान्त–प्रकरण में अबतक जितने भी काल, तथा कालिक विवर्त्त निरूपित हुए हैं, उन में कालिक विश्व के सुप्रसिद्ध पर्व उस सोममय 'चन्द्रमा' का कहीं भी सङ्केत नहीं हुआ है, जो अपने ऋतसोमधर्म्म से उस 'ऋतुसम्वत्सर' की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस सौम्य ऋतुसम्वत्सरात्मक अग्नीषोमात्मक 'यज्ञ' से ही उस चतुर्दशविध प्रजासर्ग का आविर्भाव हुआ है, जो सांख्यपरिभाषा में–'**चतुर्दशविधो भूतसर्गः**' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिन चान्द्र १४ चौदह भूतसर्गों में '**नर**' नामक मानवसर्ग (प्राकृत चान्द्र–मानव सर्ग) ही सर्वापेक्षया प्रमुख बना हुआ है ।

४०४–ऋतुकाल से यज्ञ की स्वरूप-निष्पत्ति, चान्द्र-यज्ञकालानुगत सौम्य-गन्धर्वाप्सराप्राण, एवं देवदेवताओं की अक्षय्यनिधि—

चान्द्र सोम का महिमात्मक स्वरूप ही ऋतसम्वत्सर है । चन्द्रमा हीं ऋतसम्वत्सररूप 'ऋतुकाल' में परिणत होकर यज्ञ का जनक बनता है, यही चान्द्रकाल अपने ऋतुयज्ञ के द्वारा पार्थिव प्राणदेवताओं के लिए कभी क्षीण न होने वाले हविर्द्रव्य की व्यवस्था करता है, इसी चान्द्र ऋतुकाल में गन्धर्वाप्सराप्राण प्रतिष्ठित हैं, एवं इसी में चौदह-प्रकार के लोक प्रतिष्ठित हैं । चान्द्रकक्षानुगत पार्थिवसम्वत्सर ही वह 'यज्ञ' है, जिस में अग्निप्रधान ३३ यज्ञियदेवता प्रतिष्ठित हैं, एवं अत्रैव इन यज्ञिय देवताओं का अक्षित (कभी क्षीण न होने वाला) हविर्द्रव्य प्रतिष्ठित है । गन्धर्व्व प्रतिष्ठित हैं, अप्सराएँ प्रतिष्ठित हैं । एवं चतुर्दशविध भूतसर्गात्मक चतुर्दश लोक प्रतिष्ठित हैं । प्रस्तुत चतुर्थ मन्त्र–अपने "**कालने ही यज्ञ को प्रेरित किया है, कालने ही देवताओं के लिए कभी क्षीण न होने वाले भाग को व्यवस्थित–नियत किया है । काल में हीं गन्धर्वाप्सराएँ प्रतिष्ठित हैं । एवं काल में हीं लोक प्रतिष्ठित हैं**" इस अक्षरार्थ के माध्यम से इसी चान्द्रसम्वत्सरकाल की महिमा का रहस्यपूर्ण अर्थगभीरा पारिभाषिकी रहस्यभाषा में सङ्केत कर रहा है, जिस का समन्वय आर्षमानवों की सहज–सत्त्वप्रज्ञा से ही समन्वित माना जायगा ।

४०५–सौर–चान्द्र–पार्थिव--सम्वत्सरचक्रत्रयी का संस्मरण, एवं साम्वत्सरिक-कालचक्रायित त्रैलोक्य—

सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-सुप्रसिद्ध इन तीन व्यक्त भावों से क्रमशः **सौरसम्वत्सर**, **चान्द्रसम्वत्सर**, **पार्थिवसम्वत्सर**, नामक तीन सम्वत्सर पृथक् पृथक् व्यवस्थित बने हुए हैं । ये तीनों 'सम्वत्सर' पृथक् पृथक्

हैं अपने अपने महिमात्मक साममण्डलों से । पिण्ड का अण्डवृत्त ही **'सम्वत्सर'** कहलाया है । यदि पुण्डीरात्मिका 'पर्व' की मर्य्यादा से स्वयम्भू, तथा परमेष्ठी, इन दोनों को भी पिण्ड (पुण्डीर) मान लिया जाता है (मान लिया गया है), तो इन के साथ भी 'सम्वत्सर' शब्द का सम्बन्ध समन्वित हो जाता है । यों पाँच पुण्डीरों के पाँच ही **'सम्वत्सर'** हो जाते हैं । सम्वत्सरात्मक कालचक्र से सभी चक्रायित हैं । तभी तो **"कालो ह सर्वस्येश्वरः, यः पितासीत्प्रजापतेः"** (अष्टमसूक्त–नवममन्त्र) यह वचन चरितार्थ होता है ।

४०६–पिण्डानुगता प्राणमहिमा की विश्वरूपता, एवं 'वैश्वरूप्य' समन्वय—

पिण्ड की प्राणमयी महिमा का नाम हीं 'सम्वत्सर' है, जिसे विज्ञान–परिभाषा में–**'वैश्वरूप्य'** कहा गया है । प्रत्येक वस्तु में भूतात्मक पिण्ड, एवं प्राणात्मक **मण्डल**, दो दो भाव समाविष्ट हैं । स्पृश्यभावानुगत धामच्छद भूतपिण्ड **'विश्व'** है, एवं दृश्यभावानुगत-अधामच्छद-प्राणमण्डल **'वैश्वरूप्य'** है । विश्व, और वैश्वरूप्य, दोनों की समन्वितावस्था का नाम हीं **'वस्तुस्वरूप'** है । इस सहज परिभाषा के अनुसार यदि **स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड**–ये पाँच 'वस्तुपिण्ड' हैं, पाँच 'विश्व' हैं, तो इन के प्राणमण्डलात्मक पाँच हीं **'वैश्वरूप्य'** होने चाहिएँ ।

४०७–पञ्चरात्रयज्ञमूलक 'नारायणपुरुष' का संस्मरण —

पाँचों पिण्ड–विश्वों के पाँचों हीं वैश्वरूप्य–प्राणमण्डलों को अवश्य ही 'सम्वत्सरमण्डल' कहा जा सकता है, और इस दृष्टि से सम्वत्सरमूला विश्वविद्या को **'पञ्चसम्वत्सरविद्या'** माना जा सकता है । इसी आधार पर वेदशास्त्र की (ब्राह्मणग्रन्थों की) वह सुप्रसिद्धा **'पञ्चरात्रयज्ञविद्या'** प्रतिष्ठित है, जिस का **'नारायणपुरुष'** से सम्बन्ध माना गया है, एवं जिस के आधार पर ही भारतीय उपासनाकाण्ड का सुप्रसिद्ध–**'नारदपाञ्चरात्र'** विवर्त्त पतिष्ठित है । तदित्थं–पाँचों विश्वपुण्डीरों के पाँच वैश्वरूप्यों (प्राणमण्डलों) से पाँच **सम्वत्सर** हो जाते हैं, जिन्हें क्रमशः **स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य–सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सर**–नामों से व्यवहृत नहीं किया जा सकता, तो समझा तो जा ही सकता है ।

४०८–पञ्चपर्वा महान् विश्व के पञ्चविध वैश्वरूप्यों का समन्वय—

क्या तात्पर्य्य ? । तात्पर्य्य स्पष्ट है । सम्वत्सररूप प्राणमण्डल का व्यक्तभाव इन पाँचों सम्वत्सरों में केवल मध्यस्थ सौर सम्वत्सर में हीं उपलब्ध है । शेष चारों के सम्वत्सर सर्वात्मना अभिव्यक्त नहीं हैं । अपिच चारों का मण्डलत्व सौरमण्डल पर ही अवलम्बित है । सौरसम्वत्सरकालात्मक पुण्याहकाल ही सृष्टिकाल है । जबतक सृष्टिकाल है, तभीतक पाँचों पुण्डीर व्यवस्थित हैं । सूर्य्य के विलयनानन्तर तो सभी कुछ अव्यक्तभाव में विलीन हो जाता है –**'तदा सर्वं निमीलति'** के अनुसार । इसी सर्गप्रमुखता के कारण पाँचों में **'सम्वत्सर'** का प्रमुख सम्मान सूर्य्य के वैश्वरूप्य (प्राणमण्डल) को ही मिला है । अतएव ऋषिने चारों के वैश्वरूप्यों के पृथक् ही नाम व्यवस्थित कर दिए हैं, जिन के नाममात्र का संस्मरण कर लेना हीं पर्य्याप्त होगा । स्वायम्भुव वैश्वरूप्यात्मक प्राणमण्डलात्मक सम्वत्सर का पारिभाषिक नाम है–**'परमाकाशः'** । एवमेव पारमेष्ठ्य वैश्वरूप्य कहलाया है–**'महासमुद्रः'** । सौर वैश्वरूप का नाम है–**'सम्वत्सरः'** । चान्द्र वैश्वरूप्य

कहलाया है–'**नक्षत्रम्**'। एवं पार्थिव वैश्वरूप्य कहलाया है--'**आन्दम्**'। **वैश्वरूप्य-सम्वत्सर--मण्डल--महिमा--साम--वषट्कार--साहस्री**--आदि शब्द प्रायः समानार्थक हैं। अतएव इन पाँचों वैश्वरूप्यों को 'सम्वत्सर' भी कहा जा सकता है, मण्डल–महिमा--सामादि भी कहा जा सकता है।

१–स्वयम्भूः–विश्वम्—'परमाकाशः' वैश्वरूप्यम्—स्वायम्भुवसम्वत्सरः--कालः

२–परमेष्ठी–विश्वम्—'महासमुद्रः'--वैश्वरूप्यम्—पारमेष्ठ्यसम्वत्सरः–कालः

३–सूर्य्यः—-विश्वम्—'सम्वत्सरः'--वैश्वरूप्यम्—सौरसम्वत्सरः——कालः

४–चन्द्रमाः–विश्वम्—'नक्षत्रम्'—वैश्वरूप्यम्—-चान्द्रसम्वत्सरः—-कालः

५–पृथिवी—-विश्वम्—'आन्दम्'—-वैश्वरूप्यम्—पार्थिवसम्वत्सरः—-कालः

४०९--'वृत्त' शब्द की स्वरूप--परिभाषा, एवं पार्थिव अक्षवृत्त, चान्द्र दक्षवृत्त, सौर क्रान्तिवृत्त, पारमेष्ठ्य अयनवृत्त, तथा स्वायम्भुव गतिवृत्त, नामक पाँच वृत्तों का स्वरूप--दिग्दर्शन—

'**सम्वत्सर**' **प्राणगतिमूलक तत्त्व है**, जिस प्राणगति से ही वैश्वरूप्यात्मक परिमण्डल का आविर्भाव होता है, एवं सर्वतः त्सरणशील प्राणगतिमण्डलात्मक वह परिमण्डल ही 'सर्वतः--त्सरति--गच्छति' निर्वचन से 'सर्वत्सरः' कहलाया है, जिसे कि परोक्षभाषा में–'**सम्वत्सरः**' कह दिया जाता है। पाँचों मण्डलों की प्राणगति से जो पाँच 'वृत्त' बनते हैं, किंवा जिन पाँचों वृत्तों के मापदण्ड से पाँचों की पाँचों प्राणगतियाँ स्वरूपतः–गतितः–व्यवस्थित होतीं हुईं मण्डलकाल में, वैश्वरूप्य में परिणत रहतीं हैं, वे 'वृत्त' ही परिमण्डलात्मक 'सम्वत्सर' के नियामक बनते हैं, जिन इन पाँचों के पाँच वृत्तों के साङ्केतिक नाम हैं क्रमशः–**अक्ष–दक्ष–क्रान्ति–अयन--गमन--वृत्त**। **अक्षवृत्त** पार्थिव 'आन्द' रूप सम्वत्सर का उपक्रमस्थान **है**, **दक्षवृत्त** चान्द्र 'नक्षत्र' रूप सम्वत्सर का, **क्रान्तिवृत्त** सौर 'सम्वत्सर' रूप सम्वत्सर का, **अयनवृत्त** पारमेष्ठ्य 'महासमुद्र' नामक सम्वत्सर का, एवं **गमनवृत्त** (वृत्तौजाः) स्वायम्भुव 'परमाकाश' नामक सम्वत्सर का उपक्रमस्थान बन रहा है। इन पाँचों सम्वत्सरमण्डलों में से स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य, नामक दोनों सम्वत्सर '**अव्यक्त-सम्वत्सर**' हैं, सौरसम्वत्सर '**व्यक्तसम्वत्सर**' है, एवं चान्द्र-पार्थिव-नामक दोनों सम्वत्सर स्वस्वरूप से अव्यक्त, तथा सौरज्योतिः के सम्बन्ध से व्यक्तसम्वत्सर, अतवए '**व्यक्ताव्यक्तसम्वत्सर**' हैं। 'सम्वत्सर' शब्द की इस विश्वव्याप्ति को आधार बना कर ही हमें प्रस्तुत नवम–'**कालमहिमासूक्त**' का अक्षरार्थ--समन्वय करना चाहिए।

४१०--पाँच विश्वविवर्त्तों का चार विवर्त्तों में अन्तर्भाव, एवं चतुर्विध सम्वत्सरों का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

स्वयम्भू–परमेष्ठी–दोनों अपने अव्यक्तधर्म्म से समतुलित हैं, एकरूप हैं, जिस एकरूपता का '**सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्**' से स्पष्टीकरण हो रहा **है**। अतएव इन दोनों सम्वत्सरों की

समष्टि को हम एक--'अव्यक्तसम्वत्सर' नाम से ही व्यवहृत कर सकेंगे। इसे 'स्वायम्भुसम्वत्सर' भी कहा जा सकेगा, 'पारमेष्ठ्यसम्वत्सर' भी माना जासकेगा। 'स्वायम्भुव--अव्यक्तकाल' भी कहा जासकेगा, 'पारमेष्ठ्य-अव्यक्तकाल' भी माना जासकेगा। एवं इसी को 'भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि' लक्षण 'महदक्षरकाल' कहा जायगा। इसप्रकार इन दोनों की एक 'अव्यक्त' रूपता से दोनों मिलकर एक ही 'काल' रह जायगा। फलत: पाँच सम्वत्सरों के स्थान में अब चार ही सम्वत्सर शेष रह जायँगे। इन चारों सम्वत्सरकालमहिमाओं का ही प्रस्तुत नवम सूक्त के चार मन्त्रों से क्रमश: सङ्केत हुआ है, जिन चारों का पर्य्यवसान ऋषिने माना है अथर्वाङ्गिरस पारमेष्ठ्य तत्त्व पर ही, जिस 'अवसानभाव' के लिए ही पञ्चम मन्त्र उपस्थित हुआ है, जैसाकि तन्मन्त्रार्थ–समन्वय–प्रकरण में हीं स्पष्ट हो जायगा। लक्ष्य बनाइए इस परिलेख को, एवं तन्माध्यम से ही नवम सूक्त के चारों मन्त्रार्थों का समन्वयानुग्रह कीजिए!

१–स्वायम्भुवसम्वत्सरः–परमाकाशः-(अव्यक्तः)
२–पारमेष्ठ्यसम्वत्सरः–महासमुद्रः–(अव्यक्तः) } –१-अव्यक्तकालः सर्वाधारः } कालादापः समभवन्० (प्रथममन्त्र)

३–सौरसम्वत्सरः——सम्वत्सरः–(व्यक्तः) } –२-सूर्य्यकालः सौरसम्वत्सरः } -कालेन वातः पवते० (द्वितीय)

४–पार्थिवसम्वत्सरः——आन्दम्—(व्यक्ताव्यक्तः) } –३-पृथिविकालः पार्थिवसम्वत्सरः } -कालो ह भूतं भव्यं च० (तृतीय)

५–*चान्द्रसम्वत्सरः—नक्षत्रम्—(व्यक्ताव्यक्तः) } –४-चन्द्रकालः चान्द्रसम्वत्सरः } -कालो यज्ञं समैरयत्० (चतुर्थ)

——*——

१–स्वायम्भुवसम्वत्सर-कालात्—'आपः समभवन्'—सैषा–अव्यक्तकालविभूतिः

२–सौरसम्वत्सर ——कालेन—'वातः पवते'——सैषा–सौरसम्वत्सरकालविभूतिः

३–पार्थिवसम्वत्सर——कालो–ह 'भूतं भव्यं च'——सैषा–पार्थिवसम्वत्सरकालविभूतिः

४–चान्द्रसम्वत्सर——कालो—'यज्ञं समैरयत्'——सैषा–चान्द्रसम्वत्सरकालविभूतिः

——*——

* दृष्टिक्रम में जहाँ पृथिवी अन्त में है, वहाँ सृष्टिक्रम में चन्द्रमा का ही अन्तिम स्थान है, जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में यत्रतत्र स्पष्ट किया जा चुका है टिप्पणियों के द्वारा।

४११-अदितिसम्वत्सरात्मक पार्थिवसम्वत्सर, एवं उस के अतिष्ठाता देवता—

पार्थिव-सम्वत्सरकालविभूति-निरूपणात्मक पूर्व के-'कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्-पुरा' इत्यादि तृतीय मन्त्रार्थ--समन्वय का उपसंहार करते हुए हमने इस पार्थिव--वसम्वत्सर को 'ऋतसम्वत्सर' बतलाया है (देखिए पृ० सं० ३३८ की त्रिकालात्मिका--तालिका) । इसी को 'अदितिसम्वत्सर' कहा गया है, जिसका पार्थिव-स्तोम्यत्रिलोकी से सम्बन्ध है । इसी पार्थिव-सम्वत्सरकाल में अग्नि--वायु-आदित्य-नामक त्रिदेवसमष्टिरूप वह देवसत्यात्मा प्रतिष्ठित है, जिस के आदित्यप्रधान सर्वज्ञ, वायुप्रधान हिरण्यगर्भ, अग्नि-प्रधान विराट्-नामक सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपात्-विवर्त्तों का पूर्व--परिच्छेदों में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है-अष्टमसूक्त के अष्टम-मन्त्रार्थ समन्वय--प्रकरण में (देखिए पृ० सं० २८३ से २८६ पर्य्यन्त) ।

४१२-नामसाम्यमूला भ्रान्ति से वेदार्थ की अन्तर्मुखता, एवं विभक्त-व्यवच्छेदात्मक-पारिभाषिक-दृष्टिकोण का पुनः पुनः संस्मरण—

पुनः पुनः यह संस्मरण इस लिए प्रासङ्गिक बन रहा है कि, नामसाम्यमाध्यम से इन दुरधिगम्य-कालविवर्त्तों के व्यवच्छेदात्मक समन्वय में भ्रान्ति हो जाने की सम्भावना है । इसी भ्रान्ति ने तो सर्वत्र काल को 'परमात्मा' का पर्य्याय बना डाला है । तभी तो सृष्टिव्यवस्था--क्रमानुबन्धी पारिभाषिक तत्त्व-समन्वय से वञ्चित हो गए हैं परमात्मभक्त वे भाष्यकार, जो 'काल' को 'परमात्मा' परक लगा कर यद्वयावत् सर्गमर्य्यादाओं को जलाञ्जलि ही समर्पित कर बैठे हैं । नामसाम्यमूलक इस भय से आत्मपरित्राण करने के लिए ही हमें पुनः पुनः उन विभक्त दृष्टिकोणों का संस्मरण कर ही लेना पड़ता है केवल स्वान्तःसुखायैव । हमें 'समझाने' जैसी भ्रान्ति नहीं है । हाँ, स्वयं समझने का मोह अवश्य ही है, जो अन्ततोगत्वा रहेगा तो 'मोह' रूप से ही शेष । क्योंकि हमारी प्राकृत-लोकदृष्टि कदापि उस मोहातीत तत्त्व का सम्यग्बोध प्राप्त नहीं कर सकती । तदपि मोहात्मक प्रयास को तो उपासनामर्य्यादया माध्यम बनाना ही पड़ रहा है ।

४१३-'कालो यज्ञं समैरयत्' मूलक ऋतुसम्वत्सरात्मक यज्ञमूर्त्ति चान्द्र सम्वत्सर का स्वरूप-दिग्दर्शन—

हाँ, तो पार्थिव-सम्वत्सरकाल को 'ऋतकाल' इस आधार पर कहा गया था कि, जिस भूपिण्ड के आधार पर पार्थिव-सम्वत्सर का वितान होता है, वह भूपिण्ड सत्यसम्वत्सर-कालात्मक सूर्य्य का ही प्रवर्ग्यरूप उपग्रह भाग है । प्रवर्ग्य को ही ऋत कहा जाता है । एतावता ही भूपिण्ड, एवं तदनुगत पार्थिव-सम्वत्सर को 'ऋत' कह दिया गया है । वस्तुगत्या सूर्य्यवत् भूपिण्ड भी सहृदय-सशरीरी बनता हुआ 'सत्य' ही प्रमाणित है । अतएव भूपिण्डगर्भस्थ अग्नि के वितानरूप पार्थिव-अदितिसम्वत्सरकाल को भी सत्यकाल ही कहा जायगा । और यहाँ आकर स्वतः ही यह प्रश्न होगा कि-यदि 'पार्थिवसम्वत्सर' भी सत्य ही है, तो फिर 'ऋतसम्वत्सर' कौनसा है ? । प्रकृत-'कालो यज्ञं समैरयत्' यह चतुर्थ मन्त्र इसी प्रश्न के समाधान के लिए प्रवृत्त हो रहा है, जिस का निष्कर्ष है-दक्षवृत्तात्मक-'चान्द्रसम्वत्सर' । यह चान्द्रसम्वत्सर, अपने ऋतात्मक ऋतुभाव से यज्ञ का जनक है, स्वानुगता सोमाहुति से यज्ञिय देवाओं का अक्षित जीवनीय भाग है, सौम्य—

प्राणात्मक-गन्धर्वों, तथा आप्यवारुणप्राणात्मिका अप्सराओं की आवासभूमि है, एवं चतुर्द्दशविध-भूतसर्गात्मक-लोकों (जीवों) का जनक है।

४१४–सौम्य चन्द्रमा का देवसत्यत्त्व—

क्या अर्थ है चान्द्र सम्वत्सर का ?। क्या चन्द्रमा का अर्थ 'ऋत' भाव है, जिस के अनुबन्ध से चान्द्र सम्वत्सर को–'ऋतसम्वत्सर' कह दिया जाता है ?। प्रश्न का 'हाँ' भी उत्तर होगा, 'ना' भी उत्तर होगा। 'ना' इसलिए कि, दक्षवृत्त पर भूपिण्ड के चारों ओर परिभ्रममाण पिण्डात्मक चन्द्रमा भी सहृदय–सशरीर–बनता हुआ 'सत्य' ही है, जैसाकि–**'एतद्वै देवसत्यं-यच्चन्द्रमाः'** (शाङ्खायनब्रा० ३।१।) इत्यादि से प्रमाणित है। इसप्रकार सूर्य्य, तथा भूपिण्डवत् सहृदय–सशरीरी बनता हुआ पिण्डात्मक प्रत्यक्षदृष्ट चन्द्रमा भी सत्यात्मक ही है। ऐसी अवस्था में कदापि चान्द्र सम्वत्सर को भी 'ऋतसम्वत्सर' नहीं कहा जासकता। 'हाँ' इसलिए कि–चान्द्रसोम आपूर्य्यमाण–अपक्षीयमाण–धर्म्मों से अशरीरी अहृदय भी बनता रहता है, बन रहा है।

४१५–ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य–मूलक सत्य-ऋत–तत्त्वों का स्वरूप–समन्वय, एवं 'ऋत' शब्द का स्वरूप–लक्षण—

अतएव **'अहृदयं–अशरीरं ऋतम्'** परिभाषा के अनुसार चान्द्र सोम को-'ऋत' भी कहा जा सकता है। और इस दृष्टि से चान्द्र सम्वत्सर को **'ऋतसम्वत्सर'** भी माना जासकता है। तब तो सभी को सत्य, एवं सभी को ऋत कहने में भी कोई आपत्ति नहीं होगी ?। अवश्य ही कोई आपत्ति नहीं है। सत्यमूर्त्ति स्वयम्भू के तप से उत्पन्न तत्त्व सत्य भी हैं अपने ब्रह्मौदनरूप–केन्द्र–भाव से, एवं ऋत भी हैं अपने प्रवर्ग्यरूप अहृदयभाव से, जैसाकि–**'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'** इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है। **'ऋतं सत्येऽधायि, सत्यं ऋतेऽधायि'** इत्यादि श्रुति भी दोनों की द्विरूपता का ही समर्थन कर रही है। **'सत्यं वा ऋतम्'-'ऋतमिति सत्यम्'** वचन भी यही स्थिति व्यक्त कर रहा है, जिसका समन्वय ब्रह्मौदन, एवं प्रवर्ग्य-रूपेण स्पष्ट है।

४१६–ऋतमूर्त्ति–महदक्षरात्मक परमेष्ठी का संस्मरण—

यह सबकुछ ठीक ठीक होने पर भी 'अग्नि' के साथ 'सत्य' को, तथा 'सोम' के साथ 'ऋत' को ही प्रधानरूप से अनुप्राणित माना जायगा। पिण्डभाव का एकमात्र आधार 'अग्निचिति' ही है, जिस चितिधर्म्म का सोम में आभाव है। अग्नि में आहुत सोम से अग्नि की चिति नहीं होती। अपितु अग्नि से समन्वित अग्नि ही चिति के द्वारा पिण्डभाव में परिणत होता है। चन्द्रमा की पिण्डरूपता भी (सत्यरूपता भी) अग्नि–चितिमूला ही है। स्वयं चान्द्रसोम तो अपने प्रातिस्विक धर्म्म से उसीप्रकार ऋत ही है, जैसे कि परमेष्ठी अपने प्रातिस्विकरूप से ऋत ही है–**'ऋतमेव परमेष्ठी'** (गो० ब्रा० पू०)।

४१७–प्रथम–द्वितीय–तृतीय–सत्यविवर्त्त, एवं त्रिसत्यात्मक देवदेवता—

उक्त स्थिति के आधार पर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पञ्चपर्वा विश्व में तीन सत्य हैं, दो ऋत हैं अपने सत्याग्नि–ऋतसोम–धर्म्मों से। ब्रह्माग्निरूप स्वयम्भू **प्रथमसत्य** है, देवाग्निरूप सूर्य्य

द्वितीयसत्य है, एवं भूताग्निरूप भूपिण्ड तृतीयसत्य है। देवप्राण अग्निप्रधान हैं। ये तीन सत्याग्नियों में विभक्त हैं-क्रमशः ऋषिदेवता, देवदेवता, भूतदेवता, इन भेदों से। ऋषिदेवता स्वयम्भूसत्य को, देवदेवता सूर्य्यसत्य को, एवं भूतदेवता भूसत्य को मुख्यरूप से आधार बनाते हुए तीनों सत्यों से समन्वित हैं, जैसाकि- 'त्रिः सत्या वै देवाः' इस अनुगमवचन से स्पष्ट है।

४१८--पञ्चपर्वात्मक विश्व से अनुप्राणिता सत्यत्रयी, एवं ऋतद्वयी, तथा ऋतसम्वत्सर का अन्वय—

स्वयम्भू, एवं सूर्य्य-का मध्यस्थ परमेष्ठी सूर्य्य, एवं भूपिण्ड का मध्यस्थ चन्द्रमा, ये दोनों ऋतपर्व हैं, जो उभयतः अग्नि से परिगृहीत हैं। अतएव चान्द्रसम्वत्सर को ही मुख्यरूप से 'ऋतसम्वत्सर' कहना अन्वर्थ बनता है, जबकि पार्थिवसम्वत्सर तो सत्याग्निप्रधान बनता हुआ सत्यसम्वत्सर ही प्रमाणित हो रहा है। ऋतभावापन्न अग्नि हो, अथवा तो सोम, किंवा और कोई तत्त्व हो। ऋत होने मात्र से उसे 'सोम' ही कह-दिया जायगा। क्योंकि 'एष वै सोमोऽन्नम्' रूप से ऋतसोम ही 'अन्न' बनता है। ऋतभावापन्न प्रवर्ग्य अग्नि (बिखरा हुआ अग्नि) भी अन्नाद न रह कर अन्य पदार्थों का पोषक-बनता हुआ अन्न ही बनता है। अतएव इस केन्द्रविच्युत प्रवर्ग्याग्नि को भी 'ऋताग्नि' ही कहा जाता है, जिसका अर्थ है-सोमात्मक अग्नि। चान्द्र पिण्ड अग्न्यात्मक सोमपिण्ड ही है। अतएव पिण्डत्त्वेन इसे सत्य कहते हुए भी सोम की प्रधानता से कहा जायगा इसे 'ऋत' ही। तभी तो-'एष वै सोमो राजा--देवानामन्नं--यच्चन्द्रमाः' इत्यादि रूप से इसे 'अन्नम्' (ऋतम्) कहना अन्वर्थ बनता है। इन्हीं सब कारणों से हम अब उस चान्द्रसम्वत्सर-मण्डल को ही 'ऋतसम्वत्सर' कहेंगे, जिसमें ऋतसोम, एवं ऋतावस्थापन्न (अतएव सोमात्मक-अहृदय-अशरीरी ही) ऋताग्नि, दोनों प्रतिष्ठित हैं। ऋताग्निसोम के समन्वय से ही 'ऋतसम्वत्सर' का स्वरूप निष्पन्न होता है, एवं यहीं थोड़ा और भी स्पष्टीकरण कर लेना है।

४१९-सावित्राग्निसत्य-गायत्राग्निसत्य, एवं वृत्रसत्य, तथा 'वृत्र' का स्वरूप-दिग्दर्शन--

'पिण्डात्मक सत्य' की परिभाषा से सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-तीनों ही 'सत्य' हैं। तीनों में सूर्य्य, और भूपिण्ड, ये दोनों तो क्रमशः सावित्राग्निसत्य, एवं गायत्राग्निसत्य हैं, तथा चन्द्रमा वृत्रसत्य है (चन्द्रमा वै वृत्रः--सर्वं वृत्वा शिष्ये)। तीनों परिभ्रममाण हैं। अक्षवृत्त पर स्वाक्षपरिभ्रण करता हुआ भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर घूम रहा है क्रान्तिवृत्त के आधार पर, तो अक्षवृत्त-परिभ्रमण से वञ्चित चन्द्रमा एकतः ही दक्ष-वृत्ताधार पर भूपिण्ड के चारों ओर घूम रहा है। एवं स्वकेन्द्रानुगत बृहतीवृत्तात्मक स्वाक्षपर परिभ्रममाण सूर्य्य परमेष्ठी के चारों ओर घूम रहा है अयनवृत्ताधार पर।

४२०-पञ्चर्तुमूर्त्ति--ऋतधर्म्मा--चान्द्र सम्वत्सर की पञ्चरात्रता का समन्वय—

इस परिभ्रमणमूला गति के प्राणत्-अपानत्-धर्म्म का ही यह परिणाम होता है कि, सूर्य्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा-तीनों के सत्याग्नि-सत्यसोम एकांशेन स्व स्व सत्यभावों से विस्रस्त होकर-विशकलित होकर-पिण्डसत्यों से पृथक् होकर इतस्ततः इन्हीं सत्यपिण्डों के परिभ्रमणवृत्तों के कक्षावृत्तों में दोलायमान बने रहते हैं, जिन विस्रस्तरूपों का हम उष्णवायु-शीतवायु-रूप भूत-वायु के माध्यम से अनुमान लगा सकते हैं। और-

पार्थिव–विशकलित भूताग्नि से ही भूतवायु उष्ण होजाता है, एवं चान्द्र विशकलित भूतसोम से ही भूतवायु शीत होजाता है। वायव्याग्नि–वायव्यसोम ही ऋताग्नि, और ऋतसोम हैं। ऋतत्वेन यह ऋताग्नि भी सोम ही है, और ऋतसोम तो उभयथा सोम है ही। इसप्रकार उन तीनों सत्यपिण्डों से विनिर्गत तीनों के प्रवर्ग्यांशों,–विशकलित–विस्रस्त–भागों का नाम हीं 'ऋत' तत्त्व है। इस 'ऋत' सम्बन्ध से ही ऋतात्मक सोमसम्वत्सर (ऋताग्नि-ऋतसोमात्मक–सौम्य चान्द्रसम्वत्सर) 'ऋतसम्वत्सर' बन जाता है, बन रहा है, जो अपने पञ्चर्तुसम्बन्ध से 'पाङ्क्त' (पञ्चावयव) यज्ञ बनता हुआ अपनी उस 'पञ्चरात्रता' को ही अभिव्यक्त कर रहा है, जिसका आरम्भ में संस्मरण किया जाचुका है।

४२१–सौर ऋताग्नि, पार्थिव ऋताग्नि, एवं चान्द्र ऋताग्नि के सह समन्वय से चान्द्र-सम्वत्सर की स्वरूप-निष्पत्ति—

'ऋतसम्वत्सर' का स्वरूप 'ऋतु' पर अवलम्बित है, 'ऋतु' का स्वरूप 'ऋताग्नि–ऋतसोम'–के अन्तर्य्याम-सम्बन्ध पर अवलम्बित है, ऋताग्नि सौर, तथा भौम अग्नियों का प्रवर्ग्यरूप है, एवं ऋतसोम चान्द्रसोम का प्रवर्ग्यरूप है। अतएव कहा जासकता है कि, ऋतुरूप 'ऋतसम्वत्सर' में सौर ऋताग्नि, पार्थिव ऋताग्नि, एवं चान्द्रऋत-सोम, तीनों का समन्वय है। इस 'ऋत' भावानुबन्ध से यद्यपि सौर-पार्थिव-चान्द्र-तीनों हीं सम्वत्सरों को–'ऋतसम्वत्सर' भी कहा जा सकता है, कहा गया है तीनों सम्वत्सरचक्रों के सामाति-मानसम्बन्ध से। तदपि ऋतानुबन्धी ऋतुभाव का आधार क्योंकि विचक्षण चन्द्रमा (सोम) ही बनता है।

४२२–चन्द्रमा की विचक्षणता, एवं विचक्षण चन्द्रमा के सहज 'ऋतुधर्म्म' का दिग्-दर्शन—

अतएव प्रधानरूपेण तीनों में से–चान्द्र सम्वत्सर ही 'ऋतसम्वत्सर' अभिधा का प्रमुख पात्र बन रहा है, बनना ही चाहिए। जबतक सौर–पार्थिव ऋताग्नियों का चान्द्र ऋतसोम से अन्तर्य्याम-सम्बन्ध नहीं होजाता, तबतक 'ऋतु' का स्वरूप ही अभिव्यक्त नहीं होता। एवं बिना ऋतुस्वरूपोदय के 'ऋतसम्वत्सर' की अभिव्यक्ति ही नहीं होती। अतएव अन्ततोगत्त्वा ऋतुरूप 'ऋतसम्वत्सर' का सम्मान एकमात्र उस चान्द्रसम्वत्सर को ही मिलता है, जिस चान्द्र ऋतुभाव से समन्विता ऋतुमती नारी ही चान्द्रसम्वत्सरसम्मिता कालमर्य्यादा में हीं प्रजोत्पत्ति का कारण बनती है। सौम्य-ऋत-चन्द्रमा-के इसी ऋतु–धर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कौषीतकिने कहा है—

"विचक्षणात्–ऋतवो रेत आभृतम्। तन्म ऋतवो अमर्त्यव आभरध्वम्। तेन स–त्येन, तेन तपसा ऋतुरस्मि, आर्त्तवोऽस्मि" (कौ० उप० १।२।) **"असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः'** (शाङ्खायनब्रा० ४।४।)।

४२३–सुपर्ण-पक्षीरूप चन्द्रमा, उसका अर्णवसमुद्र में अनुधावन, एवं चन्द्रमा की अब्-गर्भिता-पञ्चरात्ररूपा-नारायणपुरुषता का समन्वय—

'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार ऋतसोमात्मक चन्द्रमा अपने ऋतसम्वत्सरात्मक सुपर्ण–पक्षी–के रूप से पार्थिव–अर्णवसमुद्र में इतस्ततः परिभ्रममाण है। यही वह

पञ्चरात्ररूप–अब्गर्भित 'नारायण' है, जिससे 'प्रजा' रूप 'नर' भाव (नर, और नारीरूप दाम्पत्यलक्षण चतुर्द्दशविध प्रजासर्ग) का आविर्भाव हुआ है। 'नर' शब्द यद्यपि आज लोकव्यवहार में प्राकृत 'चान्द्रमानव' में हीं निरूढ होरहा है। किन्तु तत्त्वतः 'नर' शब्द 'प्रजा' का ही संग्राहक है।

४२४–चान्द्रसम्वत्सर से प्रसूत चतुर्द्दशविध प्रजासर्ग से अनुप्राणित 'नर', और 'नारी' भाव—

पशु-पक्षी-कृमि-कीट-मनुष्य-यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व-आदि आदि भेदभिन्न ओषधि-वनस्पत्यन्त चौदहों भूतसर्गों (चान्द्रसर्गों का) का ही नाम 'प्रजा' है, एवं सब में पुं-स्त्री-भावात्मक 'नर-नारी' रूप 'नर' भाव समाविष्ट है। नर का ही पूर्वरूप 'नर' है, एवं नर का ही उत्तररूप 'नारी' है। **'अर्द्धेन-पुरुषोऽभवत्-अर्द्धेन-नारी, तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः'** इत्यादिरूप से वही अपने अर्द्ध-अर्द्ध-ऋताग्नि-ऋतसोम-रूप शकलों-अण्ड-कटाहों से नर-और नारीरूप दम्पतीभाव में परिणत हो रहा है। यही 'नर' रूपा 'प्रजा' की स्वरूप-व्याख्या है, जो 'नारायण' रूप पाञ्चरात्र ऋत-चान्द्रसम्वत्सर की ही सृष्टि मानी गई है। नारायण ही नर बना है, प्रजापति ही प्रजा बना है। **'प्रजा वै नरः'** (ऐ० ब्रा० २।४।) ही 'नरः' का तात्त्विक स्वरूप है।

४२५–सम्वत्सरत्रयी का पारस्परिक अतिमानसम्बन्ध, एवं तत्सम्बन्ध के द्वारा तीनों सम्वत्सरप्राणों की अभिन्नता का समन्वय—

अब दो शब्दों में अर्णवसमुद्रविहारी इस नारायणाख्य चान्द्रसम्वत्सर की यज्ञरूपता का भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है। इस दिग्दर्शन से पूर्व यह अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ कर लेना चाहिए कि, **सौरसम्वत्सर, चान्द्रसम्वत्सर, पार्थिवसम्वत्सर,** तीनों सम्वत्सर अपने अपने साम्रों के 'अतिमान' सम्बन्ध से एक दूसरे से समन्वित होते हुए एकाकार ही बने हुए हैं। अतएव 'सम्वत्सर' से सम्बन्ध रखने वाली पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-दिशः-रूपा चतुर्लोकव्यवस्था तीनों हीं सम्वत्सरों में अभिन्न बन जाती है इसी सामातिमानमूला अभिन्नता से। सौरचतुर्लोकी, चान्द्रचतुर्लोकी, पार्थिवचतुर्लोकी, किंवा सौर-चान्द्र-पार्थिव-त्रिलोकी, तीनों विवर्त्त समष्टिरूप से ही संग्रहीत हैं व्यवहारभाषा में, जबकि तत्तत्सम्वत्सरलोकानुगत तत्तत्-विशेष सौर-चान्द्र-पार्थिव-सम्वत्सर-प्राणनिबन्धन-विशेष सृष्टिप्रक्रियाओं के भेद से तत्तल्लोकभाव सर्वथा विभक्तरूपेणैव व्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हैं। अत्यन्त ही सुसूक्ष्म, अतएव अस्मच्छ्रद्दश लोकमानवों के लिए तो अत्यन्त ही दुरूह है यह प्राणात्मक-सर्गसंस्थान, जिसके यथावत् समन्वय के लिए तो यज्ञविज्ञानमूला सृष्टिविद्या का परीक्षणात्मक-आचारात्मक-व्यावहारिक-स्वरूप ही शरणीकरणीय होगा, जिसकी सम्भावना आज की उस राष्ट्रीया-मनोवृत्ति से पराःपरावत ही प्रमाणित हो रही है, जिसकी दृष्टि में **'भारतीय शास्त्र'**, तन्मूला **'संस्कृति'**,तन्मूलक **'सांस्कृतिक--आचार'**, तथा तन्मूलक **'सांस्कृतिक--आयोजन'** तो बन रहे हैं सर्वथा निरपेक्ष, और ……………आलप्यालमेव।

४२६–चान्द्रसम्वत्सर के प्रवर्ग्यरूप वायव्य ऋतधर्म्मा अग्नि-सोम, एवं ऋताग्निसोम के द्वारा पाँच ऋतुओं का आविर्भाव—

सौर-पार्थिव-सत्यसम्वत्सरकालों से प्रवर्ग्यरूपेण विनिर्गत वायव्य ऋताग्निने सम्वत्सरमण्डल के दक्षिणार्द्ध को अपना प्रधान आवास बनाते हुए उत्तरार्द्ध की ओर गमन आरम्भ कर दिया, एवं चान्द्र सत्य-

सम्वत्सरकाल से प्रवर्ग्यरूपेण विनिर्गत वायव्य ऋतसोम ने सम्वत्सरमण्डल के उत्तरार्द्ध को अपना आवास बनाते हुए दक्षिणार्द्ध की ओर गमन आरम्भ कर दिया। दक्षिण से चलकर उत्तर की ओर गतिशील बनता हुआ ऋताग्नि उत्तर से चलकर दक्षिण की ओर आते हुए ऋतसोम से अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से समन्वित हुआ। इन दोनों के सम्मिश्रणरूप 'याग' (चितिसम्बन्धात्मक ग्रन्थिबन्धन) से जो तीसरा अग्नीषोमात्मक भाव आविर्भूत हुआ, उसीका नाम हुआ 'ऋतु', जो अग्निसोम के सम्बन्ध-तारतम्य से क्रमशः [1]वसन्त–[2]ग्रीष्म–[3]वर्षा–[4]शरत्–[5]हेमन्तशिशिर * इन पाँच महिमाभावों में परिणत होगया। ऋताग्निसोममयी एक ही ऋतु के ये पाँच महिमाविवर्त्त होगए। ये पाँचों ऋतुरूप पार्थिव–अदिति–सम्वत्सरकक्षा से समतुलित होते हुए उसी क्रमानुपात से व्यवस्थित बन गए सम्वत्सरमण्डल में।

४२७-त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश-नामक स्तोम, एवं तदनुबन्धी वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्तशिशिर-नामक पञ्चर्त्तु-भाव—

भूकेन्द्र से आरम्भ कर पार्थिव त्रिवृत्-स्तोम पर्य्यन्त वसन्तऋतु प्रतिष्ठित हुआ। त्रिवृत् से आरम्भ कर पञ्चदश स्तोम पर्य्यन्त ग्रीष्मऋतु प्रतिष्ठित हुआ। पञ्चदश से आरम्भ कर एकविंश स्तोम पर्य्यन्त वर्षाऋतु प्रतिष्ठित हुआ। एकविंश से आरम्भ कर त्रिणव (२७) स्तोम पर्य्यन्त शरद्ऋतु प्रतिष्ठित हुआ। त्रिणव से आरम्भ कर त्रयस्त्रिंशस्तोमपर्य्यन्त हेमन्तशिशिर–नामक ऋतुयुग्म प्रतिष्ठित हुआ। इन पाँचों में ६–१५–२१–में व्याप्त वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-नामक तीन ऋतुभाव ऋताग्निप्रधान रहे, एवं २७-३३-में व्याप्त शरत् और हेमन्त शिशिर-नामक दो ऋतुभाव ऋतसोम प्रधान रहे।

४२८–अग्न्याधारभूत ऋतसोम की सर्वव्याप्ति का समन्वय–

यह अवधेय है कि, ऋताग्नि, और ऋतसोम, दोनों में ऋतसोम आधार है, एवं ऋताग्नि आधेय है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर अदितिरूप पार्थिव सम्वत्सर के ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त अवारपारीणरूप से ऋतसोम परिव्याप्त है आधाररूप से, जैसाकि–'त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षम्' इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है। उरु-विशाल-अन्तरिक्षाकाश में अवारपारीणरूप से-एकरस रूप से परिव्याप्त आधाररूप ऋतसोमधरातल पर ऋताग्नि का ही वसन्त से शिशिरपर्य्यन्त उद्ग्राम (चढ़ाव)-निग्राभ हो रहा है।

४२९–वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–नाम की ऋतुत्रयी का वाच्यार्थसमन्वय, एवं देवर्त्तुत्रयी–

आरम्भ के त्रिवृत्स्तोमरूप पार्थिव पृथिवीलोक में ऋताग्नि जन्म ले लेता है, सोम पर अग्नि वस जाता है। फलतः सोम गर्भित हो जाता है, अग्नि व्यक्त हो पड़ता है अपने इस उद्ग्राभ से। यही पहिला आग्नेय–वसन्तर्त्तु है। अग्नि और प्रवृद्ध होजाता है पञ्चदशस्तोमात्मक पार्थिव अन्तरिक्षलोक में। यही अधिकाभिव्यक्तिस्वरूपा दूसरी ऋताग्नि–अवस्था है, जिसका नाम है–अतिशय सोमसंग्रहण के कारण-'ग्रीष्म'। आगे चलकर एकविंशस्तोमात्मक पार्थिव द्युलोक में ऋताग्नि अपने उद्ग्राभ के चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है, यही ऋताग्नि के उद्ग्राभ की तीसरी अन्तिम 'उरु' अवस्था है, जिसे 'वर्षा' कहा गया है। यों वसन्त-

---

* पञ्चर्त्तवः सम्वत्सरस्य। हेमन्त-शिशिरयोः समासेन। (श्रुतिः)।

ग्रीष्म-वर्षा-इन तीन अग्नीषोममय ऋतुभावों में सोम गर्भ में लीन रहता है, अग्नि अभिव्यक्त रहता है, अतएव 'ते देवा ऋतवः'। अग्निप्रधाना हैं ये तीनों ऋतुएँ।

४३०-शरत्-हेमन्त-शिशिर-नाम की ऋतुत्रयी का वाच्यार्थ-समन्वय, एवं-'ऋतं नात्येति किञ्चन' मूलक ऋत-सोम की सर्वव्याप्ति-

आगे चलकर अग्नि का निग्राभ होने लग जाता है। अग्निबल शिथिल होने लगता है। अग्नि की इस शीर्णावस्था से स्वतःसिद्ध सोम उभर आता है। यही सौम्या 'शरद्ऋतु' है, जो त्रिणवस्तोमात्मक चतुर्थ-लोकार्द्ध में प्रतिष्ठित है। अन्ततोगत्त्वा त्रयस्त्रिंशस्तोमात्मक शेष चतुर्थलोकार्द्ध में तो अग्नि सर्वथा ही स्व ओज-वीर्य्य से हीन होजाता है, आत्यन्तिकरूपेण पुनः-पुनः-अतिशयेन-शीर्ण होजाता है, एवं सोम सर्वात्मना अपने मूलाधाररूप से व्यक्त हो पड़ता है। अतएव यह अन्तिम ऋतु ऋताग्नि की हीनता से हेमन्त, एवं ऋताग्नि की आत्यन्तिक शीर्णता से शिशिर कहलाने लगता है। तदित्थं-सम्वत्सर के उपक्रम से अन्ततक व्याप्त, ऋतसोमधरातल पर परिवर्त्तनरूपेण व्याप्त ऋताग्नि की पाँच अवस्थाएँ हो जातीं हैं, जिन इन पाँचों ऋताग्न्यवस्थाओं में तीन अवस्थाओं में तो सोम ऋताग्नि से अभिभूत रहता है, एवं दो अवस्थाओं में अग्नि सोम से अभिभूत रहता है। सर्वथा आधारत्त्वेन पाँचों में सोम एकरस ही है। अतएव अग्नीषोममयी भी यह ऋतुसमष्टि 'ऋतसोमप्रधाना' ही मानी गई है। अतएव च अग्नीषोमात्मक भी इस चान्द्रसम्वत्सर को सोमसम्वत्सरात्मक ऋतसम्वत्सर ही माना जायगा,---'ऋतं नात्येति किञ्चन'। सचमुच 'ऋत' का कोई भी तो अतिक्रमण नहीं कर सकता।

४३१-ऋतसम्वत्सरयज्ञ, एवं उसके पाँच अहः, एवं यज्ञकर्म्म के स्वरूप-निर्म्मापक विभिन्न-साधन-परिग्रह—

'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः' ही 'यज्ञः' का स्वरूपलक्षण है। ऋताग्नि में आहुत ऋत सोम से आविर्भूत अपूर्व भाव ही 'यज्ञ' है। एवं इस परिभाषा के अनुसार पञ्चर्त्तु की समष्टिरूप इस ऋताग्नि-सोममय अपूर्व 'सम्वत्सरभाव' को अवश्य ही 'यज्ञ' कहा जा सकता है, जिस इस ऋतसम्वत्सरयज्ञ के **अग्निष्टोम-उक्थ्यस्तोम-अतिरात्रस्तोम-उक्थ्यस्तोम-अग्निष्टोम**-ये पाँच 'अहः' माने गए हैं, जिनके सम्बन्ध से ही नारायणरूप वह ऋतसम्वत्सरयज्ञ 'पञ्चरात्रयज्ञ' नाम से प्रतिद्ध हुआ है। यज्ञकर्म्म का स्वरूपनिर्म्माण वेदि, ऋत्विक्, यजमान, हविर्द्रव्य, आदि आदि अनेक कारणों-साधनों-के समन्वय से ही होता है।

४३२-वितानयज्ञात्मक आतानयज्ञ, हविर्यज्ञ, दक्षिणाग्नि, आहवनीआग्नि, आदि का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं-'अग्निभ्रातरः'—

भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्ता महापृथिवी ही वह 'महावेदि' है, जिस पर यह ऋतसम्वत्सरयज्ञ परिव्याप्त है, वितत है। इसी वितानभाव से यह यज्ञ **'आतानयज्ञ'** कहलाया है। **'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः'** *, 'यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी' (शतपथ ३।७२।१।) इत्यादि लक्षणा यह

---

* इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥
—ऋक्संहिता १।१६४।३५। (अस्यवामीयसूक्ते)

(महिमामण्डलरूपा चतुर्लोकालिका मही) पृथिवी ही महावेदि है, जिसका भूपिण्ड '**हविर्वेदि**' कहलाया **है**, जिसके आधार पर '**इष्टि**' रूप प्राक्‌सौमिकयज्ञ हुआ करता है। महावेदि का त्रिवृत्‌स्थानीय पार्थिव-पृथिवी लोक **ही गार्हपत्याग्निकुण्ड** है, पञ्चदशस्थानीय पार्थिव अन्तरिक्षलोक ही **दक्षिणाग्निकुण्ड** है, एवं एकविंश-स्थानीय पार्थिव द्युलोक ही **आहवनीअग्निकुण्ड** है, जिन इन तीनों अग्निकुण्डों में क्रमशः अष्ट-वसुगण-समन्वित गार्हपत्याग्निरूप **अग्नि**, एकादशरुद्रगणसमन्वित अन्वाहार्य्यपचनाग्निरूप **वायु**, द्वाद्श-आदित्यगण-समन्वित आहवनीयाग्निरूप आदित्य नामक तीन प्राणाग्नियाँ जागरूक हैं, जो क्रमशः '**अग्निभ्रातरः**' नाम से प्रसिद्ध हैं।

४३३—आहुतिद्रव्य, चतुर्विध ऋत्विक्, शस्त्र—ग्रह—स्तोत्र—ब्राह्म—लक्षण कर्म्म, एवं तदनुगता विभिन्न यज्ञविभूतियों का नाम—संस्मरण—

चतुर्थलोकीय सोम ही आहुतिद्रव्य है। आग्नेय **ऋक्-तत्त्व**, वायव्य **यजुः-तत्त्व**, आदित्य **साम**-तत्त्व, सौम्य **अथर्व-तत्त्व**, ही यज्ञसाधक वेदमन्त्र हैं। पार्थिव '**भर्ग**' तेज, आन्तरिक्ष्य '**महः**'-तेज, दिव्य '**यशः**'-तेज, चतुर्थलोकीय '**सर्व**'—तेज—नामक चार तेजोभावों से समन्वित **अग्नि—वायु—आदित्य—चन्द्रमा (सोम)** हीं इस सम्वत्सरयज्ञ के क्रमशः ऋग्वेदी **होता**, यजुर्वेदी **अध्वर्य्यु**, सामवेदी **उद्‌गाता**, अथर्ववेदी **ब्रह्मा** हैं। ऋग्वेदी होता अग्नि हौत्रकर्म्माध्यक्ष है, जो '**शस्त्रकर्म्म**' कहलाया है। यजुर्वेदी अध्वर्यु वायु आध्वर्य्यवकर्म्माध्यक्ष है, जो '**ग्रहकर्म्म**' कहलाया है। सामवेदी उद्‌गाता आदित्य औद्‌गात्रकर्म्माध्यक्ष है, जो-'**स्तोत्रकर्म्म**' कहलाया है। चतुर्थवेदी ब्रह्मा चन्द्रमा * ब्रह्मकर्म्माध्यक्ष हैं, जो-'**विरिष्टसन्धानकर्म्म**' कहलाया है। **भर्ग-ऋक्-पृथिवी-होता-अग्नि-हौत्र-शस्त्र**-आदि की समष्टिरूप प्रथम पर्व **गायत्रीछन्द** से छन्दित हैं। **महः-यजुः-अन्तरिक्ष-अध्वर्य्यु-वायु-आध्वर्य्यव-ग्रह**-आदि की समष्टिरूप द्वितीय पर्व त्रिष्टुप्‌छन्द से छन्दित हैं। यशः-**साम-द्यौः-उद्‌गाता-आदित्य-औद्‌गात्र-स्तोत्र**-आदि की समष्टिरूप तृतीय पर्व जगतीछन्द से छन्दित हैं। **सर्वम्-अथर्वः-दिशः-ब्रह्मा-चन्द्रमाः-ब्राह्म-विरिष्टसंधान**-आदि की समष्टिरूप चतुर्थ पर्व प्राजापत्य अनुष्टुप्-छन्द से छन्दित हैं।

४३४—गायत्रसम्वत्सरात्मक 'श्येन' की सुपर्णता, एवं गायत्रयज्ञ के तीन सवनों का स्वरूप-दिग्‌दर्शन—

प्रथम पर्वात्मक गायत्र नामक सम्वत्सरविवर्त्त का नाम है-'**श्येन**'। द्वितीय पर्वात्मक त्रैष्टुभ नामक सम्वत्सरविवर्त्त का नाम है—'**सुपर्ण**'। एवं तृतीयपर्वात्मक जागत नामक सम्वत्सरविवर्त्त का नाम है-'**ऋभु**'। गायत्र-श्येन-पर्वात्मक वही सम्वत्सरसवन '**प्रातःसवन**' है। त्रैष्टुभ-सुपर्ण-पर्वात्मक वही सम्वत्सरसवन '**माध्यन्दिनसवन**' है, एवं जागत-ऋभु-पर्वात्मक वही सम्वत्सरसवन '**सायंसवन**' है। पृथिव्यन्तरिक्षद्यौरूप-सवनत्रयात्मक-श्येन-सुपर्ण-ऋभु-मूर्त्ति-सुपर्ण ही वह पाञ्चरात्र—नारायणरूप **ऋत-चान्द्र-सम्वत्सर** है, जो चतुर्थ लोकात्मक

*** ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु (यजुःसं०)। चन्द्रमा वै 'ब्रह्मा' कृष्णः।** (शतपथब्रा०)।

अर्णवसमुद्र में एक शोभन-पक्षी की भाँति इतस्ततः विचरण करता हुआ अपने इस समस्त स्वरूप से 'नर' रूप प्रजासर्ग का प्रवर्त्तक बना हुआ है ।

४३५-सत्यसम्वत्सरकालात्मक प्रजापति के द्वारा गायत्रसम्वत्सरकाकालात्मक नारायण-यज्ञ की स्वरूप-महिमा का वितान, एवं तत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ—

किसने इसे प्रजासर्ग के लिए प्रेरित किया ?, कैसे इसमें तथाविध पर्वविभाग आविर्भूत होगए ?, और क्यों इसने त्रिषवणात्मक-त्र्यत्तरमूर्त्ति यज्ञ को उत्पन्न किया ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान वह 'प्रजापति' ही है, जिसे हमने सौर-पार्थिव समष्टिरूप 'सत्यसम्वत्सरकाल' कहा है । जो संस्थानविभाग, जो यज्ञक्रम, जो सवनक्रम-उसमें है, उसकी प्रेरणा से, उसीके प्रवर्ग्यरूप से कृतरूप इस नारायण-पुरुषात्मक 'ऋतसम्वत्सर' नामक 'चान्द्रसम्वत्सर' में भी वही संस्थाविभाग, वही यज्ञक्रम आविर्भूत हो गया है । मानो उस प्रजापति ने ही इसे 'यजस्व'-रूपा प्रेरणा दी है, जिस इस रहस्य को लक्ष्य में रख कर ही भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

(१)--पुरुषं ह वै नारायणं प्रजापतिरुवाच-यजस्व-यजस्वेति । स होवाच-यजस्व-यजस्व-इति वाव त्वं (प्रजापतिः) मां-आत्थ-त्रिरयन्ति,-वसवः प्रातसवनेनागू, रुद्रा माध्यन्दिनसवनेन, आदित्यास्तृतीयसवनेन । अथ मम यज्ञवास्त्वेव । स होवाच-यजस्वैवाहं वै ते तद्वक्ष्यामि -यथा त ऽउक्थानि मणिरिव सूत्रे-ओतानि भविष्यन्ति, सूत्रमिव वा मणौ-इति * ।

(२)--प्रातःसवने बहिष्पवमाने उद्गातारमन्वारभस्व-'श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा' । अथ माध्यन्दिने पवमाने-'सुपर्णोऽसि त्रिष्टुप्छन्दा' । अथ तृतीयसवने आर्भवे पवमाने-'ऋभुरसि जगच्छन्दा' ।

(३)-मयि भर्गः, मयि महः, मयि यशः, मयि सर्वम् । अयं वै (९) लोको भर्गः । अन्तरिक्षलोको महः । (१५)। द्यौर्यशः (२१) । येऽन्ये(२७-३३-४८) लोकास्तत्सर्वम् । अग्निर्वै भर्गः, वायुर्महः, आदित्यो यशः, ये अन्ये देवाः (साध्याः)-तत्सर्वम् । वाग्वै भर्गः, प्राणो महः, चक्षुर्यशः, येऽन्ये-प्राणास्तत्सर्वम् ।

—शतपथ १२।३।४। १ कण्डिका से १० कण्डिका-पर्य्यन्त

***मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।**
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
—गीता

४३६-ऋतसम्वत्सरात्मक नारायणपुरुष की कामना, तद्द्वारा दृष्ट 'पुरुषमेध' नामक-पाञ्चरात्रयज्ञ का संस्मरण, यज्ञ के द्वारा नारायण की सर्वभूतव्याप्ति, तदनुबन्धी 'चान्द्रनारायण' विवर्त्त, एवं तत्स्वरूप-समन्वयात्मिका विविध तालिकाएँ—

सत्यसम्वत्सर-प्रजापति की प्रेरणा से तथाकथितरूपेण सम्वत्सर-स्वरूप में परिणत ऋत-पुरुषनारायणने यह कामना की कि, मैं सम्पूर्ण भूतों का अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) बन जाऊँ, मैं हीं सम्पूर्ण भूतों-प्रजाओं के रूप में परिणत होजाऊँ। अपनी इस कामना से, भूत-प्रजाकामना से प्रेरित होकर ही नारायण ने 'पुरुषमेध' नामक पञ्चरात्र-यज्ञकर्म्म को देखा। देख कर उस का संग्रह किया, उस से अपने ही मेध का यजन किया। इस स्वमेधात्मक यजन से वह पुरुषनारायण सम्पूर्ण भूतरूपों में परिणत हो गया, एवं सम्पूर्ण भूतरूपों में परिणत हो कर वही इस पञ्चरात्रयज्ञस्वरूप से सम्पूर्ण भूतों का अधिष्ठाता बन गया। इस के पाँचों पञ्चरात्र क्रमशः अग्निष्टोमादि पूर्वोक्त पाँच अहः ही हैं, जिन से क्रमशः पूर्वोक्तरूपेण पाँचों ऋतुएँ अनुप्राणित हैं। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए इन कतिपय वचनों को, एवं तन्मूला तालिकाओं को। अवश्य ही तद्द्वारा ऋतसम्वत्सरात्मक 'चान्द्रनारायण' का स्वरूप सर्वात्मना समन्वित हो जायगा।

(१)-पुरुषो ह नारायणो अकामयत-अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि, अहमेवेदं सर्वं स्याम्-इति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुं-अपश्यत्, तमाहरत्, तेन अयजत, तेनेष्ट्वा-अत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानि, इदं सर्वमभवत्।

(२)-ता वा एताः-चतस्रो दशतो भवन्ति। इममेव लोकं प्रथमया दशता- आप्नुवन्, अन्तरिक्षं द्वितीयया, दिवं तृतीयया, दिशश्चतुर्थ्या। एतावद्वा इदं सर्वं-यावदिमे च लोकाः, दिशश्च। सर्वं पुरुषमेधः।

(३)-स वा ऽएष पुरुषमेधः पञ्चरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। पाङ्क्तो यज्ञः। पाङ्क्तः पशुः। पञ्चर्त्तवः सम्वत्सरः। यत्किञ्च पञ्चविधमधिदैवतं-अध्यात्मं, तदेनेन सर्वमाप्नोति।

(४)-तस्य-अग्निष्टोमः प्रथममहर्भवति (१)। अथोक्थ्यः (२)। अथातिरात्रः (३)। अथोक्थ्यः (४)। अथाग्निष्टोमः। (५) स वा एष उभयतो ज्योतिः, उभयत उक्थ्यः। यवमध्यः पञ्चरात्रो भवति।

(५)-तस्यायमेव लोकः प्रथममहः-अयमस्य लोको वसन्त ऋतुः। द्वितीयमहः-तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुः। तृतीयमहः चतुर्थमहः-पञ्चममहः वर्षा-शरत्-हेमन्त-शिशिरयोः समासेन।

—शत० १३।५।५।१,३,७,१० काण्डिका।

अयममत्र संग्रहः–समष्टिरूपेण–नितान्तमवधेयः–(चतुष्टयं वा इदं सर्वम्-इत्याहुः) *

(१)—कालादापः समभवन्।

त्रैलोक्यत्रिलोकी-रूपः सप्तवितस्तिकायात्मकः–कालः

- १–स्वयम्भूः
- २–परमेष्ठी
  - –(१)–द्यौः—स्वः–ब्रह्माग्निः
- ३–सूर्य्यः
  - –(२)–अन्तरिक्षं-भुवः-देवाग्निः
- १–चन्द्रमाः
- २–भूपिण्डः
  - –(३)–पृथिवी—भूः–भूताग्निः

—स्वायम्भुवसम्वत्सरकालः
—सत्यस्यसत्यम्—

स्वयम्भूगर्भितः–परमेष्ठी

(२)—कालेन वातः पवते।

रोदसीत्रिलोकी-रूपः–कालः

- १–रेतोऽण्डम्—दिशः—परिश्रितमण्डलम् (चन्द्रमाः)
- २–यशोऽण्डम्—द्यौः—सूर्य्यपिण्डः (आदित्यः)
- ३–पोषाण्डम्—अन्तरिक्षम्-मध्यप्रदेशः (वायुः)
- ४–अस्त्वण्डम्–पृथिवी—भूपिण्डः (अग्निः)

सौरसम्वत्सरकालः
-सत्यम्-

स्वयम्भूपरमेष्ठिगर्भितः सूर्य्यः

(३)—कालो ह भूतं भव्यं च—

पार्थिवत्रैलोक्यत्रिलोकीरूपः कालः

- १–त्रयस्त्रिंशस्तोमः–पार्थिवः
- २–त्रिणवस्तोमः—पार्थिवः
  - —दिशः (४)
- ३–एकविंशस्तोमः–पार्थिवः-सत्यादित्यः (३)
- ४–पञ्चदशस्तोमः—पार्थिवः-सत्यवायुः (२)
- ५–त्रिवृत्स्तोमः—पार्थिवः-सत्याग्निः (१)

—पार्थिवसम्वत्सरकालः
—ऋतानुगतं–सत्यमेव—

स्वयम्भूपरमेष्ठिसूर्य्यगर्भिता महापृथिवी

(४) कालो यज्ञं समैरयत्।

चान्द्रत्रैलोक्यत्रिलोकीरूपः–कालः

- १–दिक्सोमः—ऋतम् | ऋतमेव (३३)
- २–भास्वरसोमः–ऋतम् | ऋतमेव (२७)
  - —दिश्यः
- ३–ज्योतिर्म्मयःसोमः-ऋतम् | ऋतादित्यः (२१)–दिव्यः
- ४–वायव्यसोमः–ऋतम् | ऋतवायुः (१५) आन्तरिक्षः
- ५–आग्नेयसोमः–ऋतम् | ऋताग्निः (६)–पार्थिवः

—चान्द्रसम्वत्सरकालः
—ऋताग्निसोममयं–ऋतमेव

सर्वगर्भितश्चन्द्रमाः–इति चन्द्रमा वै सर्वम् *

महाभूतादि-वृत्तौजाः—

स्वयम्भूः

सत्यस्यसत्यम्

प्रादुरासीत्तमोनुदः

सोऽयं सूर्यः स्वः	**स एष प्रजापतिः** (सूर्य्यः)	**स एष पुरुषो नारायणः**	द्यौः [१]
सेयं सचन्द्रा महापृथिवी–अन्तरिक्षमेव भुवः	१–दिक्सोमलोकः–आपः [३३]	–ऋतमेवापः —– ऋतसोमएव-आपः	ऋ त रि क्षम् [२]
	२–भास्वरसोमलोकः—दिशः [२७]	–ऋतमेव-दिशः—ऋतसोमएव-सोमः	
	३–सर्वज्ञादित्यलोकः—द्यौः [२१]	–ऋतसोमगर्भितः—ऋताग्निरेव–आदित्यः	
	४–हिरण्यगर्भवायुलोकः-अन्तरिक्षम् [१५]	–ऋतसोमगर्भितः–ऋ-ताग्निरेव–वायुः	
	५–विराडग्निलोकः—पृथिवी [९]	–ऋतसोमगर्भितः–ऋताग्निरेव–अग्निः	
	सत्याग्नीषोमौ—– ——पार्थिवौ	–ऋताग्नीषोमौ–चान्द्रौ	
सोऽयं भूपिण्डः भूः	पार्थिवसम्वत्सरः–सत्यसम्वत्सरो वा (भूपिण्ड)	चान्द्रसम्वत्सरः–ऋतसम्वत्सरो वा	पृथिवी [३]
	ततः स्वयम्भूर्भगवान्-अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्—		

रोदसीत्रिलोकी–सौरसत्यसम्वत्सरप्रजापतिः

चान्द्र—ऋतसम्वत्सरानुगताः—तत्र भुक्ताः—पार्थिवसम्वत्सरप्रजापतिशरीरप्रतिष्ठिताः—विभूतिमात्राः—पूर्वोक्तश्रौतसन्दर्भसिद्धाः

पार्थिवसम्वत्सरप्रजापतिः-प्रतिष्ठा				
१—दिक्सोमलोकात्मकः-पार्थिवत्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)	अग्निष्टोमः—पञ्चममहः—	हेमन्तशिशिरऋतू-ऋताग्नीषोमौ	—चन्द्रमाः-	सर्वतेजोमयः-इति सर्वम्—
२—भास्वरसोमलोकात्मकः-पार्थिवत्रिणवस्तोमः (२७)	उक्थ्यस्तोमः-चतुर्थमहः—	शरद्ऋतुः-ऋताग्नीषोमौ		
३—सर्वज्ञादित्यलोकात्मकः-पार्थिवएकविंशस्तोमः (२१)	अतिरात्रस्तोमः-तृतीयमहः-	वर्षाऋतुः-ऋताग्नीषोमौ	]—आदित्यश्चान्द्रः-	यशस्तेजोमयः-इति यशः—
४—हिरण्यगर्भवायुलोकात्मकः-पार्थिवपञ्चदशस्तोमः (१५)	उक्थ्यस्तोमः-द्वितीयमहः—	ग्रीष्मऋतुः-ऋताग्नीषोमौ	]-वायुश्चान्द्रः-	महस्तेजोमयः-इति महः—
५—विराडग्निलोकात्मकः-पार्थिवत्रिवृत्स्तोमः (९)	अग्निष्टोमः-प्रथममहः—	वसन्तऋतुः-ऋताग्नीषोमौ	]—अग्निश्चान्द्रः-	भर्गतेजोमयः-इति-भर्गः—
वेदिः—पृथिवी	पञ्चरात्रसमष्टिः	ऋतवः	देवाः	तेजांसि

—इति-सर्वम्-दिशः-	अथर्व:-	चन्द्रमा-ब्रह्मा—	तत्कर्म्म-ब्राह्मम्-	विरिष्टसन्धानम्	(अनुष्टुपछन्दः)	सुपर्णप्रतिष्ठा	(सवनप्रतिष्ठा)-	—साध्या देवाः
—इति-यशः-द्यौः—	साम—	आदित्यः-उद्गाता	तत्कर्म्म-औद्गात्रम्-	—स्तोत्रम्	(जगतीछन्दः)-	ऋभुसुपर्णाः	(सायंसवनम्)—	—आदित्या देवाः
-इति-महः-अन्तरिक्षम्	यजुः—	वायुः-अध्वर्युः—	तत्कर्म्म-आध्वर्यवम्--	—ग्रहः	(त्रिष्टुपछन्दः)-	सुपर्णसुपर्णाः	(माध्यन्दिनंसवनम्)	—रुद्रा देवाः
—इति-भर्गः-पृथिवी—	ऋक्—	अग्निः—होता—	तत्कर्म्म-हौत्रम्—	—शस्त्रम्	(गायत्रीछन्दः)-	श्येनसुपर्णाः	(प्रातःसवनम्)—	—वसवो देवाः
लोकाः	वेदाः	ऋत्विजः	यज्ञकर्म्माणि	कर्म्मभावाः	छन्दांसि	चितयः	(सवनानि)—	गणदेवाः

४३७–सत्यस्यसत्यं-सत्यं-ऋतसत्यं-ऋतं–रूप चतुर्विध सम्वत्सरों का समष्ट्यात्मक दिग्दर्शन, एवं तद्द्वारा प्रज्ञाशीलों के अनुरञ्जन का प्रयास—

स्वयम्भू[1], सूर्य्य[2], पृथिवी[3], चन्द्रमा[4], इन चार अभिधाओं के माध्यम से तालिकारूपेण जिन स्वायम्भुव[1]--सौर[2]--पार्थिव[3]--चान्द्र[4]--नामक सत्यस्यसत्यं[1]--सत्यं[2]--ऋतसत्यं[3]--ऋतं[4]--रूप चार सम्वत्सरविवर्त्तों का, कालमहिमाविवर्त्तों का दिग्दर्शन कराया गया है, सृष्टिसर्ग की ज्ञानविज्ञानात्मिका--परिभाषाओं की विलुप्ति के कारण अवश्य ही वह सबकुछ आज के भावुक मानवों को केवल वाग्विजृम्भण ही प्रतीत होगा। और ऐसा नितान्त भावुक मानव विगत तीन सहस्र वर्षों से चली आने वाली अपनी भावुकता के वारुणपाश में आबद्ध होने से, साथ ही चिर अभ्यस्त जगन्मिथ्यात्त्व के महान् व्यामोहन से सब को काल्पनिक मानता हुआ कालानुबन्धी सृष्टिसौन्दर्य्य से पराङ्मुख ही बना रहेगा। अतएव ऐसे भावुकों की दृष्टि में यदि यह कालमहिमा केवल वाग्विजृम्भण ही प्रमाणित हो, तो कोई आश्चर्य्य नहीं है। यह प्रयास तो उन प्रज्ञाशीलों के अनुरञ्जन से ही अनुप्राणित माना जायगा, जो तत्त्वसमन्वय के आधार पर ही मानव की आचारनिष्ठाओं के समन्वय–प्रयास में जागरूक हैं।

४३८–कालपुरुष के कालातीत, तथा कालात्मक स्वरूपों का संस्मरण, एवं तन्माध्यम से विषमवर्त्तनात्मक कालिक–आचरण के द्वारा समदर्शनधिया मानव की पुरुषार्थसंसिद्धि का दिग्दर्शन—

तथाविध आरुरुक्षु मानवश्रेष्ठों के सम्मुख ही मानव के **कालातीत**, तथा **कालिक**, दोनों स्वरूप इसलिए रख दिए जायँगे कि, वे इन के समतुलन के माध्यम से भारतराष्ट्र की उस महत्त्वपूर्ण जीवनपद्धति को पुनः भारतराष्ट्र में प्रतिष्ठित करें, जिस जीवनपद्धति में मानव के कालातीत--अप्राकृत--आत्ममूलक **समदर्शन** के आधार पर ही मानव के कालिक--प्राकृत--शरीरमूलक--**विषमवर्त्तन** की व्यवस्था हुई है। समदर्शन के माध्यम से कालातीत बने रहते हुए विषमवर्त्तन के द्वारा कालमर्य्यादा की उपासना करते रहना ही भारतीय आर्ष--मानव की जीवनपद्धति मानी गई है, जो विभक्त तत्त्ववाद की सङ्करता से आज सर्वात्मना अभिभूत ही प्रमाणित हो रही है। अबतक जिन चार सम्वत्सरकालों का तालिकारूपेण दिग्दर्शन कराया गया है, उन चारों का मानव के कालिक स्वरूप के साथ ही सम्बन्ध है, जिसके यथावत् समन्वय के द्वारा मानव का कालातीत स्वरूप स्वतः ही लक्ष्य में आजाता है। काल ही कालातीत का संग्राहक बन जाता है। काल के द्वारा मानव अपने कालातीत अनन्त स्वरूप को समझे, उस आनन्त्य पर प्रतिष्ठित होकर ही तदनुगत समदर्शन के द्वारा अपने प्रकृतिसिद्ध--कालिक--विषमवर्त्तनात्मक स्वधर्म्म में निष्ठापूर्वक आरूढ़ बना रहे, एकमात्र इसी उद्देश्य से ऋषि ने दो सूक्तों में कालातीत के प्रतीकभूत काल के स्वरूप का (अष्टम सूक्त में), तथा कालमहिमा का (नवम सूक्त में) यशोगान किया है।

४३९–अनिर्वचनीय कालातीत तत्त्व, निर्वचनीय कालतत्त्व, एवं–'कालो ह विश्वा भूतानि' का समन्वय —

कालातीत स्वरूप अनिर्वचनीय **है**, जबकि कालिक स्वरूप अपने व्यक्त–महिमाभावों से शब्द के द्वारा निर्वचनीय बन रहा है। आधिदैविक–कालमहिमा के माध्यम से ऋषि ने आध्यात्मिक (मानवीय)

कालमहिमा का भी सर्वात्मना समन्वय कर दिया है, जैसाकि कालसूक्त के-'काले मनः, काले प्राणः, काले नाम समाहितम् । कालो-ह विश्वा भूतानि । कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन इमा प्रजाः' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है । समन्वय कीजिए अपनी सत्त्वप्रज्ञा से उक्त चारों कालविवर्त्तों का मानव की अध्यात्मसंस्था के साथ ।

४४०-मानवीय-कालिक-अध्यात्मसंस्था के कालिक-पर्वों का पारम्परिक-समन्वय-दिग्दर्शन—

प्रत्यक्षदृष्ट पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड ही मानव के कालिक स्वरूप (प्राकृत स्वरूप) का उपक्रम स्थान है । क्योंकि इस स्थूलशरीरात्मक शरीर से ही मानवस्वरूप का परिचय आरम्भ होता है । वैज्ञानिकोंनें हमें बतलाया है कि, इस प्रत्यक्षदृष्ट-स्पृष्ट-भौतिक **शरीर** से परे **इन्द्रियवर्ग** प्रतिष्ठित है, इन्द्रियों से परे '**मन**' प्रतिष्ठित है, मन से परे **बुद्धि** प्रतिष्ठित है, बुद्धि से परे **महान्** प्रतिष्ठित है, महान् से परे **अव्यक्त** प्रतिष्ठित है । और यहाँ आकर मानव का कालिक स्वरूप विश्रान्त है । **शरीर--इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-महान्-अव्यक्त**-इन छह पर्वों की समष्टि का नाम ही है मानव का प्राकृत वह कालिक स्वरूप, जिस कालिकस्वरूप से समन्वित होकर ही मानवीय वह कालिक जीव कालचक्र का अनुगामी बना रहता है, जो कालिक जीव इन ६ ओं कालिक-पर्वों से एक पृथक् ही प्राकृत तत्त्व है । ६ ओं कालिक तत्त्व जहाँ क्षरकालप्रधान हैं, वहाँ वह कालिक जीव अक्षरकालप्रधान बना हुआ है । इसप्रकार अब मानव के कालिक स्वरूप में सात कालिक पर्व होजाते हैं । सप्तपर्वसमष्टिरूप कालिक मानव के अन्तिम '**अव्यक्त**' नामक कालिक पर्व से परे जो कोई 'पुरुष' नामक अनन्ताव्यय तत्त्व है, वही मानव का कालातीत स्वरूप माना गया है, जैसाकि निम्न लिखित कठश्रुति से प्रमाणित है—

> **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥**
> **मनस्तु परा बुद्धिः, बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥**
> **महतः परमव्यक्तं, अव्यक्तात् पुरुषः परः ॥**
> **पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥**
>
> —कठोपनिषत्

४४१-आध्यात्मिक सात पर्व, एवं इन सातों के मूलप्रवर्त्तक आधिदैविक सात विवर्त्त—

मानव में उक्त पारम्परिक सात पर्व कहाँ से, कैसे, क्यों आगए ?, इस प्रश्न का एकमात्र समाधान वही पूर्वोक्ता कालमहिमाचतुष्टयी है, जिसका क्रम है-**स्वयम्भू-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा**-यह । पहिला '**स्वायम्भुवसम्वत्सर**' है, जिसके प्रमुख विभूतिभाव हैं—**स्वयम्भू**, और **परमेष्ठी** । इन में भी स्वयम्भू प्रथम पर्व है, परमेष्ठी द्वितीय पर्व है । पृ० सं० ३५३ की तालिका में आप देखेंगे कि, परमेष्ठी के गर्भ में सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-ये तीनों भी समाविष्ट हैं । इसप्रकार स्वायम्भुव सम्वत्सर पञ्चपर्वात्मकरूपेण सर्वात्मक बन रहा है, जिन में उत्तर के तीन पर्व द्वितीय परमेष्ठी के गर्भ में अन्तर्भूत हैं । स्वयम्भू के प्रवर्ग्य भाग से मानव के '**अव्यक्त**' पर्व का आविर्भाव हुआ है । परमेष्ठी के प्रवर्ग्यांश से मानव के उस '**महान्**' पर्व की अभिव्यक्ति हुई है, जिसमें परमेष्ठी के गर्भीभूत सौर--चान्द्र--भौम--प्रवर्ग्यात्मक अहङ्कृति-प्रकृति-आकृति-रूप तीनों बीजभाव प्रतिष्ठित हैं । पारमेष्ठ्य महान् का अहङ्कृतिबीज सौर है, प्रकृतिबीज चान्द्र है, आकृतिबीज भौम है, जो ये तीनों पारमेष्ठ्य बीज मूर्त्तरूप में परिणत होते हैं सौर सम्वत्सर में आकर ही । इसप्रकार बीज-

त्रयात्मक–सौर–चान्द्र–भौम–भावगर्भित–परमेष्ठी ही मानव का दूसरा 'महान्' पर्व है। और यहीं स्वायम्भुव सम्वत्सर–कालविवर्त्त परिसमाप्त है।

४४२–आध्यात्मिक सात पर्व, इन सातों के मूलप्रवर्त्तक आधिदैविक सात विवर्त्त, एवं तालिका–माध्यम से दोनों सप्तकों का तात्त्विक स्वरूप-दिग्दर्शन—

अब क्रमप्राप्त दूसरा वह सौरसम्वत्सरकाल हमारे सम्मुख आता है, जिसके उसी समष्टि-तालिका में **सूर्य्य–चान्द्रअन्तरिक्ष–भूपिण्ड**--नामक तीन व्यक्त विवर्त्त बतलाए गए हैं। इन में से क्रमशः सत्य सूर्य्यविवर्त्त मानव के **बुद्धिपर्व** का, आन्तरिक्ष्य सत्य चन्द्रपर्व मानव के 'सर्वेन्द्रिय' नामक प्रज्ञान--**मन** का, तथा सत्यभूपिण्ड मानव के **स्थूलशरीर** का निर्म्मापक बनता है। यहीं उस महान् के बीजरूप अहङ्कृत्यादि तीनों भाव व्यक्त–मूर्त्तभाव में परिणत होते हैं। सौरी बुद्धि ही मानव का **कारणशरीर** है, चान्द्र मन ही मानव का **सूक्ष्मशरीर** है, भौम शरीर ही मानव का **स्थूलशरीर** है। यों इस सौरसत्यसम्वत्सर के इन तीनों सत्यपर्वों से क्रमशः मानव के **बुद्धि--मन--शरीर**--नामक तीन कालिकपर्व अभिव्यक्त हो रहे हैं। अब शेष रह जाते हैं जीव, एवं **इन्द्रियवर्ग**--नामक दो पर्व।

तीसरे पार्थिवसम्वत्सर को लक्ष्य बनाइए, जिसके **सर्वज्ञ--हिरण्यगर्भ--विराट्**--रूप से तीन पर्व बतलाए गए हैं–स्तोमभेद से। इसी को पूर्व--परिच्छेदों में महासुपर्णात्मक साक्षी ईश्वर कहा गया है। पार्थिव-सम्वत्सर के सोमगर्भित एकविंशस्थ सर्वज्ञादित्यांश का नाम ही **प्राज्ञ** है, पञ्चदशस्तोमस्थ हिरण्यगर्भांश का नाम हीं **तैजस** है, त्रिवृत्स्तोमस्थ विराडंश का नाम हीं **वैश्वानर** है। प्राज्ञ--तैजस--वैश्वानर--रूप तीनों पार्थिव प्रवर्ग्यांशों की समन्वितावस्था का नाम हीं है–मानवीय–**'जीव'**, जो उस आधिदैविक--पार्थिवसम्वत्सर-रूप साक्षी ईश्वर का ही अंश है–**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'**। तदित्थं--पार्थिवसम्वत्सरकालांश ही बन रहा है मानव में–'जीव'।

अब उधर तो शेष रह जाता है **चान्द्रसम्वत्सर**, एवं इधर शेष रह जाता है--**इन्द्रियवर्ग**। चान्द्र-सम्वत्सर के दिक्सोम--भास्वरसोम--ऋतादित्य--ऋतवायु--ऋताग्नि--ये पाँच पर्व बतलाए गए हैं—पृ० सं० ३५३ की ही तालिका के अन्त में। ये पाँचों ऋताग्निसोमपर्व चान्द्रसम्वत्सर की ही ऋतविभूतियाँ हैं। इन में से क्रमशः त्रयस्त्रिंशस्तोमानुगत **ऋतदिक्सोम** के प्रवर्ग्यांश से **श्रोत्रेन्द्रिय** का, त्रिणवस्तोमानुगत **ऋतभास्वर-सोम** के प्रवर्ग्यांश से **इन्द्रियमन** का, एकविंशस्तोमानुगत **ऋतादित्यभाग** से **चक्षुरिन्द्रिय** का, पञ्चदश-स्तोमानुगत **ऋतवायुभाग** से **प्राणेन्द्रिय** का, एवं त्रिवृत्स्तोमानुगत **ऋताग्निभाग** से **वागिन्द्रिय** का आविर्भाव हुआ है। तदित्थं **दिक्–भास्वर–आदित्य–वायु–अग्नि**–नामक पाँचों चान्द्र ऋतप्राणों से मानव के **श्रोत्र–मन–चक्षुः–प्राण–वाक्**–नामक पाँच इन्द्रियप्राणों का विकास संसिद्ध है। और यहाँ आकर सम्वत्सरचतुष्टयी से अनुप्राणिता कालमहिमा सर्वात्मना अवभृथस्नान कर लेती है। चार सम्वत्सरकालों से यों मानव के सात कालिक पर्व अभिव्यक्त हैं। यही मानव के कालिक--स्वरूप का संक्षिप्ततम निदर्शन है, यही उस **'अधिदैवतम्'** के साथ इस **'अध्यात्मम्'** का समतुलन है। इसी समतुलन से कालिक मानव कालोपासना के अनुग्रह से अपने कालातीत अनन्त स्वरूप के दर्शन में सफलता प्राप्त कर सकता है। परिलेख–माध्यम से चारों सम्वत्सरकालमहिमाओं के साथ मानव के सप्तपर्वा कालिक-प्राकृत-स्वरूप का समतुलन कीजिए, एवं तद्द्वारा कालातीत पुरुष को लक्ष्य बना कर अपने कालातीत स्वरूप के साथ सायुज्य प्राप्त करते हुए **'जीवन्मुक्ति'** रूपा **'विदेहमुक्ति'** के दायाद–भोक्ता बनिए।

पूर्णमदः			पूर्णमिदम्		
१ स्वयम्भूः	स्वायम्भुवसम्वत्सरः	१–स्वयम्भूः	१–अव्यक्तः	अव्यक्तः (१)	स्वायम्भुवमानवः १
		२–परमेष्ठी	२–महान्	महान् (२)	
		३–सूर्य्यः	३–अहंकृतिबीजः		
		४–चन्द्रमाः	४–प्रकृतिबीजः		
		५–भूपिण्डः	५–आकृतिबीजः		
२ सूर्य्यः	सौरसम्वत्सरः	१–रेतोऽण्डम्	१–अर्द्धेन्द्रवृत्तम्	बुद्धिः (३)	सौरमानवः २
		२–यशोण्डम्	२–बुद्धिः		
		३–पोषाण्डम्	३–मनः	मनः (४)	
		४–अस्त्वण्डम्	४–शरीरम्	शरीरम् (५)	
३ पृथिवी	पार्थिवसम्वत्सरः	१–दिशः	१–महिमा	जीवः विषयानुगतः (६)	पार्थिवमानवः ३
		२–सत्यादित्यः सर्वज्ञः	२–प्राज्ञः		
		३–सत्यवायुर्हिरण्यगर्भः	३–तैजसः		
		४–सत्याग्निर्विराट्	४–वैश्वानरः		
४ चन्द्रमाः	चान्द्रसम्वत्सरः	१–दिक्सोमः	१–श्रोत्रम्	इन्द्रियाणि (७)	चान्द्रमानवः ४
		२–भास्वरसोमः	२–मनः		
		३–ऋतादित्यः	३–चक्षुः		
		४–ऋतवायुः	४–प्राणः		
		५–ऋताग्निः	५–वाक्		

इति नु–अधिदैवतम् — इति नु–अध्यात्मम्

४४३–चान्द्रकालानुगत गन्धर्व, एवं अप्सरातत्त्व का स्वरूप-परिचय, तथा गन्धर्वाप्सरा-प्राणों की यशोमहिमा का उपवर्णन—

'कालो यज्ञं समैरत्-देवेभ्यो भागमक्षितम्' इत्यादि चतुर्थ मन्त्र को हम पञ्चरात्रमूर्त्ति–नारायण–पुरुषात्मक–ऋताग्नि-ऋतसोममय–चान्द्रसम्वत्सरकाल का प्रतिपादक क्यों मान रहे हैं ?, किस आधार पर मान रहे हैं ?, प्रश्न का उत्तर मन्त्र के–'देवेभ्यो भागमक्षितम्' के–'अक्षितम्' पर, तथा मन्त्रोत्तरार्द्ध के 'काले गन्धर्वाप्सरसः' इस वाक्य पर ही अवलम्बित है। चान्द्रसम्वत्सर के त्रयस्त्रिंशस्तोमात्मक प्रदेश में आपोमय दिक्सोम प्रतिष्ठित है, एवं त्रिणवस्तोमात्मक प्रदेश में भास्वरसोम प्रतिष्ठित है। दिक्सोम का नाम है–'आपः', एवं भास्वरसोम का नाम है–'सोमः'। वरुणानुगत वही सोम 'आपः' है, इन्द्रानुगत (आदित्यानुगत) वही आपः 'सोमः' है। आप्यप्राण का नाम है 'अप्सुसरणधर्म्म' से 'अप्सरा', एवं सौम्यप्राण का नाम है गन्धानुगत गन्धर्व। यों अप्सराप्राण, तथा गन्धर्वप्राण, नामक दोनों प्राण चान्द्र ऋत सोमात्मक ही बन रहे हैं, जो मानवीय अध्यात्मजगत् में क्रमशः शरीर, और मन को अपना प्रधान आवासस्थान बनाते हैं। शरीर आपोमय बनता हुआ वारुण है, मन सोममय बनता हुआ ऐन्द्र है। ऐन्द्र मन के साथ इन्द्रप्रिय सोमात्मक 'गन्धर्व' का सम्बन्ध है, तो वारुण शरीर के साथ वरुणप्रिय आपोरूपात्मिका अप्सरा का सम्बन्ध है। गन्धर्व मन है, तो अप्सरा शरीर है। मानसभाव गन्धर्वप्राणप्रधान है, तो शरीरभाव अप्सराप्राणप्रधान है। गन्धभाव गन्धर्वानुगत है, तो रूपभाव अप्सरानुगत है। 'सोमो गन्धाय' (ताण्ड्यब्रा० १।३।६।)–'सोम इव गन्धेन भूयासम्'–(मन्त्र ब्रा० २।४।१४।)–'गन्धो मे, मोदो मे, प्रमोदो मे, तन्मे युष्मासु–गन्धर्वेषु' (जै उप० ३।२५।४।)–'गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति' (शत० ६।५।१।४।)–'रूपमिति गन्धर्वाः–उपासते' (शत० १०।५।२।२०।)–'योषित्कामा वै गन्धर्वाः' (ऐ ब्रा० १।२७)–'मनो गन्धर्वः' (शत० ६।४।१।१२।)–चन्द्रमा गन्धर्वः' (शत० ६।४।१।६।)–'किं नु तेऽस्मासु-अप्सरस्सु-इति-हासो मे, क्रीड़ा मे, मिथुनम्मे' (जै उप० ३।२५।८।) इत्यादि वचन चान्द्र-गन्धर्व, अप्सरा–प्राणों का ही यशोगान कर रहे हैं। अतएव अवश्य ही हम प्रस्तुत मन्त्र को चान्द्र-सम्वत्सरकाल का निरूपक मान रहे हैं।

४४४–गन्धर्वाप्सराप्राणमय चान्द्रसोम से अनुप्राणिता सौरप्राणाग्नि-देवदेवताओं की 'अक्षिति' का स्वरूप-समन्वय—

चान्द्रसम्वत्सर ऋतभावापन्न है, ऋताग्नि–ऋतसोममय बनता हुआ ऋतुरूप है। इस ऋतुभाव के कारण हीं तो यह चान्द्रसम्वत्सर ऋत बन रहा है। ऋतसोमाहुति से निष्पन्न अग्नीषोमात्मक यज्ञ ही बह पञ्चर्तु समष्टिरूप-पञ्चरात्र-यज्ञ है, जिसकी इस चान्द्रनारायणपुरुष को प्रजापति से-'पुरुषं ह वै नारायणं प्रजापतिरुवाच–यजस्व' इत्यादि प्रेरणा उपलब्ध हुई है। 'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' के अनुसार आपोमय अर्णवसमुद्र में विचरण करने वाला श्येन–सुपर्ण- ऋभु–रूप–नारायण चन्द्रमा ही तो है। 'तस्य अयमेव लोको वसन्तः' इत्यादि पूर्व श्रुतिवचनानुसार यही तो ऋतुमूर्त्ति बनता हुआ ऋताग्निसोम–मय है। यही तो प्रजात्मक उन लोकभावों का अधिष्ठाता है, जो प्रजालोकसर्ग चान्द्रसर्ग नाम से प्रसिद्ध हैं। इस चान्द्रसोम से ही तो प्राणाग्निदेवता अक्षितभावापन्न बन रहे हैं, जिस इस 'अक्षितम्' का विस्पष्ट शब्दों में नारायणाख्य चान्द्रसम्वत्सर से ही ब्राह्मणश्रुतिने सम्बन्ध बतलाया है। देखिए !

तद्विद्यात्-सर्वांल्लोकानात्मन्नधिषि, सर्वेषु लोकेष्वात्मानमधां, सर्वान् देवानात्मन्नधिषि, सर्वेषु देवेष्वात्मानमधां, सर्वान् वेदानात्मन्नधिषि, सर्वेषु वेदेष्वात्मानमधां, सर्वान् प्राणानात्मन्नधिषि, सर्वेषु प्राणेष्वात्मानमधाम्। अक्षिता वै लोकाः, अक्षिता देवाः, अक्षिता वेदाः, अक्षिताः प्राणाः, अक्षितं सर्वम्। अक्षिताद्ध वाऽअक्षितमुपसंक्रामति। अप पुनर्मृत्युं जयति, सर्वमायुरेति, य एवमेतद्वेद। —शतपथ १२।३।४।११।

४४५-चन्द्रमा की सर्वात्मकता का समन्वय—

नारायणाख्य 'पुरुष' के सम्बन्ध से ही यह ऋतचान्द्रसम्वत्सरयज्ञ 'पञ्चरात्र' 'पुरुषमेधयज्ञक्रतु' कहलाया है (शत० १३।६।१।१)। इस चान्द्रऋतकाल को 'सम्वत्सर' किस आधार पर कह दिया गया?, प्रश्न का समाधान भी उसी श्रौत-सन्दर्भ से अनुप्राणित है, जिसके द्वारा इस चान्द्री यज्ञविभूति का विस्तार से विश्लेषण हुआ है। देखिए!

एवमिमं च लोकाः, सम्वत्सरश्चात्मा च पुरुषमेधमभिसम्पद्यते। सर्वं वा इमे लोकाः। सर्वं सम्वत्सरः। सर्वमात्मा। सर्वं पुरुषमेधः। 'चन्द्रमा एव सर्वम्' (गो० ब्रा० पू० ५।१५।)-(शत० १३।६:१।११)।

४४६-अधिदैवत-ऋत-चान्द्र-सम्वत्सर के साथ आध्यात्मिक ऋत मनोमय-सम्वत्सर का समतुलन—

अब केवल शेष प्रश्न रह जाता है—अधिदेवत के साथ अध्यात्म के समतुलन का। जैसा स्वरूप उस काल का है, वैसा ही इस कालिक मानव का है, इस समतुलन के सम्बन्ध में अब अधिक विस्तार का समय नहीं है। प्रकृत में केवल एक वचन ही उद्धृत कर यह मन्त्रार्थसमन्वय उपसंहृत हो रहा है, जिसके द्वारा स्वायम्भुव-सौर-पार्थिव-सम्वत्सर-त्रयी-गर्भित-ऋतुमूर्त्ति चान्द्रसम्वत्सररूप अधिदैवतविवर्त्त के साथ मानवीय अध्यात्म का समतुलन हुआ है। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्!!

"...पञ्चममहर्द्यौरस्य शिशिरऋतुः। इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्। प्रतिष्ठा-एव-अस्य (पुरुषस्य--मानवस्य) प्रथममहः। प्रतिष्ठा उ अस्य वसन्त ऋतुः। यदूर्ध्वं प्रतिष्ठायाः, अवाचीनं मध्यात्-तद्द्वितीयमहः। तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुः। मध्यमेवास्य मध्यममहः। मध्यमस्य वर्षाशरदावृतू। यदूर्ध्वं मध्यात्-अवाचीनं शीर्ष्णः-तच्चतुर्थमहः। तद्वस्य हेमन्त ऋतुः। शिर एवास्य पञ्चममहः। शिरोऽस्य शिशिरऋतुः।

—शत० १३।६।१।११।

इति--कालः--ऋताग्निऋतसोममूर्त्तेश्चान्द्रऋतसम्वत्सरकाले-एव पञ्चत्तु-समष्टि-रूपं-पाङ्क्तं-पञ्चरात्रं-पुरुषमेधाख्यं-यज्ञं समैरयत्। साम्वत्सरिकप्राणदेवेभ्यश्च अचितं-अक्षीणं (ऋतमिति यावत्) सोममयमाहुतिद्रव्यं-अकल्पयत्। तस्मिन्नेतस्मिन्-चान्द्रऋतसम्वत्सरकाले-एव सौम्य--आप्य--प्राणमय्यः--गन्धर्वाप्सरसः-प्रतिष्ठिताः। चान्द्रसम्वत्सरकाले-एव ब्राह्म-पैत्र्य-प्राजापत्य-ऐन्द्र-गन्धर्व-पिशाच-यक्ष-राक्षस-मानव-पशु-पक्षी-कीट-कृमि-स्तम्भ-भेदभिन्नाः- चतुर्दशविधाः -प्रजाः-तदभिन्ना लोकाश्च प्रतिष्ठिताः - इति—

कालो यज्ञं समैरयत्-,देवेभ्यो भागमक्षितम्।
काले गन्धर्वाप्सरसः, काले लोकाः प्रतिष्ठिताः॥

इति-चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयः

४

---

[१५]-[५]-अथ पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण [पञ्चममन्त्रार्थ]

४४७-'कालेऽयमथर्वाङ्गिरादेवः' इत्यादि पञ्चम (१५) मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय, एवं अथर्वाङ्गिरा, तथा अथर्वा का पावन-संस्मरण—

(१५)-(५)—कालेऽयमथर्वाङ्गिरा देवोथर्वाचाधि तिष्ठतः।
इमं च लोकं, परमं च लोकं, पुण्याँश्च लोकान्, विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वाँल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः॥

"यह अथर्वाङ्गिरादेव', एवं अथर्व, दोनों काल में हीं प्रतिष्ठित हैं। इस लोक को, और उस लोक को, पुण्यलोकों को, पुण्यभावात्मिका विधृतियों को, (किंबहुना) सम्पूर्ण लोकों को ब्रह्म के द्वारा जीत कर वह परमकालदेव ही गतिशील बन रहा है" इत्यक्षरार्थक प्रस्तुत पञ्चम मन्त्र अष्टम, तथा नवम, दोनों कालसूक्तों में क्रमशः प्रतिपादित काल, तथा कालमहिमा-इन दोनों कालविवर्त्तों का समष्टिरूप से निरूपण करता हुआ काल की सर्वजगद्व्याप्ति का ही स्पष्टीकरण कर रहा है। मन्त्र में प्रधानरूप से ज्ञातव्य 'अथर्वाङ्गिरादेव', और 'अथर्वा' ये दो ही पारिभाषिक तत्त्व हैं।

४४८-वेदभाष्यकारों की दृष्टि में अथर्वाङ्गिरा, तथा अथर्वा तत्त्वों का परमात्मभक्ति-मूलक समन्वय, एवं वेदार्थ की अन्तर्मुखता -

यदि परमात्मभक्त भाष्यकार के पथ का अनुसरण कर लिया जाता है, तो वेदार्थ--समन्वय-कर्त्ता सर्व-श्रीसायणाचार्य्य के-"अशरीरया वाचा स्वसृष्टास्वेव अप्सु--अर्वाग्--अभिमुखं--एनं परमात्मानं- अन्वि-

च्छेति अभिहितः परमात्मा अथर्व शब्द वाच्य इति बहुधा प्रपञ्चितम्" ("अशरीररूपा वाक् से अपने आप से ही उत्पन्न पानियाँ में अभिमुख बने हुए इस परमात्मा को ढूँढो-इस रूप से कहा गया 'परमात्मा' ही अथर्व शब्द का वाच्यार्थ है, यह हमने अनेक स्थानों पर स्पष्ट कर दिया है"(देखिए-सायणभाष्य) इस मन्तव्य के अनुसार तो कुछ भी ज्ञातव्य-विज्ञातव्य नहीं रह जाता।

४४९-परमात्मनामसाम्यमूला भ्रान्ति के निग्रह से काल-अथर्वाङ्गिरा-अथर्वा-आदि प्रकृतिसिद्ध-विभक्त-नित्य-तत्त्वों के पारिभाषिक समन्वय का आत्यन्तिक अभाव, एवं वेदभाष्यकारों का महतोमहीयान् वाग्विजृम्भण—

अशरीरा वाक् से उत्पन्न पानियों में प्रयासपूर्वक ढूँढा जाने वाला परमात्मा ही भाष्यकार की दृष्टि में अथर्वाङ्गिरादेव है, इसी के लिए पुनः उसी मन्त्र में 'अथर्व' कहा है। इन दो भावों के लिए प्रयुक्त-'अधिष्ठितः' यह द्वित्वभावापन्न क्रियापद भी एकभाव पर ही परिसमाप्त है भाष्यकार की दृष्टि में। और ऐसा अथर्वरूप परमात्मा काल में प्रतिष्ठित है सायणीया दृष्टि में। एवं इन्हीं भाष्यकारों की दृष्टि में कालशब्द का वाच्यार्थ भी -'परमात्मा' ही है, जैसा कि आप ही के-'कालः-कालरूपः-परमात्मा-भूतिमसृजत' (अष्टमसूक्त-७ मन्त्रव्याख्या) इत्यादि उद्‌गारों से स्पष्ट है। "परमात्मा में परमात्मा प्रतिष्ठित नहीं है, अपितु प्रतिष्ठित हैं, दो परमात्मा प्रतिष्ठित हैं (अधिष्ठितः) उस एक परमात्मा में। किंवा दोनों मिल कर (अथर्वाङ्गिरा, और अथर्व-मिल कर) एक ही परमात्मा अधिष्ठितः नहीं, अपितु-'सोऽयमथर्वा अथर्ववेद स्रष्टा देवश्च-(अर्थात्-परमात्मा च)-काले-स्वजनके-अधितिष्ठति'। अथर्व-परमात्मा अपने पिता काल में प्रतिष्ठित है-अथर्वाङ्गिरा, और अथर्वा नामक दो परमात्मरूपों से" इत्यादि सन्दर्भमूलक इत्थंभूत भाष्यसमन्वय की अस्तिभावमूला 'परमात्मभक्ति' का प्रत्येक आस्तिक को हृदय से अभिनन्दन ही करना चाहिए।

४५०-सर्वश्री सायणादि भाष्यकारों के प्रति श्रद्धाशीला प्रजा का श्रद्धार्पण, एवं ज्ञान-विज्ञानात्मक आचारप्रधान वेदशास्त्र का भाष्यानुग्रह-परम्पराओं से केवल अर्चनीय--प्रतिमात्त्व, तथा तद्द्वारा भारतवैभव की अन्तर्मुखता—

जब इन्द्र-मित्र-वरुण-यम-मृत्यु-सब वही है, जब कि-'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'-'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' इत्यादि वेदान्त-सिद्धान्त जागरूक है, तो काल को, अथर्वाङ्गिरा को, अथर्व को, किंवा सम्पूर्ण चर-अचर-पदार्थों को भी यदि भाष्यकार परमात्मा के पर्य्याय मान लेंगे, तब भी यहाँ की परमात्मभक्त आस्तिक प्रजा कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठाएगी। और इस समदर्शनमूला परमात्मदृष्टि से श्रीसायणाचार्य्य के इस तथाकथित अर्थसमन्वय का भी सर्वात्मना समादर ही कर लिया जायगा। एवं इस समादर के साथ साथ ही परमात्मा के विविध नामों का सङ्कीर्त्तनमात्र करने वाले इस वेदशास्त्र को हम अर्चनीया प्रतिमा बना कर प्रतिमावत् किसी मन्दिर में ही विराजमान कर देंगे। ऐसा ही तो कुछ घटित-विघटित हो रहा है—आज तीन सहस्र वर्षों से, इति नु अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! महती खल्वियं विडम्बना ज्ञानविज्ञानात्मकस्यास्य भगवतो वेदपुरुषस्येति-आलप्यालमेव। वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः। तिष्ठन्तु 'हुं'

वर्त्तताम् । फिर तो उन सुविख्यात स्वामिमहाभाग का भी कोई अपराध नहीं मानना चाहिए आर्ष-सनातन जगत् को, जिन्होंनें सम्पूर्ण वैदिक तत्त्वों को एकमात्र परमात्मा के ही वाचक मानते हुए प्रकृतिसिद्ध-विज्ञानसिद्ध बहुदेवतातत्त्वों का मूलोच्छेद करते हुए वेदशास्त्र के आचारपक्ष को सर्वथैव अन्तम्मुख बना दिया है ।'**काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः**' ।

४५१–'कालादापः समभवन्', एवं 'कालेऽयमथर्वाङ्गिरादेवः' का समतुतलन, आपः, तथा अथर्वाङ्गिरादेवः शब्दों का पारिभाषिक--समन्वय—

'**कालादापः समभवन्**' इत्यादि प्रथम मन्त्र में '**कालात्**' का जो अर्थ हुआ है, प्रकृत पञ्चम मन्त्र के '**काले**' का वही अर्थ है । एवमेव वहाँ '**आपः**' का जो अर्थ हुआ हैं, यहाँ के–'**अथर्वाङ्गिरा**' का भी वही अर्थ है । '**आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्**' (गो० ब्रा० पू०) इत्यादि अथर्वब्राह्मणश्रुति से प्रतिपादित, स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसित-अपौरुषेय-त्रयीवेद के ऋक्सामरूप वयोनाध (छन्द) से छन्दित यत्-जूः (गति-स्थिति) प्रकृतिक यज्जूरूप यजुः के 'जू' रूप वाग्भाग से यद्रूप प्राणव्यापार के द्रुतभाव से उत्पन्न स्नेह-तेजो-गुणक ऋततत्त्व का नाम हीं '**आपः**' है, जिसका स्नेहगुणक तत्त्व ही **भृगु** है, तेजोगुणक तत्त्व ही **अङ्गिरा** है, दोनों की समन्वितावस्था का नाम हीं 'आपः' है, और इसी का नाम है-'**ऋतमेव परमेष्ठी**' । तेजोमय अङ्गिरा से तप्त-संतप्त स्नेहगुणक 'आपः' ही इस भर्ज्जनरूप परिपाक से '**भृगु**' नाम से प्रसिद्ध हुआ *, जिसकी घनावस्था '**आपः**', तरलावस्था '**वायुः**', एवं विरलावस्था '**सोमः**' नाम से प्रसिद्ध हुई । घनावस्थापन्न आप्य-भृगु ही वरुणपुत्र कहलाए (**भृगुर्ह वारुणिः**), ये ही **असुरसृष्टि** के मूलप्रवर्त्तक बने । तरलावस्थापन्न वायव्य भृगु ही गन्धर्वसृष्टि के प्रवर्तक बने, एवं विरलावस्थापन्न सौम्य भृगु ही **पितृसर्ग** के प्रवर्त्तक बने । यों आपोमय परमेष्ठी–मण्डल में हीं स्नेहगुणक-परिपक्व-आपोरूप-भृगु की इन आपः-वायु-सोमः ÷ अवस्थाओं से क्रमशः असुर-गन्धर्व-पितर-,ये तीन सृष्टिधाराएँ प्रकान्त हो पड़ीं ।

४५२–आपः तत्त्व की भृगु–अङ्गिरा–अवस्थाओं का स्वरूप--समन्वय, एवं--'आपो–भृग्वङ्गिरोरूपम्', तथा 'आपो भृग्वङ्गिरोमयम्' वाक्यों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

तेजोगुणक अङ्गिरा के समन्वय से आरम्भ में आपः परिपक्व होकर 'भृगु' बन गया, एवं यही भृगु आगे चलकर तेजोगुणमयीं आपोधाराओं का अभिव्यञ्जक बनता हुआ 'अङ्गिरा' नाम से प्रसिद्ध हो गया । स्नेहतजोभयगुणक उस एक ही पारमेष्ठ्य 'आपः' तत्त्व की तेजोगुणगर्भिता स्नेहगुणावस्था 'भृगु' कहलाई, एवं

---

* अथेतराः पेयाः स्वाद्व्यः शान्ताः (आपः) । तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत् । ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः सन्तप्ताभ्यो यद्रेत आसीत्,–तदभृज्यत ('भ्रस्ज' पाके) । यदभृज्ज्यत, तस्माद् भृगुः समभवत् । तद्भृगोर्भृगुत्वम् ।
—गोपथब्राह्मण १।३।

÷ आपो-वायुः-सोमः–इत्येते भृगवः । (गोपथब्राह्मण–पू० २।८। (६) ।)

इसी आपः की स्नेहगुणगर्भिता तेजोगुणावस्था 'अङ्गिरा' कहलाई। दूसरे शब्दों में-अङ्गिरागर्भित भृगु ही 'भृगु' कहलाया, एवं भृगुगर्भित अङ्गिरा ही 'अङ्गिरा' कहलाया। यों स्नेह-तेजोगुणक आपः के परस्पर के अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से पारमेष्ठ्य 'अप्' तत्त्व भृग्वङ्गिरोरूप बन गया, भृग्वङ्गिरोमय बन गया। शुद्ध स्नेहगुणक निष्कैवल्य आपः, एवं शुद्ध तेजोगुणक निष्कैवल्य आपः भृग्वङ्गिरोरूप-आपः हैं, एवं स्नेहगर्भित तेजोरूप आपः (भृगुगर्भित अङ्गिरा), तथा तेजोगर्भित स्नेहरूप आपः (अङ्गिरागर्भित भृगु) भृग्वङ्गिरोमय आपः हैं। इन्हीं दोनों विभक्त–अवस्थाभेदों को लक्ष्य बना कर श्रुति ने–'आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्-आपो भृग्वङ्गिरोमयम्' यह कहा है। 'रूपता' शुद्धावस्था की सूचिका है, 'मयता'--यागावस्था की सूचिका है।

४५३–स्नेहगुणक भृगु की संकोचावस्था का, एवं तेजोगुणक अङ्गिरा की विकासावस्था का समन्वय—

संघर्षावस्थापन्न भृगु की उत्तरावस्था का नाम हीं अङ्गिरा है ×, एवं संघर्षावस्थापन्न अङ्गिरा की पूर्वावस्था का नाम हीं भृगु है, यही वक्तव्य–निष्कर्ष है। भृग्वङ्गिरोमय, किन्तु भृगुप्रधान आपः ही भृगु है, एवं भृग्वङ्गिरोमय, किन्तु अङ्गिराप्रधान आपः ही अङ्गिरा है। स्नेहतत्त्व संकोचशील है, तेजोभाव विकासशील है। संकोच का संकोचत्त्व विकासधर्म्म के सहयोग-समन्वय पर अवलम्बित है, तो विकास का विकासत्त्व संकोचधर्म्म के सहयोग पर अवलम्बित है। परिधि से चलकर केन्द्र को लक्ष्य बनाए रहने वाला आगतिभाव ही संकोच है, एवं केन्द्र से चल कर परधि को लक्ष्य बनाने वाला गतिभाव ही 'विकास' है। विकास की चरमावस्था का नाम ही संकोच है, संकोच की चरमावस्था का नाम हीं विकास है। स्नेहगुणक भृगुतत्त्व संकोचधर्म्मा है, तेजोगुणक अङ्गिरातत्त्व विकासधर्म्मा है।

४५४–केन्द्रानुयोगिक, परिधिप्रतियोगिक भृगु, एवं परिध्यनुयोगिक, केन्द्रप्रतियोगिक अङ्गिरा की विभिन्न अवस्थाओं का दिग्दर्शन—

तत्त्व एक ही आपः है, जो केन्द्रानुयोगिक–परिधिप्रतियोगिक बनता हुआ संकोचभाव में आकर 'भृगु' कहलाने लगता है। एवं वही परिध्यनुयोगिक-केन्द्रप्रतियोगिक बनता हुआ विकासभाव में आकर 'अङ्गिरा' कहलाने लगता है। यों आपः की केन्द्रानुगामिनी पूर्वावस्था ही भृगु है, तो परिध्यनुगामिनी उत्तरावस्था ही अङ्गिरा है। केन्द्र से परिधि पर्य्यन्त व्याप्त अङ्गिरा, तथा परिधि से केन्द्र पर्य्यन्त व्याप्त भृगु, दोनों परस्पर ओतप्रोत हैं समानधरातलानुबन्ध से। अतएव श्रुति ने अङ्गिरा के सन्तपन से भृगु का आविर्भाव बतलाया है, एवं भृगु के सन्तपन से अङ्गिरा की अभिव्यक्ति बतलाई है, जैसा कि-ताभ्यः-अद्भ्यः-सन्तप्ताभ्यः

× तं वरुणं-मृत्यु'-(वरुणमयं वारुणिं भृगुं) अभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य–सन्तप्तस्य–सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽचरत्। सोऽङ्गरसोऽभवत्। तं वा एतं–अङ्गरसं सन्तं–'अङ्गिरा' इत्याचक्षते।

—गो० ब्रा० पू० १।७।

(अङ्गिरा-द्वारा) यद्रेत–आसीत्-तदभृज्यत, तस्माद् भृगुः । तस्य (भृगोर्वरुणस्य) सन्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत् । सोऽङ्गरसोऽभवत् । तं वा एतं–अङ्गरसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते परोक्षेण' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ से प्रमाणित है ।

४५५–भृगु का प्राथम्य, अङ्गिरा का उत्तरभावित्व, आपः तत्त्व की 'सरिरता', तन्मूला 'सलिलता', एवं 'स भृगुं सृष्ट्वा अन्तरधीयत' इत्यादि गोपथवचन का समन्वय-

आपोमय परमेष्ठी से सर्वप्रथम सौम्य--स्नेहगुणक भृगु का ही आभिर्वाव हुआ, तदनन्तर अङ्गिरा का । एवं हि श्रूयते कि, आपोमय परमेष्ठी प्रजापति ने अपने आङ्गिरस तप--सन्तपन से अपने हीं एकांशभूत आपः को परिपक्व कर उसे भृगुरूप में परिणत कर दिया । इस भृगु को उत्पन्न कर वे आपः-परमेष्ठी-प्रजापति अन्तर्लीन होगए, परोक्ष बन गए अपने इस सृष्ट भृगुरूप से । सरित्--इरा--(रस)--रूपत्त्वेन 'सलिल' (ऋत) बने हुए आपोमय परमेष्ठी से उत्पन्न ऋतापःप्रधान भृगु की दृष्टि से तो ये अन्तर्लीन हीं माने जायँगे । अङ्गि-रारूप सृष्ट भाग अवश्य ही परमेष्ठी प्रजापति का वैसा है, जिस की अपेक्षा से परमेष्ठी परोक्ष नहीं बनते, अन्तर्लीन नहीं बनते । क्योंकि ऋत बनते हुए भी अङ्गिरा अपने आग्नेय सत्य की अभिमुखता से आपः की विशुद्धा अबरूपता से पृथक्वत् व्यक्त हो जाते हैं, जबकि आपोरूप भृगु सर्वथा आपोरूप बनते हुए आपः परमेष्ठी से अभिन्न ही बने रहते हैं । अतएव भृगु की दृष्टि से तत्स्रष्टा आपोमय परमेष्ठी प्रजापति की व्यक्ता अभिव्यक्ति सुदुर्लभा ही मानी जायगी । इसी तथ्य को लक्ष्य में रखते हुए श्रुतिने भृगु के आविर्भावानन्तर ही आपोमय प्रजापतिस्वरूप के लिए यह कह दिया कि–"स भृगुं सृष्ट्वा –अन्तरधीयत' ।

४५६–पारमेष्ठ्य छन्दोमय दिङ्मण्डल, उस की प्राची-प्रतीची--उदीची--दक्षिणा–रूपा चार दिशाएँ, एवं चारों पारमेष्ठ्य दिग्भावों के साथ क्रमशः वायु--पवमान--वात--मातरिश्वा--नामक चतुर्विध वायव्य प्राणों का समन्वय—

आगे चल कर पुत्र भृगु ने अन्तर्लीन अपने इस मूलप्रष्ठिात्मक पिता प्रजापति को ढूँढना आरम्भ किया । पारमेष्ठ्य आपः से उत्पन्न भृगु आपः[१]--वायुः[२]--सोमात्मक[३] थे, जिन इन तीन भार्गवरूपों से ही पार-मेष्ठ्य--समुद्र में क्रमशः मातरिश्वा--वायु--पवमान--नामक तीन प्रकार के ऋतधर्म्मा वायव्य प्राण (प्राणवायु) अभिव्यक्त हो जाते हैं । चौथा आङ्गिरस प्राणवायु है, जो 'वात आवात भेषजम्' के अनुसार 'वात' नाम से प्रसिद्ध है । इन त्रिविध भार्गव वायव्य प्राणों का, तथा एकविध आङ्गिरस वायव्य प्राण का, चारों का पार-मेष्ठ्य--छन्दोमय–दिङ्मण्डल की दिशाओं से क्रमिक सम्बन्ध मान लिया गया है । घनावस्थापन्न भृगु 'आपः' के साथ 'मातरिश्वा' नामक पुरस्वरूप–समर्पक प्राणवायु का सम्बन्ध है, एवं इसे दक्षिणदिशा से अनु-प्राणित माना गया है । तरलावस्थापन्न भृगु 'वायुः' के साथ 'वायुः' नामक प्राणवायु का सम्बन्ध है, एवं इसे प्राचीदिशा से अनुप्राणित माना गया है । विरलावस्थापन्न 'भृगुसोम' के साथ 'पवमान' नामक प्राणवायु का सम्बन्ध है, एवं इसे 'प्रतीचीदिशा से अनुप्राणित माना गया है । अङ्गिरावायु के साथ 'वात' नामक प्राणवायु का सम्बन्ध है । एवं इसे उदीचीदिशा से अनुप्राणित माना गया है । और यों भृग्वङ्गिरानुबन्धी

वायव्य ऋत प्राण इन चार विवर्त्तों में विभक्त होते हुए चारों दिशाओं में (सम्पूर्ण पारमेष्ठ्य समुद्र में) व्याप्त हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१–भृगुः—आपः (भृगोर्घनावस्था)——मातरिश्वावायुः——दक्षिणां दिशमेजत्

२–भृगुः—वायुः (भृगोस्तरलावस्था)—वायुरेव वायुः————प्राङेजत्

३–भृगुः—सोमः (भृगोर्विरलावस्था)—पवमानवायुः———प्रतीचीं दिशमेजत्

४–अङ्गिरा-ःवायुः (अङ्गिरसस्तरलावस्था)-वातवायुः———उदीचीं दिशमेजत्

——*——

४५७–वात-मातरिश्वादि के सहयोगी भृगु के द्वारा अङ्गिरा के सहयोग से स्वपिता परमेष्ठी प्रजापति का अन्वेषण, तत्कर्म्म में भृगु का उपहास, एवं अन्वेषण-कर्म्म में भृगु को उद्‌बोधन-सूत्रप्रदान—

सुनते हैं-पिता परमेष्ठी से प्रसूत–उत्पन्न भृगु ने अङ्गिरावायु के सहयोग से, तथा स्वानुगत मातरिश्वा-वायु--पवमान--नामक प्राणवायुविवर्त्तों के माध्यम से अपने उस पिता परमेष्ठी प्रजापति को ढूँढना आरम्भ किया, जो इस भृगु को उत्पन्न कर अन्तर्लीन होगए थे। भृगु ने मातरिश्वा के माध्यम से प्रजापति को दक्षिण में ढूँढा, नहीं मिले प्रजापति। भृगु ने वायु के द्वारा पूर्व में ढूँढा, नहीं मिले प्रजापति। भृगु ने पवमान के द्वारा पश्चिम में ढूँढा, किन्तु तत्रापि नहीं मिले प्रजापति! और यों आपः–वायुः–सोम–मय भृगु अपने हीं विभूतिरूप **मातरिश्वा–वायुः–पवमान** नामक तीनों स्वानुगत प्राणों से क्रमशः दक्षिण-पूर्व-पश्चिम-तीनों दिशाओं में प्रयास करके भी अन्तर्लीन परमेष्ठी प्रजापति को ढूँढने में समर्थ न हो सके, न हो सके। अब केवल एक ही प्रयास शेष रह गया भृगु की सीमा में। और वह अन्तिम प्रयास था आङ्गिरस–'वात' नामक तेजोमय–वायव्यप्राण। उसी को अपने अन्वेषणकर्म्म में मध्यस्थ बनाया अन्ततोगत्वा भृगु ने। इसे मध्यस्थ बना कर भृगु ने उत्तरदिशा में हीं प्रजापति को ढूँढना आरम्भ किया। आङ्गिरस--'वात' नामक प्राणवायु ने यों भगु को अन्वेषण में अस्त–व्यस्त--सन्त्रस्त देख कर मन्दहासपूर्वक ही मानो यही कहा कि— **"भृगो! अब और कहाँ ढूँढ रहे हो प्रजापति को। अरे! उसे तो यहीं ढूँढो। वह यहीं (मेरे सह-योगसे-आङ्गिरसप्राण के सहयोग से) इसी उत्तरदिशा में तुम्हें मिल जायगा।"–"वात वातेति। तमब्रवीत्—'अन्वविन्दामहे' इति। अथ--अर्वाङ्-एनमेतास्वेवाप्सु–अन्विच्छ (भृगो!)"।**

४५८–केन्द्रानुगत परमेष्ठी-प्रजापति, एवं इनकी स्वायम्भुव–त्रयीमूर्त्ति-अव्यक्तप्रजापति से अभिन्नता—

अन्तर्लीन होते हुए पारमेष्ठ्य प्रजापति उस केन्द्र में हीं तो अन्तर्लीन हुए हैं, जहाँ ब्रह्माग्निरूपा त्रयी-विद्या प्रतिष्ठित है, जो कि–**सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्**' इत्यादिरूप से आपोमय परमेष्ठी

के गर्भ में हीं प्रतिष्ठित माना गया है। यही वह गर्भस्थ प्रजापति है, जिस से पारमेष्ठ्य आपोमय प्राणप्रजापति भी आबद्ध हैं। 'आपः' इनका शरीर भाग है, आप्यप्राण इनका आत्मभाग है। एवं यह उस केन्द्रस्थ त्रयीमूर्त्त प्रजापति से अभिन्न है। एवं यही पिता परमेष्ठी की अन्तर्लीनता है।

४५९–परिधि की पारिभाषिकी दक्षिणता, केन्द्र की पारिभाषिकी उत्तरता, एवं 'सर्वस्मादिन्द्र उत्तरः' का पारिभाषिक समन्वय—

विज्ञानभाषा में परिधि का नाम है दक्षिण, एवं केन्द्र का नाम है–'उत्तर'। 'सर्वस्मादिन्द्र उत्तरः'–'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः' इत्यादि के 'उत्तर'–और–ऊर्ध्व–शब्द केन्द्र के ही संग्राहक हैं। भृगुप्राण परिधि से केन्द्र की ओर आरहा है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया गया है। भला इसे केन्द्रस्थ प्राजापत्यप्राण का पता तब-तक लग ही कैसे सकता है, जबतक कि यह किसी केन्द्रानुयोगी प्राण को मध्यस्थ बनाकर केन्द्र में न चला जाय ?। वैसा प्राण आङ्गिरस-'वात' नामक प्राण ही है, जो केन्द्र से ही चलता है। उस प्राण के मध्यस्थ बनते ही उस प्राण की उत्तरदिशारूप हृदयबिन्दु का पता लग जाना स्वाभाविक ही है। इसी सहज स्थिति का ऋषिनें स्पष्टीकरण किया है गोपथब्राह्मण में।

४६०–भृगु के द्वारा पिता प्रजापति की–'अथ-अर्वाक्' रूपा उपलब्धि, एवं 'अथर्वा' शब्द के वाच्यार्थ का समन्वय—

उत्तरस्थ (केन्द्रस्थ), अङ्गिराप्राणानुगत–परमेष्ठी प्राणप्रजापति का यों भृगु अन्वेषण कर तदनुग्रह से समन्वित हो जाते हैं। 'अथ-अर्वाक्' रूपेण क्योंकि यहीं, उत्तर में हीं, केन्द्र में हीं प्राणप्रजापति उपलब्ध होजाते हैं भृगु को, अतएव '**अथ-अर्वाक्**' भावानुबन्ध से वैज्ञानिकोंनें इस केन्द्रीय आप्यप्राण को '**अथर्वा**' (**अथ–अर्वाक्–इति–अथर्वा**) नाम से व्यवहृत कर दिया है। इसी स्थिति का श्रुति ने अपनी परिभाषिकी रहस्यपूर्ण भाषा में–"स भृगुं सृष्ट्वा अन्तरधीयत। "स भृगुः–सृष्टः प्राङेजत्०" इत्यादि से आरम्भ कर–"**तत्-यत्-अब्रवीत्-अथ-अर्वाङ्-एनं-प्रजापतिप्राणमापोमयं-एतास्वप्सु (आपोमयपरमेष्ठिमण्डले) अन्विच्छ, तत्–'अथर्वा' अभवत्। तदथर्वणोऽथर्वत्त्वम्**" इत्यादि पर्य्यन्त के सन्दर्भ से स्पष्टीकरण किया है, जिसका यथार्थ समन्वय तो ऋषिप्रज्ञा से ही अनुप्राणित माना जायगा।

४६१–उक्थ–अर्क–अशीति–रूप प्रजापति की सर्वव्याप्ति, एवं उसकी पशुपति–पाश-पशुरूपता का समन्वय—

उक्थ-अर्क-अशीति-भेद से केन्द्रस्थ प्रजापति त्रिधर्म्मावच्छिन्न बन कर ही शरीररूप स्वपुर में अवार-पारीणरूप से व्याप्त होते हैं। केन्द्रावच्छिन्न केन्द्रात्मक मूलप्रतिष्ठारूप ही प्रजापति का 'उक्थ' रूप है। इस मूलबिम्बात्मक हृद्य उक्थ से विनिर्गता, सम्पूर्ण पुर में प्राणदपानत्–रूप से रश्मिभावेन परिव्याप्ता प्राणरश्मियों का नाम हीं 'अर्क' है। इस अर्कात्मक प्राणमण्डल–रश्मिमण्डल में भोग्यरूप से अन्तर्भुक्त सम्पूर्ण भूत-भौतिक-भाव ही 'अशीति' (अन्न) है। उक्थरूप पशुपति है, अर्करूप **पाश** है, अशीतिरूप **पशु** है।

४६२-उक्थभावापन्न अथर्वप्रजापति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

उदाहरण के लिए आपोमय--परमेष्ठी प्रजापति को ही लीजिए। ब्रह्मनिःश्वसित त्रयीमूर्त्ति ब्रह्माग्नि से समन्वित हृदयस्थ आप्यप्राणमूर्त्ति प्रजापति ही 'उक्थरूप' है इस परमेष्ठी प्रजापति का। इस उक्थरूप प्राणप्रजापति से विनिर्गता आपोमयीं प्राणरश्मियाँ हीं इसका 'अर्करूप' है, जिसे '**परमेष्ठीमण्डल**' कहा जाता है। इस आपोमय--अर्कप्राणात्मक पारमेष्ठ्य मण्डल में प्रतिष्ठित सौर--चान्द्र--पार्थिवादि यच्चयावत् विवर्त्त ही इस की अशीतियाँ (भोग्य अन्न) हैं, जिनसे ही उक्थरूप पारमेष्ठ्य प्रजापति आप्यायित (परिपुष्ट) हैं—'**अशीतिभिर्महदुक्थमाप्यायते**'। परमेष्ठी प्रजापति का यह उक्थरूप मूलभाव ही '**अथर्वाप्रजापति**' है *।

४६३-अथर्वप्रजापति के अर्क, और अशीतियाँ, एवं महिमात्रयी से समन्वित पारमेष्ठ्य 'आपः' तत्त्व—

इस अथर्वाप्रजापतिरूप हृदयस्थ उक्थरूप से विनिर्गता आपोमयीं प्राणरश्मियाँ हीं इसके अर्क हैं, जिनके लिए--**आपो वा अर्कः**' (शत० १०।६।५।२।) यह कहा गया है। अर्करूप यह 'आपः' ही '**भृग्वङ्गिरा**' है। एवं भृग्वङ्गिरारूप इन प्राणार्कों के ही प्रवर्ग्य--भागों से उत्पन्न भृग्वङ्गिरोमय सौर--चान्द्र--पार्थिवादि--सम्पूर्ण सृष्ट विवर्त हीं इस '**उक्थ अथर्वा**' की अशीतियाँ हैं। तात्पर्य्य निवेदन का यही है कि, उसी पारमेष्ठ्य आपोरूप तत्त्व का केन्द्रस्थ उक्थमूलरूप '**अथर्वाप्रजापति**' है, मण्डलस्थ अर्करूप भृग्वङ्गिरोरूप पाश है, मण्डलभुक्त भृग्वङ्गिरोमय यच्चयावत् पदार्थ अशीतिरूप पशु है। यों एक ही अथर्वा **केन्द्र--मण्डल--मण्डलभुक्त**-पदार्थ-इन तीन संस्थानों के भेद से **अथर्वा--आपः**, **भृग्वङ्गिरोरूप--आपः,--भृग्वङ्गिरोमयी--आपः**-इन तीन महिमाभावों में परिणत होरहा है। मूलस्थ आप्यप्राणरूप अथर्वा ही भृगु--अङ्गिरारूप बना है। अतएव इसे **भृग्वङ्गिरा**, तथा **अथर्वाङ्गिरा**, दोनों नामों से व्यवहृत किया जासकता है। अतएव **अथर्वाङ्गिरसः**,--तथा **भृग्वङ्गिरोरूपम्**--रूपेण दोनों हीं व्यवहार प्रसिद्ध हैं।

४६४-'कालेऽयमथर्वाङ्गिरा देवः' मन्त्रभाग के चिरन्तनेतिवृत्त का समन्वय—

आप्यप्राण आप्य है, सौम्य है। यही क्योंकि 'अथर्वा' है। उधर अर्करूप भृगु, तथा--अङ्गिरा--दोनों आपोभावों में 'भृगु' अधिक सन्निकट है आप्यप्राणात्मक अथर्वा के--ऋत-समानधर्म्मत्त्वेन। अतएव मूल का 'अथर्वा' शब्द 'भृग्वङ्गिरा' के 'भृगु' के साथ तो समन्वित हो जाता है, किन्तु सत्याभिमुख अङ्गिरा के साथ नहीं। अतएव '**भृग्वङ्गिरा**' के स्थान में--'**अथर्वाङ्गिरा**' तो बोला जासकता है, किन्तु--'**भृग्वथर्वा**' नहीं। तात्पर्य्य यही है कि, केन्द्रस्थ आप्यप्राणरूप अथर्वा का अर्करूप ही 'भृगु' है। अतएव भृगु ने हीं तो इस

***—एवमेवास्य सर्व आत्मा समभवत्। तमथर्वाणं ब्रह्मा (स्वयम्भूः—त्रयीमूर्त्तिः) अब्रवीत्-'प्रजापतेः प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्व' इति, तस्मात् प्रजापतिरभवत्-अथर्वा। तत्प्रजापतेः प्रजापतित्त्वम्। अथर्वा वै प्रजापतिः।**

—गोपथ पू० १।४।

अथर्वा को ढूँढ निकाला है अङ्गिरा--प्राणात्मक 'वात' के माध्यम से। अतएव अथर्वोपाधि 'भृगु' को ही प्राप्त होजाती है। और यों अर्करूप आपोमय पारमेष्ठ्य 'भृग्वङ्गिरादेव' ही 'अथर्वाङ्गिरादेव' बन जाता है। 'कालेऽयमथर्वाङ्गिरादेवः' के अथर्वाङ्गिरा देवः' का यही संक्षिप्त चिरन्तन इतिवृत्त है।

४६५–प्रजापति के 'मेद' से उत्पन्न अथर्वाङ्गिरा, एवं आपोमय परमेष्ठी प्रजापति के पयः-आज्यम्-सोमः-मेदः-नामक तत्त्वों का पारिभाषिक-समन्वय—

प्रजापति के 'मेद' से अभिव्यक्त आपोमयरूप का ही नाम--'अथर्वाङ्गिरसः' है। कथमिति चेत्?, श्रूयताम्। आपोमय परमेष्ठी' ही 'अथर्वा' है 'अर्वाक्' भाव से, जबकि एतदेपक्षया 'प्राणमय स्वयम्भू' को 'पराक्' ही माना जायगा। वह पराक् है, तो (अथ) यह अर्वाक् है। इस 'अथ-अर्वाक्' (तो-अर्वाक्) भाव से ही तो पमेष्ठी प्रजापति 'अथार्वाक्' रूपेण 'अथर्वा' नाम से प्रसिद्ध होगए हैं। यह अर्वाग्रूप उस पराक् स्वयम्भू की ऋक्सामावच्छिन्ना यजुर्वाक् का ही तो सलिल (द्रुत) रूप है, जिस इस यजुर्वाक् से इस अर्वाग्रूप अथर्वा परमेष्ठी को उत्पन्न कर वह त्रयीमूर्त्ति-पराक्-स्वयम्भू इस अथर्वा-परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठारूप से प्रविष्ट हो रहा है। इस स्वयम्भुप्रवेश से यह अथर्वा चतुर्वेदात्मक बन जाता है, जो कि पारमेष्ठ्य चतुर्वेदतत्त्व इस आपोमय परमेष्ठी के क्रमशः पयः (दूध)–आज्यम् (घी)–सोमः (स्नेह–चिकनाई)–मेदः--(पुष्टिद्रव्य) इन नामों से प्रसिद्ध है। पारमेष्ठ्य ऋक् ही 'पयः' है, यजुः ही 'आज्यम्' है, साम ही सोम है, एवं अथर्वाङ्गिरारूप–'अथर्वा' नामक चतुर्थवेद ही 'मेद' है। यों उस प्रविष्टा त्रयी से, एवं स्व अथर्व से परमेष्ठी प्रजापति चतुर्वेदमूर्त्ति बन रहे हैं। तभी तो 'अथर्वाब्रह्मा' को चतुर्वेदात्मक माना गया है यज्ञकाण्ड में।

४६६–अथर्व–परमेष्ठी की चतुर्वेदता, तथा ज्येष्ठपुत्रता का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में श्रौतसन्दर्भ—

सचमुच वह स्वायम्भुव त्रयीवेद इस अथर्वा में सर्वप्रथम प्रतिष्ठित होता है। स्वयम्भू ब्रह्मा के प्रथम–पुत्र, अतएव ज्येष्ठपुत्र इस परमेष्ठी अथर्वा में हीं त्रयीवेद प्रतिष्ठित होता है सर्वप्रथम, जिसका अथर्वा–परमेष्ठी के माध्यम से ही आगे चलकर सौरमण्डल में गायत्रीमात्रिक--वेदत्रयी के रूप में व्यक्तीभाव हुआ है। अथर्व–परमेष्ठी की इसी चतुर्वेदता का, ब्रह्मा की ज्येष्ठपुत्रता का, एवं इसके त्रयीवेदानुगतत्त्व का निम्नलिखित वचनों से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

(१)–१–पय आहुतयो ह वाऽएता देवानां–यदृचः-(ऋग्वेद एव पयः पारमेष्ठ्यम्)।
२–आज्याहुतयो ह वा ऽएता देवानां-यद्यजूँषि (यजुर्वेद एव आज्यम्) ,,।
३–सोमाहुतयो ह वाऽएता देवानां-यत्सामानि (सामवेद एव सोमः) ,,।
४–मेदाहुतयो ह वा ऽएता देवानां-यदर्थर्वाङ्गिरसः (अथर्ववेद एव मेदः) ,,।
इति चतुर्वेदमूर्त्तिः-परमेष्ठी अथर्वा (शत० ११।५।६।४,५,६,७, कण्डिकाएँ)।

(२)—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ॥
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या-प्रतिष्ठां-अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा, तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।१,२,।

(३)—स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरे ऽस्यमहतो-भूतस्य निःश्वासितमेतत्, यत्—ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्वाङ्गिरसः।
—शत० १४।४।४।१०।

४६७-आपोमय परमेष्ठी की आर्द्रता, तन्मूला आर्द्रेन्धनता, तद्विनिर्गत धूम, एवं धूमभाव का त्रयीवेदत्त्व-समन्वय—

आर्द्र है आपोमय परमेष्ठी। प्रज्वलित आर्द्र ईंधन है अङ्गिरा। इनसे विनिर्गत धूम हीं ऋक्-यजुः-साम अथर्वाङ्गिरा नामक वे निःश्वास हैं उन स्वयम्भू ब्रह्मा के, जो उनके स्वयं के स्वयम्भू—मण्डलात्मक परमाकाश में व्यक्तरूप में परिणित रहते हुए इस आर्द्र-काष्ठाग्निरूप परमेष्ठी में हीं अभिव्यक्त हुए हैं। परमेष्ठी ही वह **'महान्भूत'** है, जिससे ये वेदनिःश्वास निकलते हैं। महान् है यह परमेष्ठी, अथर्वा है यह परमेष्ठी, जिस इस महान्-भूतरूप अथर्वपरमेष्ठी से ही यह ब्रह्मनिःश्वसिता वेदचतुष्टयी अभिव्यक्त हुई है ×। श्रुति के—**'एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य०'** का 'महान्भूत' यही परमेष्ठी अथर्वा है, जैसा कि—**"बुद्धेः' (सूर्य्यात्) आत्मा 'महान'** (परमेष्ठी) परः। महतः **'परमव्यक्तम्'** (स्वयम्भूः)' इत्यादि से स्पष्ट है। **'त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्'** श्रुति भी आपोमय परमेष्ठी में हीं तीनों स्वायम्भुव वेदों का विलयन मानती हुई इसे ही चतुर्वेदात्मक प्रमाणित कर रही है। *।

×-एवा 'महान्' बृहद्दिवो अथर्वावोचत् (ऋक् सं० १०।१२०।६।)।

*—प्रचण्ड तेजोमय-भृग्वङ्गिरोमय-सहस्रांशु भगवान् सूर्य्यनारायण की प्राणदपानलक्षणा लौह-अभ्रि-समतुलिता-सूक्ष्मातिसूक्ष्माग्रभागान्विता-ज्योतिर्म्मयीं प्राणरश्मियाँ हीं अपने प्राणदपानद्-व्यापार से उस पारमेष्ठ्य आपोमय समुद्र के अन्तस्तल में प्रवेश कर उस पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोरूप वेदसमुद्र में से उसके वेद-तत्त्व के साथ सम्बन्ध स्थापित कर रहीं हैं। इस सम्बन्ध से ही तो सूर्य्यनारायण गायत्रीमात्रिक-वेदमूर्त्ति बने हुए हैं—**'सैषा त्रय्येव विद्या तपति'**। घन पदार्थों में लौह अभ्रि (कुश) का सरलता से प्रवेश सम्भव है। क्योंकि घनपदार्थ भी घनावयव हैं, तो लौहमयी अभ्रि भी घनावयवा है। घनद्रव्य को कुरेदा जा सकता है घन-अभ्रि से अञ्जसा। किन्तु उस सलिलभावापन्न-तरल-आपोमय समुद्र में अभ्रि के द्वारा अप्-गर्भस्थ तत्त्व को खोज निकालना, कुरेद लेना अत्यन्त ही दुस्तर कर्म्म है। पानी में प्रविष्ट लौहदण्ड किसे कैसे खोजे ?, क्या कुरेदे ?। किन्तु सौररश्मियाँ ऐसी अभ्रियाँ हैं, जो अपनी सुसूक्ष्मा प्राणशक्ति से प्राणरूप उस वेदतत्त्व को कुरेद कुरेद कर निकाल ही तो लेतीं हैं, जो प्राणात्मक वेद पारमेष्ठ्य समुद्र में आपोरूप में परिणित हो कर सर्वथा

४६८–आपोमय परमेष्ठी की पुष्कररूपता, तदनुगत पुरभाव, पुष्करक्षेत्र में विराजमान ब्रह्मा, एवं ब्रह्मा के द्वारा प्रजापालन, तथा 'प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्व' श्रुति का समन्वय—

'आपो वै पुष्करम्' । इसलिए आपोमय परमेष्ठी का नाम 'पुष्कर' है कि, इस आपः से ही 'पुर' रूपा 'दिक्' का आविर्भाव होता है, दिक्–सीमा ही 'पुररूप' में परिणित होती है । इस 'पुर–कर' धर्म्म से ही पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व 'पुष्कर' कहलाया है, जिसके गर्भ में चतुर्वेदमूर्त्ति अथर्वा ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं । क्या कर रहे हैं इस 'पुष्करक्षेत्र' में विराजमान अथर्वा ब्रह्मा ? । वही कर रहे हैं, जो इनके जनक स्वयम्भूप्रजापति ने किया था । 'प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्व' ही आदेश मिला था इन्हें स्वयम्भूपिता से ।

४६९–भृगुधरातल पर अङ्गिरा का मन्थन, मन्थन से आविर्भूत सौर-सावित्राग्नि, तत्राहुत पारमेष्ठ्य सोम, तद्द्वारा 'यज्ञपथ' का स्वरूप-निर्म्माण, एवं मन्त्र-ब्राह्मणात्मक श्रौत-सन्दर्भ—

इस प्रजासृष्टि के लिए अथर्वा ब्रह्मा अपने भृगुधरातल पर अङ्गिरा का मन्थन करने लग पड़ते हैं । इस अङ्गिरारूप आर्द्र–इन्धन के मन्थन से जो व्यक्तभाव विनिर्गत होता है, उसी अग्रजन्मा आङ्गिरस–व्यक्तभाव का नाम है–अग्नि, सौराग्नि, जिसमें भार्गव सोम को आहुत करते रहते हैं अथर्वा ब्रह्मा । अग्नि में यों सोम की आहुति होने से इस अग्नीषोमात्मक–'यज्ञपथ' से सर्वप्रथम व्यक्त सूर्य्यनारायण ही प्रादुर्भूत हो पड़ते हैं । यों अथर्वा के द्वारा ही भृग्वङ्गिरोमयी 'आपः' के मन्थन–आहुति–रूप–यज्ञकर्म्म से सम्पूर्ण प्राजाओं का स्वरूप

अप्राप्त ही बन रहा है स्थूल-माध्यमों से । एवमेव अपने स्थूल–भूत–कर्म्म से, मानसिक–शारीरिक–प्रयासों से कदापि उस वेदतत्त्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं है । अपितु यह कर्म्म तो सूर्य्यप्रतिमारूपा बुद्धि के सत्त्वानुगत सुतीक्ष्ण–अभ्रि–रूप–प्राणदपानल्लक्षण–महान् तप पर ही अवलम्बित है, जिसके द्वारा ही सत्त्वबुद्धिनिष्ठ देवमानव उन सौर देवप्राणों की भाँति उसे कुरेद निकालने में समर्थ बनते हैं, जहाँ–जिस परमेष्ठी में कि वह सर्वसंसाधक 'निर्वपण' (धरोहररूप वेदतत्त्व) प्रतिष्ठित है पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिराओं के द्वारा । इसी तथ्य का भगवती श्रुतिने इस प्राणवती ओजस्वती–वीर्य्यवती भाषा में पूर्वोक्त अधिदैवत-तत्त्व के साथ अध्यात्मतत्त्व का समन्वय करते हुए यों यशोगान किया है कि—

अपां त्वा ज्योतिषि सादयामि, अपां त्वायने सादयामि, अर्णवे त्वा सदने सादयामि, समुद्रे त्वा सदने सादयामि-इति । मनो वै समुद्रः । मनसा-उ-वै समुद्राद्वाचा देवास्त्रयीं विद्यां निरखनन् । तदेष श्लोकः–अभ्युक्तः–

ये समुद्रान्निरखनन्–देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः ।
सुदेवो ऽअद्य तद्विद्याद्यत्र निर्वपणं दधुः ॥

—शतपथब्रा० ७।५।२।४६-५२

निर्म्माण हुआ है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए इन मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुतियों को। एवं अपनी सुतीक्ष्णा अभि से इनका स्वयं ही समन्वय कीजिए।

(१)-यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥
—ऋक्संहिता १।८३।५।

(२)-त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥
—ऋक्सं० ६।१६।१३।

(३)-अग्निर्जातो अथर्वणा विद्वद्विश्वानि काव्या।
भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे ॥
—ऋक्सं० १०।२१।५।

(४)-प्राणो वा अथर्वा। प्राणो वा ऽएतमग्रे निरमन्थत्। तत्-योऽसावग्रेऽग्निर-सृज्यत-सोऽग्निः। आपो वै पुष्करम्। प्राणोऽथर्वा। प्राणो वा ऽएतमग्रे अद्भ्यो निरमन्थत्-विश्वस्य मूर्ध्नः।
—शत० ६।४।२।१,२ कण्डिका।

४७०–अथर्ववेद, और अथर्व का स्वरूप-परिचय, तन्मूलक अथर्वाङ्गिरा, और भृग्वङ्गिरा, तदनुगत पितरप्राण, एवं पितरप्राणमूर्त्ति भृग्वङ्गिरोमय अथर्वा से चन्द्रमा का आविर्भाव—

वेदत्रयी-गर्भित आपोमय वेदतत्त्व का ही नाम 'अथर्वा' है, यह पूर्वसन्दर्भ से स्पष्ट होजाता है। अग्निवेद ही त्रयीवेद है, सोमवेद ही चतुर्थवेद है। त्रयीवेद 'ऋग्यजुःसाम' है, चतुर्थवेद 'अथर्ववेद' है, तन्मूर्त्ति आपः परमेष्ठी ही अथर्वा है। त्रिवेदगर्भित--चतुर्थवेदमूर्त्ति, अतएव चतुर्वेदमूर्त्ति परमेष्ठी–गर्भस्थ इस प्राणात्मक अथर्वा प्रजापति उक्थ के अर्करूप आपोभाव ही भृग्वङ्गिरा हैं, जिनके अथर्वाङ्गिरा–भृग्वङ्गिरा–दोनों हीं विवर्त्त समन्वित हैं। पारमेष्ठ्य अङ्गिरा से समन्वित आङ्गिरस प्राण, एवं पारमेष्ठ्य भृगु से समन्वित अथर्वाणः--भृगुप्राण, दोनों हीं पारमेष्ठ्य 'पितरप्राण' कहलाए हैं, जिन में भार्गव पितर 'अन्नपितर' कहलाए हैं अपने सोमधर्म्म से, एवं आङ्गिरस पितर 'अन्नादपितर' कहलाए हैं अपने अग्निधर्म्म से *। सोमाग्निभाव से सौम्य--आग्नेय--पितरों के प्रवर्त्तक, वायुभाव से गन्धर्वों

* अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥
—ऋक्सं० १०।१४।६।

के प्रवर्त्तक, एवं वारुण आपोभाव से असुरों के प्रवर्त्तक, तदित्थं सर्वप्रवर्त्तक पारमेष्ठ्य हृद्य अथर्वा से अभिन्न पारमेष्ठ्य 'भृग्वङ्गिरा' का नाम हीं है-'अथर्वाङ्गिरा', जिसका दूसरा अवतार होता है-रोदसीत्रिलोकी के अन्तरिक्ष में चन्द्रमा के रूप में।

४७१-सौरदेवयज्ञाधिष्ठाता पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरा नामक ब्रह्मा, पार्थिवदेवयज्ञाधिष्ठाता चान्द्र अथर्वा नामक ब्रह्मा, एवं 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः' इत्यादि यजुःश्रुति का समन्वय—

सौर--देवयज्ञ के ब्रह्मा यदि पारमेष्ठय **'अथर्वाङ्गिरारूप अथर्वा'** हैं, तो चान्द्र--पार्थिव--भूतयज्ञ के ब्रह्मा केवल चान्द्र **'अथर्वा'** हैं। **'ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु'** के अनुसार 'चन्द्रमा' हीं कृष्ण ब्रह्मा हैं--(**चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः**--शतपथ०)। और यह चन्द्रमा है केवल अथर्वमूर्त्ति, सोममूर्त्ति। 'अथर्वाङ्गिरा' रूप अथर्वा यदि आपोमय पारमेष्ठय-सरस्वान्--समुद्र में आपोरूप से परिभ्रममाण है, तो अथर्वारूप यह चन्द्रमा अर्णवसमुद्र में चङ्क्रममाण है।

४७२-आधिदैविक--यज्ञाधिष्ठाता चन्द्रमा ब्रह्मा, एवं आध्यात्मिक-यज्ञाधिष्ठाता मनो-ब्रह्मा--

वह यदि स्वायम्भुवी त्रयी से चतुर्वेदात्मक है, तो यह अपने पार्थिव-चान्द्र-ऋतसम्वत्सर के चारों लोकों के चारों वेदों से चतुर्वेदात्मक बन रहा है। वह आपोमूर्त्ति ब्रह्मा है, तो यह भी आपोमूर्त्ति ब्रह्मा ही है, जैसाकि-**"चन्द्रमा ह्यापः'** (तै० ब्रा० १'७।६।३।)-**'असौ वै चन्द्रः प्रजापतिः'** (शत० ६।२।२।१६।)-**'चन्द्रमा वै ब्रह्मा-अधिदैवं,-मनोऽध्यात्मम्'** (गोपथ० पू० ४।२।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। दोनों में अन्तर केवल 'अङ्गिरा' धर्म्म का है।

४७३-पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरा का, तथा चान्द्र अथर्वा का कालाश्रयत्त्व—

पारमेष्ठ्य अथर्वा जहाँ अङ्गिरा से भी समन्वित है, वहाँ यह चान्द्र अथर्वा अङ्गिरा से पृथक् रहने वाला केवल भार्गव सोमपिण्डात्मक 'अथर्वा' ही है। अतएव उस अथर्वा को जहाँ **'अथर्वाङ्गिरादेव'** कहा जायगा, वहाँ इस चान्द्र अथर्वा को **'अथर्वा पितर'** ही * माना जायगा। इस केवल सोमरूपता से ही तो चन्द्रमा को **'अन्न'** मान लिया है श्रुति ने ÷। इस एक अन्तर के अतिरिक्त **परमेष्ठी अथर्वा**, तथा **चन्द्रमा अथर्वा**, दोनों का स्वरूप सर्वात्मना समतुलित है। तभी तो-**'सत्त्वादधि महानात्मा'** (**सत्त्वात्-मनसः-अधि-महानात्मा-परमेष्ठी**) कहना अन्वर्थ बनता है। इस एक अन्तर को व्यक्त-सूचित करने के लिए ही ऋषि ने पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोरूप अथर्वा को **'अथर्वाङ्गिरादेव'** कहा है, एवं केवल चान्द्र-भृगु-अथर्वा को **'अथर्वा'** कहा है। ये दोनों हीं अथर्वा उस काल में हीं प्रतिष्ठित हैं। 'कालेऽयमथर्वाङ्गिरा देवो-

---

*-विधूर्ध्वभागे पितरो बसन्ति।

÷-एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमाः।

ऽथर्वाचाधितिष्ठतः'। अर्थात् परमेष्ठी, और चन्द्रमा, दोनों स्वायम्भुव-परमाकाशरूप काल में हीं प्रतिष्ठित हैं।

४७४-अथर्वाङ्गिरा, एवं अथर्वा के आश्रयभूत स्वायम्भुव परमाकाशात्मक अव्यक्त काल के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक प्रश्न—

क्या परमेष्ठी ('अथर्वाङ्गिरादेव), एवं चन्द्रमा (अथर्वा), इन दो के अतिरिक्त उस स्वायम्भुव परमाकाशात्मक काल में और कोई दूसरा प्रतिष्ठित नहीं है ?, प्रश्न का समन्वय कीजिए आप अपनी पारिभाषिकी सत्त्वप्रज्ञा से ही। **अष्टम**, तथा **नवम**, इन दोनों कालसूक्तों के द्वारा महर्षि **काल**, और **कालमहिमा**, इन दो विवर्त्तों का ही सर्वात्मना स्पष्टीकरण कर रहे हैं। दश-मन्त्रात्मक अष्टम—कालसूक्त से ऋषि ने 'काल' की स्वरूप-व्याख्या उपस्थित की। एवं प्रक्रान्त-नवम सूक्त के आरम्भ के चार मन्त्रों से क्रमशः **स्वायम्भुव-कालमहिमा** (तदनुगत पारमेष्ठ्यकालमहिमा)--**सौरसम्वत्सरकालमहिमा**--**पार्थिवसम्वत्सरकालमहिमा**--**चान्द्रसम्वत्सरकालमहिमा**--इन चार कालमहिमाओं का स्वरूप-निरूपित हुआ। और यों अष्टम सूक्त के-'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः' इत्यादि प्रथम (१) मन्त्र से आरम्भ कर नवमसूक्त के-'**कालो यज्ञं-समैरयत्०**' इत्यादि चतुर्थ (४) मन्त्रपर्य्यन्त—१४ मन्त्रों से महर्षि के द्वारा काल, और कालमहिमा का अथ से इति पर्य्यन्त जब निरूपण हो चुका, तो अब वह कौनसी समस्या शेष रह गई काल के काल, और कालिक-भावों के सम्बन्ध में, जिस के लिए ऋषिदृष्टि में—'**कालेऽयमथर्वाङ्गिरादेवः०**' इत्यादि रूप से एक अपूर्व मन्त्र का दर्शन करना आवश्यक बना ?, इस प्रश्न का जो समाधान है, वही समाधान तथाकथित उस प्रश्न का है कि-"**क्या काल में पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरादेव के, तथा चान्द्र अथर्वा के अतिरिक्त और कोई अधिष्ठित प्रतिष्ठित नहीं है ?**"।

४७५-यज्ञसृष्टि-लोकसृष्टि-प्रजासृष्टि-मैथुनीसृष्टि-आदि सृष्टियों के उपक्रम-स्थानीय पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरादेव, एवं उपसंहार-स्थानीय चान्द्र अथर्वा—

आरम्भ में हीं निवेदन किया जा चुका है कि, यह पन्द्रहवाँ (किंवा सूक्तानुसार पाचवाँ) मन्त्र समष्टि-रूप से सिंहावलोकन-दृष्टया काल, और कालमहिमा, दोनों विवर्त्तों का अथ से इति पर्य्यन्त दिग्दर्शन करा रहा है। विश्वानुबन्धी योगमायावच्छिन्न काल का स्वरूप है-'स्वयम्भूरूप **परमाकाशकाल**'। इस काल से अभिव्यक्त काल के जितने भीं महिमामय कालिक विवर्त्त हैं, सब का आदिभूत विवर्त्त परमेष्ठी है, एवं अन्तभूत विवर्त्त चन्द्रमा है। मैथुनीसृष्टि का नाम, अग्नीषोमात्मिका यज्ञसृष्टि का नाम हीं लोकसृष्टि, है, जिस 'लोक-सृष्टि' में लोक, और लोकी प्रजावर्ग—दोनों समन्वित हैं *। यही स्वयम्भूकाल की कालमहिमारूपा कालिक-सृष्टि है। इस कालिकसृष्टि—**मैथुनीसृष्टि**—**यज्ञसृष्टि**--**लोकसृष्टि**--**प्रजासृष्टि**—का उपक्रमस्थान (आदिस्थान) है परमेष्ठीरूप **अथर्वाङ्गिरादेव**, एवं उपसंहारस्थान (अन्तिम—निधन स्थान) है चन्द्रमारूप अथर्वा। उप—

*—'लोकस्तु भुवने—जने'—के अनुसार लोकशब्द भुवनात्मक '**लोक**', तथा 'जन' ('प्रजा')-दोनों का संग्राहक है।

क्रमोपसंहार-स्थानीय इन परमेष्ठी-चन्द्रमा-रूप दोनों अथर्वाओं के संग्रह से सम्पूर्णा कालिकसृष्टि संगृहीत हो जाती है। यों 'काले' इस सप्तम्यन्त पद से जहाँ कालस्वरूप संगृहीत हो जाता है, वहाँ '-**अथर्वाङ्गिरादेवः-अथर्वा चाधितिष्ठतः**' इस वाक्य से सम्पूर्ण कालमहिमा परिगृहीत हो रही है। इसी समष्ट्यात्मक-काल, तथा कालमहिमा को लक्ष्य बनाते हुए ऋषिने कहा है—

"कालेऽयमथर्वाङ्गिरादेवः, अथर्वा चाधिष्ठतः" ।

४७६-प्राजापत्या वल्शा की अमृत-मृत्यु-लोकता का दिग्दर्शन, तन्निबन्धन अमृतमूर्त्ति अविपरिणामी अक्षर, मृत्युमूर्त्ति परिणामी क्षर, एवं तन्मूलक-'इमं च लोकं, परमं च लोकम्' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अब दो शब्दों में मन्त्र के उत्तरभाग का भी समन्वय कर लीजिए, जो पूर्वभाग का ही स्पष्टीकरण है। पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शा-से कृतरूप-सम्पन्न-निष्पन्न इस महाविश्व को हम **मृत्युलोक, अमृतलोक**-इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। जिस लोक में **परिवर्त्तनशील-भूतयोनि-विपरिणामी-विस्रंसन-विशकलनशील** 'क्षर' की प्रधानता रहेगी, उसे ही 'मृत्युलोक' कहा जायगा। एवं जिस लोक में **अपरिवर्त्तनीय-भूतभावन-अविपरिणामी-विस्रंसनाधारभूत-'अक्षर'** की प्रधानता रहेगी, उसे ही 'अमृतलोक' माना जायगा। क्षरानुगत भूतप्रधान लोक ही मृत्युलोक होगा, एवं अक्षरानुगत प्राणप्रधान लोक ही अमृतलोक होगा। चान्द्र प्राणी जहाँ भूतलोकात्मक मृत्युलोक-चक्र में चङ्क्रमण करता रहेगा, वहाँ प्राणवान्-प्राणरूप सौर मानव प्राणलोकात्मक अमृतलोक का अधिकारी बना रहेगा। क्षरात्मक भूत जहाँ अपनी धामच्छदा स्पृश्या-दृश्या-मर्य्यादा से अङ्गुलि-निर्देश का लक्ष्य बनता हुआ-**'इमम्'** लोक कहलाएगा, वहाँ अक्षरप्राण अपनी अधामच्छदता से अनिरुक्त **'परमम्'** लोक कहलाएगा। सहजभाषा-में क्षरलोक ही **'इमंलोकम्'** माना जायगा, एवं अक्षरलोक ही **'परमंलोकं'** कहा जायगा। अतएव अक्षर का पारिभाषिक नाम व्यवहारभाषा में-**'परमब्रह्म'** नाम से प्रसिद्ध हो गया है * । अतएव तत्प्रधान अमृतलोक को अवश्य ही **'परमलोक'** (**'अक्षरलोक'**) कहा जा सकता है

४७७-महदक्षरब्रह्म का संस्मरण, तद्रूप 'बृहदिव' महान् अथर्वा, एवं 'एष वै मृत्युर्यत्सम्वत्सरः' श्रुति का समन्वय—

पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरादेव का ही आध्यात्मिक नाम है **'महानात्मा'**, जिस में चिदात्मपुरुष लक्षण अव्ययात्मा चिदंशरूप (जीवरूप) से अभिव्यक्त हुआ करते हैं। भूत, तथा भविष्यत्-के अधिष्ठाता इस महानात्मा का नाम हीं है-**'महदक्षरब्रह्म'**,जैसाकि-**'भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्'** इत्यादि रूप से पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। इसप्रकार महदक्षरमूर्त्ति पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरादेव ही **'महान्-देव'** प्रमाणित हो रहे हैं अपने इस महदक्षरधर्म्म से, जैसा कि-**'एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वा'** (ऋक्सं०-

---

***-अक्षरं ब्रह्म परमम्** । (गीता)

१०।१२०।६।) इत्यादि से भी स्पष्ट है । इसी परम–अक्षर–भाव से अथर्वाङ्गिरादेव परमलोकात्मक–अमृत–लोक प्रमाणित हो रहे हैं । ठीक इस के विपरीत इसी अथर्वाङ्गिरा के केवल अथर्वाभृगु के प्रवर्ग्यभूत अथर्वा चन्द्रमा अपनी क्षरप्रधान्ता से मृत्युधर्म्मा प्रमाणित हो रहे हैं । अतएव क्षरप्रधान चान्द्रसम्वत्सर के **अग्नि-वायु-आदित्य-चन्द्रमा** नामक चारों हीं सौम्य-लोकविवर्त्त 'मृत्यु' कहलाए हैं, जैसा कि–'**अथैत एव मृत्यवो-यदग्निर्वायु–रादित्यश्चन्द्रमाः । ते ह पुरुषं जायमानमेव मृत्युपाशैरभिदधति**' (जै० उप० ४।६।)–'**एव वै मृत्युर्यत्सम्वत्सरः–चान्द्रः**' (शत० १०।४।३।१।) इत्यादि से स्पष्ट है ।

४७८–अपुनर्म्मार–कामप्र- अशोकमहिम–नामक लोकों का संस्मरण, एवं-अमृत–मृत्यु-लोकों का स्वरूप-समन्वय—

वस्तुस्थिति ऐसी है कि, पञ्चपर्वा विश्व में '**स्वयम्भू**' तथा '**परमेष्ठी**', इन दो लोकों का एक अमृत–लोक विभाग है, जो कि वैदिक परिभाषा में–'**अपुनर्म्मार**' लोक कहलाया है, जिस का परमेष्ठी-विवर्त्त '**काम-प्रलोक**' कहलाया है, एवं स्वयम्भू विवर्त्त '**अशोकमहिम**' कहलाया है * । इस ओर के **चन्द्रमा**, तथा भूपिण्ड, इन दो लोकों का एक मृत्युलोक–विभाग है । द्विपर्वात्मक, किंवा द्विलोकात्मक अमृतलोक विश्वम-ध्यस्थ सूर्य्य से परस्तात् (ऊपर) है, एवं द्विपर्व–द्विलोकात्मक मृत्युलोक सूर्य्य से अवस्तात् (नीचे) है । स्वयं सूर्य्य अपने अक्षरात्मक अमृतप्राणधर्म्म से परस्तात् बनता हुआ अमृतलोक है, तो यही अपने क्षरात्मक मर्त्य-क्षरधर्म्म से अवस्तात् बनता हुआ मृत्युलोक भी है । उस ओर की अमृतलोकद्वयी का, तथा इस ओर की मृत्युलोकद्वयी का अपनी मध्यस्थिति से नियमन रखता हुआ मध्यस्थ सूर्य्य अमृत भी है, मृत्यु भी है, जैसा कि–'**आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च**' इत्यादि यजुर्म्मन्त्र से प्रमाणित है ।

४७६–अमृता लोकत्रयी, और मर्त्या लोकत्रयी, एवं-' इमं च लोकं–परमं च लोकम्' इत्यादि मन्त्रभाग का तात्त्विक–समन्वय—

अमृत सूर्य्य से नीचे नीचे **मर्त्यभूत सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड** तीनों मर्त्यलोक हैं, जैसा कि–'**तद्यत्–किञ्चार्वाचीनमादित्यात् (अमृतसूर्य्यात्)–सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्**' इत्यादि से स्पष्ट है। एवं इस मृत्युसंस्थान से ऊपर के **अमृतसूर्य्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू**-इन तीनों की समष्टि ही 'अमृतलोक' है । यों अमृत–मृत्यु–नामक इमं–परमं–रूप दो लोकों के तीन तीन अवान्तर लोक बन रहे हैं । अमृता-लोकत्रयी का प्रधान–मध्यस्थ भाव मध्यस्थ परमेष्ठीरूप **अथर्वाङ्गिरादेव** है, तो मर्त्या लोकत्रयी का प्रधान–मध्यस्थ–भाव मध्यस्थ चन्द्रमारूप **अथर्वा** है । यों अपनी मध्यस्थता से दोनों अथर्वातत्त्व अमृतलोकत्रयीरूप '**परमलोक**' तथा मर्त्यलोकत्रयीरूप '**इमंलोक**' के संग्राहक बन रहे हैं । जिसप्रकार अथर्वाङ्गिरा, तथा अथर्वा काल में प्रतिष्ठित हैं, तथैव इन दोनों के द्वारा परिगृहीत अमृत–मर्त्यलोक भी काल में हीं प्रतिष्ठित हैं इन दोनों मध्यस्थों के माध्यम से । '**इमं च लोकं,-परमं च लोकम्**' इस मन्त्रभाग का यही अक्षरार्थ-समन्वय है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

***–यन्न दुःखेन सम्भिन्नं यच्च ग्रस्तमनन्तरम्**
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वः-पदास्पदम् ॥ (स्वयम्भूः) ।

१–स्वयम्भूः—अमृतम् २–परमेष्ठी—अमृतम् ३–प्राणसूर्य्यः—अमृतम्	—अथर्वाङ्गिरादेवः परमेष्ठी —अमृतलोकसाक्षी	—अमृतलोकत्रयी–परमं च लोकम्
१–भूतसूर्य्यः—मृत्युः २–चन्द्रमाः—मृत्युः ३–भूपिण्डः—मृत्युः	—अथर्वा–चन्द्रमाः —मृत्युलोकसाक्षी	—मृत्युलोकत्रयी–इमं च लोकम्

४८०–कालमहिमा से समन्वित काल-दिक्-देश-प्रदेश-भावों का संस्मरण, एवं कालानुबन्धिनी लोक-लोकी-लोक-व्यवधान-त्रयी-का दिग्दर्शन—

दिक्-देश-प्रदेशात्मक भूत-भौतिक- विवर्त्तों का नाम हीं है कालमहिमा। काल की अभिव्यक्ति दिग्रूप में, दिक् की अभिव्यक्ति देशरूप में, एवं देश की अभिव्यक्ति प्रदेशरूप में हुआ करती है। और यों काल ही इन तीनों कालिक भावों में परिणत हो जाता है। कालिक **दिग्भाव, तदनुगत देशभाव, एवं तदनुगत प्रदेशभाव,** ये तीन विवर्त हो जाते हैं कालमहिमा के, जो क्रमशः **लोक, लोकी, लोकव्यवधान**- इन तीन भावों से अनुप्राणित माने जासकते हैं। तीनों हीं लोक हैं, तीनों हीं लोकी हैं, तीनों हीं लोकव्यवधान हैं। अतएव लोक शब्द तीनों विवर्त्तों का संग्राहक बन रहा है। भुवनात्मक लोक दिग्रूप है, प्रजात्मक लोक देशरूप हैं, एवं व्यवधानात्मक लोक प्रदेशरूप हैं। बात थोड़ी सूक्ष्म है, अतएव समझने जैसी है।

४८१–दिगनुगत छन्द, देशानुगत देवता, प्रदेशानुगत पशु–भावों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं-'छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः' इत्यादि श्रुति का संस्मरण—

दिक्-देश-प्रदेश, इन तीन कालविवर्त्तों से क्रमशः छन्द, देवता, पशु–इन तीन भावों का उद्गम होता है। सीमाभाव का नाम ही छन्द है। सीमित उस तत्त्व का नाम हीं देवता है, जिसके द्वारा वस्तुस्वरूप सुरक्षित रहता है। एवं सीमित (छन्दित) वस्तुभाव का वह भाग ही पशु है, जो पदार्थों से विस्रस्त–विशकलित होता रहता है, जिस विशकलन से वस्तुस्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। छन्दोमय दिग्भाव ही उस पदार्थ का लोक, किंवा 'पुर' है, जिसमें वह पदार्थ प्रतिष्ठित रहता है। एवं यह छन्दोमहिमारूपा 'दिक्'

महिमा उस पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरादेव की ही महिमा है। पारमेष्ठ्य आपोमय अथर्वा, किंवा अथर्वारूप आपः ही अपने 'पुरकर' रूप 'पुष्कर' भाव से छन्दोरूप 'दिक्' भाव का प्रवर्त्तक बनता है, जैसा कि 'छन्दांसि वै दिशः' (शत० ८।३।१।१२।)-'रसो वै छन्दांसि' (शत० ७।३।१।३।७।) 'छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः' (तै० ब्रा० ३।२।६।३।)-इत्यादि निगमों से स्पष्ट है। **पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-दिशः** के 'दिशः' का अर्थ '**आपः**' ही है, एवं यही छन्दोमय पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरादेव है। इस छन्दोमय-आपोमय-दिङ्मय-पुरभाव का नाम हीं 'लोक' रूप लोक है, जिसे '**भुवनानि**' कहा गया है। सम्पूर्ण लोक-(भुवन) आपोमय ही हैं, छन्दोमय ही हैं, दिङ्मय ही हैं, पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरामय ही हैं।

४८२-लोकछन्दों में प्रतिष्ठित लोकीरूप 'जन' शब्द की स्वरूप-परिभाषा—

तथाविध लोकरूप छन्दोरूप दिग्भाव से छन्दित सीमित अभिव्यक्त वस्तुभाव ही 'देशभाव' है, मूर्त्तभाव है। यह व्यक्त मूर्त्त-भाव व्यक्त-मूर्त्त-सूर्य्यनारायण पर ही अवलम्बित है। लोक में प्रतिष्ठित देश ही लोकी प्रजा है, जिसे 'जन' कहा गया है, सन्तति माना गया है प्रजापति की-(**प्रजा स्यात् सन्ततौ जने**)। '**नूनं जनाः-सूर्य्येण प्रसूताः-अयन्नर्थः कृण्वन्नपांसि**' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार सूर्य्य के द्वारा ही आपो धरातल पर जनरूपा प्रजासृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है, जिस प्रजासृष्टि के अनेक वर्गभेद हैं। देशात्मक यह प्रजासर्ग ही जनरूप लोक है, जो भुवनरूप लोकों में प्रतिष्ठित है। अतएव भुवन, और भुवन-प्रतिष्ठ जन, दोनों के साथ 'लोक' शब्द का सम्बन्ध हो गया है, जैसा कि-'**लोकस्तु भुवने जने**' इत्यादि से स्पष्ट है।

४८३-प्रदेशानुगत-'यदपश्यत्' लक्षण 'पशु' शब्द की स्वरूप-परिभाषा—

भुवनात्मक लोक ही 'दिक्' है, इसका मूल आपोमय परमेष्ठी है। जनात्मक लोक ही 'देश' है, इसका मूल वाङ्मय सूर्य्य है। और अब शेष रह जाता है पशुरूप प्रदेशभाव। प्रजात्मक जड़-चेतन-पदार्थों में जो एकप्रकार का व्यवधान-पार्थक्य-विभेद-प्रतीत होता रहता है, उसीका नाम है 'प्रदेश'। प्रदेश ही पदार्थों के पार्थक्य की मूलप्रतिष्ठा बना रहता है। पदार्थों से विस्रस्त-विशकलित होने वाला प्रवर्ग्य भाग ही पदार्थों के परिवर्त्तनभावों का बीज है। यह प्रवर्ग्यात्मक परिवर्त्तन हीं पदार्थों का वह पशु भाग है, जो प्रदेशरूप से हमारी दृष्टि का विषय बना करता है। इस '**अपश्यत्**' धर्म्म से ही परिवर्त्तन-शील-प्रदेशात्मक-इस पशु को-'**पशु**' कहा गया है-(**यदपश्यत, तस्मात् पशुः**-शत० ६।१ २।१।)। प्रदेश-प्रवर्ग्य-परिवर्त्तन-पशु-आदि अंशतः समानार्थक शब्द हैं।

४८४-चन्द्रमानुगत 'पशुभाव', तन्मूलक प्रदेशात्मक प्रान्तभाव, एवं तन्मूला प्रदेशात्मिका प्रान्तीयता —

यह पशुभाव 'चन्द्रमा' से ही सम्बन्ध रखता है। अध्यात्म में भी सौरी बुद्धि जहां देशात्मक पदार्थ को पकड़ती है, वहाँ चान्द्र मन प्रदेश का ही संग्राहक बनता है। देशभाव अनन्त है, प्रदेशभाव सादिसान्त है, जिसे व्यवहारभाषा में 'प्रान्त' कहा गया है। देश राष्ट्र है, विश्व है। प्रदेश अवयव है देश के, राष्ट्र के, विश्व के। मानवीया बुद्धि जहाँ विश्वानुबन्धिनी राष्ट्रीयता का अनुगमन करती है, वहाँ मानवीय मन देशावयभूत

प्रान्त का ही अनुगामी बना रहता है, जिसे व्यवहारभाषा में 'प्रान्तीयता' कहा गया है। देशस्वरूपसंग्राहिका प्रान्तीयता जहाँ समादरणीया है, वहाँ देशस्वरूपविघातिका प्रान्तीयता सर्वथैव त्याज्या है। तथैव प्रान्तीयता की उपेक्षा करने वाली राष्ट्रीयता का भी कोई अर्थ नहीं है। सर्वथा देश, और प्रदेश, बुद्धि, और मनु, इन दोनों का महानूरूप दिग्धरातल पर सामञ्जस्य रखने से ही मानव का कालात्मक प्राकृत स्वरूप सुव्यवस्थित रह सकता है।

४८५–पशुभाव के माध्यम से प्रजा के पार्थक्यबोध का समन्वय—

वक्तव्यांश केवल यही है कि, प्रदेशात्मक भाव ही पदार्थ का पशुभाव है। एवं चन्द्रमा हीं इसकी आधारभूमि है। इसप्रकार आपोमय परमेष्ठी, वाङ्मय सूर्य्य, अन्नमय चन्द्रमा, ये तीन विश्वपर्व क्रमशः दिक्-देश-प्रदेश-रूप छन्द–देवता-पशु–इन तीन कालमहिमाओं के प्रवर्त्तक बने रहते हैं। दिग्भाव ही लोक है, देशभाव ही जनात्मिका **प्रजा** है, पशुभाव ही इनका **पाथक्यबोध** है। दिग्रूप लोक है, देशरूपा प्रजा 'पुण्यलोकाः' है, प्रदेशरूप पार्थक्यबोध ही **विधृति है**। इन तीनों का ही मन्त्रोद्धरार्द्ध में संग्रह हुआ है।

४८६–इमं-परमं लोक–पुण्यलोक, पुण्या विधृति, त्रयी का स्वरूप-समन्वय, एवं तन्माध्यम से सम्पूर्ण कालिक-विवर्त्त का संग्रह—

'सर्वे देवाः पुण्याः' (शत० ४।५।४।१)–'पुण्यः पुण्येन कर्म्मणा' (शत० १३।५।४।३) इत्यादि वचन प्रजारूप जन को ही 'पुण्यलोक' बतला रहे है। व्यवच्छेदात्मक उस प्रदेश का ही नाम विधृति है, जो पदार्थों को परस्पर विभिन्न करती है, विभिन्नरूपेण प्रतीत कराती है (देखिए–शत० १०।५।२।६।)। लोक, लोकी, और लोक-लोकी का व्यवधान, एवं लोकियों का पारस्परिक प्रदेशात्मक व्यवधान, तीनों के लिए ही यहाँ क्रमशः **इमं च लोकं परमं च लोकं**–**पुण्यांश्च लोकान्**, **विधृतीश्च पुण्याः**' ये तीन वाक्य प्रयुक्त हुए हैं, जिन तीनों से क्रमशः पारमेष्ठ्य **दिग्भाव**, सौर **देशभाव**, एवं चान्द्र **प्रदेशभाव**, ये तीन **छन्द-देव पशु**–नामक कालमहिमाविवर्त्त हीं परिगृहीत हैं। नातोऽन्यत् किञ्चिदस्ति। इन तीन विवर्त्तों में सम्पूर्ण कालिकभाव अथ से इति पर्य्यन्त समाविष्ट हैं। इन्हीं तीनों का संग्रह करते हुए ऋषिने कहा है—

(१)–इमं च लोकं, परमं च लोकम्—पारमेष्ठ्य–दिग्भावः (छन्दांसि)	**—लोकः**
(२)–पुण्यांश्च लोकान्————सौरदेशभावान् (देवाः)	**—प्रजाः**
(३)–विधृतीश्च पुण्याः————चान्द्रप्रदेशभावान् (पशवः)	**—व्यक्तित्वाभिव्यक्तिः**

४८७–पञ्चम [१५] मन्त्रार्थसमन्वयोपराम—

लोकात्मक (दिगात्मक) लोकों को, प्रजात्मक (देशात्मक) लोकों को, एवं अभिव्यक्तिभावात्मक लोकों-प्रदेशों को, इन सब लोकभावों को, दिग्देशप्रदेश–विवर्त्तों को परमाकाशात्मक, ब्रह्मनिःश्वसितवेदमूर्त्ति

अव्यक्त स्वयम्भूब्रह्म के द्वारा अपने अधिकार में (स्वायम्भुवी परमाकाशसीमा में) प्रतिष्ठित कर वह महद-क्षरमूर्त्ति, अतएव **'परमदेव'** (अक्षरदेव) नाम से प्रसिद्ध कालपुरुष ही अनाद्यनन्तरूप से अलातचक्रवत्-अनेजत्-अविकम्पित-रूप से ही एजत्-गतिशील बन रहा है, जिस इस महान् कालचक्र से कोई भी कालिक-पदार्थ पृथक् नहीं है। इसी माङ्गलिक संस्मरण के साथ अष्टम सूक्त के-**'कालः स ईयते प्रथमो नु देवः'** इस अन्तिम मन्त्र के द्वारा महर्षि सूक्त को विश्रान्त कर रहे हैं। और इस महामाङ्गलिकी विश्रान्ति का संस्मरण करते हुए ही हम इसी प्रसङ्ग से भारतराष्ट्र की वैदिकसंस्कृति के व्यक्त-मूर्त्त-स्वरूप--इतिहासपुराणशास्त्र के द्वारा प्रतिपादित कालमहिमा का भी यशोगान कर लेते हैं, जिसका प्रत्येक अक्षर श्रौत-कालस्वरूप से सर्वात्मना समतुलित है।

सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स इयते परमो नु देवः

इति-पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयः—

५

———*———

पञ्च-मन्त्रात्मक-अथर्ववेदीय-नवमसूक्त-अत्र-उपरत

———*———

४८८-इदमत्र माङ्गलिकसंस्मरणं-आर्य्यसर्वस्वानुगतम्—

(पुराण-स्मृति-इतिहासानुगत-श्रुत्यार्थानुसारी-कालस्वरूपेतिवृत्त-समन्वय)

१—परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज !
अव्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे, कालस्तथा परम् ॥
—विष्णुपुराणे १।२।१।

२—कालस्तु त्रिविधो ज्ञेयोऽतीतोऽनागत एव च ।
वर्त्तमानस्तृतीयस्तु वक्ष्यामि शृणु लक्षणम् ॥

३—कालः कलयते लोकं, कालः कलयते जगत् ।
कालः कलयते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥

४—कालस्य वशगाः सर्वे देवर्षि-सिद्ध-किन्नराः ।
कालो हि भगवान् देवः स साक्षात्परमेश्वरः ॥

५—सर्ग-पालन-संहर्त्ता स कालः सर्वतः समः ।
कालेन कल्यते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥

६—येनोत्पत्तिश्च जायेत, येन वै कल्यते कला ।
सोऽन्तवच्च भवेत्कालो जगदुत्पत्तिकारकः ॥

७—यः कर्म्माणि प्रपश्येत प्रकर्षे वर्त्तमानके ।
सोऽपि प्रवर्त्तको ज्ञेयः कालः स्यात् प्रतिपालकः ॥

८—येन मृत्युवशं याति कृतं येन लयं व्रजेत् ।
सहर्त्ता सोऽपि विज्ञेयः कालः स्यात्कलनापरः ॥

९—कालः सृजति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः ।
कालः स्वपिति, जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥

१०—काले देवा विनश्यन्ति, काले चासुरपन्नगाः ।
नरेन्द्राः, सर्वजीवाश्च, काले सर्व्वं विनश्यति ॥

११—त्रिकालात्परतो ज्ञेय आगन्तुर्गतचेष्टकः ।
तथा वर्षाहिमोष्णाख्यास्त्रयः काला इमे मताः ॥

१२—तथा त्रयोऽन्ये ऽपि ज्ञेया उद्यन्--मध्या-स्तरूपिणः ।
सूक्ष्मोऽपि सर्वगः स वै व्यक्ताद्व्यक्ततरः शुभः ॥

—हारीतः

१३—अनादिनिधनः कालो रुद्रः सङ्कर्षणः स्मृतः ।
कलनात्सर्वभूतानां स कालः परिकीर्त्तितः ॥

—तिथ्यादितत्त्वम्

१४—गन्ता गतिमतां कालः, कालः कलयति प्रजाः ।
कालेनाभ्याहताः सर्वे कालो हि बलवत्तरः ॥

१५—कालः कर्त्ता विकर्त्ता च सर्वमन्यदकारणम् ।
कालो न परिहार्य्यश्च न चास्यास्ति व्यतिक्रमः ॥

१६—अहोरात्रांश्च मासांश्च क्षणान् काष्ठालवान् कलाः ।
सम्पीड़यति यः कालो वृद्धिं वार्धुषिको यथा ॥

१७—इदमद्य करिष्यामि, श्वः कर्त्तास्मीति वादिनम् ।
कालो हरति सम्प्राप्तो नदीवेग इव द्रुमम् ॥

१८—इदानीं तावदेवासौ मया दृष्टः, कथं मृतः ।
इति कालेन ह्रियतां प्रलापः श्रूयते नृणाम् ॥

१९—नश्यन्त्यर्थास्तथा भोगाः स्थानमैश्वर्य्यमेव च ।
जीवितं जीवलोकस्य कालेनागम्य नीयते ॥

२०—उच्छ्राया विनिपातान्ता भावोऽभावः स एव च ।
जङ्गमाः स्थावराश्चैव दिवि वा यदि वा भुविः ॥

२१—सर्वे कालात्मकाः, सर्वं कालात्मकं जगत् ।
प्रवृत्तयश्च लोकेऽस्मिंस्तथैव च निवृत्तयः ॥

२२—तासां विकृतयो याश्च सर्वं कालात्मकं स्मृतम् ।
आदित्यश्चन्द्रमा विष्णुरापो वायुः शतक्रतुः ॥

२३—अग्निः खं पृथिवी पर्जन्यो वसवो दितिः ।
सरितः सागराश्चैव भावाभावौ च पन्नगौ ॥
सर्वे कालेन सृज्यन्ते ह्रियन्ते च पुनः पुनः ।

२४—कालः सर्वं समादत्ते, कालः सर्वं प्रयच्छति ।
कालेन विहितं सर्वं मा कृथाः शक्र ! पौरुषम् ॥

२५—न तु विक्रमकालोऽयं, शान्तिकालोऽयमागतः ।
कालः स्थापयते सर्वं, कालः पचति वै तथा ॥

२६—नाहं कर्त्ता, न चैव त्वं, नान्यः कर्त्ता शचीपते !
पर्य्यायेण हि भुज्यन्ते लोकाः शक्र ! यदृच्छया ॥

२७—मास-मासार्द्धवेशमान-महोरात्राणि संवृतम् ।
ऋतुद्वारं वायुमुखं--आयुर्वेदविदो जनाः ॥

२८—आहुः सर्वमिदं चिन्त्यं जनाः केचिन्मनीषया ।
अस्याः पञ्चैव चिन्तायाः पर्य्येष्यामि च पञ्चधा ॥

२९—गभीरं गहनं ब्रह्म महत्तोयार्णवं यथा ।
अनादिनिधनं चाहुरक्षरं क्षरमेव च ॥

३०—सत्त्वे पुल्लिङ्गमाविश्य निर्लिङ्गमपि तत्स्वयम् ।
मन्यन्ते ध्रुवमेवैनं ये जनास्तत्त्वदर्शिनः ॥

३१—भूतानां तु विपर्य्यासं कुरुते भगवानिति ।
न ह्येतावद् भवेद् गम्यं न यस्मात् प्रभवेत्पुनः ॥

३२—गतिं हि सर्वभूतानां—अगत्त्वा क गमिष्यति ।
यो धावता न हातव्यस्तिष्ठन्नपि न हीयते ॥

३३—तमिन्द्रियाणि सर्वाणि नानु पश्यन्ति पञ्चधा ।
आहुश्चैनं केचिदग्निं, केचिदाहुः प्रजापतिम् ॥

३४—ऋतून्—मासार्द्धमासांश्च—दिवसांश्च क्षणांस्तथा ।
पूर्वाह्णमपराह्णं च मध्याह्नमपि चापरे ॥

३५—मुहूर्त्तमपि चैवाहुरेकं सन्तमनेकधा ।
तं कालमिति जानीहि यस्य सर्वमिदं वशे ॥

—महाभारते

तस्मात्—"कालः स इयते परमो नु देवः"

अथर्ववेदीय—कालसूक्ताक्षरार्थमात्रसमन्वयात्मक
द्वितीय—प्रकरण—उपरत

२

श्रीः

इति–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके चतुर्थखण्डे
'अथर्ववेदीय–कालसूक्ताक्षरार्थमात्रसमन्वय' नामकं
द्वितीयप्रकरणं–उपरतम्

२

श्रीः

अथ–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके चतुर्थखण्डे
(दिक्–देश–काला–नुबन्धी)
'आचारप्रकरण'–नामकं
तृतीयप्रकरणम्
३



श्रीः

दिग्देशकालानुबन्धी–आचारात्मक तृतीय–प्रकरण

३

१-मूलकालात्मक-प्रथमदेवात्मक-परमदेवरूप-'अक्षरकाल' का संस्मरण, तदनुबन्धी व्यक्त-'क्षरकाल', तन्निबन्धना दिग्देशकालत्रयी, एवं परावरकाल, तथा अवर-कालात्मक कालभावों के सम्बन्ध में उपनिषच्छ्रुति—

कालस्वरूप-निरूपक दश मन्त्रात्मक अष्टम सूक्त, तथा कालमहिमा-निरूपक पञ्च मन्त्रात्मक नवम सूक्त, इन दो अथर्ववेदीय सूक्तों के माध्यम से काल, और कालमहिमारूप दिग्-देश-प्रदेश-भावों का पूर्व में जो यशो-वर्णन हुआ है, उस के आधार पर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि,–गतिधर्म्मा प्राणमूर्त्ति वह 'अक्षर' ही मूलकाल है, जो अपनी पारिभाषिकी अभिधा से 'परमदेव' कहलाया है। तत्त्वज्ञ विद्वानों को यह विदित ही है कि, व्यक्त, तथा अव्यक्त से अतीत, कालातीत अव्यय के लिए 'पर' शब्द नियत *

---

* (१)-परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
—गीता ८।२०।

(२)-त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः 'परमव्ययम्' ॥
—गीता ७।१३।

(३)-स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्
—गीता ८।१०।

(४)-पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
—गीता ८।२२।

(५)-'परं' भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।
—गीता ७।२४ इत्यादि

है, अव्यक्त अक्षर के लिए 'परम' शब्द नियत ÷ है। एवं व्यक्त क्षर के लिए 'अवर' शब्द नियत × है। इसी दृष्टि से अक्षरतत्त्व 'परावर' नाम से भी व्यवहृत हुआ है। 'पर' नामक अव्यय की अपेक्षा 'अवर', तथा 'अवर' नामक क्षर की अपेक्षा 'पर' बने रहने वाले मध्यस्थ अक्षर को 'परावर' कहना सर्वथा ही अन्वर्थ प्रमाणित है। एवमेव इस परावर, परम अक्षर से समुद्भूत 'अवर' नामक क्षर का एक पारिभाषिक नाम 'ब्रह्म' भी है, जैसा कि–'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (गीता) इत्यादि से स्पष्ट है। मध्यस्थ 'परावर' नामक परम अक्षर क्योंकि ऊर्ध्वस्थित–परागवस्थित उस 'पर' अव्ययधर्म्म से भी समन्वित है। अतएव प्रणवमूर्त्ति यह त्रिमूर्त्ति मध्यस्थ अक्षर 'पर' भी है, 'ब्रह्म' भी है। अर्थात् मध्यस्थ परावर अक्षर के ग्रहण से पर अव्यय, तथा क्षरब्रह्म, इन दोनों का भी ग्रहण हो जाता है। इसी पारिभाषिक तथ्य को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—

> एतद्ध्येवाक्षरं–'ब्रह्म'–(क्षरधर्म्मान्वितमिति यावत्)।
> एतद्ध्येवाक्षरं–'परम्'–(अव्ययधर्म्मान्वितमिति यावत्)।
> एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति, तस्य तत् ॥
> —कठोपनिषत् १।२।१६।

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
> —मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

२–'सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा, कालः स ईयते परमो नु देवः' इत्यादि अथर्ववेदीया कालमहिमा का सिंहावलोकन—

अव्ययपुरुष की पराप्रकृति ही परावर अक्षर की स्वरूप–व्याख्या है। एवं पराप्रकृतिरूप यह गतिशील, 'गतिबल' रूप अक्षर ही 'काल' की स्वरूप–व्याख्या है। इस की प्राणात्मिका गति–निरपेक्षा बलगति के सम्बन्ध से ही इस के लिए 'ईयते' क्रियापद प्रयुक्त हुआ है। एवं इस की अक्षररूपा प्रधानाता से ही इसे 'परमदेव' कहा है। अपने 'पर' अनुगत अव्ययधम्म से परकाल (अव्ययकाल) बनता हुआ, अपने 'अवर' अनुगत क्षरधर्म्म से अवरकाल (क्षरकाल) बनता हुआ परावरकालात्मक यह 'परमकाल' ही (त्रिमूर्त्ति अक्षरकाल ही)

÷ (१)-अक्षरं ब्रह्म परमम्।
—गीता ८।३।

(२)-त्वमक्षरं 'परमं' वेदितव्यम्।
—गीता ११।१८।

× (१)-अवरो वै किल मेतिहोवाच प्रतर्दनः
—कौ. उप.३।१।

(२)-आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः।
—श्वेता० उप० ५।८।

अपने गतिधर्म्म से कालमहिमारूपेण दिक्–देश–प्रदेश–भावों में परिणत होता हुआ सब का विजेता प्रमाणित हो रहा है। काल के इस दिक्–देश–प्रदेश–कालात्मक–सर्वरूपत्त्व का सर्वान्त में दिग्दर्शन कराते हुए ही ऋषि ने इन शब्दों में 'कालविवर्त्त' को उपसंहृत किया है दोनों कालसूक्तों के अन्त में कि—

'सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा–कालः स ईयते परमो नु देवः'
तदिदं कालसूक्तस्य सिंहावलोकनमेव।

३–कालधर्म्मों से सर्वथैव असंस्पृष्ट, कालातीत अव्ययब्रह्म से समतुलित, अव्ययनिष्ठ कालातीत मानव, एवं तदभिन्न शाश्वतब्रह्मरूप 'मनु' तत्त्व, तथा तदेकांश में चतुष्पर्वा काल का अवस्थान—

उक्त सिंहावलोकन–दृष्टिमाध्यम से अब हमें तालिकारूपेण उस अनुगमवचन का भी समन्वय कर लेना चाहिए, जिस–'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगम के अनुसार उक्त 'परमकालदेव' चार भावों में विभक्त हो कर 'सर्वम्' बन रहा है। परमकालात्मक इस अक्षरकाल के लक्षीभूत चारों विवर्त्तों के समन्वय से पहिले निष्ठानुगत आत्मसंवित्पूर्वक इस प्रत्यय को दृढमूल बन लेना चाहिए कि, **"अपराप्रकृतिरूप क्षर, तथा पराकृतिरूप अक्षर से परे अवस्थित 'पर' नामक विशुद्ध–निष्कल–निर्द्वन्द्व–निर्गुण–लोकातीत, अतएव कालातीत निष्कैवल्य अव्यय का इस कालविवर्त्तचतुष्टयी से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो अपने रूप से विशुद्ध कालातीत ही है। अतएव अक्षरानुगत कर्तृत्त्वधर्म्म से, तथा क्षरानुगत लोकासञ्जनधर्म्म से वह कालातीत अव्यय सर्वथैव असंस्पृष्ट है *। क्षराक्षररूपा काल–सीमाओं से सर्वथा असंस्पृष्ट वह उत्तमपुरुषात्मक 'पुरुषाव्यय' कालातीत बनता हुआ सर्वातीत ही है ÷। और कालातीत इसी पुरुषोत्तम अव्ययात्मा का नाम है कालातीत मानव। वही 'अहं' तत्त्व है, वही अव्ययात्मस्वरूप शाश्वतब्रह्म है, और वही है वह 'मनुः', जो क्षर–अक्षरानुगता खण्ड–प्रलय–महाप्रलयादि धाराओं के अभिव्यक्त हो जाने पर ज्यों का त्यों अक्षुण्ण ही बना रहता है। मन्वन्तरमूलक चतुर्विध, किंवा सर्वविध कालविवर्त्त उसी कालातीत शाश्वतब्रह्मरूप मनुमूर्त्ति निरपेक्ष अव्ययपुरुष के एकांश में (यत्किञ्चिदंश में) हीं प्रतिष्ठित हैं"।**

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते।
—गीता

÷ यस्मात् क्षरमतीतोऽहं, अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
—गीता

४–कालात्मक अव्यय की अक्षररूपता, महामायावृत्तात्मक महाकाल, तद्रूप मायी महाकालेश्वरात्मक महेश्वर, केन्द्रानुगत मायावृत, केन्द्राक्षर की परावरता, एवं अक्षरकालात्मक परमकाल के चतुर्विध कालिक विवर्त्तों का संस्मरण—

एवंसति पूर्वप्रतिपादित कालस्वरूप–निरूपण में हमने यत्रतत्र जिस अव्यय के साथ भी महाकाल शब्द का सम्बन्ध अभिव्यक्त किया है, वह अव्यय सर्वत्र अक्षररूप ही माना जायगा। अव्ययानुगत महामायावृत्त ही महाकाल की स्वरूप–व्याख्या है। इस महामायी महेश्वराव्यय का मायावृत्तत्त्व केन्द्र पर ही अवलम्बित है। केन्द्रस्थ हृद्याक्षर ही परावर अक्षर है। अतएव यही इस मायी महेश्वराव्यय का अभिव्यञ्जक बन रहा है। अतएव कालानुगता सृष्टिधाराओं में उपात्त–प्रयुक्त–'अव्यय शब्द सर्वथा कालसापेक्ष (अक्षरसापेक्ष) बनता हुआ अक्षरात्मक ही प्रमाणित होगा। मायामय कालिक विश्व की अव्ययविभूति अक्षरात्मिका ही मानी जायगी। अतएव कालसीमा (अक्षरसीमा) में अन्तर्भुक्त सापेक्ष अव्यय-अक्षर–आत्मक्षर–विकारक्षर–पञ्चजन–पुरञ्जन–पुर–महाभूत–भूतभौतिक–आदि आदि सभी विवर्त्त अक्षरात्मक ही, परमकालात्मक ही माने जायँगे, एवं इसी दृष्टि से हमें तालिकारूपेण अक्षरमूर्त्ति इस परमकाल के चार कालिक विवर्त्तों का समन्वय करना पड़ेगा।

५–कालातीत अव्यय के एकांश से अनुगृहीत अक्षरकाल की 'परकालता', स्वानुगता परावरकालता, क्षरानुगता अवरकालता, एवं तदनुबन्धिनी सर्वता—

परमकालात्मक अक्षरकाल (**बलकाल**) कालातीत अव्यय के एकांश से (**रसभाग** से) अनुगृहीत बनता हुआ **'परकाल'** (**अव्ययकाल**) बन रहा है–'एतद्ध्येवाक्षरं परम्' (अव्ययरसांशेनाक्षरमेव–**'अव्ययः'–इति यावत्**)। यही परमकालात्मक अक्षरकाल अपने प्रातिस्विकरूप से **'परावरकाल'** (**अक्षरकाल**) प्रमाणित हो रहा है। परमकालात्मक यही अक्षरकाल अर्वाक्–अवस्थित क्षरांश से समन्वित बनता हुआ अवरकालात्मक (क्षरकालात्मक) ब्रह्मकाल बन रहा है–"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म' (क्षरांशेनाक्षरमेव **'क्षरब्रह्म'–इति यावत्**)। क्योंकि यों परमकालात्मक अक्षर पराव्ययांश से, तथा अवराक्षर से समन्वित बनता हुआ पर–परावर–अवरात्मक प्रमाणित होता हुआ सर्वमूर्त्ति बन रहा है।

६–पर--परावर--अवरात्मक--सर्वमूर्त्ति अक्षरकाल की उपासना से हृद्ग्रन्थिविमोक, अक्षरकालानुगता सिसृक्षा–मुमुक्षा, एवं परमकालात्मक अक्षरकाल के द्वारा सर्ग, तथा प्रलय की प्रवृत्ति—

अतएव इस कालात्मक परमाक्षर की उपासना से यच्चयावत् कालिक इच्छाविवर्त्त संसिद्ध हो जाते हैं,–**'यो यदिच्छति, तस्य तत्'**। दो ही तो इच्छाएँ हैं इस परमकाल की, जो **सिसृक्षा**, और **मुमुक्षा** नाम से प्रसिद्ध हैं। ऊर्ध्व–अवस्थित पराव्ययरूपता से यही अक्षर मुमुक्षा (बलग्रन्थिविमोकेच्छा) के द्वारा संहार–**कामना** का प्रवर्त्तक बनता है, तो अधोऽवस्थित अवरक्षररूपता से यही अक्षर सिसृक्षा (बलग्रन्थिबन्धनेच्छा) के द्वारा **सृष्टिकामना** का प्रवर्त्तक बन रहा है। यों अपनीं इन दो इच्छाओं से परमकालात्मक अक्षरकाल

सृजति सर्वम् (क्षररूपेण सिसृक्षया), एवं संहरति सर्वम्-(अव्ययरूपेण-मुमुक्षया)। 'सर्वं कालेन सृज्यन्ते च पुनः पुनः। अर्थात् अव्ययात्मकः-अक्षरकाल एव मुमुक्षया सर्वं संहरति-यदिदं किञ्च, एवं क्षरात्मकः-अक्षरकाल एव सिसृक्षया सर्वं सृजति-यदिदं किञ्च।

७-ज्ञानमय मनःकाल, क्रियामय प्राणकाल, अर्थमय वाक्काल, एवं उसी पर, उसी से, उसी की सर्वरूप-परिणति का समन्वय—

अव्ययात्मक-अक्षरकाल का ही नाम है-**ज्ञानमय मनःकाल**, अक्षरकाल का ही नाम है-**कियामय प्राणकाल**, एवं क्षरात्मक अक्षरकाल का ही नाम है **अर्थमय वाक्काल**। मनःप्राणवाङ्मय, ज्ञानक्रियार्थ-शक्तिमूर्त्ति, अव्ययाक्षरक्षररूप यही परमाक्षरकाल अपने अव्ययात्मक मनःकाल **से 'आधारकाल'** बन रहा है, अपने अक्षरात्मक प्राणकाल से 'स्रष्टाकाल' बन रहा है, एवं अपने क्षरात्मक वाक्काल से सृष्टिकाल बन रहा है। वही सृष्टि का आधारकाल **है** अव्ययात्मक-मनोऽनुबन्ध-स्वरूप से। वही सृष्टि का 'स्रष्टाकाल' है अक्षरात्मक प्राणानुबन्ध-स्वरूप से। एवं वही '**सृष्टिकाल' है** क्षरात्मक वागनुबन्धस्वरूप से। **उसी पर, उसी से, उसीका सबकुछ बना** है, बनता रहेगा शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

८-अव्ययात्मक अक्षर पर स्वात्मक अक्षर से क्षरात्मक अक्षर की ही सर्वरूप में परिणति, एवं सर्वरूपता के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न—

अवधानपूर्वक-'उसी पर-उसी से-उसी का-**सबकुछ बना-है'** इस वाक्य को लक्ष्य बनाइए। **'उसी पर'**, का अर्थ है-**'अव्ययात्मक अक्षर पर ही'**। **'उसीसे'** का अर्थ है-**'अक्षरात्मक अक्षर से ही'**। **'उसी का'** अर्थ है-**'अक्षरात्मक अक्षर का ही'**। परमकालात्मक अक्षर के तीनों विवर्त्त तो इन तीनों वाक्यांशों पर ही परिसमाप्त होगए। तो अब चौथे-**'सबकुछ बना-है'** इस वाक्यांश को समन्वित होने का क्षेत्र ही कहाँ मिला ?। समन्वय कीजिए समस्या का। अथर्ववेदीय अष्टमसूक्त के-**"काले मनः, काले-प्राणः, काले नाम समाहितम्'** इत्यादि सप्तम मन्त्र के **'काले नाम समाहितम्'** इस वाक्य से ही प्रस्तुत समस्या का समन्वय सम्भव है। **'काल में मन है, प्राण है, और काल में नाम प्रतिष्ठित है'** इस वाक्य में सहज क्रमानुसार तो **'काल में वाक् प्रतिष्ठिता है'** यही होना चाहिए था। क्योंकि मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति की प्राणकला के अनन्तर 'वाक्कला' का ही स्थान आता है। फिर ऋषिने 'वाक्' का नामोल्लेख न कर-**'काले नाम समाहितम्'** यह किस आधार पर कहा ?।

९-क्षरात्मक वाङ्मय अक्षर की नित्यमहिमारूपता, अमृताक्षर से विस्रस्त भाव की विकाररूपता, एवं मनःप्राणवाङ्मय अक्षरकाल से विनिर्गत विकारभावों की-'रूप-कर्म्म-नामता का समन्वय—

श्रूयताम्! अव्ययरूप मनोमय अक्षर का अमृतत्त्व, तथा अक्षररूप प्राणमय अक्षर का अमृतत्त्व तो प्रसिद्ध है ही। तीसरा क्षरात्मक वाङ्मय अक्षर भी अपने अविनाशी परिणामी भाव से नित्यमहिमारूप

बनता हुआ अमृतप्रधान ही प्रमाणित हो रहा है *। अतएव मनः—प्राण—वाङ्मय अव्यय—अक्षर—क्षर—रूप-पर—परावर-अवर-मूर्ति-त्रिमूर्ति अक्षर सर्वात्मना 'अमृतम्' ही बन रहा है। इस अमृताक्षर से विनिर्गत-विस्रस्त—विशकलित-मृत्युरूप विकार ही—'**विकारक्षर**' नाम से प्रसिद्ध है। अक्षर के मनोरूप से विनिर्गत विकार का नाम है '**रूप**', अक्षर के प्राणरूप से विनिःसृत विकार का नाम है—'**कर्म्म**', एवं अक्षर के वाग्रूप से विस्रस्त विकार का नाम है—'**नाम**'। '**वाक्**' तत्त्व अक्षर का अक्षरात्मक अन्तिम पर्व है, तो '**नाम**' विकारत्रयी का अन्तिम पर्व है।

१०—अ-उ-अच्-भावापन्ना वाक्, एवं वाक् की सर्वरूपता का समन्वय—

'वाक्' उस तत्त्व का नाम है, जिसके गर्भ में 'अ'—और 'उ' बैठे हुए हैं। अकार 'मन' का वाचक है अपने कण्ठताल्वादि असङ्गभाव से, एवं उकार 'प्राण' का वाचक है अपने—संकुचित ओष्ठोच्चारणभाव से। क्रम है-'अ—उ—अच्' यह, किन्तु अक्षरप्राण ही प्रधान है तीनों अक्षर-विवर्त्तों में। अतएव **मन—प्राण—वाक्**-के स्थान में **प्राण--मन--वाक्**—यह क्रम हो जाता है, जिसका अर्थ होता है--अक्षर--अव्यय--क्षर। तीनों के वाचक अक्षर हैं क्रमशः 'उ—अ—अच्'। उकार को वकार यणादेश हो जाता है—**व्—अ—अच्**' यह स्थिति हो जाती है। दीर्घत्वेन यही स्थिति '**वाच्**' रूप में परिणत होती हुई--'**वाक्**' बन जाती है।

११—प्राण-मनो-गर्भित क्षरतत्त्व की वाग्रूपता, वाङ्मय नामविवर्त्त, एवं वाङ्मय नाम-विवर्त्त से मनःप्राणवाङ्मय अक्षरकाल का परिग्रहण, तथा 'काले नाम समाहितम्' का तात्त्विक-समन्वय—

प्राण—मनो--गर्भित क्षरतत्त्व का नाम ही 'वाक्' है। जो तत्त्व (क्षर) स्वरूपाभिव्यक्ति के लिए प्राण, तथा मन की अपेक्षा रखता है, वही तत्त्व उ—अ--का अञ्जन करता हुआ 'वाच्', किंवा 'वाक्' है। और यों केवल 'वाक्' शब्द मनःप्राणवाग्रूप तीनों अक्षरविवर्त्तों का संग्राहक बन रहा है। अतएव वाक् के विकारभूत 'नाम' को मनोविकारभूत 'रूप' का, तथा प्राणविकारभूत 'कर्म्म'—का भी संग्राहक मान लिया गया है। 'वाक्' से यदि अक्षरत्रयी के मनःप्राणवाक्--नामक तीनों अमृतरूप परिगृहीत हैं, तो '**नाम**' से अक्षरत्रयी के रूप—कर्म्म--नाम--नामक तीनों मर्त्यरूप परिगृहीत हैं। इसी सर्वसंग्रहता के लिए (प्रजापति अक्षर के मर्त्यरूपों का संग्रह करने के लिए) ऋषिने '**काले वाक् समाहिता**' न कह कर '**काले नाम समाहितम्**' कह दिया है, जो यह नाम स्वानुगत रूप—कर्म्म--नामक दोनों मर्त्यभावों का तो संग्राहक है ही। साथ ही यही 'नाम' स्वोक्थभूता 'वाक्' का भी संग्रह कर लेता है। और—'काले मनः काले प्राणः' के अनन्तर पठित '**काले नाम समाहितम्**' का अर्थ होता है—'**काले वाक् समाहिता, रूपं समाहितं, कर्म्म समाहितं, नाम च समाहितम्**' यह।

---

* **एष नित्यो महिमा ब्रह्मणः (क्षरस्य), न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।**
—**उपनिषत्**

१२-अव्यय पर अक्षर से क्षर के द्वारा विकार की सर्वरूप में परिणति, सैषा स्थितिः—

'सबकुछ बना', का सबकुछ विकारक्षररूप--नामरूपकर्म्मसमष्टिलक्षण मर्त्य--विवर्त्त ही है। अतएव उसीपर--उसी से--उसी का--सबकुछ बना--है, वाक्य में अव्यय--अक्षर--क्षर--विकार--चारों कालविवर्त्त समाविष्ट हो जाते हैं। आरम्भ के तीन पर्व अमृताक्षरत्रयी है, एवं अन्त का 'सबकुछ' नामरूपकर्म्मात्मक विकारजगत् है। अक्षरप्रजापति के अर्द्धभाग में मानो मनः--प्राण--वाक्--रूप तीन अमृतपर्व प्रतिष्ठित हैं, एवं अर्द्धभाग में मानो--रूप--कर्म्म--नाम--नामक तीन मर्त्य पर्व प्रतिष्ठित हैं। अतएव प्रजापति-कालात्मक-अक्षर का लक्षण हुआ है--'अर्द्धं' ह वै प्रजापतेरात्मनो-मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'--'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !' । सैषा स्थितिः ।

१३-काल पर, काल से, काल के द्वारा, काल की ही सर्वरूप में परिणति, एवं अक्षरात्मक काल के चतुर्विध महिमा-विवर्त्तों का तालिका-माध्यम से तात्त्विक-समन्वय —

स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया। [1]'काल पर ही सबकुछ बना है, [2]काल से ही सबकुछ बना है, [3]काल ही सबकुछ बना है, [4]एवं काल ही सबकुछ है'' ये चारों वाक्यविवर्त्त क्रमशः [1]अव्ययात्मक अक्षरकाल (मनःकाल), [2]अक्षरात्मक अक्षरकाल (प्राणकाल), [3]क्षरात्मक अक्षरकाल, (वाक्काल), [4]विकारात्मक क्षरकाल (नामरूपकर्म्मकाल) विवर्त्तों के ही संग्राहक हैं, जिस विवर्त्तचतुष्टयी का-'काले-कालात्-कालेन-कालप्रसूतिः'--'काले-एव-कालादेव-कालेनैव-कालस्यैव प्रादुर्भावः' इस सूत्रद्वयी पर पर्य्यवसान माना जासकता है। अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। इस विवर्त्तचतुष्टयी के समन्वय के लिए यहाँ एक ऐसी पारिभाषिकी तालिका उद्धृत करदी जाती है, जिसके द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से 'परमकालदेव' के इन चारों कालविवर्त्तों का यथास्थान समन्वय सम्भव बन सकता है कालोपासक विद्वानों के लिए।

काले	कालः	कालमेव	सृजति
अव्यये	अक्षरः	क्षरमेव	सृजति
पराक्षरे	परमाक्षरः	अवराक्षरमेव	सृजति
अनन्ते	अमूर्त्तः	मूर्त्तमेव	सृजति
भावे	गुणः	विकारमेव	सृजति
प्रकृतौ	प्रकृतिः	विकृतिमेव	सृजति
मनसि	प्राणः	वाचमेव	सृजति
काले	दिक्	देशमेव	सृजति

प्रकारान्तरेण–चतुष्ट्यं वा इदं सर्वम्–

अनन्तस्याव्ययपुरुषस्य–एकांशरूपा कालविभूतिः—

१ काले	२ कालेन	३ कालात्	३ कालोत्पत्तिः	
अव्यये	अक्षरेण	क्षरात्	विकारोत्पत्तिः	(२)
मनसि	प्राणेन	वाचा	नामोत्पत्तिः	(३)
भूतेश्वरे	भूतभावनेन	भूतयोन्या	भूतोत्पत्तिः	(४)
काले	दिग्भ्यः	देशेन	प्रदेशोत्पत्तिः	(५)
अधिष्ठानम्	अधिष्ठाता	अधिष्ठितम्	प्रतिष्ठितम्	(६)
प्रारम्भः	आरम्भकः	आरम्भणम्	आरब्धम्	(७)
सृष्ट्याधारः	स्रष्टा	सृष्टिः	सृष्टम्	(८)
साक्षी	निमित्तम्	उपादानम्	उत्पन्नम्	(९)
तदिदं कालविवर्त्तम्	तदिदं दिग्विवर्त्तम्	तदिदं देशविवर्त्तम्	तदिदं प्रदेशविवर्त्तम्	
तत्प्रतीकः स्वयम्भूः	तत्प्रतीकः परमेष्ठी	तत्प्रतीकः सूर्य्यः	तत्प्रतीकः चन्द्रमाः (भूपिण्डश्च)	
सैषा अनन्तकालविभूतिः	सैषा अमूर्त्तकालविभूतिः	सैषा मूर्त्तकालविभूतिः	सैषा मूर्त्तिकालविभूतिः	
तदित्थं काले–एव	तदित्थं कालेनैव	तदित्थं कालादेव	तदित्थं कालस्यैवोत्पत्तिः	

कालः स ईयते प्रथमो नु देवः–इति नु सर्वं–काल एव परमदेवः–ईयते सोऽयंपरमकालः–निरपेक्षाव्ययेऽनन्ते एकांश एवेति–अनन्तोऽपि कालः–एकांश एव तस्य कालातीतस्य निष्कलाव्ययस्य, इति मुकुलितनयनैरेवाकलयनीयम् ।

१४–वैदिक परिभाषाओं का महाकोश 'गीताशास्त्र', एवं श्रौती काल-चतुष्टयी का गीताशास्त्र के द्वारा स्वरूप-समन्वय—

वेदशास्त्रसिद्ध ज्ञानविज्ञानात्मक पारिभषिक तत्त्वों का सारभूत महान् कोश भारतीय पौरुषेय–शास्त्रोंमें एकमात्र गीताशास्त्र ही है, जिसमें वैदिक तत्त्ववाद का सङ्केतरूपेण सर्वात्मना संग्रह हो गया है। उदाहरण के लिए 'कालतत्त्व' को ही लीजिए। जिन चार कालविवर्त्तों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उन चारों का ही गीताशास्त्र ने भी दिग्दर्शन करा दिया है। स्वायम्भुव-मनोमय-अव्ययानुगत अक्षरकाल ही काल का प्रथम विवर्त्त है, जिसके द्वारा बलग्रन्थिविमोकात्मक संहार ही होता है मुमुक्षा से। पारमेष्ठ्य–प्राणमय–अक्षरानुगत अक्षरकाल ही काल का दूसरा विवर्त्त है, जिसके द्वारा कालिक विश्व का स्वरूपसंरक्षण (स्थिति) होता है। सौर–वाङ्मय–क्षरानुगत अक्षरकाल ही काल का तीसरा विवर्त्त है, जिसके द्वारा कालिक विश्व की उत्पत्ति (सर्ज्जन) होती है। एवं चान्द्रसम्वत्सरात्मक-उत्तरायणदक्षिणायनात्मक–नामरूपकर्म्ममय–विकार–क्षरानुगत क्षरकाल ही काल का चौथा विवर्त्त है, जिसके द्वारा कालिक-उत्पन्न-विश्व प्रदेशात्मक कलनभावों से समन्वित रहता है। अव्ययात्मक अक्षरकाल रसप्रधानता से संहार का ही अधिष्टाता है मुमुक्षा के द्वारा, जिसका–'**कालोऽस्मि लोक-क्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः**' (गीता ११।३३।) से स्पष्टरूपेण संग्रह हुआ है। अस्मच्छब्दानुगत अव्यय ही इस संहारकाल का सूचक बन रहा है। स्थितिभावप्रवर्त्तक अक्षरात्मक काल का समर्थन–'**अहमेवाक्षयः कालः**' (गीता १०।३३।) से हो रहा है। सर्ज्जनभावप्रवर्त्तक क्षरात्मक काल का समर्थन–'**कालः कलयतामस्मि**' (गीता १०।३०) से हो रहा है। एवं नामरूपकर्म्मलक्षण कलाभावों से समन्वित, अतएव कलनात्मक-क्रमसिद्ध-चौथे विकारकालात्मक क्षरकाल का समर्थन–'**यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः**'–'**शुक्लकृष्णे गती ह्येते०**' इत्यादि वचनों से हुआ है। इसप्रकार गीता-शास्त्रने चारों कालविवर्त्तों का संग्रह कर लिया है।

१५–कालातीत अनन्ताव्यय के एकांश से अभिव्यक्त अनन्तकाल की अनन्तता के माध्यम से कालातीत की अनन्तता का आंशिक-अनुमान—

उक्त चारों हीं कालविवर्त्त जिस कालातीत निष्कल-निर्विशेष-निर्गुण-निरञ्जन-लोकातीत-सर्वातीत-सर्व-व्यापक अनन्त-अव्यय-ब्रह्म के एकांश में, यत्किञ्चिदंश में महिमारूप से गर्भीभूत हैं, उस कालातीत अनन्ताव्यय-ब्रह्म की अनन्तता का यत्किञ्चिदाभास तदपेक्षया सर्वथा सादिसान्त प्रमाणित प्रतीकभूत काल के माध्यम से भलीभाँति सम्भव है। जो काल मानव की कालिक बुद्धि से सर्वात्मना अनाद्यनन्त बना हुआ है, मानव की क्रम–व्यवस्था (काल–दिक्) अनुगता जो कालिक बुद्धि काल के जिस आनन्त्य का अनुमानमात्र कर थक थक जाती है, मानव का बौद्धिक-प्राकृत-स्वरूप काल के जिस यत्किञ्चित्-अंश में यत्किञ्चित्-रूप से (महासमुद्र में अवस्थित एक बुद्बुद्रूप से) क्रमरूपेण (कालरूपेण) व्यवस्थित (दिग्भावसमन्वित) है, ऐसे प्राकृत मानव के लिए, बुद्धिमान् , दार्शनिक, वैज्ञानिक मानव के लिए काल के चारों विवर्त्त, किंवा विवर्त्तचतुष्टयात्मक काल सर्वथैव अनाद्यनन्त प्रमाणित हो रहा है अपनी प्रकृतिमूला (अक्षरमूला) अनाद्यनन्तता से। अवश्य ही अपनी क्रम-व्यवस्था-मूला दार्शनिकबुद्धि के मापदण्ड से, तदनुगता दिग्देशप्रदेशात्मिका क्रमव्यवस्था से, एवं तन्मूलक प्रकृतिविज्ञान के माध्यम से प्राकृत मानव को सर्वात्मना यह मान ही लेना पड़ेगा कि,–सच मुच काल अनन्त है, अनादि है, अतएव मानवबुद्धि के लिए एकान्ततः अपरिमेय है।

१६–बुद्धिवादात्मिका दार्शनिक-प्रतिभा पर, तथा बुद्धिदम्भात्मिका वैज्ञानिक-साधना पर कालातीत के यत्किञ्चित् से आघात से दिग्देशकालाभिनिविष्टा वर्गत्रयी का निःसीम विकम्पन—

कालक्रम-व्यवस्था-वादी ऐसे बुद्धिवादी कालोपासक कालिक प्राकृत-दार्शनिक-वैज्ञानिक-मानव के सम्मुख जब यह दृष्टिकोण रक्खा जाता है कि,–'मानव का जो इत्थंभूत कालिक-प्राकृत-स्वरूप-(बुद्धि-मनः-शरीर-भाव) जिस अनाद्यनन्त काल के अणुमात्र-प्रदेश में बिन्दुरूपेण व्यवस्थित है, वह अनाद्यनन्त महाकाल, उसके महतोमहीयान् चारों कालमहिमाविवर्त्त किसी निरपेक्ष कालातीत अचिन्त्य अनन्तब्रह्म के यत्किञ्चिदंश में उसीप्रकार एक बिन्दुमात्र से अधिक और कोई महत्त्व नहीं रख रहे, जैसे कि इस को अनाद्यनन्तता के समतुलन में इसकी अपेक्षया बिन्दुमात्र बने हुए बुद्धिमान् प्राकृत मानव का कोई महत्त्व नहीं है', तो इसे अवनतशिरस्क बनकर इस कालमहत्त्व के सम्मुख अपने बुद्धिवाद को विगलित कर ही तो देना पड़ता है। प्रकृतिविजय के सुख–स्वप्न–धूलिधूसरित हो जाते हैं आचारशून्य बुद्धिवादी दार्शनिक के, तथा काल–क्रम–दिग्–व्यवस्था–के वारुणपाश में आबद्ध, अपने चमत्कारपूर्ण वैज्ञानिक–शोधों में अहोरात्र संलग्न-आत्मबोधशून्य बुद्धिदम्भी वैज्ञानिक के, जब कि इसकी बुद्धिवादात्मिका दार्शनिक-प्रतिभा पर, तथा बुद्धिदम्भात्मिका वैज्ञानिक-साधना पर कालपुरुष का यत्किञ्चित् सा भी आघात–लग पड़ता है, तो।

१७–शत-शत-प्राकृत-पीढ़ियों से सञ्चित बौद्धिक-कालिक-दैशिक-भूत-भौतिक विस्तारों का कालातीत के माध्यम से अनन्तकाल के द्वारा क्षणमात्र में विलयन, एवं दिग्देशकालभ्रान्त मानव का हाहाकार—

अपनी अनेक प्राकृत–मानव–पीढ़ियों की क्रम–व्यवस्थानुगता–साधना–परम्पराओं के द्वारा अत्यन्त श्रम–परिश्रम–अध्यवसाय–पूर्वक–सञ्चित प्राकृत-मानव के सम्पूर्ण प्राकृत कोश, सम्पूर्ण दार्शनिक तथ्य, सम्पूर्ण वैज्ञानिक आविष्कार, सम्पूर्ण अनुरूप कला-कौशल-शिल्प-आदि आदि यच्चयावत् बुद्धिवैभव काल की एक यत्किञ्चित् सी अँगड़ाई से क्षणमात्र में हीं विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाया करते हैं। और निश्चयेन काल के इन कोपक्षणों में प्राकृत मानवों का शारीरिक बलदम्भ, मानसिक वीर्य्यदम्भ, बौद्धिक पराक्रमदम्भ, ओज-तेज-भ्राज-द्युम्न-आदि आदि सभी कुछ तो सर्वात्मना धूलिधूसरित हो जाते हैं, जिस इत्थंभूता कालकवलितावस्था में मानव हाहाकार ही कर उठता है।

१८–कालक्रमव्यवस्थाकौशलानुगामिनी प्राकृत–जीवनपद्धति का करुणक्रन्द्रनात्मक समस्त इतिवृत्त, एवं तन्माध्यम से मानव की सहज–प्रज्ञा में जिज्ञासात्मक अनेक प्रश्नों का आविर्भाव–तिरोभाव—

और मानव का यह करुणक्रन्द्रन इस के बुद्धिवादात्मक–बुद्धिदम्भात्मक ज्ञानविज्ञानात्मक प्रसूनों के साथ उस कालसमुद्र में हीं विलीन हो जाता है। यही है क्रम–व्यवस्थाशील, अतएव लोक में बुद्धिमान्, दार्श-

निक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, कुशल, चतुर, मेधावी, योग्य प्राकृत मानवों की कालानुबन्धिनी क्रमव्यवस्था-
कौशलानुगामिनी जीवनपद्धति का वह सम्पूर्ण इतिवृत्त, जिस इस इतिवृत्त के अनुग्रह से ही कालान्तर में इसके
सम्मुख स्वतः ही यह जिज्ञासात्मक प्रश्न खड़े हो ही तो जाते हैं कि,–'क्या मानव के समस्त पौरुष का
एतावन्मात्र, यही इतिवृत्त है ?। क्या मानव मरने के लिए ही उत्पन्न हुआ है ?। क्या मानव एक
वैसा छोटा यन्त्र (पुर्जा) मात्र ही है, जो किसी बड़े महायन्त्र की म ागति से आबद्ध होता हुआ,
अमुक स्थान–काल सीमा से सीमित बनता हुआ सर्वथा परतन्त्रता-पूर्वक ही चलता रहता है ?।
एवं जीर्ण शीर्ण होजाने पर उस महायन्त्र की सीमा से बाहिर निकाल ही तो फैंक दिया जाता है ?।

१६–प्राकृत-बुद्धि, दार्शनिक-दृष्टि, वैज्ञानिक-मस्तिष्क-युक्त दिग्देशकालभ्रान्त मानव के जिज्ञासात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधानान्वेषण-प्रयास—

क्या मानव की प्राकृत-बुद्धि, दार्शनिक-दृष्टि, तथा वैज्ञानिक मस्तिष्क मानव के तथाकथित जिज्ञा-
सात्मक प्रश्नों का समाधान करसकेंगे ?। आचारनिष्ठा से पराङ्मुख किसी भी देश के दार्शनिक ने क्या
आजतक उक्त प्रश्नों का समन्वय किया है ?। क्या किसी भी भूतविज्ञानवादी ने मानव की इन आवश्यकतमा
महती समस्याओं, जिज्ञासाओं, आकुलताओं के निराकरण के लिए अपनी विज्ञानशालाओं में आजतक
कोई परीक्षण–चिन्तन–किया है ?। अन्वेषण कीजिए ! इन तीन वर्गों की मनोवृत्तियों का, इसी के आधार पर
उक्त प्रश्न समाहित बन जायगा।

२०–लोकशिक्षा-शिक्षित-'प्राकृत–बुद्धियुक्त-मानव' की स्वरूप-परिभाषा, तद्द्वारा 'मानवजिज्ञासा' के भावुकता-संरक्षक भातिसिद्ध समाधान, एवं जिज्ञासु के असन्तोष की वृद्धि—

युगधर्म्मानुगता–सामयिकी लोकशिक्षा से शिक्षित–दीक्षित, तद्युग के वर्त्तमान–वैय्यक्तिक–
सामाजिक–राजनैतिक–वातावरणों का पूर्ण परिज्ञाता, तदनुसारेणैव अपनी जीवनपद्धति को कालक्रम–व्यवस्था-
नुसार यन्त्रवत् एक साँचे में ढाल लेने वाले लोकपटु–लोकचतुर–बुद्धिमान्–प्राकृत मानव की बुद्धि ही 'प्राकृ-
तबुद्धि' कहलाएगी, जिसके प्राकृत–जीवन का प्रत्येक क्षण बुद्धिकौशलपूर्वक तद्युग की कालिक स्थिति-परिस्थि-
तियों के अनुसार सर्वथा प्रकृत्यनुगत ही प्रमाणित होता रहेगा। ऐसे बुद्धिमान् लोकचतुर से जब प्रश्नसमा-
धान की जिज्ञासा की जायगी, तो प्रथम तो वह आपकी जिज्ञासा सुनेगा ही नहीं। क्योंकि इस प्राकृतबुद्धि के
कोश में निश्चित–कार्य्यक्रम के अतिरिक्त, सहजभाषा के अनुसार वर्त्तमान के अतिरिक्त भूत, और भविष्यत्
से सम्बन्ध रखने वाली तथाविधा निरर्थक–जिज्ञासाओं के श्रवण के लिए व्यर्थ का समय ही नहीं है। यदि
आपने बलपूर्वक जिज्ञासा से अवगत करा भी दिया इस बुद्धिमान् को, तो अपने लोकसम्मत शिष्टाचार
के संरक्षणमात्र-व्याज से यह इतना भर अवश्य समाधान कर देगा कि–"हाँ ठीक तो है। जिज्ञासाएँ बड़ी
सुन्दर हैं। अवश्य ही इनका समाधान होना ही चाहिए। अवश्य ही आप–हम–सब को मिल
कर कभी न कभी इन समस्याओं पर विचार तो कर ही लेना होगा। तो हाँ, अच्छा, आज तो
समय बहुत होगया। फिर किसी दिन.............अच्छा, नमस्कार............! नमस्कार..................!!

जिज्ञासु मानव सन्तुष्ट होजायगा बुद्धिमान्–लोकचतुर-मानवों के इसी समाधान से। और स्वयं ही यह समाधान कर लेगा अपने अन्तर्जगत् में इनके लिए कि,–क्या करें ! बेचारों के कोश में समय ही नहीं है। लोकभार से उत्पीड़ित इनको समय ही नहीं मिल रहा। यदि समय मिलता, तो अवश्य ही, इत्यादि इत्यादि।

२१–आचारशून्या तत्त्वशिक्षा के परपारदर्शी–दार्शनिक–दृष्टियुक्त मानव की स्वरूपपरिभाषा, तद्द्वारा दुःखेतिहासविजृम्भणात्मक समाधान का आलोडन–विलोडन, एवं परिणामतः जिज्ञासु की दुःखाभिवृद्धि—

यों प्राकृतबुद्धिनिष्ठ–लोकचतुर–लोकमानवों को छोड़कर यह जिज्ञासु अब पहुँचता है उस दार्शनिक की सेवा में, जिसने समस्त आचारधर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित कर अपने आपको कृतकृत्य–धन्य मानते हुए लोकजीवन से तो कर लिया है पृथक्, एवं एकान्त में विराजमान होकर वह सृष्टितत्त्व-विमर्शों में सतत संलग्न हो रहा है। अपने इस बुद्धिपूर्वक तत्त्वविमर्श के आधार पर ही जो दार्शनिक यदा कदा अनुग्रह कर लिपिमाध्यम से, किंवा भाषणमाध्यम से मानवसमाज को उद्बोधन प्रदान करता रहता है, कर्त्तव्यनिष्ठा की शिक्षा प्रदान करता रहता है–स्वयं को इन आचारनिष्ठाओं से अतीत प्रमाणित करता हुआ ही। ऐसा दार्शनिक मानवश्रेष्ठ जिज्ञासु की जिज्ञासाओं का समाधान न कर इसकी जिज्ञासा–समस्याओं को ही अपनी दार्शनिकबुद्धि से विस्तृतरूप दे डालने का अनुग्रह कर बैठता है। उदाहरण के लिए–मानव यदि इसके सम्मुख अपने दुःख–शोक–की समस्या रखता है, तो तन्निवृत्त्युपाय से पहिले दार्शनिक महाभाग दुःख–शोक–परितापों की वैसी विस्तृत व्याख्या ही इस निरीह के सम्मुख रखने लग पड़ता है, जिस व्याख्या से यह अबतक सर्वथा अपरिचित ही था। इसे यदि एक दुःख था, तो दार्शनिक इस के सामने तीन तीन दुःख रख देगा। और उन तीनों दुःखों की विशद व्याख्या के वर्णनोपवर्णन में हीं यह अपनी सम्पूर्ण दार्शनिकता समाप्त कर देगा। सवन्ति में अधिक से अधिक यह उद्गार अभिव्यक्त कर इस जिज्ञासु को मानो जीवन्मुक्ति का प्रमाणपत्र देता हुआ ही विदा कर देगा कि– **"भाई जबतक इन तीनों दुःखों से परित्राण नहीं हो जाता, तबतक सुख शान्ति कैसे मिल सकती है ?। और इन तीनों से आत्मत्राण कर लेना कोई साधारण काम नहीं है। देखो न। हम तो स्वयं ही इन दुःखों का स्वरूप ही अबतक यथावत् समन्वित नहीं कर पाए हैं। तत्त्वचिन्तन करो। साधना करो। धैर्य्य रक्खो। सहो। ये सुख दुःख तो यों हीं आते जाते ही रहेंगे। इत्यादि इत्यादि"**। त्रिविध–ताप,–दुःख–शोक–भावों की दैविक–भौतिक–आत्मिक–परिभाषाओं की सुविशदा–महती व्याख्याओं का बड़े धैर्य्य से श्रवण-मनन-करने वाला जिज्ञासु आरम्भ में तो थोड़ा हतप्रभ बनेगा। अनन्तर शनैः शनैः इस तत्त्वचर्चा के अनुग्रह से दुःख-परम्पराओं के अनुशीलन में प्रवृत्त होजायगा। और अन्ततोगत्वा इन दुःखपरम्पराओं के स्वरूपान्वेषण में हीं इसका प्राकृत जीवन समाप्त हो जायगा, और विलीन होजायँगी इसके साथ ही इसकी जिज्ञासात्मिका समस्याएँ भी।

२२- क्रमप्राप्त वैज्ञानिक मस्तिष्क से युक्त मानव की समुपस्थिति, तद्द्वारा भौतिक मानव पर दृष्टिनिपेक्ष, तन्माध्यम से भौतिक समस्याओं का अध्ययन, एवं भूतविज्ञान के बल पर तत्समाधान-प्रयास—

अब वह तीसरा वैज्ञानिक-मस्तिष्क मानव के सम्मुख उपस्थित हुआ, जो न तो सामाजिक-राजनैतिक-प्रपञ्चों से ही कोई सम्बन्ध रखता, न शुष्क तर्कवादात्मिका, केवल वाग्विजृम्भणात्मिका तत्त्वमीमांसाओं में हीं कोई रुचि रखता। अपितु उसके सामने है केवल भौतिक मानव, भौतिक मानव की भौतिक समस्याएँ, एवं इन भौतिक-समस्याओं के निराकरण के लिए अन्यतम साधनभूत भौतिक स्थूलद्रव्य, एवं इन यौगिक स्थूल द्रव्यों के सूक्ष्म भौतिक तत्त्व। वह इन के यागात्मक सम्मिश्रण से कुछ एक वैसे भौतिक पदार्थों के निर्म्माण में हीं सतत जागरूक बना रहता है, जिन से मानव की भौतिक-समस्याओं, आवश्यकताओं का थोड़े से समय में सुख-सुविधा-पूर्वक समाधान होता रहे। मानव को भौतिक श्रम-परिश्रम से अधिकाधिक बचाते हुए, भौतिक-आविष्कारों के द्वारा भौतिक मानव को अनुकूलता प्रदान करते हुए इसके भूतस्वरूप को अधिकाधिक सुखी बनाना हीं वैज्ञानिक-मस्तिष्क का एकमात्र महान् पौरुष है। और अवश्य ही प्रत्यक्षमूला भूतसृष्टि के माध्यम से कहने-सुनने के लिए प्राकृत मानवों की अनेक भौतिक-समस्याओं का इस वैज्ञानिक-मस्तिष्क ने समाधान किया भी है।

२३-भौतिक-आविष्कारों से मानव को सुख-सुविधोपलब्धि, तदनुग्रहेणैव जीवनीय-संघर्ष का उपराम, तथा विज्ञान की उपयोगिता—

इन आविष्कारों से अवश्य ही मानव को वैसी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हुईं हैं, विज्ञानाभिवृद्धि के साथ होतीं जारहीं हैं, जिनसे मानव आज अपने जीवन के अधिकांश लक्ष्य इन यन्त्रों के द्वारा ही सम्पन्न कर लेता है। और इसका वैसा बहुत सा समय इसके प्राकृत कोश में बचा रह जाता है, जिस समय का इसे किसी युग में संघर्षपूर्वक तत्साधनों के संग्रह में उपयोग करते रहना पड़ता था। यह सब कुछ तो ठीक ठीक ही माना जायगा।

२४-सुख-सुविधा-व्यामोहन से समुत्पन्न भीषण आर्थिक-संघर्ष, एवं सुख-सुविधा के समतुलन में दुःख-असुविधा की अभिवृद्धि—

किन्तु क्या विज्ञानजनिता सुखसुविधा के उपभोग में मानव के सम्मुख एक वैसी महती अर्थविभीषिका खड़ी नहीं होगई, जिसके समाधान के बिना मानव इच्छा करता हुआ भी इन भूतसुविधाओं से ऐच्छिक लाभ नहीं उठा पा रहा ?। अथवा तो लोकचातुरी में कुशल भाग्यशाली जिन बुद्धिमानों को इन वैज्ञानिक-विजृम्भणों के उपभोग की पर्य्याप्त सुख-सुविधा उपलब्ध हो गई है, क्या इन अनुकूलताओं के अनुगमन से वे भाग्यशाली संघर्षजनिता सहज प्रकृतिस्थता से अनुप्राणिता तुष्टि-तृप्ति से वञ्चित नहीं होगए ?। अथवा तो मानव की अनुकूलता के सर्ज्जक, अतएव परिणामतः मानव की संघर्षशीला प्राणशक्ति को सर्वथा ही कुण्ठित कर देने वालीं इन-सुख-सुविधाओंनें क्या मानव को सर्वथा पङ्गु ही प्रम्माणित नहीं कर दिया ?। अथवा तो इस प्रवृद्ध प्राकृत-भूतविज्ञान का उपयोग मानव अपनी प्रचण्डतमा अर्थलिप्सा की सफलता के लिए निर्म्माण के स्थान में ध्वंस में हीं नहीं लेने लग पड़ा ?।

२५-जिज्ञासा के समाधान-प्रयास में नितान्त कुण्ठित वैज्ञानिक मस्तिष्क—

निष्कर्षतः-क्या भूतविज्ञान के आविष्कारक वैज्ञानिक मस्तिष्कने मानव के वर्त्तमान के आधारभूत भूत, और भविष्यत् से सम्बन्ध रखने वाली पूर्वोक्ता उन जिज्ञासात्मिका समस्याओं का आजतक अंशतः भी कोई समाधान प्रस्तुत किया ?। सर्वसाधारण के लिए सुदुर्लभ, अनुकूलताप्रवर्त्तक, अतएव जीवनीय-प्राणसंघर्ष के विघातक इन भौतिक आविष्कारों की प्राप्ति के लिए अत्यन्त मलीमसा पद्धति से पहिले तो अर्थसंग्रह को जीवन का प्रधान कर्त्तव्य मान बैठना, येनकेनाप्युपायेन इस कर्म्म में सफलता प्राप्त कर तद्द्वारा (अर्थ के द्वारा) इन भूतसुविधाओं का संग्रह कर लेना, इन सुविधाओं से यन्त्रवत् ही अपने आपको जड़भाववत् सञ्चालित करते रहना, और इसी यान्त्रिक-सुख-सुविधा को मानवजीवन का एकमात्र महान् पौरुष उद्घोषित करते रहना हीं यदि मानव की 'मानवता' का मापदण्ड है, तो फिर जिज्ञासात्मिका समस्या का तो कोई भी समाधान नहीं हुआ इस वैज्ञानिक-मस्तिष्क से भी।

२६-दिग्देशकालात्मक 'वर्त्तमान' का 'प्राकृतत्त्व', एवं 'वर्त्तमान' शब्द के चिरन्तन-इतिवृत्त का समन्वय—

तदित्थं-प्राकृत बुद्धिमान् मानव, दार्शनिक मानव, वैज्ञानिक मानव, तीनों हीं जिज्ञासु मानव को 'वर्त्त-मान' की सीमा से बाहिर निकालने में सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित होगए। दिक्-देश-कालात्मक 'वर्त्तमान' भाव का नाम ही 'प्राकृतभाव' है, इस का नाम हीं है **'प्राकृतिक-वर्त्तमान-जगत्'**। परमाक्षर का नाम हीं प्रकृति है, जिसके क्षरात्मक विवर्त्त का नाम ही 'दिक्' है। विकारात्मक विवर्त्त का नाम हीं देश है, एवं वैकारिक विवर्त्त का नाम हीं 'प्रदेश' है। जिसमें कालानुबन्धी दिक्-देश-प्रदेश-भाव अभिव्यक्त रहते हैं, उसी का नाम है-'वर्त्तमान', जिसका इतिहास है-**"किसी समय उत्पन्न हो पड़ना, अमुक समय पर्य्यन्त विद्यमान रहना, अन्ततः नष्ट हो जाना"। अपने इस विद्यमानकाल में व्यवस्थित रहते हुए खाते-पीते रहना, और अन्ततोगत्त्वा कालकवलित हो जाना हीं 'प्राकृत'-जावन' का जब समस्त इतिवृत्त है, तो फिर मानव, और मानवेतर पशु-पक्षी-कृमि-कीट-ओषधि-वनस्पत्यादि-अन्यान्य प्राकृत पदार्थों में क्या अन्तर ?।**

२७-मानवेतर पश्वादि प्राणियों का दिग्देशकालात्मक वर्त्तमानात्मक जीवनेतिवृत्त, एवं मानव का तदितिवृत्त से आत्यन्तिक पार्थक्य—

मानव के वर्त्तमान प्राकृत जीवन को ही सुखी बनाने के लिए आतुर प्राकृत बुद्धिमान् मानवने, दार्शनिक मानवने, एवं वैज्ञानिक मानवने क्या कभी इस प्रश्न का समाधान सोचा है ?। यदि नहीं, तो कहना पड़ेगा कि, मानव केवल दिक्-देश-कालात्मक वर्त्तमान की सीमा में हीं सीमित नहीं है, जैसेकि मान-वेतर प्राणी, किंवा 'जड़भूत' केवल वर्त्तमान में हीं सीमित हैं। **"उत्पन्न हो पड़ना, सुख से-दुःख से, सुविधा-असुविधा से, अनुकूलता-प्रतिकूलता-पूर्वक मानस-शारीरिक-भोगों का अनुगमन करते रहना, और अन्ततोगत्त्वा एक दिन नष्ट हो जाना-अपना कोई भी इतिवृत्त पारम्परिक न बनाते हुए"** ही तो दिग्देशकालात्मिका वर्त्तमानाप्रकृति के यन्त्र से सञ्चालित क्षुद्रयन्त्रात्मक उन मानवेतर समस्त प्राणियों का

इतिहास है, जिस इतिहास का-"जायस्व--म्रियस्व' (पैदा होत्रो, और मर जाओ) इस एक पङ्क्ति में हीं समावेश होजाता है । क्या मानव के 'इतिहास' का ऐसा ही स्वरूप है ? । नहीं । कदापि नहीं ।

२८-'इति--ह--आस'- निर्वचनात्मक 'इतिहास' शब्द का वाच्यार्थ-समन्वय, एवं प्राकृत जीवन के साथ 'इतिहास' शब्द का असम्बन्ध—

यह तो 'इतिहास' शब्द का ही ग्रीवानिकृन्तन-कर्म्म होगा । **'इति-ह-आस'**-(ऐसा था, अतएव भविष्य में ऐसा होगा) मूलक 'इतिहास' शब्द वर्त्तमान के पूर्वोत्तरभावी तथ्यों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है । 'है' (वर्त्तमान)' का नाम इतिहास नहीं है, अपितु **'इति-ह-आस'-रूप-'ऐसा था, ऐसा होगा'** (भूत-भविष्यत्) का नाम हीं इतिहास है । पशु-पक्ष्यादि न पहिले थे, न भविष्य में होंगे । अपितु वर्त्तमान ही इन का सर्वस्व है । अतएव इनका प्राकृत-जीवन कदापि इतिहास नहीं कहला सकता ।

२९-प्राकृत जीवन की मनःशरीरमात्रपरायणता, एवं मनःशरीरमात्रप्रधान प्राकृत-यथाजात--मानव के मनोविनोदात्मक- शारीरिक--भोगात्मक--विजृम्भणों से असंस्पृष्ट 'मानवेतिहास'—

तात्पर्य्य यह हुआ कि-**'मन और शरीर'** का नाम हीं प्राकृत वर्त्तमान रूप है । पशु-पक्षी-आदि केवल मनः-शरीरात्मक ही हैं । अतएव इनका कोई इतिहास [अतीत-और अनागत] नहीं है । यदि मानव भी अपने आपको केवल मन-और शरीर का ही पुद्‌गल मानता है, तो इसका भी कोई इतिहास नहीं है । भाषण-भोजन-गमन-शयन-नर्त्तन-गायन-वादन-आदि आदि यच्चयावत् मानसिक-शारीरिक-प्राकृतिक-वर्त्तमान-कालानुबन्धी तात्कालिक विजृम्भणों को कभी भी इतिहास नहीं माना भारतीय-ऋषिप्रज्ञा ने ।

३०-दिग्देशकालातीत अप्राकृत शाश्वत आत्मभाव, तन्निबन्धन मानवेतिहास, एवं मनःशरीरवादी मानवों की आत्मकथाओं का व्यामोहनात्मक विजृम्भण—

इतिहास माना है मानव के अवारपारीण त्रैकालिक उस भूत-भविष्यत् का, जिसे **'आत्मभाव'** कहा गया है । आत्मा था, है, रहेगा । अतएव इतिहास इसी का होगा, शरीर और मन का नहीं । ऐसी स्थिति में मन, और शरीर की तात्कालिकी कथाओं को ही-**'आत्मकथा'** का नाम दे डालने वाले वर्त्तमान युग के प्राकृत मानव इस 'आत्मकथा' के छल से सर्वथा निरर्थक उस मनः-शरीर-कथा का ही तो विजृम्भण करते रहते हैं, जिसका **'पशुकथा'** (पशुप्राणात्मक-मनःशरीरमात्र की कथा) से अधिक और कुछ भी तो महत्त्व नहीं है ।

३१-देवभावानुगत इतिहास, एवं सृष्टिभावानुगत पुराण, तथा तद्वञ्चित प्राकृत मानवों की आत्मकथामूला महती भ्रान्ति—

कथा यहाँ देवभाव की ही होती है, एवं इतिहास आत्मभाव से ही अनुप्राणित है । न तो मानव के प्राकृत स्वरूप की कथा ही होती, न इसका इतिहास ही । इसी दृष्टिकोण से हमारे यहाँ भूतजीवनात्मक-

इतिवृत्त की क्रमधारा सर्वथा उपेक्षणीया ही रही है, जबकि आज के युग का समस्त प्रज्ञाकौशल इस मनः-शरीरकथा पर ही विश्रान्त है। इन प्राकृत भावों का साटोप वर्णन ही आज 'इतिहास' जैसी पावन अभिधा से समन्वित माना जारहा है, इति नु महती भ्रान्तिर्प्राकृतमानवस्य।

३२–दिग्देशकालात्मिका प्रकृति से परिपूर्ण पश्वादि प्राणी, एवं प्रकृति से अपूर्ण मानव, तथा लक्षीभूत प्राणीसर्ग—

मानवेतर पशु–पक्ष्यादि समस्त प्राणी परिपूर्ण हैं अपने वर्त्तमानकालानुबन्धी प्राकृत स्वरूप से, जबकि स्वयं मानव प्रकृत्या अपूर्ण ही प्रमाणित हो रहा है। अवश्य ही मानव रुष्ट हो सकता है हम पर, इस धारणा से। किन्तु वस्तुस्थिति कुछ ऐसी ही है। मानवेतर प्राणियों का सञ्चालन स्वयं प्रकृति करती है, कर रही है। अतएव इन्हें स्व-स्व- मनःशरीर-तन्त्रों की व्यवस्था के लिए स्वयं अपनी ओर से कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। बात अत्यन्त सूक्ष्म है। जबतक मानव अपने मनःशरीर-धरातल से पृथक् होकर इस प्राणीसर्ग को लक्ष्य नहीं बना लेता, तबतक इसे इन प्राणियों के प्राकृत जीवन का साक्षात्कार नहीं होसकता।

३३–संस्कारात्मक 'उक्थ से शून्य प्राणीजगत्, प्रकृति से नियन्त्रिता तज्जीवनपद्धति, प्रकृत्यैव स्वतः प्राप्त तत्प्राकृत ज्ञान, एवं तन्मूला प्राकृत–प्राणियों की प्राकृत–पूर्णता—

प्राणियों में संस्कार से कोई स्वतन्त्र उक्थ नहीं बनता। अपितु इनका सम्पूर्ण कर्म्मकलाप जन्म से ही, प्रकृति के द्वारा ही निर्द्धारित रहता है। जहाँतक, जिस सीमातक इनकी प्रकृति का साम्राज्य है, उस सीमा-पर्य्यन्त ये निःशङ्क हैं। निरातङ्कितमानस बन कर जीवनयापन करते रहते हैं ये उस सीमा में, जब कि अन्य प्राणी अपनी सीमा में रहते हुए इनको खाते भी रहते हैं। छोटे चींटों, अथवा चींटियों की उस धारावाहिक पङ्क्ति पर दृष्टि डालिए, जो अपने नियत बिलस्थान से निकलकर प्रकृति के द्वारा निर्म्मित निश्चित पथ से प्रकृतिप्रेरणा से ही खाद्य–कणों की ओर गमनागमन में तल्लीन रहते हैं। बड़े चींटे, चिडियाँएँ, और भी कतिपय प्राणी इनका संहार भी करते रहते हैं, खाते भी रहते हैं। किन्तु यह पङ्क्तिप्रवाह प्रक्रान्त रहता है। यही उदाहरण प्रमाणित कर रहा है कि, इनमें कोई सांस्कारिक ज्ञान नहीं है। अतएव न ये भूत को याद कर सकते, न भविष्यत् की चिन्ता। अपितु दोनों से निश्चिन्त बन कर ये तो वर्त्तमान में हीं तल्लीन रहते हैं, और यही इनकी प्राकृत पूर्णता है। अपनी सीमित प्रकृति का अतिक्रमण कदापि नहीं करते, नहीं कर सकते ये प्राकृत प्राणी। यही इनकी पूर्णता है, जिसके लिए इन्हें किसी प्रकार की शिक्षा–अध्ययन–आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इनके मूल–प्राकृत बीज में हीं वह सम्पूर्ण अध्ययन प्रकृत्या ही निश्चित रहता है, जिसमें न्यूनाधिक्य का अवसर नहीं है।

३४–कपोत के दृष्टान्त–माध्यम से पूर्णता का समन्वय—

स्वस्थान से शत क्रोश पर गया हुआ, किंवा भेजा गया कपोत पुनः अपने उसी नियत स्थान पर लौट आएगा, जब कि मानव कभी कभी दिग्भ्रान्त भी बन जाया करता है। कपोत की स्थानानुगति प्रकृति